कल्याण

भक्तांक

गीताप्रेस, गोरखपुर

सम्पादक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक ।
इनके पद वन्दन किये, नाशत विघ्न अनेक ॥

[प्रथम संस्करण १२०००]
[दूसरा संस्करण ३०००]

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces, Bihar and Orissa, Assam, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≥)
विदेशमें ६॥≡)
(१० शिलिंग)

साधारण प्रति ।) चार आना
विदेशमें ।≡) सात आना या 8 d.

भक्ताङ्कका मू० १॥)
,, स० २)
विदेशमें २) या 3 sh.
,, स० २॥।) या 4 sh.

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U. P. (INDIA)

भक्ताङ्क

वर्ष ३ द्वितीय श्रावण कृष्ण ११ संवत् १९८५ संख्या १

श्रीहरिः

'भक्तांक' का नवीन | दूसरा संस्करण

नम्र निवेदन

(१) 'भक्तांक' का १२००० प्रतियोंका पहला संस्करण तो कई वर्ष पहले ही समाप्त हो चला था। जिस आग्रहसे प्रेमी महानुभावोंने इसे अपनाया उसको देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि आध्यात्मिक विषयोंके प्रति देशमें लोगोंका अब भी बहुत प्रेम है। संस्करण समाप्त होनेपर भी माँगें तो आ ही रही थीं परन्तु स्टाकमें कुछ बारह महीनोंकी पूरी फाइलें बची थीं, इसलिये 'भक्तांक' अलग हम नहीं भेज रहे थे। कई दिनोंसे ग्राहकोंकी अच्छी माँग देखी, इसलिये ३००० प्रतियोंका यह दूसरा संस्करण फिरसे छापा गया है। इस संस्करणमेंसे कुछ प्रतियाँ तो पहलेकी रुकी हुई माँगोंके लिये जा रही हैं, इसके अलावा रोज माँगें आ ही रही हैं। ऐसी हालतमें आशा की जा सकती है कि यह संस्करण भी खूब अपनाया जायगा।

जिन ग्राहकोंकी माँगें वापस कर दी गयी थीं, वे अब 'भक्तांक' के लिये १॥) का मनिआर्डर भेजकर मँगा सकते हैं अथवा हमें वी० पी० से भेजनेके लिये आर्डर दे सकते हैं।

(२) इस दूसरे संस्करणमें कई पुराने चित्र बदल कर सुन्दर चित्र लगा दिये गये हैं, छपाई आदि भी पहलेसे सुन्दर की गयी है। इसपर भी मूल्य वही १॥) रक्खा गया है। सालभरके लिये ग्राहक होनेपर वही ४≡) है। सजिल्द 'भक्तांक'का मूल्य २) है। सालभरकी पूरी फाइलसहित सजिल्दका मूल्य ४॥≡) है। डाकखर्च सबमें हमारा है।

(३) जिन सज्जनोंने मानसम्मान, नामप्रकाशन या आर्थिक लाभकी कुछ भी आशा न रखकर निःस्वार्थभावसे कल्याणके ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि वे महानुभाव कृपापूर्वक कल्याण-के प्रचारार्थ ऐसा ही प्रयत्न करते रहें, जिससे सर्वोपयोगी भक्तांकका यह दूसरा संस्करण बहुत जल्द प्रेमी पाठकोंके हाथोंमें पहुंच जाय।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

"कल्याण"—हिन्दी　　　मूल्य-सूची　　　"कल्याण-कल्पतरु"—अंग्रेजी

डाकव्ययसहित वार्षिक मूल्य ४≋); विदेशमें ६॥=) या १० शि०; साधारण अङ्क ।) विदेशमें ।≋) या ८ पेंस; पुरानी-फाइलें और विशेषांक मिलने दुर्लभ हैं, थोड़ेसे बाकी बचे हैं, चाहें वे मँगा लें ।

भक्तांक-(दूसरा संस्करण) पृ० २४६ चित्र ५५ मूल्य	१॥)	··· विदेशमें २)	or Shillings-/3/
भक्तांक-(,,) ,, मूल्य सजिल्द	१॥≋)	··· ,, २॥)	,, ,, -/4/-
रामायणांक (दूसरा संस्करण) पृ० ५१२ तिरंगे, इकरंगे १६७ चित्र मू०	२॥≋)	··· ,, ३॥)	,, ,, -/5/6
,, ,, ,, ,, सजिल्द	३≋)	··· ,, ४=)	,, ,, -/6/6
शिवांक सपरिशिष्टांक (दूसरा संस्करण) पृष्ठ६६६ चित्र २८७ मूल्य ८ वें वर्षकी पूरीफाइल सहित	४≋)	६॥=)	,, -/10/-
,, ,, ,, ,, सजिल्द	५।-)	··· दो जिल्दमें ८)	,, ,, -/12/-
श्रीयोगांक सपरिशिष्टांक(दूसरा संस्करण) पृ० ८८४ चित्र ४७० मूल्य	३॥)	··· विदेशमें ४॥)	,, ,, -/7/6
,, ,, ,, ,, सजिल्द	४)	··· ,, ५॥)	,, ,, -/8/6

नोट—दूसरे, चौथे, सातवें वर्षके केवल कुछ फुटकर अंक बचे हैं जिन्हें चाहिये वे मँगा सकते हैं । प्रति अंक ।) (Foreign 7 As. or 8 d.) शक्तिअंक अब नहीं मिलता । हिन्दी गीतांक और ईश्वरांक एकदम नहीं रहे, जिनको ज्यादा जरूरत हो वे चाहें तो इसी ढंगके निम्नलिखित अंग्रेजी संस्करण मँगा सकते हैं । व्यवस्थापक—**'कल्याण', गोरखपुर ।**

अंग्रेजीमें कल्याण-कल्पतरुके नामसे निकल रहा है । जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें, उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है । ऐसे लोगोंमें इसके विशेष प्रचारकी चेष्टा करनी चाहिये । वार्षिक मूल्य ४॥) कागज बढ़िया ।

(Old special and issues ready for sale, *Postage Free* Bound copies charged only 1 sh. more)

	Inland	Foreign	
Annual subscription:	Rs. 4/8/-	Rs. 6/10/-	or 10 Shillings.
Ordinary Issues	,, As. -/5/-	,, As. -/7/-	or 8 d.

1. Kalyana-Kalpataru. Vol. I. 1934 (Complete file of 12 numbers including Special issue, God Number) pp. 836. Illustrations 63

Unbound Rs.	4/8/-	Foreign Rs. 6/10/-	or -/10/- Shillings.
Cloth Bound Rs.	5/4/-	,, Rs. 8/-/-	,, -/12/- ,,

2. Kalyana-Kalpataru. Vol. II. 1935 (Complete file of 12 numbers including Special issue Gita Number) pp. 780. Illustrations 32

Unbound Rs.	4/8/-	,, Rs. 6/10/-	,, -/10/- ,,
Cloth Bound Rs.... ...	5/4/-	,, Rs. 8/-/-	,, -/12/- ,,

3. God Number of K. K. 1934. pp 307 Illus. 41

Unbound Rs.	2/8/-	,, Rs. 3/4/-	,, -/5/- ,,
Cloth Bound Rs.... ...	3/-/-	,, Rs. 4/-/-	,, -/6/- ,,

4. Gita Number of K. K. 1935. pp. 251 Ill.

Unbound Rs.	2/8/-	,, Rs. 3/4/-	,, -/5/- ,,
Cloth Bound Rs.... ...	3/-/-	,, Rs. 4/-/-	,, -/6/- ,,

5. Vedanta Number of K. K. 1936. pp. 250 Ill.

Unbound Rs.	2/8/-	,, Rs. 3/4/-	,, -/5/- ,,
Cloth Bound Rs.... ...	3/-/-	,, Rs. 4/-/-	,, -/6/- ,,

Manager—'Kalyana-Kalpataru,' Gorakhpur.

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभक्ताङ्ककी विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

श्रीहरिः

सुन्दर ❋ गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें ❋ सचित्र

१-श्रीमद्भगवद्गीता-शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके उद्धृत प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है, भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है। पृष्ठ ५१९, चित्र ३, मू० साधारण जिल्द २।।) पक्की जिल्द २।।।)

२-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे४चित्र१।)

३-श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह; मोटा टाइप, सचित्र, सजिल्द ... ... १।)

४-श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप सचित्र, सजिल्द ... ... १।)

५-श्रीमद्भगवद्गीता-(श्रीकृष्ण-विज्ञान) अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद (सचित्र) पृ० २७५, मोटा एण्टिक कागज, गीताके श्लोकोंके सामने ही कवितामें अनुवाद छपा है। दो सुन्दर चित्र भी हैं मू०।।।)स०१)

६-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान; विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ।।≋) ... सजिल्द ।।।=)

७-श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, हिन्दी गीता ।।≋) वालीकी तरह, मूल्य ... ... ।।।)

८-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारणभाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्प्राप्ति नामक निबन्धसहित, साइज मझोला, मोटा टाइप, ३३२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र पुस्तकका मू०।।) स० ।।≋)

९-गीता-साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)।। सजिल्द ≋)।।

१०-गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-) ... सजिल्द ।≋)

११-गीता-भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मूल्य ।)... सजिल्द ।=)

१२-गीता-मूल ताबीजी साइज २×२।। इञ्च, सजिल्द ... ... =)

१३-गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ... ... -)।।

१४-गीता-७।।×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण ... ... -)

१५-गीता-सूची (Gita-List)-संसारकी (भिन्न-भिन्न ३१ भाषाओंकी) अनुमान २००० गीताओंका परिचय ।।)

१६-गीता-डायरी सन् १९३६ की मू० ।) ... ... सजिल्द ।-)

१७-ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मू० ... ... ≋)

१८-केनोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ... ... ।।)

१९-कठोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ... ... ।।-)

२०-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ... ... ।≋)

२१-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ... ... ।≋)

उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ... २।-)

२२-माण्डूक्योपनिषद् और ऐतरेयोपनिषद् भी छप रहे हैं।

२३-श्रीविष्णुपुराण-हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मूल्य २।।) ... सजिल्द २।।।)

२४-अध्यात्मरामायण-(सातों काण्ड) सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ रंगीन चित्र, मूल्य साधारण ... ... जिल्द १।।।) कपड़ेकी जिल्द २)

२५-प्रेमयोग-सचित्र, लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मूल्य १।) सजिल्द १।।)

२६-विनय-पत्रिका-सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित, ६ चित्र, अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य १) स० १।)

२७-गीतावली-सरल हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ चित्र, अनुवादक—श्रीमुनिलालजी, मू० १) सजिल्द १।)

२८-तुकाराम-चरित्र-पृष्ठ ६९४, चित्र ९, मूल्य १≋) ... सजिल्द १।।)

२९-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)-सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।।=) ... सजिल्द १=) मात्र

३०- ,, ,, (खण्ड २)-९ चित्र, ४५० पृष्ठ। पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। मू० १=) सजिल्द १।=)

३१- ,, ,, (खण्ड ३)-११ चित्र, ३८४ पृष्ठ ... मू० १) सजिल्द १।)

३२–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ४)–१४ चित्र, पृष्ठ २२४ ··· मू० ॥=) सजिल्द ॥।=)

३३– ,, ,, (खण्ड ५)–१० चित्र, पृष्ठ २८० ··· मू० ।॥) सजिल्द १)

३४–मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषासहित पृष्ठ ४१४ ··· ··· मू० ।॥–) सजिल्द १–)

३५–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०६, एण्टिक कागज, मू० ॥=) स० ।॥–)

३६– ,, ,, ,, ,, ,, ४४८, पाकेट साइज गुटका मू०।–)स० ।=)

३७– ,, ,, २– ,, ,, ,, पृष्ठ ६३२, एण्टिक कागज, मू० ।॥=) स० १=)

३८– ,, ,, गुटका साइज छप रहा है।

३९–भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द १।)

४०–श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–सचित्र, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सन्तकी जीवनी और उपदेश ··· मूल्य ।॥–)

४१–पूजाके फूल–श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह पृष्ठ ४२० मू० ··· ।॥–)

४२–विष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र ··· ··· मू० ॥=)

४३–एकादश स्कन्ध–(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित। यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है। मू० ।॥) स० १)

४४–देवर्षि नारद–२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर छपाई ··· ··· मू० ।॥) स० १)

४५–शरणागतिरहस्य–सचित्र, पृष्ठ ३६० ··· ·· मूल्य ॥≥)

४६–आनन्दमार्ग–सचित्र, पृष्ठ ३२४ ··· ··· मूल्य ॥–)

४७–नैवेद्य–सचित्र, लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५० ··· ··· मू० ॥) सजि० ॥≥)

४८–तुलसीदल–सचित्र, लेखक— ,, पृ० २९२ ··· ··· मू० ॥) सजि० ॥≥)

४९–श्रीएकनाथ-चरित्र–(सचित्र) प्रसिद्ध महान् भगवद्भक्तकी बड़ी सुन्दर जीवनी, पृष्ठ २४० मू० ॥)

५०–दिनचर्या–सचित्र, उठनेसे सोनेतक करने योग्य धार्मिक नित्यकर्मकी बातोंका वर्णन है। इसमें अनेक स्तोत्र, भजन, वर्ण और आश्रम-धर्म आदिकी बातें भी जोड़ दी गयी हैं। पुस्तक रुचिकर है। मूल्य ॥)

५१–श्रुति-रत्नावली–सचित्र, लेखक–श्रीभोलेबाबाजी, वेद और उपनिषदोंके चुने हुए मन्त्रोंका अर्थसहित संग्रह। मू० ॥)

५२–स्तोत्ररत्नावली–हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, चुने हुए भावमय स्तोत्र-संग्रह ··· मूल्य ॥)

५३–The Story of Mira Bai—Page 96. Illustrated. Cloth Bound. As. 10

५४–Mind: Its Mysteries and Control—By Swami Sivananda Saraswati. Part. I. As. 8

५५–विवेक-चूडामणि–सचित्र, मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, पृष्ठ २२४ मूल्य ।≥) सजिल्द ॥=)

५६–श्रीरामकृष्ण परमहंस–सचित्र, जीवनीके साथ-साथ ३०१ उपदेशमय वचनोंका संग्रह भी है। पृष्ठ २५०, मू० ।≥)

५७–प्रेमदर्शन–(नारद-रचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकृत) पृष्ठ २००, मूल्य ।–)

५८–उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृष्ठ १००, चित्र १०, ।=)

५९–तत्त्वविचार–सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य ।=)

६०–भक्त भारती–(७चित्र)कवितामें सात भक्तोंके चरित्र।≥)

६१–भक्त बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६२–भक्त नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६३–भक्त-पञ्चरत्न—५ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६४–आदर्श भक्त—७ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६५–भक्त-चन्द्रिका–७ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६६–भक्त-सप्तरत्न–७ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६७–भक्त-कुसुम–६ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६८–प्रेमी भक्त–६ चित्रोंसे सुशोभित ।–)

६९–यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्रोंसे सुशोभित ।)

७०–गीतामें भक्तियोग सचित्र, ले०–श्रीवियोगी हरिजी।–)

७१–श्रुतिकी टेर–(सचित्र)ले०–श्रीभोलेबाबाजी ।)

७२–परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह ।)

७३–माता–श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी अनुवाद ।)

७४–ज्ञानयोग–इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है ।)

७५–कल्याणकुञ्ज–सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ।)

७६–व्रजकी झाँकी–वर्णनसहित लगभग ५० चित्र ।)

७७–श्रीबदरी-केदारकी झाँकी सचित्र ।)

७८–प्रबोध-सुधाकर सचित्र सटीक ≥)॥

७९–मानवधर्म–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ≥)

८०–साधन-पथ—ले०— ,, (सचित्र) =)॥

८१–गीता-निबन्धावली =)॥

८२–वेदान्त-छन्दावली–ले०—श्रीभोलेबाबाजी =)॥

८३–अपरोक्षानुभूति–मूल श्लोक और अर्थसहित =)॥

८४–मनन-माला–सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है =)॥

८५–प्रयाग-माहात्म्य–पृ० ६४ (सचित्र) मूल्य =)॥

८६–माघ-मकर-प्रयाग-स्नान-माहात्म्य, सचित्र पृ० ९४ =)॥

८७–भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०–श्रीवियोगी हरिजी =)

८८– ,, दूसरा भाग ,, =)

८९– ,, तीसरा भाग ,, =)

९०– ,, चौथा भाग ,, =)

९१-भजनसंग्रह पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) सं०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार =)
९२-चित्रकूटकी झाँकी (२२ चित्र) =)
९३-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी (नये संस्करणमें १० पृष्ठ बढ़े हैं) =)
९४-The Immanence of God (By Malaviyaji) as. 2
९५-शतश्लोकी-हिन्दी-अनुवादसहित =)
९६-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग -)||
९७-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित -)||
९८-हनुमानबाहुक सचित्र, सटीक -)||
९९-आनन्दकी लहरें (सचित्र) -)||
१००-गोपी-प्रेम-(सचित्र) पृ० ५०, -)||
१०१-गोविन्ददामोदरस्तोत्र (सार्थ) पृष्ठ ३७, -)||
१०२-मनको वश करनेके उपाय सचित्र -)|
१०३-गीताका सूक्ष्म विषय पाकेट-साइज -)|
१०४-ईश्वर-लेखक-पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय -)|
१०५-मूल रामायण -)|
१०६-मूल गोसाईं-चरित -)|
१०७-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय -)
१०८-श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश, २ रंगीन चित्र -)
१०९-त्यागसे भगवत्प्राप्ति सचित्र -)
११०-ब्रह्मचर्य-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार -)
१११-भगवान् क्या हैं ? -)
११२-समाज-सुधार -)
११३-आचार्यके सदुपदेश -)
११४-एक संतका अनुभव -)
११५-सत्त-महाव्रत -)
११६-हरेरामभजन २ माला)|||
११७-विष्णुसहस्रनाम-मूल, मोटा टाइप)||| सजिल्द -)||
११८-रामगीता-मूल, अर्थसहित (पाकेट-साइज-गुटका))|||
११९-सेवाके मन्त्र (,, ,,))||
१२०-सीतारामभजन (,, ,,))||
१२१-प्रश्नोत्तरी-श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित) (,,))||
१२२-सन्ध्या (हिन्दी-विधि-सहित))||
१२३-बलिवैश्वदेव-विधि)||
१२४-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय पृ० ३५ (गुटका))||
१२५-सत्यकी शरणसे मुक्ति पृ० ६२ (,,))||
१२६-प्रेमका सच्चा स्वरूप पृ० २४ (,,))|
१२७-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है पृ० २० (,,))|
१२८-महात्मा किसे कहते हैं ? पृ० २० (,,))|
१२९-पातञ्जलयोगदर्शन (मूल) (,, ,,))|
१३०-नारद-भक्ति-सूत्र (सार्थ गुटका))|
१३१-गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट साइज)|
१३२-धर्म क्या है ?)|
१३३-दिव्य सन्देश)|
१३४-श्रीहरि-संकीर्तन-धुन)|
१३५-कल्याण-भावना ले०-श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या)|
१३६-लोभमें पाप (गुटका) आधा पैसा
१३७-गजलगीता (,,) आधा पैसा
१३८-सप्तश्लोकी गीता (,,) आधा पैसा
१३९-रामायणांक-१६७चित्र, ५१२पृष्ठ, मू० २||≶) स० ३≶)

चित्र

छोटे, बड़े, रंगीन और सादे धार्मिक चित्र

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीशिवके दिव्य दर्शन

जिसको देखकर हमें भगवान् याद आवें, वह वस्तु हमारे लिये संग्रहणीय है। भक्तों और भगवान्के स्वरूप एवं उनकी मधुर मोहिनी लीलाओंके सुन्दर दृश्य-चित्र हमारे सामने रहें तो उन्हें देखकर थोड़ी देरके लिये हमारा मन भगवत्स्मरणमें लग जाता है।

ये सुन्दर चित्र किसी अंशमें इस उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं। इनका संग्रहकर प्रेमसे जहाँ आपकी दृष्टि नित्य पड़ती हो, वहाँ घरमें, बैठकमें और मन्दिरोंमें लगाइये एवं चित्रोंके बहाने भगवान्को यादकर अपने मन-प्राणको प्रफुल्लित कीजिये।

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं। पिछली सूची सब रद्द समझें।

साइज़ और रंग

१५×२०, सुनहरी	-)||	७||×१०, सुनहरी	)|½
१५×२०, रंगीन	-)	७||×१०, रंगीन	)|
१०×१५, सुनहरी	)||	७||×१० सादा	१)सै०
१०×१५, रंगीन	)|½	५×७||, रंगीन	१)सै०

१५×२० साइज़के सुनहरे और रंगीन ३३ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत २-)||, पैकिंग -)||, डाकखर्च ||≶), कुल लागत ३||=) लिये जायँगे।

१०×१५ साइज़के सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ||≶)|||½, पैकिंग -)|||½, डाकखर्च ||-)|, कुल १|≶) लिये जायँगे।

७||×१० साइज़के सुनहरे और रंगीन १७६ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत २||-)½, पैकिंग -)||½, डाकखर्च |||-)|, कुल ३|||) लिये जायँगे।

५×७|| साइज़के रंगीन ६४ चित्रोंका नेट दाम ||=)| पैकिंग -), डाकखर्च |-)|||, कुल १-) लिये जायँगे।

१५×२०, १०×१५, ७||×१०, ५×७|| के चारों सेटकी नेट कीमत ६|)|||, पैकिंग =)|, डाकखर्च १||≶) कुल ८=) लिये जायँगे।

नोट-सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का |||), १०×१५ का |=), ७||×१० का ||), ५×७|| का ≶) और लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षा

एह्येहि देवेश जगन्निवास नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे । प्रसह्य मां पातय लोकनाथ रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यस्य स्वादुफलानि भोक्तुमभितो लालायिताः साधवः
श्राम्यन्ति ह्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविरागयोगफलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः
सोऽयं प्राणिसुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ३ } द्वितीय श्रावण कृष्ण ११ संवत् १९८५ { संख्या १

भक्तवत्सल

वा पट-पीतकी फहरान !
कर धरि चक्र चरनकी धावनि, नहिं बिसरति यह बान ॥
रथते उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच-रजकी लपटान ।
मानो सिंह सैलतें निकर्‌यो, महामत्त गज जान ॥
जिन गुपाल मेरो प्रन राख्यो, मेटि वेदकी कान ।
सोई सूर सहाय हमारे, निकट भये हैं आन ॥

(सूरदासजी)

नूतन वर्षकी भेंट

बहुत गयी थोड़ी रही, नारायण अब चेत।
काल चिरैया चुगि रही, निसिदिन आयू खेत॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमहँ परलै होयगी, बहुरि करैगा कब॥
रामनामकी लूट है, लूटि सकै तो लूट।
फिरि पाछे पछितायगा, प्रान जायँगे छूट॥
तेरे भावें जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर, अपनो भवन बुहार॥

उम्र बीत रही है, रोज-रोज हम मौतके नजदीक पहुँच रहे हैं। वह दिन दूर नहीं है जब हमारे इस लोकसे कूच कर जानेकी खबर अड़ोसी-पड़ोसी और सगे सम्बन्धियोंमें फैल जायगी। उस दिन सारा गुड़ गोबर हो जायगा। सारी शान धूलमें मिल जायगी। सबसे नाता टूट जायगा। जिनको मेरा-मेरा कहते जीभ सूखती है, जिनके लिये आज लड़ाई उधार लेनेमें भी इन्कार नहीं है, उन सबसे सम्बन्ध छूट जायगा, सब कुछ पराया हो जायगा। मनका हवामहल पलभरमें ढह जायगा। जिस शरीरको रोज धो-पोंछकर सजाया जाता है—सर्दी-गर्मीसे बचाया जाता है, जरा-सी हवासे परहेज किया जाता है—सजावटमें तनिक-सी कसर संकोच पैदा कर देती है। वह सोने-सा (?) शरीर राखका ढेर होकर मिट्टीमें मिल जायगा। जानवर खायँगे तो विष्ठा बन जायगा, सड़ेगा तो कीड़े पड़ जायँगे। यह सब बातें सत्य—परम सत्य होनेपर भी हम उस दिनकी दयनीय दशाको भूलकर याद नहीं करते। यही बड़ा अचरज है। इसीलिये युधिष्ठिरने कहा था—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
(महा० वन० ३१३। ११६)

प्रतिदिन जीव मृत्युके मुखमें जा रहे हैं पर बचे हुए लोग अमर रहना चाहते हैं इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा? अतएव भाई, बेखबर मत रहो। उस दिनको याद रक्खो, सारी शेखी चूर हो जायगी। ये राजमहल, सिंहासन, ऊँची-ऊँची इमारतें, किसी काममें न आवेंगी। बड़े शौकसे मकान बनाया था, सजावटमें धनकी नदी बहा दी थी पर उस दिन उस प्यारे महलमें दो घड़ीके लिये इस देहको स्थान न मिलेगा। घरकी सारी मालिकी छिनमें छिन जायगी। सारी पदमर्यादा जाती रहेगी।

इस जीवनमें किसीकी कुछ भलाई की होगी तो लोग अपने स्वार्थके लिये दो-चार दिन तुम्हें याद करके रो लेंगे! सभाओंमें शोकके प्रस्ताव पास कर रस्म पूरी कर दी जायगी! दुःख देकर मरोगे तो लोग तुम्हारी लाशपर थूकेंगे, वश न चलेगा तो नामपर तो चुपचाप जरूर ही थूकेंगे। बस, इस शरीरका इतना-सा नाता यहाँ रह जायगा!

अभी कोई भगवान्का नाम लेनेको कहता है तो जवाब दिया जाता है 'मरनेकी भी फ़ुरसत नहीं है, कामसे वक्त ही नहीं मिलता।' पर याद रक्खो, उस दिन आप-से-आप फ़ुरसत मिल जायगी। कोई बहाना बचेगा ही नहीं। सारी उछलकूद मिट जायगी—तब पछताओगे रोओगे—पर, 'फिर पछताए का बनै जब चिड़िया चुग गयीं खेत' मनुष्य-जीवन जो भगवान्को प्राप्त करनेका एकमात्र साधन था उसे यों ही खो दिया; अब बस, रोओ! तुम्हारी गफ़लतका यह नतीजा ठीक ही तो है!

पर अब भी चेतो! विद्या-बुद्धि-वर्ण-धन-मान-पदका अभिमान छोड़कर सरलतासे परमात्माकी शरण लो। भगवान्की शरणके सामने ये सभी कुछ तुच्छ हैं, नगण्य हैं!

विद्या-बुद्धिके अभिमानमें रहोगे—फल क्या होगा? तर्क-वितर्क करोगे, हार गये तो रोओगे—पश्चात्ताप होगा। जीत गये तो अभिमान बढ़ेगा। अपने सामने दूसरोंको मूर्ख समझोगे। 'हम शिक्षित हैं' इसी अभिमानने तो आज हमारे मनसे बड़े-बड़े पुरखाओंको मूर्खताका टाइटल बख्श दिया है। इस बुद्धिके अभिमानने श्रद्धाका सत्यानाश कर दिया, आज परमेश्वर भी कसौटीपर कसे जाने लगे! जो बात हमारी तुच्छ तर्कसे सिद्ध नहीं होती, उसे हम किसीके भी कहनेपर कभी माननेको तैयार नहीं! इसी दुरभिमानने सत्-शास्त्र और सन्तोंके अनुभवसिद्ध वचनोंमें तुच्छ भाव पैदा कर दिया। हम उन्हें कविकी कल्पना मात्र समझने लगे। धनके अभिमानने तो हमें गरीब भाइयोंसे—अपने ही जैसे हाथ-पैरवाले भाइयोंसे सर्वथा अलग कर दिया। ऊँची जातिके घमण्डने मनुष्योंमें परस्पर घृणा उत्पन्नकर

एक दूसरेको वैरी बना दिया। व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार आज हमारे चिरसंगी बन गये। बड़े-से-बड़े पुरुष आज हमारी तुली-मपी अक्लके सामने परीक्षामें फेल हो गये!

पद-मर्यादाकी तो बात ही निराली है, जहाँ कुर्सीपर बैठे कि आँखें फिर गयीं, आसमान उलटा दिखायी पड़ने लगा! दो दिनकी परतन्त्रतामूलक हुकूमतपर इतना घमण्ड, चार दिनकी चाँदनीपर इतना इतराना!! अरे, रावण-हिरण्यकशिपु-सरीखे धरती तोलनेवालोंका पता नहीं लगा, फिर हम तो किस बागकी मूली हैं। सावधान हो जाओ। छोड़ दो इस विद्या-बुद्धि-वर्ण-धन-परिवार-पदके झूठे मदको, तोड़ दो अपने आप बाँधी हुई इन सारी फाँसियोंको, फोड़ दो भण्डा जगत्‌के मायिकरूपका, जोड़ दो मन उस अनादिकालसे नित्य बजनेवाली मोहनकी महामायाविनी किन्तु मायानाशिनी मधुर मुरली-ध्वनिमें और मोड़ दो—निश्चयात्मिका बुद्धिकी गतिको निज नित्य-निकेतन नित्य सत्य आनन्दके द्वारकी ओर!

सबको उस सर्वान्तर्यामीकी प्रतिमूर्ति समझकर सबसे अभिन्न प्रेम करो!

इसका साधन है भक्ति, इसीलिये आज यह कल्पित कल्याण अपने कल्पित नूतन वर्षकी भेंटमें भक्त और भक्तिके सुधासने सुहावने सुगन्धित खिले हुए रंग-बिरंगे फूलोंकी टोकरी लेकर परम कल्याणके लिये पाठकोंके दरवाजेपर खड़ा है—

अच्छा लगे तो सुगन्ध लेकर स्वयं सुखी बनो और दूसरोंको बनाओ!

जय भक्तवत्सल भगवान्‌की!

भक्तोंका स्वरूप

(लेखक—श्रीदत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर)

दुनियादार लोगोंकी दृष्टिमें भक्तलोग नरम प्रकृतिके, सौम्य प्राणी-से मालूम होते हैं। 'असमर्थो भवेत् साधुः' यह लोकोक्ति मशहूर है। लेकिन यह बात अगर सच्ची होती तो भारतवर्ष-जैसे पराधीन राष्ट्रमें अधिकांश जनता भक्तोंकी ही दिखायी देती। असली बात यह है कि सच्चे भक्त असाधारण वीर होते हैं। अपना हृदय, अपना मन, अपना शरीर और आकांक्षाएँ ईश्वरको अर्पण करके वे निर्भीक हो जाते हैं। वे न डरते हैं राजासे, न डरते हैं समाजसे। निन्दा-स्तुति उनके मन समान होती है। और वे जानते हैं कि असली विजय तो इन्द्रियोंके जीतनेमें ही है। सिकन्दर-जैसा विश्वविजेता अपनी वासनाओंका गुलाम था। करीब-करीब सारी दुनियाको वह जीत सका लेकिन घड़ीभरके वासनाके वेगको वह जीत नहीं सकता था। पर भक्तलोग प्रथम काम यही करते हैं कि अपनी वासनाएँ अपने काबूमें रहें।

फिर भी भक्तलोग नरम-से क्यों मालूम होते हैं? कारण इतना ही है कि उनमें असाधारण उदारता, दया और क्षमा होती है। जिन वस्तुओंसे सामान्य मनुष्य उत्तेजित हो सकता है वह उनको स्पर्श भी नहीं करती हैं।

एक तरहसे यों कह सकते हैं कि भक्तोंमें असाधारण स्वाभिमान होता है। किसी भी तरहसे वे आत्माको परास्त नहीं होने देते हैं। भक्तको पहचाननेकी कसौटी क्या है?

जिनके मन उच्च-नीच भाव नहीं हैं वे भक्त हैं। शास्त्रधर्मसे हृदयधर्मको जो अधिक मानते हैं वे भक्त हैं। जीवनयात्रामें दुनियाके बाहरकी किसी चीजसे जिनको आश्वासन मिलता है वे भक्त हैं।

जो अहदी-आलसी हैं वे बिल्कुल भक्त नहीं हैं। जो अपने माहात्म्यपर जीना चाहते हैं वे भक्त नहीं हैं। जो अपने प्रेमियोंके दोष ढँकते हैं

वे भक्त नहीं हैं। जो समाजको राजी रखनेके वास्ते हीन रूढिके हामी हैं वे भक्त नहीं हैं। जो समाजका अधःपात देखते हुए भी डरके मारे चुप बैठ जाते हैं वे भक्त नहीं हैं। दुनियाके परिश्रमसे जो फायदा उठाते हैं लेकिन धर्मप्राप्त सेवासे नफ़रत करते हैं और उसे झंझट समझते हैं वे भक्त नहीं हैं। जो मौका आनेपर दुर्जनोंको और जालिमोंको धिक्कारते नहीं हैं, कायरतासे बैठ जाते हैं वे भक्त नहीं हैं।

अगर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो सच्चे भक्तोंमें स्वच्छ पानीके सभी गुण मालूम होते हैं।

महात्माजीका उपदेश

शुद्ध भक्तिका प्रायः लोप हो गया है क्योंकि भक्तोंने भक्तिको सस्ती बना दी है। भगवान् तो कहता है कि भक्त वही बन सकता है जो सुधन्वाकी तरह उबलते हुए तेलमें कूद पड़े और हँसे अथवा जो प्रह्लादकी तरह प्रसन्नवदनसे जलते हुए स्तम्भकी भेट करे जैसे परम मित्रकी। मोहनदास करमचन्द गांधी।

(प्रतिलिपि)

शुध्द भक्तिका प्राय लोप हो गया है क्योंकी भक्तोंने भक्तिको सस्ती बना दी है भगवान् तो कहता है की भक्त वही बन सकता है जो सुधंन्वा की तरह उबलते हुए तेलमे कूद पडे और हंसे अथवा जो प्रल्हाद की तरह प्रसन्नवदनसे जलते हुए स्थंभ की भेट करे जैसे परम मित्र की

मोहनदास करमचंद गांधी

हिंडोला

(लेखक—आचार्य आनन्दशंकर बापूभाईजी ध्रुव, काशी)

व्रजनाथ ! झुलाऊँ सारी रैन !

यह संसार रात्रिरूप है । जब इसके ताराकीर्ण गगनमण्डलसे चन्द्रकिरणें छिटकती हैं तभी इस तिमिराच्छन्न आवरणका यथार्थ रूप अवगत होता है । किन्तु चन्द्रमा और तारोंका उजियाला होते हुए भी यह संसार रात्रिरूप है । इस सत्यका अनुभव यदि स्वयं किसीको न हुआ हो तो उसे जगत्के महात्माओंके अनुभवको प्रामाणिक मानना उचित है, 'संसार रात्रिरूप है' इस बातको पश्चिममें प्लेटोसे और पूर्वमें वेदके महर्षियोंसे आरम्भ कर सभी तत्त्वदर्शियोंने स्वीकार किया है । यदि सामान्य बुद्धिका पुरुष इस बातको न माने तो उसके निषेध करनेका कोई मूल्य नहीं है । कारण यह कि इस महाप्रश्नके विषयमें प्राकृत बुद्धि अनुभवशून्य एवं कुण्ठित-प्राय हुआ करती है । सामान्य बुद्धिका जीवन तो केवल इन्द्रियपरायण होता है और इन्द्रियपरायणता उत्कृष्ट जीवनका ध्येय नहीं बन सकती । मनुष्यकी उत्तम स्थिति आत्मिक-जीवन ही है । जब आत्मा द्युतिमय हो जाता है तब इन्द्रियाँ भी उसके तेजसे प्रदीप्त होकर, उस तेजके स्फुलिङ्गरूप हो, आसपासके फैले हुए श्याम अन्धकारका अनुभव करती हैं । बिना तेजके नेत्रमें भी तेज नहीं होता, तो यह स्पष्ट है कि निस्तेज नेत्रसे अन्धकारका अस्तित्व भी सिद्ध होना असम्भव है । इस प्रकार आत्माकी ज्योति बिना इस संसार-रजनीके अन्धकार अनुभव करना नितान्त असम्भव है ।

एक दूसरे दृष्टान्तके अनुसार यह दृश्य जगत् स्वप्न-सदृश है । कविशिरोमणि शेक्सपियरका कथन है कि स्वप्नके तत्त्वोंसे ही हमारा जीवन बना हुआ है और हमारी स्वल्प आयु एक रातकी नींदमें बस अन्त होती है—

"We are such stuff
As dreams are made of
our little life
Is rounded with a sleep"

—*Tempist. V*

कंकड़ चुन चुन महल बनाया लोग कहैं यह मेरा है ।
ना घर मेरा, ना घर तेरा चिड़ियाँ रैन बसेरा है ॥

(कबीर साहेब)

जैसे जागनेपर स्वप्नकी सृष्टि देखते-देखते विलीन हो जाती है और मनकी तत्काल चेष्टाओंपर हँसी आती है इसी भाँति जीवन और जगत्के अन्तरीय रहस्यके भान होनेपर इधर अबोध-निद्राका नाश और उधर प्रबोध-रविका प्रकाश होता है और अबोध-कालके मनोविजृम्भणोंपर विनोदपूर्ण अचरज होता है । अतएव भगवद्-वाक्यमें बड़ा ही गम्भीर सत्य है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(गीता २ । ६९)

संसार स्वप्न है, यह बोध तो तत्त्वज्ञानकी प्रथम भूमिका है, दूसरी भूमिकामें पहुँचकर हम इस प्रश्नकी मीमांसा करते हैं कि क्या यह संसार केवल घोर अन्धकारमय रजनी है अथवा इसका कुछ विलक्षण स्वरूप है ?

जहाँतक सांख्यदृष्टि है वहाँतक तो घोर अन्धकार और उस अन्धकारमें इधर-उधर जगमगाते हुए जीवरूप असंख्य जुगनू, और प्रकृतिमें प्रभा प्रसार करते हुए अनेक पुरुष । इनके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है । इससे अधिक सुन्दर रूपकका आश्रय लेते हुए यह कह सकते हैं कि प्रकृति निशाके सदृश है और उसमें विभ्राजमान असंख्य जीवरूप तारे हैं । ऐसी ज्योतिष्मती निशाका दृश्य मानव-हृदयमें शान्ति और आशाका निस्सन्देह सञ्चार करता है परन्तु माधुर्यकी प्यासी आँखोंकी तृप्तिके लिये तो इससे कुछ विलक्षण निशाका दृश्य चाहिये । अध्यात्म-जगत्का यह नियम है कि जिन्हें जो वस्तु जैसी चाहिये वह उन्हें वैसी ही मिलती है ।

'जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥'
'मन जाहिं राच्यो मिलहिं सो वर सहज सुन्दर साँवरो ।'
'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

(गीता ४ । ११)

अतएव भक्तके माधुर्यपिपासु नेत्रोंके सामने इस संसाररूपी निशामें यदि आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी छटा प्रत्यक्ष न झलकती हो तो यह उन्हें कभी सुखद न होगी। इस दशाका निदर्शन भक्त-शिरोमणि सूरने नीचे लिखी कोमल-कान्त-पदावलीमें रख दिया है।

अँखियाँ हरि दर्शनकी प्यासी।
देख्यो चाहत कमलनैनको निशिदिन रहत उदासी।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २६)

सांख्यवादियोंको अन्धकार और तारे ही देख पड़ते हैं, परन्तु भक्तकी दृष्टिमें अन्धकार छिन्नभिन्न होकर विलुप्त हो जाता है। कृष्णचन्द्रकी प्रेम-शान्त-शीतल और विमल ज्योति भक्तके प्रज्ञा-नेत्रोंके सामने सर्वत्र ही जगमगाती है और आत्मारूपी तारे भी अपने अहन्तापूर्ण तेजको त्याग कर कृष्णचन्द्रके तरल तेजमें मानो स्वयं अवगाहन करते हैं। 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' भगवती श्रुति जिस तेजका इस प्रकार वर्णन करती है उसके अनुभवी भक्तकी दृष्टिमें संसारतिमिरका सर्वथा तिरोभाव होता जाता है!

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(मुण्डक० २। २। १०)

इस सत्यके साक्षात्कार करनेवालेको क्या कभी 'मिथ्यामायामोहावेश' हो सकता है? इस प्रकार प्रकृति, पुरुष और परमात्माके सम्बन्धको समझनेवाला सांख्यवादसे भी उच्चतर अध्यात्मज्ञानके शिखरपर पहुँचता है।

प्रसङ्गवशात्, इससे भी एक उत्कृष्ट भूमिकाका दिग्दर्शन कीजिये। दृष्टि तो केवल देखती ही है, भक्तिदृष्टि तो कृष्णचन्द्रकी शीतल किरणोंकी आभा देखकर चकित रह जाती है; किन्तु उसे सामीप्य नहीं प्राप्त होता। जितना सामीप्यसे आनन्द होता है उतना दर्शनमात्रसे नहीं होता। अतएव भक्तिरसमें पगे हुए प्रेमीको तो प्रियतमका सामीप्य चाहिये। इस रसके रसिकको आकाशमें केवल चन्द्रमाको देखकर सन्तोष नहीं होता, उसे तो इन्द्रिय और जीवरूप 'व्रज' के 'नाथ' को अपने हृदयके झूलेमें झुलानेकी उत्कट कामना हुआ करती है। अतएव उसका रसमय जीवन प्रेमोच्छ्वासपरिप्लावित हो कुछ अनोखी मुद्रासे यह मधुर तान अलापता है—

'व्रजनाथ! झुलाऊँ सारी रैन'

उस व्रजके नाथको घड़ी-दो-घड़ी झुलानेमें उसको सन्तोष नहीं होता। अखण्ड रात उसे अपने हृदयके प्रेम-हिंडोलेमें इतस्ततः आन्दोलित किया करूँ, यही तद्भाव-भावित आत्माकी सदा भावना रहती है।

इस कथाका सार निम्नलिखित है—

(१) संसार कदापि परमार्थ सत्य नहीं यही इस प्रसङ्गका सरल सारांश है। इस बातको संसारके सब व्यवहारोंके बीचमें रहते हुए भी कभी न भूलना चाहिये।

(२) संसार परमार्थ सत्य नहीं, इतना समझ लेना ही बस नहीं है, संसारमें भी परमात्माका वास है, यह अनुभव होना चाहिये। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार माया चारों ओर व्याप्त है किन्तु उस मायामें ब्रह्मका अनुप्रवेश है। मायामयी जवनिकाके भीतर छिपा हुआ नटनागर ही इस संसाररूपी नाट्यशालाकी परमार्थ वस्तु है।

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यते मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥

(श्रीमद्भा० १। ८। १९)

(३) 'वासुदेवः सर्वमिति' भगवान् घट-घट-व्यापी हैं इस प्रकारका परोक्ष ज्ञान भी पर्याप्त नहीं है। हमारी मनोवृत्तियोंके साथ परमात्माका परिष्वङ्ग सर्वथा सान्द्र और निरन्तर होना चाहिये।

(४) संसारके बाहर परमात्माके अन्वेषणके लिये जानेकी आवश्यकता नहीं। उसके समीप होनेकी ही आवश्यकता है। वह इतना निकट है कि वह हमारे प्राणका भी प्राण है। हृदयके झूलेमें उसे हम सभी झुला सकते हैं। अतएव वाचकवृन्द! प्रेमकी उमङ्गमें फिरसे इसे गाइये—

'व्रजनाथ! झुलाऊँ सारी रैन*'

अनुवादक, गङ्गाप्रसाद मेहता एम. ए.

---

* आचार्य ध्रुवजी रचित 'आपुणो धर्म' शीर्षक पुस्तकके एक लेखका अनुवाद।

भगवान् शेषशायी

चरणसेवन-भक्त श्रीलक्ष्मीजी

अनन्य प्रेम ही भक्ति है

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

निर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवद्भक्तिके सदृश किसी भी युगमें अन्य कोई भी सुगम उपाय नहीं है। कलियुगमें तो है ही नहीं । परन्तु यह बात सबसे पहले समझनेकी है कि भक्ति किसे कहते हैं। भक्ति कहनेमें जितनी सहज है करनेमें उतनी ही कठिन है । केवल बाह्याडम्बरका नाम भक्ति नहीं है। भक्ति दिखानेको चीज नहीं वह तो हृदयका परम गुप्त धन है। भक्तिका स्वरूप जितना गुप्त रहता है उतना ही वह अधिक मूल्यवान् समझा जाता है । भक्तितत्त्वका समझना बड़ा कठिन है। अवश्य ही उन भाग्यवानोंको इसके समझनेमें बहुत आयास या श्रम नहीं करना पड़ता, जो उस दयामय परमेश्वरके शरण हो जाते हैं। अनन्यशरणागत भक्तको भक्तिका तत्त्व परमेश्वर स्वयं समझा देते हैं। एक बार भी जो सच्चे हृदयसे भगवान्की शरण हो जाता है, भगवान् उसे अभय कर देते हैं यह उनका व्रत है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

भगवान्की शरणागति एक बड़े ही महत्त्वका साधन है परन्तु उसमें अनन्यता होनी चाहिये । पूर्ण अनन्यता होनेपर भगवान्की ओरसे तुरन्त ही इच्छित उत्तर मिलता है। विभीषण अत्यन्त आतुर होकर एकमात्र श्रीरामके आश्रयमें ही अपनी रक्षा समझकर श्रीरामकी शरण आता है। भगवान् राम उसे उसी क्षण अपना लेते हैं। कौरवोंकी राजसभामें सब तरफसे निराश होकर देवी द्रौपदी ज्यों ही अशरण-शरण श्रीकृष्णको स्मरण करती है त्यों ही चीर अनन्त हो जाता है। अनन्य-शरणके यही उदाहरण हैं। यह शरणागति सांसारिक कष्ट-निवृत्तिके लिये थी । इसी भावसे भक्तको भगवान्के लिये ही भगवान्के शरणागत होना चाहिये। फिर तत्त्वकी उपलब्धि होनेमें विलम्ब नहीं होगा ।

यद्यपि इस प्रकार भक्तिका परमतत्त्व भगवान्की शरण होनेसे ही जाना जा सकता है तथापि शास्त्र और सन्त-महात्माओंकी उक्तियोंके आधारपर अपना अधिकार न समझते हुए भी अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये मैं जो कुछ लिख रहा हूँ इसके लिये भक्तजन मुझे क्षमा करें।

परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमका होना ही भक्ति कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक जगह इसका विवेचन है जैसे 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' (१३ । १०) 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' (१४ । २६) आदि । इसी प्रकारका भाव नारद और शाण्डिल्यसूत्रोंमें पाया जाता है। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है। एक भगवान्के सिवा अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो, प्रेमकी मग्नतामें भगवान्के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे। जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों। यों होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने आपकी विस्मृति होकर केवल एक भगवान् ही रह जायँ। यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है। परमेश्वरमें प्रेम करनेका हेतु केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही हो—प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय, अन्य कोई हेतु न रहे। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और इस लोक तथा परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी उसका मन कभी न ललचावे। स्वयं भगवान् प्रसन्न

होकर भोग्य-पदार्थ प्रदान करनेके लिये आग्रह करें तब भी न ले। इस बातके लिये यदि भगवान् रूठ जायँ तो भी परवा न करे। अपने स्वार्थकी बातें सुनते ही उसे अतिशय वैराग्य और उपरामता हो। भगवान्‌की ओरसे विषयोंका प्रलोभन मिलनेपर मनमें पश्चात्ताप होकर यह भाव उदय हो कि, 'अवश्य ही मेरे प्रेममें कोई दोष है, मेरे मनमें सच्चा विशुद्ध भाव होता और इन स्वार्थकी बातोंको सुनकर यथार्थमें मुझे क्लेश होता तो भगवान् इनके लिये मुझे कभी न ललचाते।' विनय, अनुरोध और भय दिखलानेपर भी परमात्माके प्रेमके सिवा किसी भी हालतमें दूसरी वस्तु स्वीकार न करे, अपने प्रेमहठपर अटल अचल रहे। वह यही समझता रहे कि भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे हैं और मेरी परीक्षा ले रहे हैं, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और सहन कर रहा हूँ इससे यह सिद्ध है कि मैं सच्चे प्रेमका अधिकारी नहीं हूँ। तभी तो भगवान् मुझे लोभ दिखा रहे हैं। उत्तम तो यह था कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नहीं होती, इसलिये निःसन्देह मेरे हृदयमें कहीं-न-कहीं विषयवासना छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊँचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएँ हैं। गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे नन्हें बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है। उस गौका प्रेम घासमें गौण है, बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमें अनन्य है, बछड़ेके लिये घासका एवं जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्य भावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्-प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं परन्तु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्‌में मुख्य प्रेम है वे हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेवमय ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं। (गीता ७। १९)

इस प्रकारके अनन्य प्रेमी भक्तोंमें कई तो प्रेममें इतने गहरे डूब जाते हैं कि वे लोकदृष्टिमें पागल-से दीख पड़ते हैं। किसी-किसीकी बालकवत् चेष्टा दिखायी देती है। उनके सांसारिक कार्य छूट जाते हैं। कई ऐसी प्रकृतिके भी प्रेमी पुरुष होते हैं जो अनन्य प्रेममें निमग्न रहनेपर भी महान् भागवत श्रीभरतजीकी भाँति या भक्तराज श्रीहनुमान्‌जीकी भाँति सदा ही 'रामकाज' करनेको तैयार रहते हैं। ऐसे भक्तोंके सभी कार्य लोकहितार्थ होते हैं। ये महात्मा एक क्षणके लिये भी परमात्माको नहीं भुलाते, न भगवान् ही उन्हें कभी भुला सकते हैं। भगवान्‌ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

मालिकका दान

रमणी यह सब देख रो पड़ी, चरणों मस्तक टेक दिया। बोली "पाप-पंकसे मेरा क्यों तुमने उद्धार किया?
क्यों इस अधमाको घर रखकर तुम सहते इतना अपमान?" कबीर बोले, "जननी! तू तो है मेरे मालिकका दान॥"

मालिकका दान

(लेखक—कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)

फैल गयी यह ख्याति देशमें, सिद्ध पुरुष हैं भक्त कबीर।
नरनारी लाखोंने आकर घेरी उनकी वन्य-कुटीर॥
कोई कहता, 'मन्त्र फूँककर मेरा रोग दूर कर दो'।
बाँझ पुत्रके लिये बिलखती कहती 'सन्त गोद भर दो'॥
कोई कहता 'इन आँखोंसे दैव-शक्ति कुछ दिखलाओ'।
'जगमें जग-निर्माताकी सत्ता प्रमाण कर समझाओ॥'
कातर हो कबीर कर जोड़े रोकर कहने लगे, 'प्रभो!
बड़ी दयाकी थी पैदा कर नीच यवनघर मुझे विभो॥
सोचा था तव अतुल कृपासे पास न आवेगा कोई।
सबकी आँख ओट बस, बास करेंगे तुम हम मिल दोई॥
पर मायावी! माया रचकर, समझा, मुझको ठगते हो।
दुनियाके लोगोंको यहाँ बुलाकर तुम क्या भगते हो?

* * * *

कहने लगे, क्रोध भारीसे भर नगरीके ब्राह्मण सब।
'पूरे चारों चरण हुए कलियुगके, पाप छा गया अब!
चरणधूलिके लिये, जुलाहेकी सारी दुनियाँ मरती।
अब प्रतिकार नहीं होगा तो डूब जायगी सब धरती!
कर सबने षड्यन्त्र एक कुलटा स्त्रीको तैयार किया।
रुपयोंसे राजीकर उसको गुपचुप सब सिखलाय दिया।
कपड़े बुन कबीर लाये हैं उन्हें बेचने बीच बजार।
पल्ला पकड़ अचानक कुलटा, रोने लगी, पुकार पुकार॥
बोली, 'पाजी निठुर छली! अबतक मैंने रक्खा गोपन।
सरला अबलाको छलना क्या यही तुम्हारा साधूपन?
साधू बनके बैठ गये वन बिना दोष तुम मुझको त्याग-
भूखी नंगी फिरी, बदन सब काला पड़ा पेटकी आग!
बोले कपट कोपकर, ब्राह्मण, पास खड़े थे, दुष्ट कबीर!
भण्ड तपस्वी! धर्मनामसे धर्म डुबोया, बना फकीर।
सुखसे बैठ सरल लोगोंकी आँखों झोंक रहा तू धूल!
अबला दीना दानों खातिर दर दर फिरती, उठती हूल!!
कबीर बोले, 'दोषी हूँ मैं, मेरे साथ चलो घरपर—
घरमें अनाज रहते क्यों भूखों मरती, फिरती दर दर!'

* * * *

दुष्टाको घर लाकर उसका विनयपूर्ण सत्कार किया।
बोले सन्त, 'दीनकी कुटिया हरिने तुझको भेज दिया॥'
रोकर बोल उठी वह, मनमें उपजा भय-लज्जा-परिताप!
'मैंने पाप किया लालचवश, होगा मरण साधुके शाप!'
कहने लगे कबीर, 'जननि! मत डर, कुछ दोष नहीं तेरा।
तू निन्दा-अपमानरूप मस्तक भूषण लाई मेरा॥'
दूर किया विकार मनका सब, उसको दिया ज्ञानका दान।
मधुर कण्ठमें भरा मनोहर उसके हरी नाम गुण गान॥
कबीर कपटी ढोंगी साधु फैली यह चर्चा सबमें।
मस्तक अवनत कर वह बोले, 'हूँ यथार्थ नीचा सबमें॥
पाऊँ अगर किनारा, रक्खूँ कुछ भी तरणी-गर्व नहीं।
मेरे ऊपर अगर रहो तुम, सबके नीचे रहूँ सही॥'

* * * *

राजाने मनही मन सन्त वचन सुननेका चाव किया।
दूत बुलाने आया, पर कबीरने अस्वीकार किया॥
बोले, 'अपनी हीनदशामें सबसे दूर पड़ा रहता।
राजसभा शोभित हो मुझसे, ऐसे भला कौन कहता?'
कहा दूतने, 'नहीं चलोगे तो राजा होंगे नाराज—
हमपर, उनकी इच्छा है दर्शनकी, यश सुनकर महाराज!'
सभाबीच राजा थे बैठे, यथायोग्य सब मन्त्रीगण!
पहुँचे साथ लिये रमणीको, भक्त, सभामें उसही क्षण॥
कोई हँसा, किसीने भौं टेढ़ीकी (कइयोंने) मस्तकझुकालिये।
राजाने सोचा, निलज्ज है फिरता वेश्या साथ लिये!
नरपतिका इंगित पाकर प्रहरीने उनको दिया निकाल।
रमणी साथ लिये विनम्र हो, चले कुटी, कबीर तत्काल!
ब्राह्मण खड़े हुए थे पथमें कौतुकसे हँसते थे तब।
तीखे ताने सुना सुना कर चिढ़ा रहे थे सबके सब!!
रमणी यह सब देख रो पड़ी! चरणों मस्तक टेक दिया,
बोली, 'पापपंकसे मेरा क्यों तुमने उद्धार किया?
क्यों इस अधमाको घर रखकर तुम सहते इतना अपमान?'
कबीर बोले, 'जननी! तू तो है मेरे मालिकका दान!'

(बंगलाका भावानुवाद)

भक्ति और भक्तिकी साधना

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

प्रेममयी मंगलमयी शान्तिमयी सुखरूप ।
हरिपदकमल विकासिनी जय जय 'भक्ति' अनूप ॥

मनुष्यमें जन्मसे रहनेवाली वृत्तियों या संस्कारोंमें भक्ति सबसे प्रधान है । भक्तिको कहींसे माँग जाँचकर नहीं लाना पड़ता । हिमालयकी गगनभेदी पर्वतमालाओंके वक्षःस्थलपर सुशोभित देवनदी गंगाकी पवित्र धाराकी भाँति मनुष्यके गम्भीर अन्तस्तलमें इस भक्तिकी पवित्र धारा अनवरत बहती ही रहती है । यद्यपि अन्तःसलिला फल्गुकी भाँति हर समय उसकी गति दिखायी नहीं देती परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह है ही नहीं । उसके बिना मनुष्यका जीवन-प्रवाह कभीका सूख गया होता ! मनुष्यका यही एक अपना विशेष धन है—यही उसके लिये ईश्वरकी एक परम पवित्र देन है । जैसे सोना किसीको बनाना नहीं पड़ता, पृथ्वीकी भीतरी गुप्त तहोंमें वह सदा विद्यमान है, केवल उसे वहाँसे उठाकर थोड़ा साफ़ कर लेनेसे ही मनुष्यके काममें आने लगता है, केवल काम ही नहीं आता, अपने वर्ण और प्रतिभासे मनुष्यका मन भी मोह लेता है, वैसे ही इस भक्तिको भी कहींसे उपजाना नहीं पड़ता । भक्ति तो मनुष्य-मात्रके गहरेसे भी गहरे हृदयस्थलका एक परम गुप्त धन है । इसे तनिक खोदकर निकालते ही इसके प्रकाश और सौन्दर्यकी प्रभासे मनुष्यका मन मुग्ध हो जाता है ।

जिसको पाकर यह दुस्तर भवसागर गोपदकी भाँति सहज और सुगम हो जाता है, जिस सम्पत्ति-का अधिकार मिल जानेपर मनुष्य दूसरोंमें भी जीवन डाल सकता है, जिसके द्वारा "स तरति स तरति स लोकान् तारयति" वह स्वयं तो तरता ही है दूसरोंको भी तार देता है और जो धन भगवान्‌को मोल लेनेके लिये असली सिक्का है वह चाहे जितना मूल्यवान् क्यों न हो, भगवान्‌ने उससे कोरा रखकर अनाथकी भाँति मनुष्यसमुदायको इस जगत्‌में नहीं भेजा है । यदि भक्तिरूपी धन दुष्प्राप्य होता तो फिर मनुष्य-भण्डारमें ऐसी दूसरी वस्तु ही न मिलती जिसके बदले वह भगवान्‌को पा सकता ।

माँ अपने बच्चेको किसी कामसे दूर भेजते समय वापसीका राहखर्च पल्ले बाँध देती है, तो क्या यह संभव है कि सब जीवोंके माता-पिता भगवान् अपनी सन्तानका इस जगत्‌में भेजते समय वापसी राहखर्च कुछ भी न दें । मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि उसने हमें अपने पास लौट जाने, अपने चरणस्पर्श करने भरका सामान हमारे साथ अवश्य कर दिया है । हम यदि उसकी ओरसे आँखें बन्द कर लें—पल्लेबँधी पूँजीको बिसर जायँ तो यह दोष भगवान्‌का नहीं, हमारा है । यदि वह खाली हाथ हमें इस जगत्‌में भेज देता तो कदाचित् उसकी करुणा पर सन्देह करना सर्वथा अन्याय न कहलाता परन्तु उसपर यह कलङ्क नहीं लग सकता । राहभूले पथिकों-का वही तो ध्रुवतारा है—वही तो प्रेमियोंके हृदया-काशका निष्कलङ्क चन्द्रमा है ।

आप यह जानना चाहते होंगे कि मनुष्यके साथ वह नित्य पाथेय क्या है और कहाँ है ? बन्धुओ, वह है हमारा चिरपरिचित 'प्रेम' यही जीवसे जीवके

मिलनका सुन्दर सेतु है, यही पारस्परिक प्राणोंका आकर्षण है जो मनुष्यके हृदयमें सहजात संस्काररूपसे नित्य विद्यमान है। इसके द्वारा मनुष्यसे केवल मनुष्यका ही मिलन नहीं होता परन्तु मनुष्येतर जीवका—मानवके साथ मानवात्माका महामिलन हो जाता है। जिस प्रबल आकर्षणके कारण कंजूस धनके लिये प्राण दे सकता है, माता पुत्रके लिये प्राणोंकी परवाह नहीं करती, सुहृद् सुहृद्के लिये धन और जीवनको तुच्छ समझता है, प्रेमिका अपने प्रियतमके लिये सारे दुःख-कष्ट हँसती हुई झेल लेती है और जिसके लिये यह मानवात्मा निरन्तर व्याकुल है, वह व्याकुलता ही—वह प्राणोंका आकर्षण ही भक्त और भगवान्के बीच मिलनका महासेतु है। इसी पाथेयके द्वारा मोहमुग्ध मानव उस अनिर्देश्य अव्यक्त परमधामका यात्री होनेको अपने हृदयमें आध्यात्मिक आकुलताका अनुभव करता है। इस व्याकुलताको ही हम 'प्रेम' कहते हैं। यह आकर्षण जब सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रचण्ड व्याकुलताका अनुभव करता है तब उसका नाम होता है—'काम' और जब यही आकर्षण परमात्माकी ओर जाता है तब इसकी संज्ञा 'परानुराग' या 'प्रेम' होती है।

'प्रेम-मूल्य केवलसे तुमको भक्त मोल ले सकते हैं।'

यह अनुराग ही उसे पानेकी कीमत है। इसीका दूसरा नाम है 'भक्ति' 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा'—वह भक्ति परम प्रेमरूपा है। हम प्यार तो बहुतेरी चीजोंसे करते हैं—धन, माँ बाप, लड़के-लड़कियाँ, मित्र और पत्नी, फल और फूल, शोभा सौन्दर्य और सुगन्धसे भी प्यार करते हैं, अपने शरीर और जीवनसे कितना प्यार करते हैं, और भी न मालूम किन-किनसे प्यार करते हैं! पर यही प्यार जब भक्तके हृदयमें अङ्कुरित, पल्लवित और फल-पुष्पसमन्वित होकर महान् वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है, जब उसका वेग किसी प्रकार नहीं रुकता, जब कोई विघ्न-बाधा उसे रोकनेमें समर्थ नहीं होती, भादोंकी भरी और छलकती हुई नदीके जलकी भाँति जब वह दोनों किनारोंको प्लावित करता हुआ तीव्र वेगसे महासिन्धुकी ओर महायात्रा करता है उस समयके लिये श्रीमद्भागवत कहती है कि 'भगवान् वासुदेवमें लगा हुआ यही प्यार भक्तिके नामसे पुकारा जाता है।' फिर यह किसीके वशका नहीं रहता। तभी यह जीवके लिये परम कल्याणदायक होकर उसे परमानन्द-प्राप्तिका अधिकारी बनाता है। इसीसे ज्ञान, वैराग्य आदि स्फुरित होते हैं और इसीसे 'ययात्मा सम्प्रसीदति'—यह आत्मा सुप्रसन्न होता है। फिर जीवनभर इस प्रेमानन्दका महामहोत्सव होता रहता है। यह कभी रुकता नहीं। भक्त कबीर कहते हैं—

छिनहिं चढ़े छिन ऊतरे, सो तो प्रेम न होय।
आठ पहर लाग्यो रहै, प्रेम कहावे सोय॥

इस प्रेमका आस्वादन जितना मधुरातिमधुर है—'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं' उतनी ही इसकी ज्वाला भी तीव्र और प्रचण्ड होती है। साधारण भक्तोंके लिये यह प्रेम बहुत दुर्लभ है, यह विषय व्यापार-रहित निर्मल रस है। जैसे समुद्रके अगाध जलमें डूबे बिना महामूल्यवान् मणि नहीं मिल सकती, वैसे ही इस प्रेम-मुक्ताके लिये भी भावसमुद्रके अगाध जलमें भक्तको डूबना पड़ता है। इसका निकास हृदयमें ही है, परन्तु बड़ी सावधानीसे गोता लगाना चाहिये। इसमें बड़े कठोर त्यागकी आवश्यकता होती है। वैराग्यसे चित्त ओतप्रोत हुए बिना इस प्रेमका पता पाना असम्भव है। भागवतमें कहा है कि भगवान्में भक्ति करनेसे ही 'जनयत्याशु वैराग्यम्'—तत्काल वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्यकी खलबलाती हुई कड़ाहीमें पकाकर भगवान् अपने भक्तको शुद्ध कर लेते हैं।

बहुजन्म-सञ्चित पापोंका महान् भार जो मनुष्यके हृदयमें पत्थरकी नाईं जमा है वह वैराग्य-अग्निके ताप-से गल-गलकर बह जाता है। जबतक भगवन्नामस्मरण-रूपी ईंधन धधकने नहीं लगता तबतक वह पापोंका पहाड़ नहीं पिघलता और न मनुष्यकी विषय-रस-भोग-इच्छा ही मिटती है, इसीलिये भगवान् भक्तकी बार-बार परीक्षा करते हैं वे किसी तरह भी उसपर क्षमा नहीं करते, यह उनकी असीम भक्तवत्सलता है ! इस अग्निपरीक्षामें बहुतेरे भक्तोंको जलभुनकर भस्म हो जाना पड़ता है। उनका उत्कृष्ट अंश तो भाप बनकर ऊपर उड़ जाता है और निकृष्ट अंश भस्मरूपमें परिणत हो जाता है, इसलिये वह किसीके भी भार या भयका कारण नहीं होता, निकृष्ट अंशकी तो राख यों ही होनी चाहिये। तभी यह राख परम पवित्र समझी जाती है।

अब यहाँ सवाल उठता है कि क्या यों जलकर खाक हो जाना ही बस है ? और कुछ नहीं होता ? होता क्यों नहीं ! हृदय पवित्र हो जाता है फिर उसमें कोई कामना नहीं उठती, केवल एक प्रियतमके मिलन-की आशा उठती और बढ़ती रहती है, इसीलिये खाक होनेकी बात कही गयी, यह भस्म ही त्यागीके अंगका भूषण है। यों पवित्र हो जानेपर ही भगवान्-का विरहताप भक्तके लिये असह्य हो जाता है, वह दिन-रात विरहाग्निसे जलता रहता है, जलकर खाक हो जाता है पर मुँहसे घबराकर कभी नहीं कहता कि 'मैं तुम्हें नहीं चाहता, भक्त कहता है, 'प्रभो ! तुम्हारा विरह मेरे लिये गरल और अमृत दोनों हैं, उबलते हुए ईखके रसके समान बड़ा मीठा, साथ ही जलानेवाला भी है, प्रभो ! कब आओगे ? प्रभो ! तुम्हारे पदस्पर्शसे यह तापित प्राण कब शीतल होंगे ? हे वारिदवदन ! तुम्हारे प्रेमामृतकी धारासे यह भूमि कब सींची जायगी ? इसी आशापर जीता हूँ। देखना, कहीं हताश न होना पड़े, अबतक जो इतना जलता रहा हूँ—इतना दग्ध होनेपर भी तुम्हारी आशासे जीता रहा हूँ यह मेरी शक्तिसे नहीं, 'तव कथामृतं तप्तजीवनम्'—इस जलते हुए जीवनको तुम्हारा कथामृत ही अमृतदान देकर जिलाता है, इसी कारण-से अबतक बचा हूँ।'

इसीलिये भक्त उनके नामकी महिमासे मुग्ध होकर गाता है—'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्' उनके विरहतापसे दग्ध होकर भक्त रोता है और पुकारता है—

हा ! हा ! सखि क्या करूँ उपाय !
कहा करूँ जाऊँ कहाँ, कहाँ मिले वह कृष्ण।
कृष्ण बिना ये प्रान जायँ। हा ! हा ! सखि०

कृष्ण-कथाके सिवाय भक्तको और कोई बात नहीं सुहाती, कृष्णविरहमें भक्तका बाह्य व्यवहार विलुप्त हो जाता है और वह रातदिन विरहकी ज्वालामें जलता हुआ पुकारता रहता है—

हा ! हा ! कृष्ण प्राणनाथ ! व्रजेन्द्रनन्दन !
कहाँ जाऊँ ? कहाँ पाऊँ ? मुरलीवदन !!

विरहके प्रचण्ड उत्तापसे जब भक्तका मृत्युकाल उपस्थित हुआ जान पड़ता है तब क्या दयामय हरि, —भक्तोंके भगवान् चुपचाप बैठे रह सकते हैं ? वे उस समय जो कुछ करते हैं भक्त कबीरने बड़ी ही सुन्दर भाषामें बतलाया है—

बिरहिनि जलती देखके साईं आवै धाय।
प्रेमबूँदसे सींचके तनमें लेय मिलाय॥

भक्त भी प्रभुको देखकर आँखोंमें आँसू बहाता हुआ गद्गद कण्ठसे हाथ जोड़कर कहता है—'प्यारे ! अब तो तुम्हारा वियोग सहा नहीं जाता'।

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेण मे॥

(शिक्षाष्टकात्)

अहो ! भक्तजीवनकी कैसी सुन्दर परिसमाप्ति है ! ससीम-असीमका कैसा महा मिलन है ! इस प्राप्तिकी कीमत क्या हो सकती है ? इस समय भक्त सोचता है कि मैंने जितनी वेदना भोगी है, जितना दुःख-ताप सहन किया है उससे करोड़गुना होनेपर भी इस सुख-की कीमत नहीं हो सकती, उसी समय यह मालूम होता है कि भगवन् ! तुम दीनदयालु हो ! इतने मामूली मोलमें तुम भक्तके हाथ अपनेको बेच डालते हो ! तुम धन्य हो और तुम्हारे भक्त धन्य हैं !

इस मिलनके लोभसे लोभातुर होकर ही तो भक्त हरिदासने मुसलमान शासकके दिये हुए प्रचण्ड दण्ड-की उपेक्षाकर बड़ी दृढ़तासे कह दिया था—

टुकड़े टुकड़े देह हों, तनसे निकलें प्रान।
तब भी मुख त्यागूँ नहीं हरी नामकी तान॥

इतनेसे पाठक यह जान गये होंगे कि भगवान्ने अपने मिलनेका साधन हमें दे रक्खा है, उसके लिये चिन्ताकी आवश्यकता नहीं। अब यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब उनकी प्राप्तिका मूल्य हमारी जेबमें ही है तब हम उन्हें पाते क्यों नहीं ? इतनी विपत्तियों-में पड़कर हमें इधर-उधर भटकना क्यों पड़ता है ? भाई ! हम अपने समझके दोषसे ही इन विपत्तियोंमें पड़े हुए हैं। इसीके लिये कुछ विचार और सत्संगकी आवश्यकता हुआ करती है। जैसे बालक विचार और परामर्शदाताके अभावसे घरमें अन्नादि सम्पूर्ण पदार्थ होनेपर भी भोजन न पाकर इधर-उधर भटकता है वैसे ही यह जीव सत्संग और सद्गुरु बिना पासमें सब कुछ रहते भी दरिद्रकी भाँति दुःख उठाता है परन्तु यह दुःख भी व्यर्थ नहीं होता। इसीसे उसे अपनी भूली हुई वस्तुका स्मरण होता है और वह उसकी खोज करनेकी कोशिश करता है। एक बार यों जाग जानेपर फिर कोई खटका नहीं !

ऊपर कहा जा चुका है कि हम साथ लायी हुई पूँजीसे भगवान्का चरणस्पर्श पानेकी योग्यता प्राप्त कर सकते हैं लेकिन हमने उस हीरा हासिल करनेकी पूँजीको काँचके टुकड़े लेनेमें लगा दिया। जिस मूल्य-वान् खादद्वारा भूमिके उपजाऊ होनेपर कितने ही मधुर फलोंके वृक्ष लग सकते थे, हमने अपनी मूर्खतासे उस उर्बरा भूमिमें झाड़झंखाड़ पैदा कर लिया। जहाँ सुन्दर पुष्पावली अपनी शोभा और सुगन्धसे सब दिशाओंको प्रमुदित कर सकती थी, वहाँ हमने ऐसे पेड़ उपजाये कि जिनके फूलोंकी दुर्गन्धसे आज हम स्वयं व्याकुल हैं। घरमें महामूल्यवान् मणि थी परन्तु हमने उससे अपना ऐश्वर्य न बढ़ाकर उसके बदलेमें क्षण-भङ्गुर केवल दीखनेमें सुन्दर थोड़े-से काँचके टुकड़े ख़रीद लिये और उन्हींकी रक्षा करनेमें हमारा यह अमूल्य जीवन भी मौतके द्वारपर आ पहुँचा। बड़े-बड़े कष्ट-दुःख झेलकर जिस संसारकी रक्षा की उसके राज्यसिंहासनपर उसके असली रचयिताको न बैठाकर उसे काम, क्रोधादि चोर-डाकुओंको सौंप दिया। इससे संसार तो बना, पर प्रभु नहीं मिले ! यही हमारा कर्मदोष है—यही हमारा दुर्भाग्य है ! परन्तु भाई, मुसाफिरो ! इस दुर्भाग्यकी कलङ्ककालिमा तो हमने अपने ही हाथों अपने मुँह पोती है ! अब अपने ही हाथों इसे धोकर साफ भी करना पड़ेगा। सुतराम् "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"। (कठ० ३।१४)

अब वह उपाय ढूँढ़ना चाहिये जिससे यह दुर्भाग्य सौभाग्यके रूपमें बदला जा सके। इस विषयमें शास्त्र, साधु और गुरुवाक्योंको ही हमें अपना मार्गदर्शक बनाना पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं है। पथभ्रान्त पथिकोंकी भ्रान्ति दूर करनेके लिये दूसरा कोई पथ नहीं दीखता।

हमारा अपना मान-अभिमान, हमारे सामाजिक संस्कार और अभ्यासका दोष ही इस मार्गकी प्रधान

कठिनाई है। हम सभी भ्रममें डूबे पड़े हैं—अभिमानसे अन्धे हो रहे हैं। यही कारण है कि जिसके लिये दुनियामें आये, गर्भवासका कष्ट सहा और बादको कितनी ही शारीरिक और मानसिक पीड़ाएँ भोगीं, उसे पा न सके। कौड़ी-कौड़ीके लिये कलह करते जन्म गँवाया परन्तु जिसके लिये जन्म लिया था उसे भूल गये—जीवनको व्यर्थ कामोंमें ही खो दिया। बस, नावके डाँड खो नदी-किनारे बैठकर रोना ही हमारे भाग्यमें रह गया! इस पापका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, यह भूल सुधारनी होगी और फिर एक बार नौकाके डाँड किसीसे माँग-जाँचकर लेने होंगे। हम-सा दीन और कौन है? कौन ऐसा आर्त है जिसके पास पार जानेका कोई साधन नहीं! वह किस बातपर इतरा सकता है? न हम धनी हैं, न ज्ञानी हैं, न सुखी हैं, धन-मानकी भ्रान्ति मिटाकर ही हमें उस पारका यात्री बनना पड़ेगा। हम-सरीखे कंगालोंके भी कंगालोंको अभिमान किसी प्रकार शोभा नहीं दे सकता, यह अभिमान-अहङ्कार ही हमारे लिये अठ-फाँसी (आठ तरहकी फाँसी) है और अज्ञान ही हमारे इस फाँसीमें जकड़े जानेका कारण है। किस साधनसे, किस अभ्याससे जीव इस अठफाँसीसे छूट-कर भगवत्साधनसे कृतकृत्य हो सकता है? इस सम्बन्धमें महाप्रभु चैतन्यदेवने सनातन गोस्वामीको जो उपदेश किया था वह बड़ा सुन्दर है, हमारे लिये वही एकमात्र अवलम्ब है—

नीच जाति जन्म भये भजनके अयोग्य नाहिं,
ऊँची जाति केवल नाहिं भजन अधिकारी है।
जो ही भजे सो ही बड़ो, भक्तिहीन, हीन-मन्द,
कृष्ण भजन माँहि जातिपाँति नहिं बिचारी है॥
कृष्ण-प्रेम दैनहारि नवविधा भक्ति श्रेष्ठ,
सकल भजन माँहिं यहै महा शक्तिधारी है।
सकल माँहिं श्रेष्ठ एक कृष्ण-नाम-कीर्तन, जो,
'दोष छाँड़ि लीन्हे' देवै, प्रेमधन भारी है॥

फिर वही आफत! निर्दोष होकर नाम लेनेकी शर्त! ठहरो, घबराओ मत! व्याकुल होकर उसका नाम अवश्य लेते रहो। बस, नामकी शक्तिसे अपने आप निरपराध बन जाओगे, कुछ आँसू तो अवश्य खर्च करने पड़ेंगे। अभिमान, दम्भ छोड़कर अपने अपराधोंके लिये व्याकुल होकर अनन्य चित्तसे जो नाम लेता है उसके सब अपराध क्षमाकर भगवान् उसे अपना लेते हैं। उनकी बड़ी दया है। यदि हम इस दयाको न लूट सकें तो हम-सा अभागा कौन होगा? महाप्रभुने कृष्णप्रेम पैदा करनेके लिये नाम-जपकी विधि बतलायी है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(श्रीचैतन्यमहाप्रभुश्रीचरणानाम्)

इसीसे हमें बुरा संग, बुरी चिन्ताएँ, स्त्रीसंगियों-का और धनलोभियोंका संग त्याग करनेको कहा गया है। असत्यको सत्य समझनेसे चित्तका मोह दूर नहीं होगा। इसीलिये धन, जीवन, यौवन और आयुको चपलाकी भाँति चञ्चल समझकर उस परम सत्यकी खोज करनी होगी। इसपर भी जबतक भोगोंकी कामना रहेगी तबतक हृदयमें सच्ची भगवद्भक्ति स्फुरित नहीं होगी। अतएव भोग-कामनाओंको जगानेवाले स्त्री-संगियोंके संगका त्याग करनेकी आवश्यकता है। जो लोग असाधु हैं यानी जिनका लोकव्यवहार अपवित्र है, जो भगवान्‌का भजन नहीं करते उनका सांसारिक पदार्थोंकी ओर झुकना अवश्यम्भावी है। ऐसे लोगोंका भी संग भक्ति चाहनेवालोंको सर्वथा त्याग करना होगा।

इन सब साधनोंके लिये वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। वैराग्यहीन चित्तमें ज्ञान या भक्तिका उदय नहीं होता। लेकिन वैराग्य यकायक हो कैसे? जिन लोगों-को विचार नहीं है, जो प्रसन्नचित्तसे मुक्तहस्त होकर दान नहीं कर सकते, जो साधुसंगसे वञ्चित हैं और सन्तोषरूपी अमृतके पानसे परितृप्त नहीं हैं, उनके

स्मरण-भक्त—प्रह्लाद और भगवान् श्रीनृसिंह देव

चित्तमें भगवच्चरणारविन्द-लाभकी आशा-ज्योतिका प्रकाश होना सम्भव नहीं है । ऐसे लोग इस मायाके गहन वनसे क्योंकर निकल सकेंगे ? यही सोचकर साधु महापुरुषोंने यह आदेश दिया है कि 'भक्ति न हो, तो भी विनीत चित्तसे भगवान्‌का भजन करते रहो । किसी दिन चित्त अवश्य पिघलेगा । चित्तके द्रवित होनेपर संसारके उस पार पहुँचनेमें देर न लगेगी, इससे भजन मत छोड़ो । पर सावधान, अपना भजन दुनियाको दिखाते मत फिरना ।'

इस सम्बन्धमें महाप्रभुने धनीसन्तान रघुनाथदासको जो उपदेश दिया है वह बड़ा ही आशाप्रद जान पड़ता है ।

पागलपन मत करहु, जाहु अपने घर थिर मन ।
भवसागरके पार यही क्रम पहुँचहिं सब जन ॥
बनहुँ न लोग दिखाय कबहुँ मरकट बैरागी ।
भोगहु बिषय असंग यथोचित होइ अरागी ॥
अन्तर निष्ठा करहु बाह्य लौकिक व्यवहारा ।
सत्वर करिहैं कृष्ण तोर भवतें उद्धारा ॥

'श्रीकृष्ण अवश्य उद्धार करेंगे' इस बातका दृढ़ भरोसा रखकर भजन करते रहना चाहिये । जो श्रद्धा-विश्वासयुक्त होकर असीम निर्भरताके साथ भगवदुपासनामें मन लगाता है वह इस अपार भवसागरका किनारा शीघ्र ही देख पाता है इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है । भगवान्‌पर भरोसा करके भजन किस तरह किया जाय, अब यही बात बतलायी जाती है । श्रवण और कीर्तन ये दो अङ्ग साधकके लिये सबसे पहले अवलम्बन करने योग्य हैं । 'कलौ केशवकीर्तनात्' इस नाम-सङ्कीर्तनमें बुद्धिको स्थिर करनेके लिये पुनः-पुनः भगवान्‌के गुणानुवाद श्रवण करने चाहिये । सुनते-सुनते ही भगवान्‌के नाममें रुचि होगी और रुचिपूर्वक नाम लेते-लेते निश्चयात्मिका बुद्धिका प्रादुर्भाव होगा । भगवान्‌ने गीता १० । ९ में यही कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

प्रेमसे भजन करते-करते ही साधक मच्चित्त होते हैं, इसीका नाम ध्यानावस्था है, इस अवस्थामें विक्षेप नहीं है । यह अवस्था जब भङ्ग हो जाती है तब वह भगवान्‌का गुणानुवाद गाने लगते हैं, भगवान्‌की बातोंको छोड़कर उनसे रहा नहीं जाता । वे केवल भगवत्-प्रसङ्ग और हरिकथाकी ही आलोचना करते हैं, उसीको समझते-समझाते रहते हैं । क्योंकि वह मद्गतप्राण हैं । विक्षिप्तावस्था खूब घन होने लगती है तब वह 'नामसङ्कीर्तन'-रसमें मग्न हो जाते हैं । इस तरह वह क्रमशः आत्माराम होकर परमानन्दके अधिकारी बन जाते हैं ।

भगवान्‌की बातें कहने और सुननेमें जब बड़ा आनन्द आने लगेगा तभी भजनको ठीक समझना चाहिये । आनन्द तो अवश्य आवेगा । पहले उसके आनेमें कुछ देर हो जाय तो हताश नहीं होना चाहिये । भगवान्‌का नाम स्मरण करते रहो, गुणानुवाद सुनते और गाते रहो, देखना, सूखी गङ्गामें बाढ़ आ जायगी । सूखे पेड़ लहलहा उठेंगे और फल-फूलोंके भारसे झुक जायँगे । उनके अप्रतिम वीर्यरसके सामने सारे रस फीके पड़ जायँगे ।

लोग कहते हैं, 'हममें भक्ति नहीं है, नाम लेनेसे क्या होगा । यह तो केवल शब्दोंका उच्चारणमात्र है ।' यह बात नहीं है, भक्ति पहले ही नहीं आ जाती । नामके प्रतापसे ही भक्तिका आविर्भाव होता है । इसीसे प्रभुके नामकी पुकार करता हुआ जो साधक कहता है 'प्रभो ! मैं भक्तिबलसे रहित बड़ा ही अभागा हूँ—बड़ा ही दरिद्र हूँ, मुझे तुम प्यारे नहीं लगते । मैं भवरोगसे इतना घिर रहा हूँ कि मुझे तुम्हारे नाममें भी मिठास नहीं आता । प्रभो ! दया करके मुझे अपने चरणोंमें आश्रय दो ! यदि इस

पतितको तुम नहीं उठाओगे, तो फिर मेरे लिये तुम्हारे चरणस्पर्श करनेका और कोई उपाय नहीं है । इसीसे तुम्हारी दयापर निर्भर करके यह दीन तुम्हारे दरवाजेपर पड़ा है ।'

ऐसे आर्तभक्तपर दया करनेमें प्रभु कभी नहीं चूकते । भगवान् उसका सारा पाप-पङ्क धोकर उसे पवित्र बनाकर अपनी गोदमें ले लेते हैं । हमने तो यही बात भक्तोंके मुखसे सुनी है, इसीसे बड़ी आशा होती है ।

भगवान् कृपासिन्धु और अनाथनाथ हैं इस बात-पर कभी अविश्वास या अश्रद्धा न होनी चाहिये । जबतक बीमारी है तबतक अन्नका स्वाद नहीं लगता, रोग मिटते ही भूख बढ़ती है । अन्नमें भी रुचि होती है । इस रोगनाशके लिये 'भगवन्नाम' ही औषध है । भगवन्नाम स्मरण करते-करते जब भवरोग शान्त हो जाता है तभी नाममें वास्तविक रुचि होती है । अरुचिमें रोगीको मिश्री भी कड़वी लगती है परन्तु पित्तरोगकी दवा 'मिश्री' ही है । इसी प्रकार नाममें रुचि न हो तो नामरूपी औषधका ही प्रयोग करना चाहिये । नाम लेते-लेते नाममें रुचि हो जायगी । जिसकी नाममें रुचि होती है वही भाग्यवान् पुरुष है ।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिके प्रादुर्भावका क्रम बड़ा ही सुन्दर बतलाया है । इस प्रसङ्गको स्मरण रखना बहुत ही उत्तम और आनन्ददायक होता है ।

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥

(भागवत १ । २ । १५—२२)

श्रवणकीर्तनसे कैसे नैष्ठिकी भक्ति और उसके द्वारा वैराग्य तथा ज्ञानका उदय होकर आत्मसाक्षात्कारसे मुक्ति हो जाती है । इन श्लोकोंमें इसीकी व्याख्या की गयी है । मोक्षमें प्रधान विघ्न है 'कर्मोंकी ग्रन्थि' परन्तु भगवत्-कथा श्रवण करते-करते यदि शरणागतिका भाव जाग उठता है और उसके द्वारा भगवान्‌का ध्यान होनेसे कर्मबन्धन कटकर कैसे मुक्तिका अधिकार मिल जाता है इसी प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि साधु-सेवा और तीर्थाटनादिसे मनुष्य सेवक बनता है । इस सेवाके भावसे ही क्रमशः वासुदेवकी कथामें रुचि होती है । जी चाहता है सुनता ही रहूँ । इस कथा-रुचिसे ही हमारे हृदयके अकल्याणकारी विषय—काम, क्रोध, लोभादिकी उत्तेजना धीरे-धीरे शान्त हो जाती है । भगवान् कृपा करके स्वयं ही भक्तके सामर्थ्यसे बाहर काम, क्रोधादिके बुरे वेगको मिटा देते हैं । 'ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठारुचिः स्यात्' इसके बाद निष्ठा और रुचि बढ़ती है, उत्तमश्लोक भगवान्‌में भक्तका अनन्य प्रेम हो जाता है । इसके बाद रज और तमोगुणसे उत्पन्न काम, लोभादि उसके चित्तपर आघात नहीं पहुँचा सकते । उस भजन-परायण भक्तकी सत्त्वगुणमें स्थिति हो जाती है और उसके हृदयमें ब्रह्मचिन्तनकी अप्रतिहत धारा बहने लगती है । इसी एकाग्र ध्यानसे भगवान्‌की कृपा यानी उनके आनन्दमय भाव-प्रेमका साक्षात् होता है, इस

तरह भगवान्के प्रति भक्ति होनेसे ही उनसे योग या मिलन होता है । इस मिलनके फलसे भगवत्-तत्त्व-विज्ञान और मुक्तसङ्ग-अवस्था प्राप्त होती है, ज्ञान-वैराग्य जाग उठते हैं, उस ज्ञानसे भगवान्के परम ऐश्वर्य और माधुर्यकी अनुभूति होती है, बाह्य सांसारिक विषयोंकी भावना मिट जाती है यही परवैराग्य है । इस अवस्थामें स्त्री-पुत्रमें आसक्तिका नाश हो जाता है । धनधान्यादिकी स्पृहा ध्वंस हो जाती है । इसीका नाम 'हृदय-ग्रन्थि-भेद' है । इसके साथ ही सब प्रकारके संशय मिट जाते हैं । भक्त अटल विश्वास और अविचल ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाता है । उसके जन्म-जन्मान्तर-सञ्चित प्रारब्ध कर्म जल जाते हैं । इसीलिये भक्ति और उसके कारणस्वरूप श्रवण-कीर्तन-के प्रति भक्तोंका इतना अनुराग देखनेमें आता है । यही आत्मप्रसादप्राप्तिका परम उपाय है ।

भक्तोंके चरणकमलोंमें प्रणामकर आज इन शब्दोंके साथ मैं विदा लेता हूँ । इस भक्तिकी धारा भारतवर्षमें कैसे क्रमविकासको प्राप्त होकर आनन्द-रस-सिन्धुकी ओर जोरसे बही है, हो सका तो कभी इस विषयमें कुछ कहनेकी वासना है । यदि भगवद्भक्त अपनी कृपासे मुझमें शक्ति सञ्चार कर देंगे तो मैं कुछ लिख सकूँगा । नहीं तो पंगुद्वारा पर्वत-लङ्घनके सदृश मेरे लिये तो यह सदा ही असम्भव है !

भक्तराज भीष्मपितामह

यस्मिन्धृतिर्बुद्धिपराक्रमौजः सत्यं स्मृतिर्वीरगुणाश्च सर्वे ।
अस्त्राणि दिव्यान्यथ संनतिर्ह्रीः प्रिया च वागनसूया च भीष्मे ॥ (महा० द्रोण० २ । ४)

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः । यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन ॥ (भीष्म)
(महा० आदि० १०३ । १५)

भक्तराज भीष्मपितामह महाराज शान्तनुके औरस और गंगादेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । वशिष्ठ ऋषिके शापसे आठों वसुओंने मनुष्ययोनिमें अवतार लिया था जिनमें सातको तो गंगाजीने जन्मते ही जलके प्रवाहमें बहाकर शापसे छुड़ा दिया । द्यो नामक वसुके अंशावतार भीष्मको राजा शान्तनुने रख लिया, गंगादेवी पुत्रको उसके पिताके पास छोड़कर चली गयी । बालकका नाम रक्खा गया था देवव्रत ।

दासपालिता सत्यवतीपर मोहित हुए धर्मशील राजा शान्तनुको विषादयुक्त देखकर युक्तिसे देवव्रतने मन्त्रियोंद्वारा पिताके दुःखका कारण जान लिया और पिताकी प्रसन्नताके लिये सत्यवतीके धर्मपिता दासके पास जाकर उसकी इच्छानुसार 'राजसिंहासनपर न बैठने और आजीवन ब्रह्मचर्यपालनकी' कठिन प्रतिज्ञा करके पिताको सत्यवती विवाह दी । पितृभक्तिसे प्रेरित होकर देवव्रतने अपना जन्मसिद्ध राज्याधिकार छोड़कर सदाके लिये स्त्रीसुखका भी परित्याग कर दिया, इसलिये देवताओंने प्रसन्न होकर पुष्पवृष्टि करते हुए देवव्रतका नाम भीष्म रक्खा, पुत्रका ऐसा त्याग देख-कर राजा शान्तनुने भीष्मको वरदान दिया कि—'तू तबतक जीना चाहेगा तबतक मृत्यु तेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकेगी, तेरी इच्छामृत्यु होगी' पितृ-भक्त और आजीवन अस्खलित ब्रह्मचारीके लिये ऐसा होना क्या बड़ी बात है ? कहना नहीं होगा कि भीष्मने आजीवन प्रतिज्ञाका पालन किया !

भीष्मने क्षत्रिय-कुल-संहारक परशुरामसे युद्धविद्या सीखी थी परन्तु जब परशुरामने काशिराजकी कन्या अम्बासे भीष्मको विवाह करनेके लिये आग्रह किया

और बात न माननेपर युद्धके लिये ललकारा, तब क्षत्रिय धर्मके अनुसार उन्हीं परशुरामसे लगातार तेईस दिनोंतक घोर संग्रामकर उन्हें अपने बाहुबलका अतुल परिचय दिया था, इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रिय-हीन करनेवाले अमित तेजस्वी परशुराम भीष्मका पराभव नहीं कर सके, अन्तमें देवताओंने बीचमें पड़कर युद्ध बन्द करवाया परन्तु भीष्मकी प्रतिज्ञा भङ्ग न हुई। जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, भरतवंश और राज्यका कोई आधार नहीं रहा तब सत्यवतीने भीष्मसे राजगद्दी स्वीकार करने या पुत्रोत्पादन करनेके लिये कहा, भीष्म चाहते तो निष्कलङ्क कहलाकर राज्य और स्त्री-सुख अनायास भोग सकते थे परन्तु अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये, मनुष्यके मनको अत्यन्त आकर्षित करनेवाले इन दोनों भोगोंपर उन्होंने लात मार दी, सत्यवतीके बहुत आग्रह करनेपर भीष्मने स्पष्ट कह दिया कि—'माता! तू इसके लिये आग्रह न कर। पञ्च महाभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य और चन्द्रमा चाहे अपने तेज और शीतलताको त्याग दें, इन्द्र और धर्मराज अपना बल और धर्म छोड़ दें परन्तु तीनों लोकोंके राज्यसुख या उससे भी अधिकके लिये मैं अपना प्रिय सत्य कभी नहीं छोड़ सकता।'

भीष्मजीने दुर्योधनकी अनीति देखकर उसे कई बार मीठे-कड़े शब्दोंमें समझाया था पर वह नहीं समझा और जब युद्धका समय आया तब पाण्डवोंकी ओर मन होनेपर भी भीष्मने बुरे समयमें आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म समझकर कौरवोंके सेनापति बनकर पाण्डवोंसे युद्ध किया, युधिष्ठिरको, 'पुरुष अर्थका दास है पर अर्थ किसीका दास नहीं' यह सच्ची स्थिति कहकर वृद्ध होनेपर भी दस दिनतक एक तरुण योद्धाकी तरह रणभूमिमें बड़े-बड़े वीरोंको छकाया, कौरवोंकी रक्षा असलमें भीष्मके कारण ही कुछ दिनोंतक हुई, महाभारतके अठारह दिनोंके सारे संग्राममें दस दिनोंका युद्ध तो अकेले भीष्मजीके सेनापतित्वमें हुआ, शेष आठ दिनोंमें कई सेनापति बदले। इतना होनेपर भी भीष्मजी पाण्डवोंके पक्षमें सत्य देखकर उनका मंगल चाहते और यह मानते थे कि अन्तमें जीत पाण्डवोंकी होगी!

भीष्मजी ज्ञानी, दृढ़प्रतिज्ञ, धर्मविद्, सत्यवादी, विद्वान्, राजनीतिज्ञ, उदार, जितेन्द्रिय, अप्रतिम योद्धा और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे, श्रीकृष्ण महाराजको अवताररूपमें सबसे पहले भीष्मजीने ही पहिचाना था, धर्मराजके राजसूययज्ञमें युधिष्ठिरके यह पूछनेपर कि 'अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये,' भीष्मजीने स्पष्ट शब्दोंमें यह कह दिया कि 'तेज, बल, पराक्रम तथा अन्य सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ सर्वप्रथम पूजा पाने योग्य हैं, भीष्मकी आज्ञासे सहदेवके द्वारा श्रीकृष्णकी पूजा होनेपर जब शिशुपाल आदि राजा बिगड़े और उत्तेजित होकर कहने लगे कि 'इस घमण्डी बुड्ढेको पशुकी तरह काट डालो या इसे खौलते हुए तेलकी कड़ाहीमें डाल दो, तब भीष्मने कुछ भी न घबराकर स्वाभाविक तेजसे तमककर कहा कि—'हम जानते हैं श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण हैं, इन्हींके द्वारा यह चराचर विश्व रचा गया है, यही अव्यक्त प्रकृति, कर्ता, सर्व भूतोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं, यही सबसे बड़े पूजनीय हैं, जगत्‌के सारे सद्गुण इन्हींमें प्रतिष्ठित हैं। सब राजाओंका मान मर्दनकर हमने श्रीकृष्णकी अग्रपूजा की है, जिसे वह मान्य न हो वह श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेको तैयार हो जाय! श्रीकृष्ण जो सबसे बड़े हैं, सबके गुरु हैं, सबके बन्धु हैं और सब राजाओंसे पराक्रममें श्रेष्ठ हैं उनकी अग्रपूजा जिसे अच्छी नहीं लगती उन मूर्खोंको क्या समझाया जाय?'

यज्ञमें विघ्नकी सम्भावना देखकर जब धर्मराजने भीष्मसे यज्ञरक्षाका उपाय पूछा तब भीष्मने दृढ़ निश्चय-के साथ कह दिया 'युधिष्ठिर ! तुम इसकी चिन्ता न करो, शिशुपालकी खबर श्रीकृष्ण आप ही ले लेंगे ।' अन्तमें शिशुपालके सौ अपराध पूरे होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने वहीं उसे चक्रसे मार डाला !

महाभारतयुद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके सम्मिलित हुए थे । वे अपनी भक्तवत्सलताके कारण सखाभक्त अर्जुनके रथ हाँकने-का काम कर रहे थे । बीचहीमें एक दिन किसी कारण-वश भीष्मने यह प्रण कर लिया, 'भगवान्को शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा ।' सूरदासजी भीष्मप्रतिज्ञाका बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं—

आज जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगाजननीको, सांतनु सुत न कहाऊँ ॥
स्यन्दन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी, छत्रिय गतिहिं न पाऊँ ॥
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ ।
(सूरदास) रनभूमि विजय बिन जियत न पीठ दिखाऊँ ॥

भीष्मने यही किया, भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी, जगत्पति पीताम्बरधारी वासुदेव श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमें टूटा चक्र लेकर भीष्मकी ओर ऐसे दौड़े जैसे वनराज सिंह गरजते हुए उत्तम गजराजकी ओर दौड़ता है । भगवान्का पीला दुपट्टा कंधेसे गिर पड़ा, पृथ्वी काँपने लगी, सेना पुकार उठी, 'भीष्म मारे गये' 'भीष्म मारे गये ।' इस समय भीष्मको जो असीम आनन्द था उसका वर्णन करना सामर्थ्यके बाहरकी बात है । भगवान्की भक्त-वत्सलतापर मुग्ध हुए भीष्म उनका स्वागत करते हुए बोले—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥६४॥
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ।
त्वया हि देव सङ्ग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥६५॥
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ।६६।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ॥६७॥
(महा० भीष्म० अ० १०६)

हे पुण्डरीकाक्ष ! आओ, आओ ! हे देवदेव ! तुमको मेरा नमस्कार है, हे पुरुषोत्तम ! इस महायुद्ध-में तुम मेरा बध करो ! हे परमात्मन् ! हे कृष्ण ! हे गोविन्द ! तुम्हारे हाथसे मरनेपर मेरा अवश्य ही कल्याण हो जायगा । मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ । हे पापरहित ! मुझपर इच्छानुसार प्रहार करो, मैं तुम्हारा दास हूँ ।

अर्जुनने पीछेसे दौड़कर भगवान्के पैर पकड़ लिये और उन्हें लौटाया । भगवान् तो अपने भक्तकी प्रतिज्ञा सत्य करनेको दौड़े थे, भीष्मका बध तो अर्जुनके हाथसे ही होना था ।

अन्तमें शिखण्डीके सामने बाण न चलानेके कारण अर्जुनके बाणोंसे विद्ध होकर भीष्म शरशय्या-पर गिर पड़े । भीष्म वीरोचित शय्यापर सोये थे, उनके सारे शरीरमें बाण बिंधे थे, केवल शिर नीचे लटकता था । उन्होंने तकिया माँगा, दुर्योधनादि नरम-नरम तकिया लाने लगे, भीष्मने अन्तमें अर्जुन-से कहा, वत्स ! मेरे योग्य तकिया दो । अर्जुनने शोक रोककर तीन बाण उनके मस्तकके नीचे तकियेकी जगह मार दिये, इससे भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और बोले 'क्षत्रियोंको समरक्षेत्रमें प्राण त्याग करनेके लिये इसी प्रकारकी सेजपर सोना चाहिये ।' उनके शरीरसे बाण निकालकर मरहम-पट्टी करनेके लिये बहुत-से कुशल शस्त्रवैद्य (सर्जन) आये परन्तु भीष्मने कुछ भी उपचार न करवाकर सबको सम्मानपूर्वक लौटा दिया—धन्य वीरता और धीरता !

आज भारतको ऐसे ही धीर बीर भक्तोंकी आवश्यकता है ।

भीष्म उत्तरायणकी बाट देखते शरपञ्जरपर पड़ रहे । इधर आठ दिनोंके बाद युद्ध समाप्त हो गया । धर्मराजका राज्याभिषेक हुआ । एक दिन युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और दोनों हाथ जोड़कर पलंगके पास खड़े हो गये, प्रणाम करके मुस्कुराते हुए युधिष्ठिरने भगवान्से कुशलक्षेम पूछा परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला, भगवान्को इतना ध्यानमग्न देखकर धर्मराज बोले 'प्रभो ! आप किसका ध्यान करते हैं मैं आपके शरणागत हूँ, भक्त हूँ ।' भगवान्ने उत्तर दिया, 'धर्मराज ! बाणशय्यापर सोते हुए नरशार्दूल भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्होंने मुझे स्मरण किया था इसलिये मैं भीष्मका ध्यान कर रहा था—भाई ! इस समय मैं मनद्वारा भीष्मके पास गया था !' फिर भगवान्ने कहा कि 'युधिष्ठिर ! वेद और धर्मके सर्वोपरि ज्ञाता नैष्ठिक ब्रह्मचारी महान् अनुभवी कुरुकुल-सूर्य पितामहके अस्त होते ही जगत्का ज्ञान-सूर्य भी निस्तेज हो जायगा । अतएव वहाँ चलकर कुछ उपदेश ग्रहण करना है तो कर लो ।'

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण महाराजको साथ लेकर भीष्मके पास गये, सब बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषिमुनि वहाँ उपस्थित थे । भीष्मने भगवान्को देखकर प्रणाम और स्तवन किया । श्रीकृष्णने भीष्मसे कहा कि 'उत्तरायण आनेमें अभी तीस दिनकी देर है, इतनेमें आपने धर्मशास्त्रका जो ज्ञान सम्पादन किया है वह इस युधिष्ठिरको सुनाकर इसके शोकको दूर कीजिये !' भीष्मने कहा, 'प्रभो ! मेरा शरीर बाणोंके घावोंसे व्याकुल हो गया है, मन-बुद्धि चञ्चल है, बोलनेकी शक्ति नहीं रह गयी है, बारम्बार मूर्च्छा आती है, केवल आपकी कृपासे ही अबतक जी रहा हूँ, फिर आप जगद्गुरुके सामने मैं शिष्य यदि कुछ कहूँ तो वह भी अविनय ही है, मुझसे बोला नहीं जाता, क्षमा करें ।' भक्त-प्रेमसे छलकती हुई आँखोंसे भगवान् गद्गद होकर बोले—'भीष्म ! तुम्हारी ग्लानि, मूर्च्छा, दाह, व्यथा, क्षुधा, क्लेश और मोह सब मेरी कृपासे नष्ट हो जायँगे, तुम्हारे अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानकी स्फुरणा होगी, तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जायगी, तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर हो जायगा, तुम धर्म या किसी भी विद्याको चिन्तन करोगे, उसीको तुम्हारी बुद्धि बतलाने लगेगी ।' श्रीकृष्णने फिर कहा कि 'मैं स्वयं इसलिये उपदेश न करके तुमसे करवाता हूँ, जिससे मेरे भक्तकी कीर्ति और यश बढ़े ।' भगवत्-प्रसादसे भीष्मके शरीरकी सारी वेदनाएँ नष्ट हो गयीं, उनका अन्तःकरण सावधान और बुद्धि सर्वथा जाग्रत् हो गयी ।

ब्रह्मचर्य, अनुभव, ज्ञान और भगवद्भक्तिके प्रतापसे अगाध ज्ञानी भीष्म जिस प्रकार दस दिनों तक रणमें तरुण उत्साहसे झूमे थे उसी प्रकारके उत्साहसे युधिष्ठिरको आपने शान्तिका पाठ सिखाया । १३५ सालकी अवस्थामें उत्तरायणके समय सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए—

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥

(भाग० १ । ९ । ४३)

आत्मरूप भगवान् कृष्णमें मन, वाणी और दृष्टिको स्थिर करके भीष्मजी परम शान्तिको प्राप्त हो गये !

भीष्मजीका वह शरीर गया परन्तु जबतक भारतका नाम है—जबतक भीष्मकी अलौकिक दिव्यवाणीसे भरे हुए महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व उपलब्ध होते हैं । तबतक भीष्मकी अक्षय अमरता कभी नहीं मर सकती !

—रामदास गुप्त

योगेश्वरका ध्यान
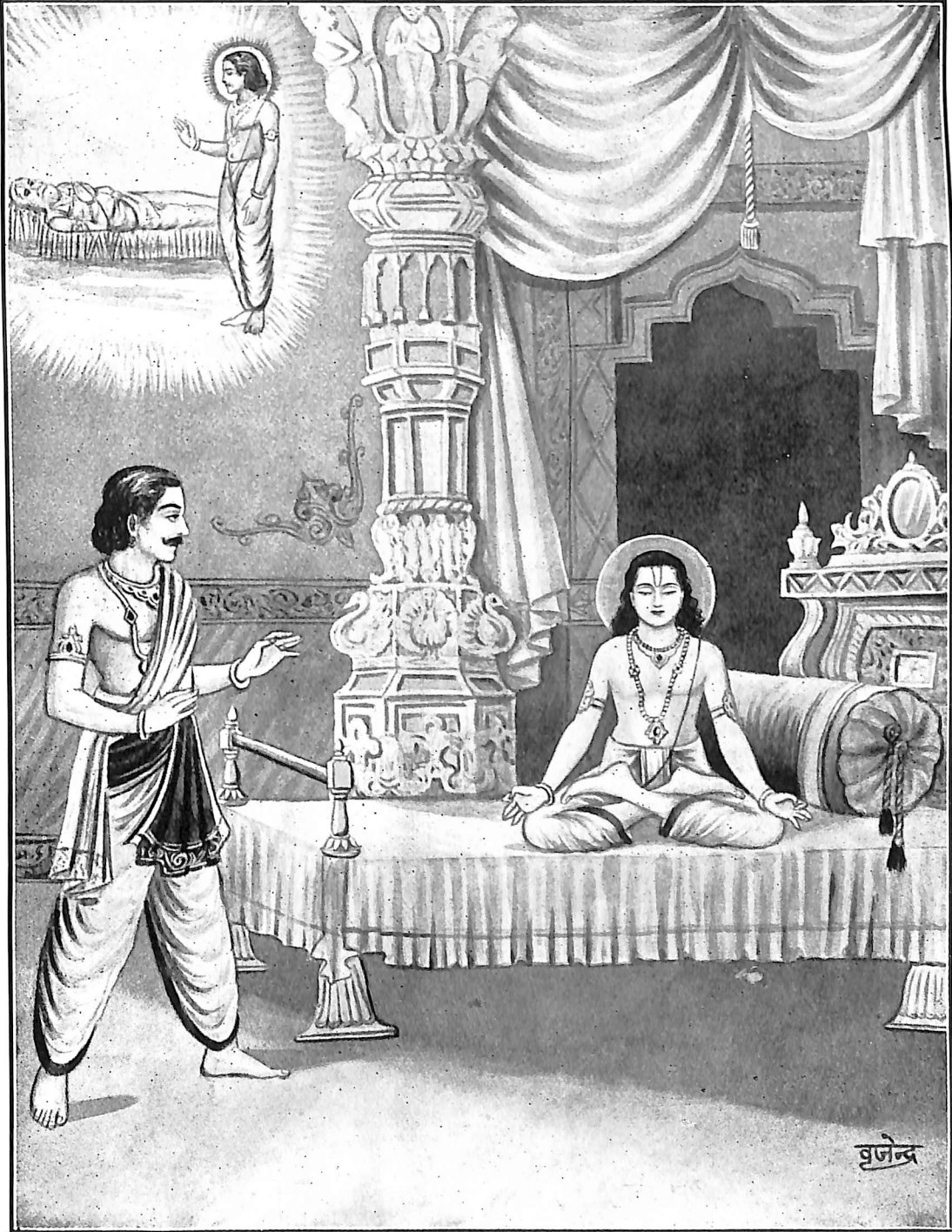
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

भक्त कण्णप्प

(लेखक—चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारी)

[इसमें यह दिखलाया गया है कि नितान्त अपढ़ और संस्कार-विहीन पुरुष भी सच्चे भक्त हो सकते हैं और ऐसोंके सच्चे प्रेमोपहारसे परमात्मा प्रसन्न होता है ।]

एक प्रसिद्ध तामिल कविने अत्यन्त सुन्दर तामिल कवितामें कण्णप्पकी कथा लिखी है । आज वह दक्षिण भारतके सबसे अधिक लोकप्रिय शैवपुराणोंमें-से एक है । वही कथा मैं यहाँपर 'कल्याण' के हिन्दी पाठकोंके लाभार्थ देता हूँ ।

दक्षिणके किसी जङ्गली प्रदेशमें रहनेवाली एक शिकारी जातिका सरदार नाग था । कविने उसका वर्णन यों किया है, 'नागका शरीर काजलसे भी अधिक काला था । उसका काम था हत्या करना । वह भय और दयाका नाम भी नहीं जानता था । वह जङ्गली जानवरोंके चर्म पहनता और जङ्गली मधु तथा शिकारमें मारे जानवरोंका मांस खाया करता था । उसके बाणोंकी नोकोंमें जहर लगा हुआ था, जो आगके समान जलता था । उसने पूर्व जन्ममें कुछ पुण्य कर्म किये थे, नहीं तो कण्णप्प-जैसा भक्त उसके घर कैसे जन्म लेता ? मगर इस जन्ममें तो उसके जीवनका आधार क्रूरता ही थी । धनुषबाण चलानेमें वह अत्यन्त चतुर था । क्रोधोन्मत्त सिंहके समान वह बली था ।' उसकी पत्नीका नाम तत्ता था । वह भी सिंहनीके ही समान डरावनी थी । वह उजले शङ्खों और सिंहके दाँतोंकी माला पहनती थी । बहुत दिनोंके बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका नाम तिण्ण रक्खा गया । तिण्णका अर्थ भारी होता है । अपने लड़केको गोदमें उठानेपर नागको वह भारी लगा । इसलिये उसका नाम उसने तिण्ण रख दिया ।

तिण्ण दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया । सोलह वर्षकी उम्रमें वह धनुषबाण, भाला, तोमर और वीरोंके योग्य दूसरे अस्त्र-शस्त्र चलानेमें बहुत निपुण हो गया । नागको बुढ़ापा आता मालूम हुआ । उसने तिण्णको अपनी जातिका सरदार बना दिया, प्रजाको बुलाकर तिण्णके प्रति राजभक्त और विश्वस्त बने रहनेको कहा । अपनी जातिकी पुरोहितानीको बुलाकर जङ्गलके सभी भयङ्कर देवोंको पूजा चढ़ाने और नये सरदारको आशीर्वाद देनेको कहा । तब तिण्ण नियमानुसार पहले पहल आखेटको निकला ।

बहुत-से जानवर मारनेके बाद उसने घने जङ्गलमें एक सूअरको भागते देखा । उसका बहुत दूरतक पीछा करके उसे मार डाला ! उसके दो नौकर नाण और काड उससे आ मिले । उन्होंने सूअरको उठा लिया और बढ़ चले । रास्तेमें उनको जोरोंकी भूख लगी । उन्होंने पहले सूअरका मांस वहीं पका खा और पानी पीकर, तब लौटनेको कहा ।

'तिण्णने पूछा, यहाँ मीठा पानी कहाँ मिलेगा ? तुम्हें कुछ पता है ?'

नाण बोला, 'उस विशाल शालवृक्षके उस पार एक पहाड़ी है और उसीके नीचे सुवर्णा नदी बहती है ।'

तिण्णने कहा 'चलो तब वहीं चलें ।' तीनों चल पड़े । वहाँ पहुँचनेपर तिण्णने पहाड़ीपर चढ़नेकी इच्छा जतायी ।

नाणने भी जोर दिया, 'हाँ, यह पहाड़ बहुत ही रमणीक है । शिखरपर एक मन्दिर है जिसमें भगवान् जटाजूटधारीकी मूर्ति है । आप उनकी पूजा कर सकते हैं।'

पहाड़पर चढ़ते-चढ़ते तिण्णकी भूखप्यास गायब हो गयी । उसे ऐसा मालूम होने लगा मानो सिरपर-से कोई भार उतरा जाता हो । उसे एक प्रकारका अनिर्वचनीय आनन्द मिलने लगा । उसके भीतर कोई नयी ही अभिलाषा उत्पन्न हो गयी ।

वह बोला, 'नाण ! तुम्हींने न कहा है कि ऊपर भगवान् जटाजूटधारीका मन्दिर है चलो उनके दर्शन कर आवें ।'

वे शिखरपर चढ़कर मन्दिरके सामने पहुँचे। देवप्रतिमाको देखते ही तिण्णने लपककर उसे प्रेमालिङ्गनमें बाँध लिया, उसके आनन्दका पार न रहा। उसकी आँखोंसे अजस्र अश्रुधारा बहने लगी, वह कहने लगा, 'हे प्यारे भगवन्! क्या तुम यहाँ अकेले ही जङ्गलमें जङ्गली जन्तुओंके बीच रहते हो? यहाँ तुम्हारा कोई मित्र नहीं है?' भक्तिसे उसका हृदय गद्‌गद हो गया। उसकी इस समाधिस्थ अवस्थामें धनुष सरककर गिर गया। मूर्तिके सिरपर कुछ हरे पत्ते, जङ्गली फूल और शीतल जल देखकर वह दुखित हो गया और कहने लगा, 'किस नराधमने मेरे स्वामीके सिरपर ये चीजें रक्खी हैं?'

नाणने जवाब दिया, 'आपके पूज्य पिताके साथ मैं यहाँ बहुत बार आया हूँ। हमने एक ब्राह्मणको यह करते देखा था। उसने देवताके सिरपर ठण्डा पानी डाल दिया और फूल-पत्तियाँ रख दीं। फिर वह खूब उसी तरह बड़बड़ाता रहा, जैसा कि हम ढोल पीट-पीटकर देवताके सामने करते हैं, उसने आज भी जरूर यही किया होगा।'

तिण्णको भी पूजा करनेकी बड़ी प्रबल इच्छा थी किन्तु ढंग नहीं मालूम होनेसे उसने सोचा कि मैं भी क्यों न इसी तरह भूखे भगवान्‌को मांस लाकर खिलाऊँ। तिण्ण मन्दिरसे रवाना हुआ, मगर तुरन्त ही लौट आया। वह बार-बार जानेकी कोशिश करता था किन्तु इस नयी निधिको छोड़नेकी इच्छा न होनेसे लौट आता था। उसकी हालत उसी गायकी-सी हो गयी जो अपने पहले बछड़ेको नहीं छोड़ना चाहती।

उसने कहा, 'प्यारे मालिक, मैं जाकर तेरे लिये अपने हाथों मांस पकाकर लाऊँगा। तुझे यों अकेला और असहाय छोड़नेको जी नहीं चाहता है। किन्तु तुझे भूख लग रही है और जाकर तेरे खानेके लिये कुछ लाना ही होगा।' आँखोंमें आँसू भरे आते थे। यों, वह जङ्गली शिकारी मन्दिरसे चला। नाण उसके पीछे-पीछे चला। पहाड़ीके नीचे आनेपर उसने दूसरे नौकरको सारी कथा कह सुनायी। यह भी कहा कि मालिकने मूर्तिका आलिङ्गन किया था। उसे देरतक न छोड़ा और अब देवताके लिये पका हुआ मांस ले जानेको आये हैं।

नौकर रोने लगे, 'हमारा तो सर्वनाश हो गया। सरदार पागल हो गये।' तिण्णने उनके रोनेकी जरा भी परवा न की। उसने सूअरके मांसका सबसे अच्छा हिस्सा चुन लिया और उसे तीरकी नोकमें गोद कर बड़े ध्यानसे पकाया। फिर उसे चखकर देखा कि ठीक-ठीक पका तो है, स्वाद ठीक है और सन्तोष हो जानेपर पहाड़पर ले जानेके लिये उसे शालके पत्तेमें लपेटकर रक्खा।

नौकरोंने कहा, 'पगला, कर क्या रहा है। पका हुआ मांस मुँहमें डालकर चखता है और इतना भूखा होनेपर भी उसे बिना खाये ही पत्तेपर रख देता है। अपनी भूख-प्यासकी तो कोई बात ही नहीं करता। हमें भी मास देनेका नाम नहीं लेता है। अपने देवताके लिये थोड़ा-सा चुनकर बाकी फेंक देता है। इसका सिर फिर गया है, अब अच्छा नहीं हो सकता। खैर, चलो, इसके बापसे यह बात कह दें।' दोनों नौकर उसे छोड़कर चले गये। तिण्णने न तो उनकी बात सुनी और न उनका जाना ही उसे मालूम हुआ। वह तो अपने ही काममें मग्न था। अभिषेकके लिये उसने अपने मुँहमें ताजा पानी भर लिया क्योंकि उसके पास कोई बरतन नहीं था। अपने बालोंमें उसने कुछ जङ्गली सुगन्धित फूल खोंस लिये। एक हाथमें उसने मांस लिया और दूसरेमें आत्मरक्षाके लिये तीर-धनुष, और वह दोपहरकी कड़कड़ाती धूपमें पहाड़पर चढ़ने लगा। यह सोचकर कि देवता भूखे होंगे, वह और भी तेजीसे चलने लगा। शिखरपर पहुँचनेके बाद वह मन्दिरमें जूता पहने हुए ही दौड़कर घुस गया। देवताके सिरपरसे पुराने फूल उसने बड़े स्नेहसे पैरोंसे हटाये, अभिषेकके लिये ऊपरसे कुल्ला कर दिया और देवताके आगे मांस रखकर अपनी साधारण

बोलीमें खानेका आग्रह करने लगा। अन्धकार हो आया। तिण्णने सोचा, 'यह समय तो जङ्गली जानवरोंके घूमनेका है। देवताको यहाँ अकेले छोड़कर मैं नहीं जा सकता।' उसने हाथमें धनुषबाण लेकर रातभर पहरा दिया। सवेरा होनेपर जब चिड़ियाँ चहचहाने लगीं, तब वह देवताके आगे प्रणिपात और प्रार्थना करके ताजा मांस लाने चला गया।

वह ब्राह्मण पुजारी जो पूजा किया करता था नियमानुसार सवेरे आया। मन्दिरमें जूतों और कुत्तोंके पैरोंकी छाप देखकर तथा चारों तरफ हाड़-मांस छितराया हुआ देखकर वह बहुत ही घबरा गया—विलाप करने लगा, 'हाय भगवन्! अब मैं क्या करूँ? किसी जङ्गली और लापरवा शिकारीने मन्दिर भ्रष्ट कर दिया है!' लाचार उसने झाड़-बुहारकर साफ किया। मांसके टुकड़े कहीं पैरोंसे छू न जायँ, इसलिये उसे बहुत मुश्किलसे इधर-उधर चलना पड़ता था। फिर वह नदीमेंसे स्नान करके आया और मन्दिरकी सम्पूर्ण शुद्धि की। आँखोंमें आँसू भरकर देवताके आगे प्रणिपात करने लगा। फिर उठकर उसने वेद-ऋचाओंसे परम पुरुष परमात्माकी स्तुति की। पूजा समाप्त करके वह अपने तपोवनको लौट गया।

इस बीच तिण्ण शिकार ढूँढ़ रहा था। उसने कई जानवर मारे और पिछले दिनके समान चुनकर मांस पकाया, और चख-चखकर अच्छे-अच्छे टुकड़े अलग रख लिये। उसने कई अच्छे ताजे मधुके छत्ते इकट्ठे किये, उनका मधु मांसमें निचोड़ा। फिर वह मुँहमें पानी भरकर, बालोंमें फूल खोंसकर, एक हाथमें मांस लिये हुए और दूसरेमें धनुषबाण लेकर पहाड़पर दौड़ा। ज्यों-ज्यों मन्दिर निकट आता जाता था, उसकी आतुरता भी बढ़ती जाती थी, वह बड़े-बड़े डग भरता चला। उसने देवताके सिरपरसे फूल-पत्ते पैरसे ठेलकर साफ किये, कुल्ला करके अभिषेक कराया और यह कहते हुए मांसका उपहार सामने रक्खा, 'हे देवता, कलसे आजका मांस मीठा है। कल तो सिर्फ सूअरका मांस था। आज तो बहुत-से स्वादिष्ट जानवरोंके मांस चखकर और खूब स्वादिष्ट चुनकर लाया हूँ। उसमें मधु भी निचोड़ा है।'

इस तरह तिण्णके पाँच दिन, दिनभर शिकार करके देवताके लिये मांस इकट्ठा करने और रातभर पहरा देनेमें बीते। उसे आप खाने-पीनेकी सुध ही न रही। तिण्णके चले जाने बाद रोज ही ब्राह्मण पण्डित आते और रातके इस भ्रष्टाचारपर विलाप करते, मन्दिर धोकर साफ करते, नदीस्नान करके शुद्धि करते और पूजा-पाठ करके अपने स्थानपर लौट जाते। जब इतने दिनोंतक तिण्ण न लौटा तो उसके सभी सम्बन्धी और माँ-बाप निराश हो गये!

ब्राह्मण पुजारी रोज ही हार्दिक प्रार्थना करते कि 'हे प्रभु, मेरे पाप क्षमा करो। ऐसा भ्रष्टाचार रोको।' एक रात स्वप्नमें परमेश्वर उनके सामने आकर बोले, मित्र, तुम मेरे इस प्रिय शिकारी भक्तको नहीं जानते। यह मत समझो कि वह निरा शिकारी ही है। वह तो बिल्कुल ही प्रेममय है। वह मेरे सिवा और कुछ जानता ही नहीं। वह जो कुछ करता है, मुझको प्रसन्न करनेके लिये ही। जब वह अपने जूतेकी नोकसे मेरे सिरपरसे सूखे फूल हटाता है तो उसका स्पर्श मुझे प्रिय पुत्र कुमारदेवके आलिङ्गनसे भी अधिक प्रिय लगता है। जब मुझपर वह प्रेम और भक्तिसे कुल्ला करता है तब वह कुल्लेका ही पानी मुझे गङ्गाजलसे भी अधिक पवित्र जान पड़ता है। यह अनपढ़ मूर्ख सच्चे स्वाभाविक प्रेम और भक्तिसे जो फूल अपने बालोंमेंसे निकालकर मुझपर चढ़ाता है वे मुझे स्वर्गमें देवताओंके भी चढ़ाये फूलोंसे अधिक प्रिय लगते हैं। बड़ी सावधानीसे मांस पका और चखकर जो टुकड़े वह मेरे प्रेमसे रखता है, वे मुझे सभी पवित्र ब्राह्मणोंके वैदिक यज्ञोंके पवित्र चढ़ावोंसे कहीं अधिक प्रिय है। और अपनी मातृभाषामें वह आनन्द और भक्तिसे भरकर जो थोड़े-से शब्द कहकर, मेरे सिवा

सारी दुनियका भान भूलकर मुझे प्रसाद पानेको कहता है, वे शब्द मेरे कानोंमें ऋषि-मुनियोंके वेद-पाठसे कहीं अधिक मीठे लगते हैं। अगर उसकी भक्तिका दृश्य देखना हो तो कल आकर मेरे पीछे खड़े हो जाना।'

इस सन्देशके बाद पुजारीको रातभर नींद न आयी। प्रातःकाल वह नियमानुसार मन्दिरमें पहुँचा, और पूजा-पाठ समाप्त करके मूर्तिके पीछे जा छिपा। तिण्णकी पूजाका यह छठवाँ दिन था। और दिनोंसे आज उसे कुछ देर हो गयी थी। इसलिये वह पैर बढ़ाता आया। रास्तेमें उसे अपशकुन हुए। वह सोचने लगा, 'कहीं खून गिरना चाहिये। कहीं देवताको कुछ हुआ तो नहीं ?' इसलिये वह दौड़ा। अपने अशकुनको पूरा होते देखकर उसके शोकका पार न रहा। हाय ! देवताको कितना कष्ट हो रहा था क्योंकि उनकी दहनी आँखसे खूनकी अविरल धारा बह रही थी। तिण्ण यह दुःखद दृश्य नहीं देख सका। वह रोने, विलाप करने लगा। जमीनपर लोटने लगा। फिर उठा। उठकर भगवान्‌की आँखसे खून पोंछ दिया, मगर तो भी खूनका बहना रुका नहीं। वह फिर दुःखातुर होकर गिर पड़ा !

तिण्ण बिल्कुल ही घबरा गया। उसका चित्त अत्यन्त दुःखी हो गया। वह समझता नहीं था कि क्या करना चाहिये। थोड़ी देर बाद वह उठा और तीर-धनुष लेकर उस आदमी या जानवरको मारने निकला, जिसने देवताकी यह दुर्दशा की हो। मगर यह खोज बेकार ही हुई क्योंकि उसे कहीं कोई प्राणी नहीं दिखलायी पड़ा। वह लौट आया, और मूर्तिको छातीसे लगा करके विलाप करने लगा, 'हाय, मैं महापापी हूँ। रास्तेके सभी अपशकुन सच्चे हुए हैं। हे भगवन् ! हे पिता ! मेरे प्यारे ! तुम्हें क्या हुआ है ? मैं तुम्हें क्या सहायता दूँ ?' तब उसे कुछ जड़ी बूटियोंकी याद आयी जिन्हें उसकी जातिके लोग घावोंपर लगाते थे। वह दौड़ निकला और नये विह्वल बछड़ेके समान जङ्गलमें घूमता रहा। जब लौटा तो जड़ी-बूटियोंका एक गट्ठर लेकर। उन्हें उसने देवताकी आँखमें एक-एककर निचोड़ दिया मगर इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। उस समय उसे शिकारियोंकी कहावत याद आयी कि 'मांस मांससे ही अच्छा होता है।' यह खयाल आते ही उसके दिल-में आनन्दकी नयी ही उमङ्ग खेलने लगी। उसने देर न की। एक तेज बाणकी नोकसे अपनी दाहिनी आँख निकाल डाली और भगवान्‌की आँखपर धीरेसे धरकर उसे दबाया और इसपर खूनका बहना भी रुक गया !

वह आनन्दसे नाच उठा। ताल ठोक-ठोककर आनन्दोन्मत्त हो नाचने लगा। वह खुशीमें हँसी और शोरसे मकान गुँजाने लगा। अरे, इस बीच बाँयीं आँखसे भी खून बहने लगा। इसपर दुःख और घबराहटमें तिण्ण भान भूल गया। मगर यह विस्मृति क्षणिक ही थी। तुरन्त ही वह सँभल उठा और उसने कहा, 'मेरे-जैसा कौन मूर्ख होगा जो इसपर शोक करता है ? इसकी दवा तो मुझे मिल ही गयी है। अब भी मेरी एक आँख तो है !' तब देवताकी बाँयीं आँखपर अपना बाँयाँ पैर रखकर—जिससे उसे पता चले कि कहाँ आँख लगानी है—क्योंकि आँख निकालने बाद उसे कुछ भी नहीं नजर आता—उसने पहलेसे भी अधिक तेजीसे बाँयीं आँखके कोनेमें तीरकी नोक लगायी। देवता लोग इस भक्तिपर पुष्प बरसाने लगे। स्वयं भगवान्‌ने अपने हाथ बढ़ाकर तिण्णका हाथ पकड़कर रोक लिया और कहा, 'ठहरो मेरे कण्णप्प, मेरे कण्णप्प ठहर जाओ।' [कण=आँख, अप्प=वत्स, कण्णप्प=कण+अप्प।] फिर परमेश्वरने कण्णप्पका हाथ पकड़कर उसे अपने पास खींच लिया और कहा, 'त्याग और प्रेमकी मूर्ति कण्णप्प ! तू इसी भाँति सर्वदा मेरे पास रहा कर !'

ब्राह्मण पुजारीने यह आश्चर्यजनक दृश्य देखा और सच्ची तथा सीधी-सादी भक्तिका रहस्य समझा !

भक्तिका स्वरूप और उससे लाभ

(लेखक—प्रसिद्ध हरिभक्त श्रीयादवजी महाराज, बंबई)

मन्दिरोंमें जाना, सुन्दर तिलक छापा लगाना, तीर्थ करना, सत्संगमें बैठकर ज्ञान-चर्चा करना, कथा-पुराण बाँचना, स्नान-ध्यान, पाठ-पूजा करना, गेरुआ वस्त्र, सन्ध्यावन्दन आदि ये सब भक्तिके बाहरी साधन हैं। दंभी भी लोगोंको धोखा देनेके लिये ये सब काम कर सकता है। पर भक्तिका सच्चा सम्बन्ध तो हृदयसे है। जिस भक्त-हृदयमें भक्ति घर कर लेती है वह हृदय विशाल हो जाता है। उसके बुद्धि और विचार विशाल बन जाते हैं। हृदयमें सत्य, शान्ति, दया, क्षमा, सन्तोष, संयम, आनन्द, धैर्य और अभय आदि शास्त्रोंमें कहे हुए दैवी गुण वास करने लग जाते हैं। पर दंभी मनुष्य सत्य, शान्ति, दया, क्षमा आदिको धारण नहीं कर सकता।

जीवनमें विपत्ति आनेपर धर्मके बाहरी चिह्न और आडम्बरके बलपर टिकी हुई दिखाऊ भक्ति तुरन्त लोप हो जाती है और वह बाहरी आडम्बर करनेवाला व्यक्ति भक्तके रूपमें कसौटीपर खरा नहीं उतर सकता।

पर सच्चे भक्त, जिनकी जीवनडोर प्रभुके साथ बँध जाती है उनकी अन्तरात्माके साथ ही ये गुण और भक्ति जुड़ी रहती हैं। इससे स्थितिके परिवर्तनसे उनमें किसी प्रकारका उलट-फेर नहीं होता।

सच्चा भक्त अनेक दुःखोंसे घिरा रहनेपर भी भक्तकी भाँति ही विचरता है, सच्चा भक्त लाभ-हानिके थपेड़ोंमें भी भक्त ही रहता है, सच्चा भक्त असह्य वेदनायुक्त रोगमें भी भक्त ही जनाई देता है, सच्चा भक्त मृत्युके अवसरपर भी भक्त ही दिखायी देता है। सच्चे भक्तकी सारा जग निन्दा करे, उसे धिक्कारे-मारे तो भी वह भक्त ही रहता है।

दुनियादार आदमियोंको जो सुख-दुःख सताते हैं वे सुख-दुःख या हर्ष-शोक सच्चे भक्तको व्याप्त नहीं होते। यही नहीं, जिन दुःखों और अड़चनोंसे मोहवादी मनुष्य धीरज छोड़ देते हैं और घबराकर रोने-पीटने लगते हैं तथा सदा चिन्ताग्रस्त रहते हैं, उन दुःखोंका भी सच्चे भक्तपर कोई असर नहीं होता।

इस संसारके मायिक सुख और वैभवका मूल्य उसकी दृष्टिमें बिल्कुल तुच्छ होता है। वह आशा और तृष्णाका नाश किये हुए होता है, संसारके मोहको छोड़े हुए होता है और उसके चित्तका तार प्रभुकी ओर अविच्छिन्नरूपसे लगा हुआ होनेके कारण दुनियादारीके अनुकूल या प्रतिकूल जञ्जालोंमें भी वह जैसा-का-तैसा रह सकता है। प्रभुके साथ उसका सम्बन्ध भीतरी होता है। बाहरी संयोगोंपर वह नहीं रहता इससे परिस्थितिके परिवर्तनसे उसकी भक्तिमें उलटफेर नहीं होता तथा उसकी आन्तरिक शान्तिको धक्का नहीं लग सकता क्योंकि भगवान्‌की मर्जी समझकर सिरपर आयी हुई विपत्तियोंको भोग लेनेकी उसको बान पड़ गयी होती है। धर्मके बाहरी साधनोंमें रमा हुआ भक्त ऐसे अवसरपर ऐसी निश्चल स्थितिमें नहीं रह सकता, विचारदृष्टिसे तो यह दिखावटी मनुष्य भक्त ही नहीं है। भक्त-हृदयपर तो प्रभुके अनेक गुणोंकी स्वाभाविकरूपसे छाप पड़ी हुई दिखायी देती है। प्रभु आनन्दस्वरूप हैं इसलिये उन्हें भजनेवाला भक्त भी चिन्ता, परिताप, उद्वेग और शोकसे रहित होगा, प्रभु सत्यस्वरूप हैं, इसलिये उन्हें भजनेवाला

भक्त भी निर्मलचित्त, भला, पवित्र और निष्कपट होगा। प्रभु शान्तस्वरूप हैं इसलिये उन्हें भजनेवाला भक्त भी निर्मोह, क्लेश-उपाधिरहित, शान्तचित्त और प्रसन्नमन होगा। प्रभु कल्याणमूर्ति हैं इसलिये उन्हें भजनेवाला भक्त भी वैर, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिसे रहित और प्राणीमात्रका कल्याणकर्ता होगा।

सच्चा भक्त बुरा करनेवालेका भी भला चाहेगा, सच्चा भक्त दुःख देनेवालेको भी सुख देगा, सच्चा भक्त प्राण लेनेवालेको भी जीवन देगा, सच्चा भक्त निन्दा करनेवालेकी भी निन्दा न करेगा, टेढ़ा नहीं बोलेगा, सच्चा भक्त अपमानका बदला अपमानसे नहीं, सम्मानसे देगा और सच्चा भक्त अपने वैरीपर वैर लेनेका मौका आनेपर भी वैर नहीं चुकावेगा बल्कि उसका उपकार कर निकलेगा !

अश्वत्थामाने द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको मार डाला, भीमसेनने खूनका बदला खूनसे लेनेका निश्चय किया; तब दयार्द्रा द्रौपदीने उसे मना करते हुए कहा कि 'हाय ! मेरे पुत्रोंकी मृत्युसे मेरा हृदय छिन्न-भिन्न हो गया और मैं तड़प रही हूँ अब इसे मारनेसे इसकी माँ भी मेरी ही भाँति विलबिलावेगी। मुझे जैसा दुःख होता है वैसा ही दारुण दुःख उसे भी होगा ! इसलिये मैं रोती हूँ यही बस है, मुझ अकेलीको रोने दो ! उसे क्यों रुलाते हो, ऐसी नासमझी मत करो कि मेरी तरह उसे भी सिर पीटना पड़े। अश्वत्थामाने मेरे पुत्रोंके प्राण लिये हैं पर भीम ! तुम किसीके पुत्रके प्राण मत लेना। माता-पिताको सन्तानके समान और कुछ प्यारा नहीं है। वे अपना सर्वस्व खोकर भी उसको बचाना चाहते हैं, खुद मरकर भी उसे जिलाना चाहते हैं, इन सन्तानोंकी मृत्युपर कोमलहृदया द्रौपदीने आर्तस्वरसे करुण-क्रन्दन किया पर सामर्थ्य रहते भी शत्रुके प्राण लेने न चाहे !

नृसिंह भगवान्‌ने महाविकराल स्वरूप धारण करके हिरण्यकशिपुको चीर डाला और भक्तशिरोमणि प्रह्लादसे कहा, 'बेटा ! माँग, वर माँग। इस दुष्ट राक्षसने तुझे दुःख देनेमें कुछ उठा न रक्खा, फिर भी तूने मेरी भक्ति नहीं छोड़ी इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।' प्रह्लाद बोला 'आप यदि प्रसन्न हैं तो मैं इतना ही चाहता हूँ कि मुझे दुःख देनेवालेका कल्याण कीजिये ! हे नाथ ! दुष्टपर आप दया न करेंगे तो फिर उसका उद्धार कैसे होगा ?'

सच्चे साधुके जीवनमें यह गुण नखसिख भरा देख पड़ेगा। उसके जीवनमें जगह-जगह ऐसी अनेक घटनाएँ मिलेंगी। केवल पुराणोंमें ही नहीं, आधुनिक संतोंके जीवनकी महत्ता भी इस गुणपर ही अङ्कित जान पड़ेगी, प्रभुके अनन्य भक्त नरसी मेहता द्वेषी भावजके तीखे बाण सरीखे कठोर वचन सुन गुस्सेमें आकर वनकी ओर चल दिये, लेकिन जब वास्तविक भक्ति प्राप्त हुई तो इसी द्वेषी भावजको परम हितैषी गुरुके समान मानकर वनसे लौटनेपर सबसे पहले उसीके चरणोंपर गिरे !

हिन्दू धर्मका नाश करनेको मुँह फाड़कर बैठी हुई तुर्काईके सामने महाराष्ट्रमें वीरताका सञ्चार करके उसे औरङ्गजेबके विरुद्ध खड़े करनेवाले परमभक्त श्रीरामदास स्वामीके जीवनमें भी एक ऐसे ही प्रसङ्गकी चर्चा है।

रामदास स्वामी अपने कुछ शिष्योंको साथ लिये शिवाजी महाराजसे मिलने जा रहे थे, इस जङ्गलकी लम्बी मुसाफिरीसे श्रमित दलने एक दिन नदी-किनारे डेरा डाला। भूख खूब सता रही थी और खानेको कुछ सामान पास न था। पास ही एक गन्नेका खेत था। उसमेंसे स्वामीजीके शिष्य गन्ने तोड़कर चूसने लगे। खेतके मालिकको इसका पता लगते ही वह एकदम दौड़ा आया और गुस्सेसे उन तोड़े हुए गन्नोंसे ही इन सबकी खूब खबर ली। साथ ही स्वामीजीको भी इतना मारा कि सारी पीठ उधड़ आयी। चलते-चलते
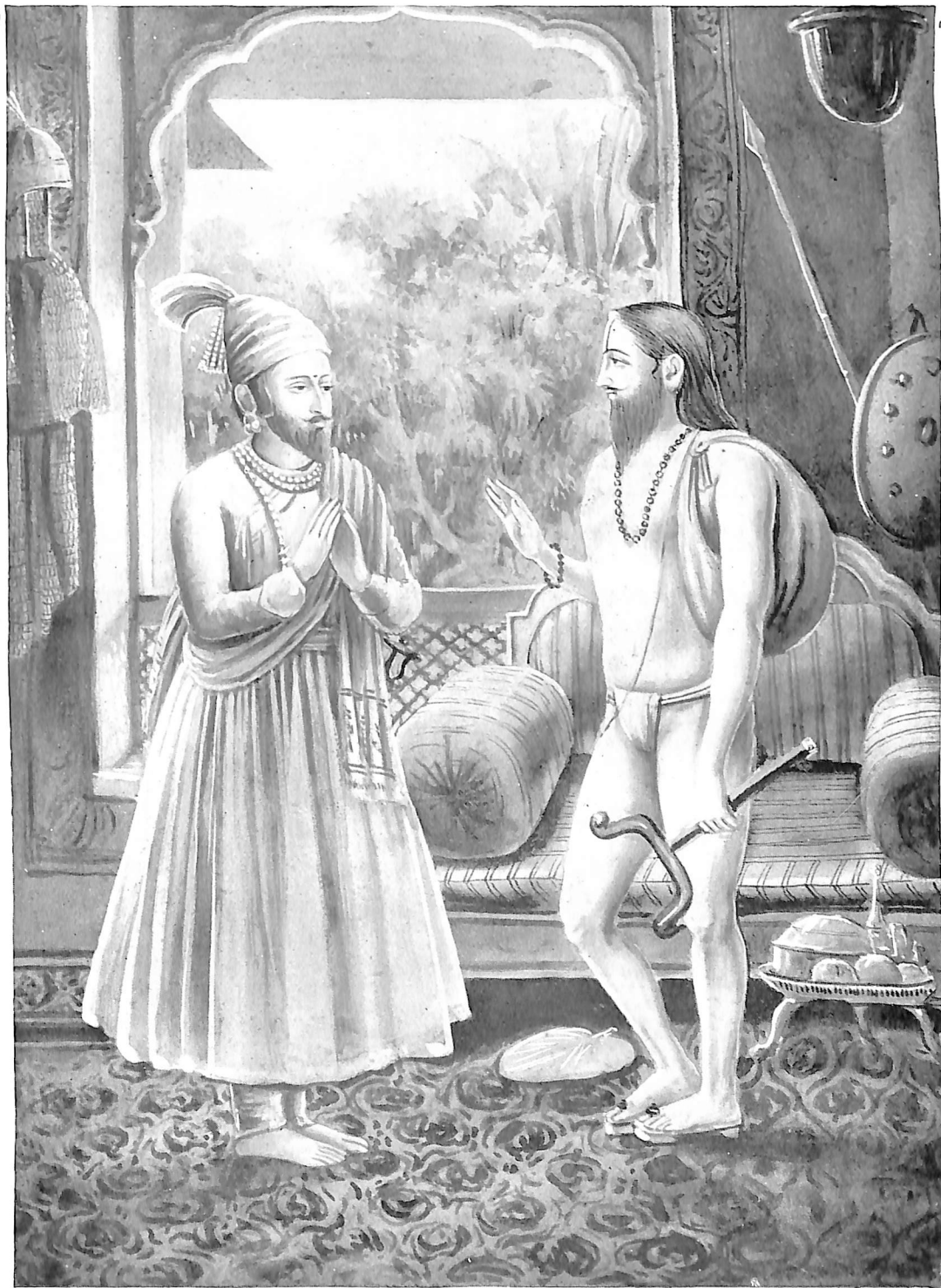
समर्थस्वामी रामदासजी और छत्रपति महाराज शिवाजी

दो दिनमें स्वामीजी अपने शिष्योंसहित शिवाजीके दरबारमें पहुँचे। गुरुके सत्कारके लिये शिवाजीने बड़ी तैयारी की और उनकी थकान मिटानेको स्वयं ही गरम पानीसे उन्हें नहलाने लगे। नहलाते-नहलाते स्वामीजीके पीठपर हाथ पड़ते ही उनकी सारी पीठ छिली हुई तथा कई जगह मारके निशान दिखायी दिये। शिवाजीने सब हाल जानना चाहा पर रामदासजीने यथार्थ नहीं बतलाया, बड़ी खोज-पूछके बाद सब हाल खुला।

शिवाजी बेतरह क्रुद्ध हुए, सारा राज्य जिन गुरुके चरणोंमें सौंपा हुआ था जिसका भगवा झण्डा सारे राज्यपर फहरा रहा था, उस गुरुपर प्रहार करनेवाला आदमी इस दुनियामें जीता कैसे रह सकता है?

परन्तु स्वामी रामदासजीने शिवाजीसे कहा कि 'जो तू मेरा ही शिष्य है और मेरी बात रखना चाहता है तो जिस जंगलमें मैं मारा गया वह सारा जंगल उस मारनेवालेको मुफ्तमें दे डाल, इसी बातसे मेरी आत्माको सन्तोष होगा। तभी मैं अपनी सच्ची सेवा मानूँगा और कोई बात मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।' बिलकुल इच्छा न रहनेपर भी गुरु-आज्ञाको सिर माथेपर ढोनेवाले शिवाजीको लाचार वही करना पड़ा।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

उमा सन्तकी इहै बड़ाई। करत मन्द यह करत भलाई॥

इसका यह जीता जागता उदाहरण है।

भक्तकी विशेषता प्रायः इसी गुणके कारण है, और जितनी-जितनी उसमें गुणकी कमी है उतना ही वह अधूरा है। जहाँ भीतर क्लेश या वैर-विरोध होता है वहाँ भक्ति कभी नहीं ठहरती। क्लेश और वैर-विरोधसे मनमें विक्षेप होता है और जीव व्याकुल हो जाता है इससे प्रभुमें चित्त स्थिर नहीं रह सकता, इसलिये भक्त सदा निर्वैर रहता है। कदाचित् कोई अविचारी उसे दुःख देता है तो भी बदलेमें वह उसे नहीं सताता और ऐसा करके भी वह यह नहीं समझता कि इससे वह किसीका उपकार कर रहा है, यह गुण उसमें स्वाभाविक ही होता है। इसके सिवा दूसरे भी बहुतसे गुण भक्तोंमें दिन-दिन अपने आप बढ़ते जाते हैं।

भक्ति एक आकर्षण करनेवाली तेजस्वी शक्ति है। इस भक्ति या शक्तिको जो कोई भक्त साधता है उनके जीवनमें प्रभुके अनेक गुणोंका आविर्भाव होता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि भक्ति प्रभुको इस जगत्की ओर खींचती रहती है और वह कबतक? जबतक कि भक्तके हृदयमें प्रभु पूर्णरूपसे लय हो जाते हैं तभीतक। और यों जिस भक्तहृदयमें प्रभु आते हैं उसका जीवन प्रभुमय बन जाता है फिर चराचरमें उसे केवल एक प्रभुके ही दर्शन होते रहते हैं दूसरा कुछ सूझता ही नहीं, उसकी दोष-दृष्टिका सर्वनाश हो जाता है। इसलिये सदा सर्वदा जहाँतक हो सके सबको परमेश्वरकी भक्ति करते रहना चाहिये। जो वृक्ष नदीके किनारे होता है उसे सदा खुराक मिलती रहती है और वह अपने आप रसपूर्ण हो जाता है, वैसे ही जो मनुष्य अनन्त गुणोंसे युक्त, अनन्त शक्तिके स्वामी, परमकृपालु परमपिता परमेश्वरका चिन्तन करता है उसे बहुतेरे लौकिक और अलौकिक लाभ मिलते हैं।

विनय

अवहेला कर आदेशोंकी पाया कष्ट अपार। आह कामिनी-कञ्चनमें आ फँसा बीच संसार॥
डूब रहा हूँ मोह-तरङ्गोंमें, हे करुणागार! पकड़ बाँह, अब नाथ, बचाओ, कर भवसागर पार॥
जो मन भावे, मनभावन! दो दण्ड, मुझे स्वीकार। किन्तु बिठाकर, पिता! गोदमें, करो प्यार इक बार॥

—श्रीकेशरीकिशोरशरण

भगवान् धनसे शीघ्र प्रसन्न होते हैं या भक्तिसे ?

'प्रचुर धनसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञदानादिसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते । भगवान्की प्रसन्नतामें तो भक्ति ही प्रधान कारण है ।' (चोलराज)

(का)न्तिपुरमें चोल नामक चक्रवर्ती नरेश राज्य करते थे । उन्हींके नामपर सारे देशका नाम चोल पड़ गया था, उनके राज्यमें कोई भी मनुष्य दुःखी पापी और रोगी नहीं था। राजा बहुत दान-पुण्य और यज्ञ किया करते थे, धन-सम्पत्तिका कोई पार न था। राजा भगवान्के भक्त थे, नित्य भगवान्की मूर्तिका बड़े प्रेमसे पूजन किया करते थे । सब कुछ होनेपर भी राजाको अपने धनका कुछ घमण्ड था, राजा समझते थे कि मैं अपने प्रचुर धनसे दान-पूजन करके भगवान्को जितना प्रसन्न कर सकता हूँ उतना दूसरा कोई नहीं कर सकता । धनके गर्वने राजाके इस विवेकपर पर्दा डाल दिया था कि 'भगवान् धनके भूखे नहीं हैं, वे केवल प्रेम चाहते हैं उनके लिये राजा-रंक दोनों बराबर हैं ।' धनवान् लोग वास्तवमें इस बातको बहुत कम ही समझा करते हैं । स्वर्णमें कलियुगका निवास होनेसे यदि लगातार सत्सङ्ग न हो तो धनियोंका सन्मार्गपर स्थित रहना बहुत ही कठिन हो जाता है ।

उसी कान्तिपुरमें एक विष्णुदास नामक दरिद्र ब्राह्मण रहते थे । ब्राह्मण बड़े ही दीन थे, पर थे बड़े विद्वान् और भगवान्के अनन्यभक्त ! वे इस बातको जानते थे कि भगवान् भक्तिसे अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पको भी बड़े प्रेमसे ग्रहण करते हैं । समुद्रतटपर भगवान्के मन्दिरमें राजा और विष्णुदास ब्राह्मण दोनों ही भगवान्की पूजा करने जाया करते । एक दिन चोलराज अनेक प्रकारके बहुमूल्य मोतियों, रत्नों तथा विविध भाँतिके सोनेके फूलोंसे विधिवत् भगवान्की पूजाकर दण्डवत् प्रणाम करनेके अनन्तर मन्दिरमें बैठे थे । इतनेमें ही भक्तब्राह्मण विष्णुदास एक हाथमें जलका लोटा और दूसरेमें तुलसी और फूलोंसे भरी एक छोटी-सी डलिया लिये वहाँ पहुँचे । विप्रर्षि विष्णुदास भक्तिमें विभोर थे, उन्होंने यह नहीं देखा कि कहाँ कौन बैठा है । निःस्पृही भगवद्भक्तको राजाकी ओर देखनेकी आवश्यकता भी नहीं थी । विष्णुदासने आकर डलिया एक तरफ रख दी और विष्णुसूक्तका पाठ करके भक्तिभावसे भगवान्को स्नान कराया, राजाके चढ़ाये हुए सारे वस्त्रालङ्कार जलसे भीग गये, तदनन्तर ब्राह्मणने फूल-पत्तोंसे भगवान्की पूजा की, और वह भगवान्के धूप खेने लगे । ब्राह्मणके छदामके तुलसी-पत्रोंसे अपने रत्नमुक्ताओंको ढका देखकर राजाको क्रोध आ गया । राजाने ब्राह्मणसे कहा, 'विष्णुदास ! मेरी समझसे तुम बड़े मूर्ख हो । तुम्हें भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, मैंने मणिमुक्ताओं और स्वर्णपुष्पोंसे भगवान्को कैसा सुन्दर सजाया था, तुमने क्यों सब बिगाड़ दिया ? तुममें भक्ति होती तो इतनी सुन्दर शोभाको इन पत्तोंसे ढकते ?'

राजाकी बात सुनकर विष्णुदासको भी गुस्सा आ गया, विष्णुदास बोले, 'तुम खूब भक्ति जानते हो, बतलाओ तो सही तुमने अबतक कौन-सी भक्ति की है ? राज्यके घमण्डमें चूर हो रहे हो । भगवान्को तुम्हारे मणिमुक्ताओंसे मोह थोड़ा ही है ? जिसके पास जो कुछ होता है वह उसीसे भगवान्को पूजता है । असलमें तो भगवान्की पूजाके लिये शुद्ध हृदय चाहिये । भगवान् यदि धनसे ही प्रसन्न होते तो बेचारे गरीबोंका तो कोई ठिकाना ही नहीं था । गरीब बेचारोंको तो भगवान्हीका सहारा है, भगवान् भी यदि धनियोंके धनपर मन चलाने लगें तो फिर गरीबोंको

कहीं कोई रहने ही न दे। भगवान् गरीबोंकी सुनते आये हैं। इसीसे तो लोग गरीबोंको सतानेमें कुछ डरते हैं।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर राजाने कहा, 'कङ्गाल ब्राह्मण! तुझे भक्तिका बड़ा गर्व मालूम होता है तू निर्धन और दरिद्र है, तेरी भक्तिकी कीमत ही क्या है? तूने आजतक कौन-सा दान-पुण्य किया है, या कितने मन्दिर बनवाये हैं? तेरी धन-दानरहित भक्तिमें क्या रक्खा है? कुछ भी न करके तू सिर्फ एक भक्तिके बलसे इतना बक रहा है। अब देखूँगा, हम दोनोंमें किसको पहले भगवान्के दर्शन होते हैं। मैं भी उपाय करता हूँ और तू भी कर। जिसको पहले भगवान्का साक्षात्कार हो उसीकी भक्ति अच्छी समझी जायगी।' राजाने सोचा कि अपार धनसे यज्ञ-को करके भगवान्को तुरन्त प्रसन्न कर लेना कौन-सी बड़ी बात है।

आजकल-सा समय होता तो पहले तो ऐसे राजा-का ही मिलना कठिन होता और यदि कहीं कोई मिल जाता तो ब्राह्मणपर राजद्रोहका मुकद्दमा तो अवश्य ही चलाया जाता। अस्तु!

दोनों वहाँसे चले, राजाने तो अपने महलमें आते ही मुद्गल ऋषिको बुलाया और उनके आचार्यत्वमें विशाल विष्णुयज्ञ आरम्भ कर दिया। गरीब विष्णु-दासके पास यज्ञ करनेको तो धन था नहीं, उन्होंने घर आकर कार्तिक और माघके व्रतोंका आचरण, तुलसीवनसेवन, भगवान्के द्वादशाक्षर ('ओं नमो भगवते वासुदेवाय') मन्त्रका जप, एकादशीव्रत और नित्य नियमपूर्वक षोडशोपचारसे भगवान्की भक्ति-पूर्वक पूजा करना आरम्भ किया। इसके सिवा ब्राह्मण-ने जाते आते, खाते पीते, सोते जागते सब समय भगवान्का नाम-स्मरण करते हुए सर्वत्र समानभावसे सर्वभूतस्थ भगवान्के दर्शन करनेका अभ्यास किया। इन व्रतोंके पालन करनेके अतिरिक्त वे और कोई काम ही नहीं करते, इससे किसी पापकी तो सम्भावना ही न रही। यों दोनोंको साधन करते-करते बहुत काल बीत गया, दोनोंकी इन्द्रियाँ और उनके सारे कार्य भगवान्के निमित्त होने लगे।

ब्राह्मण विष्णुदास एक वक्त रसोई बनाकर खाया करते और रात-दिन अपने साधनमें लगे रहते थे, एक दिन उन्होंने प्रातःकालका नित्यकर्म समाप्त करके रोटियाँ बनाकर रक्खी ही थीं कि अकस्मात् रोटियाँ वहाँसे उड़ गयीं, ब्राह्मण भूखे तो बहुत थे पर दुबारा रोटी बनानेमें साधनका समय खर्च करना अनुचित समझकर वे उस दिन भूखे ही रह गये। दूसरे दिन रोटी बनाकर ब्राह्मण भगवान्को भोग लगाने गये, आकर देखते हैं तो रोटियाँ नहीं हैं। इस प्रकार ब्राह्मणकी रोटियाँ चोरी जाते सात दिन हो गये। ब्राह्मण चिन्ता करने लगे कि कौन रोज रोटियाँ चुरा-कर ले जाता है, यहाँ तो सभी ऋषि मुनि रहते हैं, ऐसा पवित्र स्थान छोड़ना भी ठीक नहीं, इधर दुबारा रसोई बनानेसे सन्ध्याके देवपूजनमें बाधा आती है, नित्य उपवास करके भी कितने दिन रहा जा सकेगा? यों सङ्कल्प-विकल्प करके अन्तमें ब्राह्मणने यह निश्चय किया कि आज विशेष ध्यान रखूँगा। विष्णुदास रसोई बनाकर एक तरफ छिप गये, उन्होंने देखा कि एक चाण्डाल रोटी चुरा रहा है, चाण्डाल—

क्षुत्क्षामं दीनवदनमस्थिचर्मावशेषितम्—

—भूखके मारे व्याकुल हो रहा था, उसके चेहरेपर दीनता छा रही थी, शरीर केवल चमड़ीसे ढका हुआ हड्डियोंका ढाँचामात्र था। इस दशामें—

तमालोक्य द्विजाग्र्योऽभूत् कृपयान्वितमानसः॥

—चाण्डालको देखकर ब्राह्मणके हृदयमें दया उमड़ आयी और सर्वत्र हरिको देखनेवाले विष्णुदास प्रकट होकर कहने लगे। 'ठहरो, ठहरो, रूखा अन्न कैसे खाओगे? देखो, घी देता हूँ, इससे रोटियाँ

चुपड़कर खाओ ।' ब्राह्मणको देखकर चाण्डाल भय-भीत होकर भागा । पीछे-पीछे ब्राह्मण 'घी ले लो, घी ले लो' कहते हुए दौड़े, थोड़ी दूर जाते ही थका हारा चाण्डाल मूर्छित होकर जमीनपर गिर पड़ा । द्विजोत्तम विष्णुदास भय और भूखसे मूर्छित उस चाण्डालको जमीनपर पड़ा देखकर कृपावशतः अपने दुपट्टेसे उसे हवा करने लगे । तदनन्तर विष्णुदासने देखा कि चाण्डालके शरीरमेंसे साक्षात् शङ्ख चक्र गदा पद्मधारी नारायण प्रकट हो गये हैं । विष्णुदास प्रेममें इतने विभोर हो गये कि उन्हें उस समय प्रणाम या वन्दन करना कुछ भी नहीं सूझ पड़ा, वे चकित और प्रफुल्लित नेत्रोंसे प्रसन्न वदन होकर केवल उस छविको देखनेमें ही मग्न हो गये !

तदनन्तर वहाँ इन्द्रादि समस्त देवता और सैकड़ों ऋषि आ गये, सैकड़ों विमानोंसे वह स्थान छा गया, गन्धर्वोंने भगवद्गुण गान आरम्भ कर दिया । भगवान् विष्णुने अपने सात्त्विक भक्त विष्णुदासका प्रेमसे आलिङ्गनकर उसे विमानमें बैठाया । भगवान् और भक्तका मिलन बड़ा ही मधुर था । विमान आकाश-मार्गसे उड़ने लगा । यज्ञदीक्षित चोलराजने देखा कि दरिद्र ब्राह्मण विष्णुदास केवल एक भक्तिके प्रतापसे उससे पहले भगवान्का साक्षात्कारकर वैकुण्ठको सिधार रहा है । चोलराजका समस्त धनगर्व आज गल गया ! राजाके मनमें धनसे सम्पन्न होनेवाले कार्यकी जो कुछ महत्ता थी सो आज नष्ट हो गयी । यही एक प्रति-बन्धक था । राजाने धनको धिक्कारते हुए भक्तकी सराहना की और अपने गुरु मुद्गल ऋषिसे कहा, 'मैं जिससे अड़कर यज्ञदान आदि कर्म कर रहा था वह ब्राह्मण विष्णुदास तो आज विष्णुरूप प्राप्तकर वैकुण्ठको जा रहा है । मैं जो यज्ञदीक्षित होकर विष्णु-की प्रीतिके लिये अग्निमें होम करता हूँ और अनेक प्रकारसे दान-पुण्य करता हूँ उसपर भगवान् अभीतक प्रसन्न नहीं हुए । मैं आज समझ गया कि प्रचुर धन-से सम्पन्न होनेवाले यज्ञदानादिसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते । भगवान्की प्रसन्नता और उनके साक्षात्कारमें तो भक्ति ही प्रधान कारण है ।'

चोलराजके कोई पुत्र नहीं था, इससे उन्होंने अपने भानजेको राजसिंहासनपर बैठा दिया और स्वयं यज्ञभूमिमें आकर यज्ञकुण्डके पास खड़े हो उच्चस्वरसे भगवान्को सम्बोधन करके कहा 'हे भगवन् ! मन, वाणी, शरीर और कर्मद्वारा होनेवाली अविचल भक्ति मुझे दीजिये !'

यह कहकर राजा सबके सामने यज्ञकुण्डमें कूद पड़ा, राजाने जीवनभर भगवद्भक्तिसहित सत्कार्य ही किये थे, विष्णुयागका फल था ही, धन-गर्वका एक प्रतिबन्धक बाधक था, उसके नाश होते ही राजा पूर्ण अधिकारी हो गया । राजाके यज्ञकुण्डमें कूदते ही भक्तवत्सल भगवान् विष्णु यज्ञाग्निसे आविर्भूत हो गये और राजाको छातीसे लगाकर उसे विमानपर बैठाया और देवताओंसे घिरकर राजाको अपने साथ वैकुण्ठमें ले गये ! बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !—

—रामदास गुप्त

'वारिधर बोरे देत'

(रूप-घनाक्षरी)

लख चउरासी जोनि भरमाय जीवहि को-कर्मफल दैन-हेतु नाता जग जोरे देत;
काम-क्रोध-लोभ-मोह-मत्सर, मदादि रिपु जीवन-विटप बैठि, जीव झकझोरे देत;
संसार-मायाको त्यागि, ईश्वरसों नेह करि, 'विह्वल' जगसों जीव माया-फंद तोरे देत;
ईश्वरीय विधान है संसार-बारिधि माँहि पाप-पुञ्ज वारेनको वारिधर बोरे देत !!

—वैद्यनाथ मिश्र 'विह्वल'

पूजनभक्त ब्राह्मण और राजा चोल
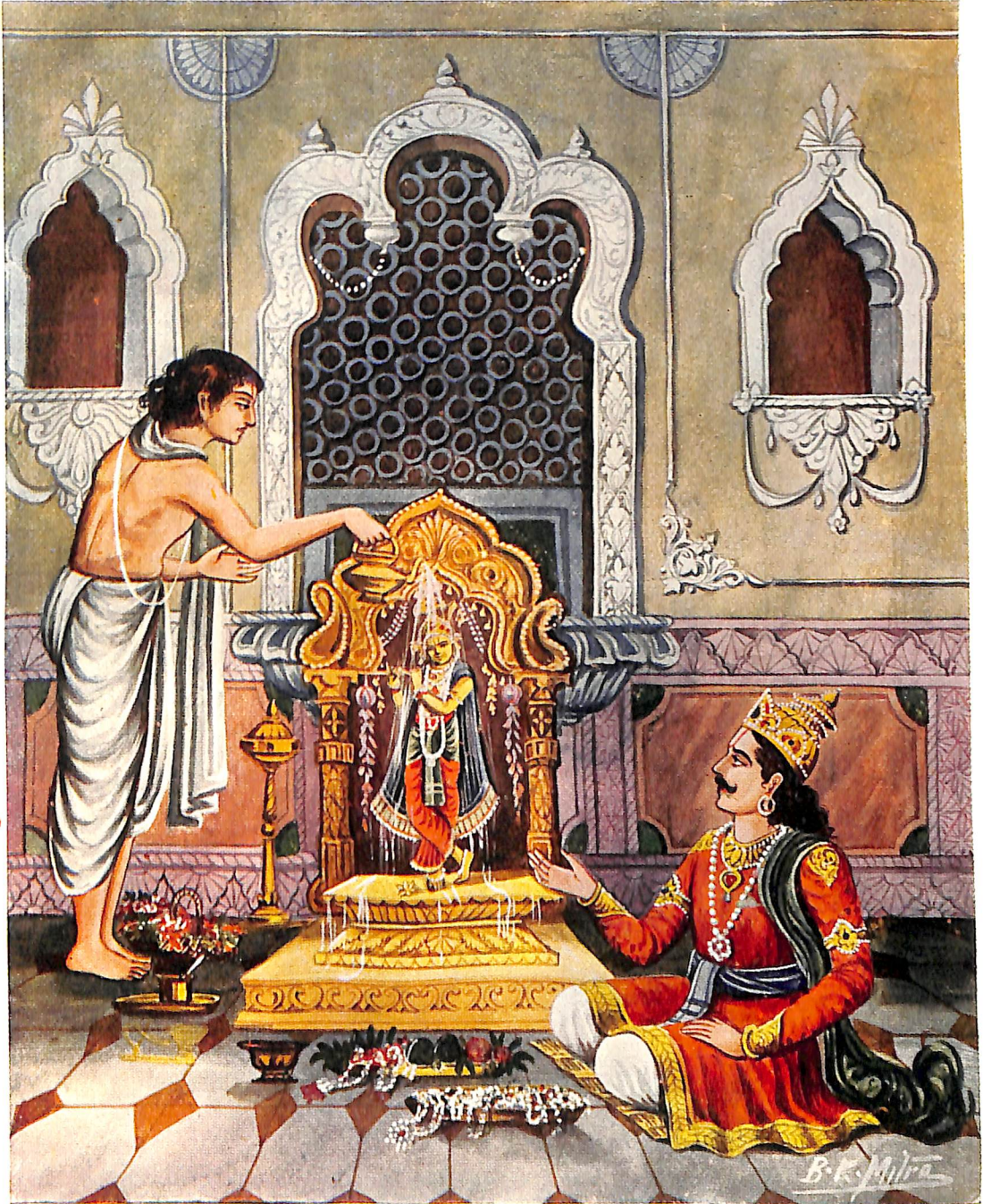
ब्राह्मण और राजाकी विष्णुपूजा

ब्राह्मण और चाण्डाल
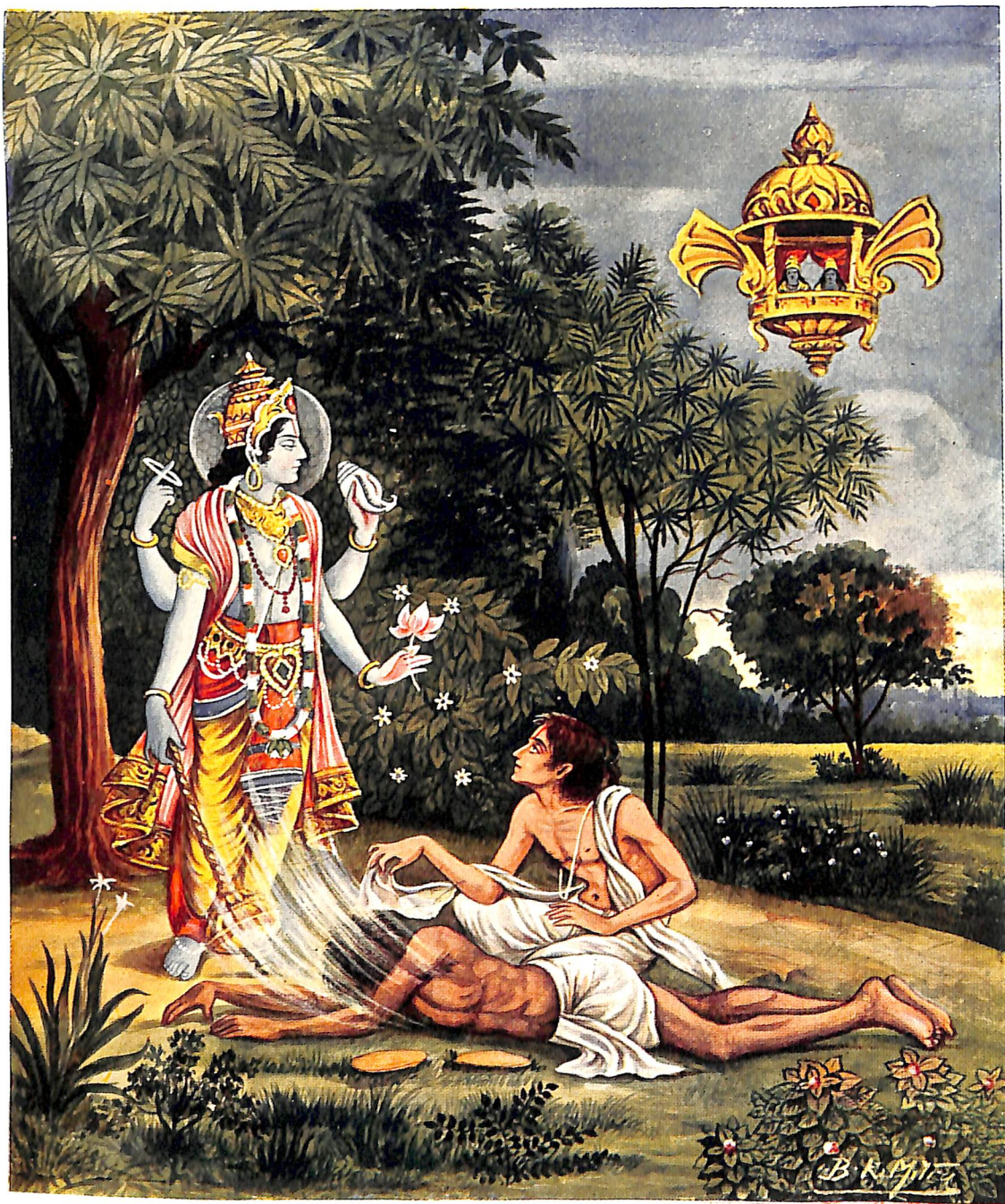
ब्राह्मणको पहिले भगवद्दर्शन

अस्सीसाईके महात्मा संत फ्रांसिस

(ले०—साधु श्री सी० एफ० एण्डरूज, शान्तिनिकेतन, बोलपुर)

यूरोपके महाद्वीपमें जितने देश हैं उन सबमें भारतवर्षसे सबसे अधिक समानता रखनेवाला देश इटली ही है। उसकी भौगोलिक स्थिति भारतके समान ही दक्षिणी द्वीपप्राय की है जिसकी उत्तर सीमा ऊँची पहाड़ी दीवारोंकी बनी हुई है जिससे समस्त देश महाद्वीपसे प्रायः अलग-सा हो जाता है। भारतवर्षकी तरह इटली भी एक बड़ी प्राचीन सभ्यताकी माता है और उसकी ही तरह वह अपनी परिधिके भीतर एक विस्तृत भूभागको अपनी विद्या कला और विकाससे पूरा लाभ पहुँचाती है तथा मानसिक एवं धार्मिक शासन करती है। असभ्य लोगोंकी चढ़ाइयोंसे दोनों देशोंने सङ्कट उठाये हैं। दोनों देशोंपर विदेशी जातियोंके ऐसे धावे हुए हैं कि युगोंतक विदेशी शासनके नीचे इन्हें कराहना पड़ा है। तो भी दोनों देशोंकी समानरूपसे बड़ी उग्र जाग्रति हुई है। जिससे उनकी प्राचीन सभ्यता फिरसे ढली और इस ढलाईकी क्रियासे ऐसी बड़ी बड़ी आत्माओं और शक्तियोंका उत्थान तथा आविर्भाव हुआ है जैसा दूसरी जगह शायद ही कभी देखनेमें आया हो। भारत और इटलीके ऐसे सजीव नाते और दोनोंकी ऐसी समानतासे मेरे हृदयमें बराबर गहरे विचार उत्पन्न होते रहे हैं। पिछली बरसातमें इन्हीं विचारोंकी एक स्थूल मूर्ति निम्नलिखित घटनासे प्रकट हो गयी। बात यह थी कि प्रोफेसर तुक्ची नामक एक संस्कृत एवं चीनी भाषाके नवयुवक विद्वान्से मेरी घनिष्ठता-सी हो गयी। जो विचार मेरे हृदयमें सूक्ष्म कल्पनाके रूपमें वास्तविकके आभासकी तरह भासित होते थे, उन्हींका इन प्रोफेसर महाशयमें एक सजीव मनोहर वैयक्तिक रूप पाया। इसी विषयपर हम लोगोंने बहुत कालतक बड़ी घनिष्ठतासे बातें कीं। उन्होंने मेरे निकट यह सिद्ध कर दिया कि चाहे कितने ही बाहरी भेद प्रभेद हों पर इन दोनों देशोंमें सबसे अधिक सादृश्य है और जहाँ कल्पनाको सबसे अधिक काम करनेकी आवश्यकता है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वैज्ञानिक खोजमें दोनों देशोंकी चित्तकी प्रवृत्ति सबसे अधिक हैं।

भारत और इटली दोनोंने मनुष्यता और वैभवके बड़े उत्कृष्ट युग देखे हैं। जिनके लोकोत्तर सौन्दर्यके स्मारकोंसे देश भरा पड़ा है। दोनों देशोंमें कला है, सङ्गीत है, मूर्ति निर्माण है, चित्रण है, और मन्दिर निर्माण है जिनसे मानवजीवनका ऐश्वर्य प्रकट होता है और यह सिद्ध होता है कि इस जगत्के पूर्णतम और उच्चतम जीवनके सौन्दर्यका उन लोगोंने सुख उठाया है, कलाकी बारीकियोंके ज्ञानका पूर्ण आनन्द भोगा है और बाह्यरूपमें अपनी सौष्ठवकी प्यास इस तरह बुझायी है कि अपने नित्यके जीवनकी सामग्रीमें और छोटी-छोटी चीजों और बातोंमें पवित्र शृङ्गारका कोई अवसर नहीं छोड़ा है। गुप्तवंशके शासनमें और मुगल सम्राटोंके राज्यकालमें भी भारतवर्षमें इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। इटलीमें भी यही बात इतनी ही बड़ाईके साथ जाग्रतकालके महन्तोंके महलोंमें माइकेल एंजिलो और रेफिलके युगमें देखी जाती हैं। साथ ही साथ दोनों देशोंमें पूर्ण त्यागकी बहुत ही विचित्र सुन्दर माध्यमिक कालीन परम्परा भी पायी जाती है। जैसे भारतवर्षमें बङ्गालमें चैतन्य महाप्रभुके युगमें, महाकोसलमें महात्मा कबीरके जीवनमें और कैकय देशमें गुरु नानकके आचार विचार और उपदेशमें बड़ी पूर्णतासे यह परम्परा देखी जाती है वैसे ही इटलीमें महात्मा फ्रांसिस और उनके अनुयायियोंमें भी प्रकट है। इसके सिवा इटलीके पवित्र रजमें ही कुछ विचित्र सौन्दर्य है जहाँके प्रत्येक शैलगुफा और नदीसे बड़े ही पूज्यभावोंका सम्बन्ध है। भारतवर्षके इतिहासमें भी इसकी पूरी समानता इस बातमें है कि गाँव गाँव कोने कोनेके हिन्दू अपने हृदयके अन्तस्तलसे नदियों और शैलोंसे न केवल प्रेम रखते हैं बल्कि सबमें उनका पूज्य भाव है और इतिहास एवं कथाका उनसे पूर्ण सम्बन्ध है।

इसलिये आधुनिक जीवनके भभ्भड़से थोड़ी देरके लिये अपने चित्तको हटाकर विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके आरम्भके और इटलीके माध्यमिक कालके सबसे बड़े महात्मा अस्सीसाईके संत फ्रांसिसके जीवनपर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो भारतीय पाठकोंके लिये किसी अपरिचित

मार्गपर पाँव नहीं रखते। संत फ्रांसिसके जीवनमें जिन बातोंका वर्णन होगा उनका सादृश्य भारतीय संतोंके जीवनमें मिलेगा और प्राच्यदेशोंमें सबसे अधिक भारतवर्षके पाठक ही भगवान्‌के इस भारी भक्त और इटलीके इस सबसे बड़े योगीके जीवनके रहस्योंको हृदयङ्गम कर सकेंगे। पश्चिमी भारतके गोवा नामक स्थानमें पीछेसे उन्हींके पूर्ण अनुयायी संत फ्रांसिस जेवियाने जो अपनी समाधि पायी, यह बात भी कुतूहलसे खाली नहीं है।

(२)

संत फ्रांसिसके मन्दिरका यात्री जब अस्सीसाईके लिये रवाना होता है तब उन महात्माके युगके पाश्चात्त्य संसारकी राजधानी और आजकलकी इटलीकी भी राजधानी रोम नगरको छोड़ते ही पहले पहल उसे काम्पगना नामकी पहाड़ी भूमिके जङ्गली और ज्वराक्रान्त मैदानको पार करना पड़ता है। उत्तरी सड़कसे आगे बढ़ता हुआ अन्तमें वह शुद्ध वायुमण्डलमें आ जाता है और फिर इटलीकी रीढ़ 'अपीनाइन' पर्वतमालाके बगलसे वह ऊँचे चढ़ता जाता है।

जब वह अन्तको आम्ब्रिया पहुँचता है तो उसे देशके अवर्णनीय सौन्दर्यके दर्शन होते हैं। दूर ऊँचाईपर भारी और सुन्दर उत्तुङ्ग शैल शिखर हैं और नीचे कोमल मसृण हरित घासका सुन्दर मैदान और रङ्ग-बिरङ्गा पहाड़ी ढलवाँ है। सिरके ऊपर शोभित-गम्भीर मेघ-विहीन सुन्दर पारदर्शी स्वच्छ नीलम-सा मधुर इटलीका आकाश है।

प्रभु ईश और उनकी पूज्या माताका चित्र खींचनेमें अनेक चित्रकारोंने पृष्ठदेशमें इटलीके सुन्दर नीले आकाशको चित्रित करना चाहा है पर एकने भी पूरी सफलता नहीं पायी। पानी बरसनेके बाद हिमालयोंमें भी मैंने वैसा ही सौन्दर्यमय आकाश देखा है परन्तु भूतलपर यह विलक्षण वर्ण-सौन्दर्य दुर्लभ है।

आम्ब्रिया जिलेमें नरणी, तरणी, और स्लेतो नामके प्राचीन ऐतिहासिक नगर भरे हैं। पहाड़ियोंके मध्यमें ये नगर घोंसलोंकी तरह छिपे-से हैं परन्तु वह दृश्यके जीते जागते अंश हैं जिनके बिना सारी प्राकृतिक सुन्दरता सूनी हो जाती। सबसे सुन्दर तो शायद वह घाटी है जो अस्सीसाईके नीचे दिखायी पड़ती है और जिसकी शोभा संत फ्रांसिसके जीवनसे बिल्कुल सुसङ्गत है तथा अब सदाके लिये उसकी स्मारक हो गयी है। बहुत दूरपर क्षत्रिय शैल दिखायी पड़ता है जहाँ कि अकेला भक्त दान्ते पर्यटन किया करता था। अस्सीसाईके पश्चिम भागमें कवि प्रवर्तिपका जन्म हुआ था और उसका विचित्र औपन्यासिक जीवन बीता था। साहित्यिक स्मारकोंसे तो यह देश भरा पड़ा है। रोमके इतिहासमें प्रसिद्ध झील त्रासीमेने सरीखे दृश्य यहीं है। यह अस्सीसाई पहाड़ीके दूसरी ओर है। इसी स्थानपर हानिबलने रोमन्स सेनाको ऐसी पराजय दी जैसी कि उसे कभी भोगनी नहीं पड़ी थी।

(३)

आम्ब्रियाके पहाड़ोंकी ढालपर अस्सीसाई नामकी बस्ती दूरसे निकली हुई-सी दीखती है, यहीं फ्रांसिसका जन्म हुआ था। ईसाई इतिहासके घोर अन्धकारयुगमें पाश्चात्त्य जगत्‌में शुद्ध आध्यात्मिक आनन्दके सूर्यका वह प्रकाश इस महात्माको लाना था जो इटलीके व्योमसे आनेवाली धूपसे अधिक अन्धकारका मिटानेवाला सिद्ध हुआ।

अपनी पुस्तक डिवाइना कमेडियामें (दिव्य प्रहसनमें) संत फ्रांसिसके विषयमें दान्तेने बहुत कुछ कहा। पर अपना हौसला पूरा न कर पाया। उसके समयमें इस महात्माकी याद ताजा थी, सच तो यह है कि इनकी सारी कवितापर इन्हीं महात्माके चरित्रका प्रभाव पड़ा है। उनके जन्मका वर्णन करते हुए एक पद्य जो उन्होंने लिखा है, इस प्रकार अनूदित किया जाता है।

'अस्सीसाईकी पहाड़ी ढालपर जहाँ मैदान कुछ चौड़ा हो जाता है, इस पृथ्वीपर एक ऐसे सूर्यका उदय हुआ, जो वैसा ही देदीप्यमान था जैसा कि गङ्गाजीपरसे निकलनेवाला सूर्य होता है। इसलिये अबसे कोई उस स्थानको अस्सीसाई न कहे, उसे तो भक्त भास्करका उदयाचल कहना ही उचित है।'

उनका जन्म सं० १२३८ में हुआ और केवल ४५ वर्ष की अवस्थामें सं० १२८३ में उनका देहावसान भी हो गया। जीवनके अन्ततक उनको दुःख-ही-दुःख उठाना पड़ा। उनकी माता फ्रांसके दक्षिणी प्रान्तकी लड़की थीं इसलिये पिताने बालकका नाम फ्रांसिस रक्खा था। उसे मालूम न था कि यह नाम ऐसा धन्य होगा कि आगे पवित्र रोमन साम्राज्यके बड़े बड़े सम्राट् और बहुतेरे देशोंके भूपाल यही नाम धारण करनेमें अपना गौरव समझेंगे।

सबसे अधिक माता ही फ्रांसिसकी पूजा और आदरका पात्र थी। पुत्रपर उसके ननिहालके प्राकृतिक स्वभावकी छाप पड़ी थी। यों तो सारे जीवनपर माताका प्रभाव पड़ा था परन्तु बाल्यावस्थापर उसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। बचपनहीसे उसका जीवन आनन्द, चमत्कार और भजन-भावसे भरा था। उसका भाव प्रेमलक्षणा भक्तिका था, पीछे तो वह परमात्माका सबसे बड़ा श्रृङ्गारी कवि हो गया।

फ्रांसिस अपने जमानेके नवयुवकोंका नायक था और अस्सीसाईके नवयुवकोंमें तो सभी गान और खेलमें उसीका नेतृत्व था तथापि जहाँतक इतिहाससे पता चलता है उसका हृदय आदिसे अन्ततक पवित्र रहा और उसका मन किसी भी भयङ्कर पापसे कलुषित नहीं हुआ। उसकी इस युवा-वस्थामें भी पापवासना न थी, उसके सारे खेल यौवनके आनन्द और तरङ्गोंके थे। यौवन इटली देशपर छाया हुआ था—उसके हृदयमें लहलहा रहा था और वायुमण्डल-में पसर रहा था। वायुमण्डलकी शोभा और सूर्यकी प्रखर तरुण किरणें उसे आनन्दकी ओर उत्साहित करती थीं और उसके रक्तसे यौवन उछला पड़ता था।

संयोगसे उसी समय साम्राज्य और इटलीके पुरोहित राज्यमें युद्ध छिड़ गया। अपने प्यारे नगरकी रक्षामें फ्रांसिस सिपाहीकी तरह लड़ा। वह वैरियोंके पंजेमें फँस गया और उसे बड़ी निष्ठुर और कड़ी कैद भुगतनी पड़ी। परन्तु उसका स्वभाव ही आनन्दी-मौजी और बेपरवा था। इसलिये उसे कैदका दुःख खला नहीं। लड़ाईका मामला खतम हो चुका था, वह सबका प्यारा वीर अस्सीसाईको लौट आया और फिर उसी तरहसे नवयुवकोंका नेतृत्व करने लगा पर इस बार उसे इस काममें मज़ा न आया। थोड़े ही दिनोंमें उसका चित्त उदास हो गया और वह ऐसी बड़ी बीमारीमें पड़ा कि जिससे मरते-मरतेसे बचा। वह बहुत धीरे-धीरे अच्छा हुआ। एक दिन अस्सीसाईमें बीमारी-के बाद जब वह पहले पहल अपने द्वारपर खड़ा हुआ और पहाड़ों, घाटियों और नीले आकाशकी तथा हरी भूमिकी ओर देखा तो यकायक चौंक पड़ा, इसलिये कि उसके विचार इस समय बिल्कुल बदले हुए थे। जिस दृष्टिसे वह पहले इन दृश्योंको देखा करता था वह दृष्टि अब नहीं रही थी।

(४)

फ्रांसिसने चाहा कि इस विकारको वह स्वयं समझ ले परन्तु समझ न सका। उसे धीरे-धीरे यह पता चला कि जिन भावोंको उसने अबतक क्षणभङ्गुररूपमें देखा और जाना था उनमें अब स्थायित्व आ रहा है, वह शाश्वत जान पड़ते हैं। पिछली बार जो उसने मरणोन्मुख कष्ट पाया था उसीसे उसे यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। उसने एक नवीन भावका अनुभव किया जो बाह्य प्रकृतिका अधिष्ठानरूप था, जिसका उसे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था इसीलिये अब उसने नवयुवकोंका संग छोड़ दिया और इस नवीन अन्तर्भावकी मूर्तिके साथ अकेले रहना ही उसे अधिक रुचने लगा जिसे उसने पा लिया था परन्तु जिसके नाम-रूपसे उसे परिचय नहीं हुआ था। इससे उसके जीवनमें बड़ा गाम्भीर्य आ गया और इस नीरव गम्भीर आनन्दके आगे यौवनका सारा आनन्द फीका जचने लगा।

वह अधिकाधिक एकान्तमें भजनके लिये चला जाया करता था और अपने प्यारे-से-प्यारे साथियोंसे अलग हो जाता था। वह इसे समझ न सकते थे और इसे भी जान पड़ता था कि कोई अज्ञेय कारण है जो मुझे इनसे अलग कर रहा है। पहिले तो अजीब तरहका अनिश्चय और अस्पष्टता थी। मन अत्यन्त बैठा जाता था। कश्मल और उदासीनता बढ़ती जाती थीं। फिर जीवनका पर्दा उलट गया। आत्माका द्विजातिसंस्कार हो गया। भगवान्‌का यह दिव्य और पवित्र सन्देश उसे सुन पड़ा। 'दरिद्र जीवन ही जीवन है, धन और विद्या दोनोंसे ही ऊपर उठना चाहिये' अपने जीवनका वास्तविक तत्त्व उसने भीतरी निश्चयके साथ समझ लिया। आत्मतत्त्वके आगे उसे सब अनात्म अनित्य ही दीखने लगा और वह 'दरिद्रनारायण' का उपासक बन गया।

बीच बाजारके, पुरवासियोंके और अपने पिताके सामने उसने अपने वदनसे लत्ता-लत्ता उतार फेंका और सच्चा निहंग लाडिला होकर चल दिया। बापने तो कहा पागल हो गया है परन्तु यह वह पागलपन था जिसने कई बार संसारको पागल बना दिया है।

(५)

आजकलके ऐतिहासिकोंमेंसे कुछने उसे एक जङ्गली सनकी साधु माना है जिसमें मनुष्यता और समझदारीकी

बहुत थोड़ी मात्रा थी परन्तु उसका प्रभाव ऐसा विकट और अद्भुत था कि बड़े-बड़े रईसों, विद्वानों और राज-पुरुषोंने हजारोंकी संख्यामें केवल उसकी आज्ञापर सर्वस्व त्याग कर दिया। जो लोग उसके चरित्रको गम्भीरतासे अनुशीलन करते हैं उन्हें यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी सब क्रियाओंमें कैसी अद्भुत समझदारी थी और उसके थोड़े-से पवित्र जीवनमें सचमुच मुर्देको जिन्दा कर देनेका प्रभाव था। इस साधुके और सभी चमत्कारोंमें चाहे हम विश्वास न भी करें परन्तु इस चमत्कारसे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि सारे यूरोपकी फ्रांसिसकी हलचलसे कायापलट हो गयी!

यूरोपके इतिहासके माध्यमिक कालमें जो दुर्दशा मनुष्यकी कोढ़ीखानोंमें होती थी वह अवर्णनीय है। इस रोगका सब लोगोंको ऐसा भय हो गया था कि कोढ़ियोंके साथ वे लोग भाँति-भाँतिके भयानक अत्याचार करते थे। जैसा कि प्रभु ईशके समयमें लस्तीन देशमें होता था। माध्यमिक कालमें कैथलिकसम्प्रदायके लोग भी यहूदियों-की नकल करके उनके साथ बड़ा जुल्म करते थे। पाद-रियोंने उन्हें एकदम छोड़ दिया बल्कि जीते-ही-जी उनके ऊपर मृत्युकालकी दुआ पढ़कर सब लोगोंसे कह दिया कि इनको मुर्दा समझो। टेनिसन्‌ने एक कवितामें लिखा है कि ऐसी ही एक घटनाके अवसरपर एक सौभाग्यवती स्त्री अपने कोढ़ी पतिसे इन मानव अत्याचारी नियमोंसे पीड़ित होकर लिपट गयी और पादरियोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके उसने उसका साथ न छोड़ा। फ्रांसिसने यों लिखा है—

'जबतक मैं अपने प्रभुके पवित्र प्रेमसे अपरिचित था तबतक कोढ़ियोंसे मुझे ऐसी घृणा थी कि मैं उनकी ओर देख भी न सकता था परन्तु जबसे भगवान्‌ने मुझे सुमति दी तबसे मेरे मनमें उनपर दया आने लगी। जिन बातोंसे मुझे इतनी अधिक घृणा थी, वही बातें मेरे शरीर और आत्माके लिये बड़ी सुखदायिनी हो गयीं।'

एक समसामयिक लेखकने लिखा है—

'एक जगह एक कोढ़ी ऐसा हठी और नास्तिक था कि जिसके लिये सब लोग यह समझते थे कि इसे भूत लगा हुआ है, कभी-कभी तो वह न सुनने योग्य शब्दोंमें भगवान्‌की ही निन्दा कर बैठता था परन्तु इतनेपर भी फ्रांसिस उसके पास गया और झोंपड़ेमें जाकर उससे बोला, 'भइया! भगवान् ईश तुम्हें शान्ति दें' वह चिल्ला उठा, 'शान्ति कैसी? मुझे तो दिनरात असह्य पीड़ा रहा करती है।' फ्रांसिस बोला, 'भइया! तुम जो कहो, सो मैं तुम्हारी सेवा करूँ?' कोढ़ी रोकर बोला, 'हाय! मेरे घाव असह्य हैं, मुझे शुद्ध जलसे नहला दो' इसपर फ्रांसिसने मधुर शान्तिकारक जड़ी-बूटियोंके गरम जलसे अपने ही हाथोंसे उस कोढ़ीको अच्छी तरहसे नहलाया, उसके घावोंको चूमा और उसे अङ्कमाल भरा। उसी समयसे उसपरसे नास्तिकताका भूत उतर गया और उसका हृदय बदल गया!

(६)

संत फ्रांसिसका कोढ़ियोंसे यह बर्ताव उसके बदले हुए जीवनका एक नमूना है। जहाँ-जहाँ वह जाता था पीड़ा, असह्य पीड़ा उसके पहुँचते ही सुखमें परिणत हो जाती थी। उसके पहुँचते ही नारकीय यन्त्रणा स्वर्गसुख बन जाती थी।

संत फ्रांसिस कहता था कि जब कभी किसी भाईकी इतनी बड़ी बेइज्जती, इतना भारी अपमान हो कि सहन न हो सके तभी भगवान् खीष्टके बलिदानका महत्त्व समझमें आ सकता है। संत पालने गलतियोंको अपने पत्रमें लिखा है 'परमात्मा करे कि मैं और किसी बातमें अपनेको धन्य न मानूँ, यदि धन्य मानूँ तो भगवान् ईशके बलिदानमें, जिसके द्वारा संसारका बलिदान मेरेलिये और मेरा बलिदान संसारके लिये होता है।'

एक दिन मैं गुरु नानकके वाक्योंका अनुवाद पढ़ रहा था जिसका भाव उद्धृत रीतिसे बिल्कुल मिलता-जुलता है। यह नानक और फरीदका संवाद है। नानकने कहा 'फरीद, अगर कोई तेरा अपमान करे तो झुक जा और उसके चरण छू ले, ऐसा ही करके तू भगवान्‌के मन्दिरमें पहुँचेगा।'

आध्यात्मिक महत्ताके पद ऐसे ऊँचे-ऊँचे हैं कि लोकोत्तर आनन्द-दशाके सिवा और किसी दशामें मनुष्य वहाँ नहीं पहुँच सकता। यह दशा ऐसी भी हो सकती है कि नर-नारीके समुदायपर जिसका प्रभाव पड़े, जिससे वे सब-के-सब अपने नित्यके परिमित अनुभवोंको छोड़कर लोकोत्तर अनुभव करने लग जायँ। यह सम्भव है कि पीछे कभी-कभी प्रति-क्रियात्मक कश्मलता आ जाय जैसे कि घड़ीका लटकन एक

बार एक दिशामें फिर दूसरीमें। इस तरहका आनन्द और निरानन्द होते रहना, समानभावसे कश्मलमें पड़े रहनेसे बेहतर है।

निदान अस्सीसाईके संत फ्रांसिसके भक्तिभावने औरोंको भी अपनी ओर बड़ी जल्दी खींचा। इस प्रज्वलित अग्निशिखाके चारों ओर बूढ़े, जवान, साधु और साधक आत्माएँ इकट्ठी हो गयीं। संत फ्रांसिसके सम्प्रदायका नाम 'दीनबन्धु' सम्प्रदाय पड़ा। यह सम्प्रदाय अपने आप सहज ही बढ़ चला। इस आगके फैलते बहुत देर न लगी। परमात्मा और दरिद्रनारायणकी भक्ति और सेवामें लोग अपने आप बड़ी खुशीसे शामिल हो गये।

(७)

एक बड़ा ही अमीर आदमी जो संत फ्रांसिससे अवस्थामें अधिक था, उसका नाम था बर्नार्ड। वह फ्रांसिससे मिलने आया, आधीरातको उसकी आँख खुली तो देखता क्या है कि संत फ्रांसिस भजनके आनन्दमें डूबा हुआ है, दोनों आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है और धीरे-धीरे मधुर स्वरसे वह रातमें कीर्तन कर रहा है—

'मेरे ईश्वर मेरे सर्वस्व !' 'मेरे ईश्वर मेरे सर्वस्व !'

बर्नार्ड अपने मित्रको जितना ही देखता रहा उतनी ही उसके मनमें भक्ति-भावना जाग्रत होती गयी। सवेरा हुआ, फ्रांसिसकी तरहसे उसने भी अपना सर्वस्व त्याग दिया और वह दरिद्रनारायणके दीनबन्धुसम्प्रदायमें मिल गया। इस नये भावके सामने संसार असार ही दीखने लगा। परन्तु अबतक उसको गुरुका उपदेश नहीं मिला था। अस्सीसाईके ऊपर पहाड़पर संत निकोलसका बनाया छोटा-सा प्रार्थनाभवन था, वहाँ फ्रांसिस उसे ले गया। मार्गमें एक तीसरा मित्र भी मिल गया और साथ हो लिया, उसके हृदयपर भी प्रभाव पड़ चुका था।

जब मन्दिरमें प्रार्थना हो गयी तो ये तीनों ठहर गये। फ्रांसिसने पवित्र पोथी उठा ली और भगवान् ईशाके वचनोंमेंसे तीन वाक्य पढ़े। पहले खोलकर पढ़ा 'जा, जो कुछ तेरे पास है बेच डाल और उसके दाम दरिद्रोंमें बाँट दे।' फिर खोला और पढ़ा 'अपनी यात्राके लिये कुछ साथ न ले।' फिर तीसरी बार खोला और पढ़ा 'मनुष्यको चाहिये कि अपनेको मिटा दे और नित्य बलिदान हो तभी वह मेरा शिष्य हो सकेगा।' इतना पढ़कर आनन्दसे विह्वल होकर वह अपने मित्रोंसे बोला 'भाइयो! हमारे जीवनके यही तीन नियम हैं हम सब भगवान्का अनुकरण करें जिन्होंने मनुष्यके लिये अपना जीवन दे डाला।'

(८)

संत फ्रांसिसकी कथा मैं कोई इतिहासके क्रमसे नहीं कह रहा हूँ। मेरा तो उद्देश्य है कि पाठक उनके कालातीत भाव ग्रहण कर लें। जब संत फ्रांसिसका सम्प्रदाय बढ़ गया तो वे लोग अपनेको 'छुटभइया' कहने लगे। इटलीके माध्यमिक कालमें 'छुटभइया' उन लोगोंका नाम था जो भारतकी तरह दलित और अछूत जातियोंके थे। इसी विचारसे संत फ्रांसिसने अपने नये सम्प्रदायका यही नाम बहुत पसंद किया। उसकी अभिलाषा थी कि जितने लोग इस सम्प्रदायमें आवें उनमेंसे हरेक अपनी ही इच्छासे 'छुटभइया' का पद स्वीकार करे। यदि भारतवर्षका सादृश्य लेना हो तो कहना पड़ेगा कि जितने लोग बड़ी जातिके हों वे अपने अधिकारोंका त्याग करके अछूत कहलाना स्वीकार कर लें। आम्ब्रियाके जिलेपर इस सम्प्रदायका भारी प्रभाव पड़ा क्योंकि बड़े-बड़े अमीरों और रईसोंके लड़के अपना धन और सुख छोड़कर कोढ़ीखानोंमें रहने लगे और कोढ़ियोंकी सेवा करने लगे। यह ऐसी नयी बात थी कि सारे देशमें इसका हल्ला मच गया परन्तु इससे सम्प्रदायकी उन्नति ही हुई।

अस्सीसाईके छोटे-से नगरमें एक अत्यन्त धनी आदमी गीलेश नामका रहता था। उसने ये खबरें सुनीं और अपने शहरमें इस अनोखे आन्दोलनका हाल सुनकर वह आश्चर्यमें भर गया। वह संत फ्रांसिसके पास आया और उसने सम्प्रदायमें प्रवेश करनेकी बड़ी उत्कट अभिलाषा प्रकट की। संत फ्रांसिसने बड़ी कड़ाईसे धन और वैभवकी निन्दा की, परन्तु गीलेश अपने विनय-अनुनयमें तत्पर रहा। दोनों चले जा रहे थे कि राहमें गन्दे चिथड़े पहने एक भिखमंगा मिला। उसकी परीक्षाके लिये संत फ्रांसिसने गीलेशसे कहा 'उसके चिथड़े ले ले और अपने कीमती वस्त्र दे डाल।' उसने तुरन्त ही ऐसा किया और वह 'छुटभइयों' की सम्प्रदायमें ले लिया गया। वह सबमें अधिक आनन्दी और मौजी भाई हुआ। संत फ्रांसिसने मण्डलीके वीरकी उपाधि दी, वह बड़ा उत्साही था। जब फ्रांसिसका सम्प्रदाय बढ़ा और संसारमें भारी-

भारी काम करनेके अवसर आये तब फ्रांसिसने गीलेशको अपना राजदूत बनाया और महन्तों, मठधारियों, सम्राटों और राजाओंके पास भेजा कि इन लोगोंको सांसारिक वैभवकी सच्ची-सच्ची बातें बताओ ! गीलेश छोटे-छोटे काम भी बड़ी खुशीसे करता था और सभी दरिद्रोंके लिये भक्तिपूर्वक सेवामें लगा रहता था । गीलेशकी एक बड़ी सुन्दर कथा है । फ्रांसका राजा सन्त लूई जब पवित्र तीर्थोंको जा रहा था तो वह संत फ्रांसिसकी समाधिके दर्शनोंको भी गया । वह जब पेरुगियासे होकर निकला तो गीलेशके लिये भी पूछ-ताछ की । उस नगरकी एक खुली सड़कमें दोनोंकी भेंट हुई । एक ओरसे भिखमंगा दूसरी ओरसे राजा ! दोनोंने अगल-बगल होकर चुपचाप दण्डवत् और प्रार्थना की, परन्तु एक शब्द भी न बोले । दोनोंके विचार संत फ्रांसिसकी स्मृतिसे भरे हुए थे और हृदय इतने विह्वल हो गये थे कि बोला न गया । इसके बाद दोनों चुपचाप अपनी-अपनी राह चले गये । एक तो जो भिखमंगा था, दरिद्रोंकी सेवा करने चला गया और दूसरा राजा अपने राजके कामोंमें लग गया । दोनोंको परवर्ती कालने संतका पद दिया और यह पद संत फ्रांसिसके कारण ही था जिसने उनके मनमें भक्तिरसका उद्रेक कराया था ।

संत फ्रांसिसके सम्प्रदायका एक तीसरा भी विभाग था जिसमें गृहस्थ भी शामिल होते थे । जिन लोगोंको अपने सांसारिक वैभवके सर्वथा त्यागकी आवश्यकता नहीं थी तो भी दान, उदारता, दरिद्र-सेवा और सहानुभूति उनका व्रत था और इस तीसरे विभागमें राजा-रंक सभी तरहके गृहस्थ शामिल हुए थे ।

इसी तीसरे विभागमें प्रसिद्ध चित्रकार जीवन्तो भी था । उसने एक बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है जिसमें यह दिखाया है कि रोमके महामहन्त संत फ्रांसिससे किस प्रकार मिले और उनके अभिनव सम्प्रदायको अपनी पवित्र स्वीकृति दी । महामहन्त तृतीय अनुसंत बड़ा भक्त था, उसके सामने संत फ्रांसिस नंगे सिर मंगनके वेशमें खड़ा है और कहता है 'हमारा काम रोगियोंको अच्छा करना है, रोतेको दिलासा देना है, कोढ़ियोंकी सेवा करना है और बटोहियोंको मार्ग दिखाना है ।' इस चित्रमें महामहन्त तृतीय अनुसंत इस ईश्वर-दूतकी स्वागत करता है । इस चित्रसे यह सिद्ध होता है कि उस समयके बड़े-बड़े शासक इस नये आन्दोलनका किस प्रकार स्वागत करते थे । महामहन्त अनुसंत और संत फ्रांसिस, महाराजा लूई और भाई गीलेश-सरीखे महात्माओं और शासकोंको जो शताब्दी पैदा कर सकती है वह सचमुच बड़ी महिमावती है । वह दिन बड़े सुन्दर और धन्य थे जब पवित्रता और बलिदानके उस दृश्यके सामने जो अद्भुत भद्दे वेशमें एकाएकी उनके सामने दिखायी पड़ता था, बड़े-बड़े राजा और महामहन्त शालीनतापूर्वक झुक जाते थे ।

(९)

अब हम वे छोटी-छोटी घटनाएँ देते हैं जिनसे संत फ्रांसिसके जीवनके भिन्न-भिन्न दृश्योंपर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है ।

संत फ्रांसिसके हृदयमें एक भारी अभिलाषा यह थी कि मैं मुसलमानोंकी सेनाओंमें जा पहुँचूँ । तलवार और भाले लेकर नहीं किन्तु श्रद्धा और प्रेम लेकर सं० १२७६ में वह पूर्वदेशको चल पड़ा और मिश्रमें आया । यहाँ सुलतान मल्लिक कामिलके विरुद्ध ईसाइयोंकी भारी सेना सुसज्जित थी । इस प्रसंगपर इस सम्प्रदायके बाहर रहनेवाले एक बूढ़े ईसाईने जो प्रायः सम्प्रदायकी गति-विधिको पसंद नहीं करता था; यों लिखा है—

'संत मिकाईलके मन्दिरका महन्त 'छुटभइया' सम्प्रदायमें मिल गया है । यह सम्प्रदाय आजकल बड़े जोरोंसे फैल रहा है । यह प्रभु खीष्टके शिष्योंकी पूरी नकल करते हैं, इस नये सम्प्रदायके सरदार भाई फ्रांसिस हैं । यह ऐसे साधु पुरुष हैं कि सब-के-सब इनकी पूजा करते हैं । जब यह हमलोगोंसे हमारे शिविरमें आकर मिले तो यह ऐसे निर्भीक और भारी उत्साही दीख पड़े कि भगवान्‌के सत्य समाचारको वैरियोंकी सेनामें पहुँचानेसे तनिक भी न हिचके, इन्हें सफलता तो बहुत नहीं हुई परन्तु जब यह लौटने लगे तो सुलताननने इन्हें एकान्तमें ले जाकर विनती की कि आप कृपाकर मेरे लिये प्रार्थना कीजिये कि भगवान् मुझे सच्चा मार्ग दिखावें । हमलोगोंके यहाँका तुजारी कोलन्युस अंजलिकुश और मीकाईल तथा मत्थ्यु नामके दो सज्जन भी इस सम्प्रदायमें शामिल हो गये हैं । गायनाचार्य हेनरी आदि कई लोगोंको रोकना तो असम्भव हो गया है । मेरी तो बात क्या है, शरीर निर्बल है, हृदय दुर्बल है, जहाँ हूँ वहीं शान्तिसे चुपचाप अपने दिन पूरे कर दूँगा ।'

इन समसामयिक बातोंसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि संत फ्रांसिसके सम्प्रदायका आन्दोलन कितना उत्साह और जान रखता था। एक ओरसे जहाँ हम देखते हैं कि पुराने लोग उसके ऊपर सन्देह और अविश्वासकी दृष्टि रखते हैं परन्तु खुल्लमखुल्ला विरोध नहीं कर सकते, वहाँ दूसरी ओर नयी उमङ्गवाले भक्तोंको देखते हैं कि संत फ्रांसिसके प्रभावसे अविभूत हो और उनकी भक्तिपर मोहित हो वे सम्प्रदायके भीतर खिंचते चले जाते हैं।

हमने तीसरे विभागकी चर्चा ऊपर कर दी है—जैसे पहिला विभाग वैरागी पुरुषोंका बना था वैसे ही संत फ्रांसिसके जीते जी ही वैरागिनियोंका भी एक दूसरा सम्प्रदाय खुला। जब संत फ्रांसिसने यह नया विभाग खोला, तब उनके मनमें अवश्य ही अपनी पूज्या माताका खयाल था परन्तु किसी कारणवश वह इस सम्प्रदायमें न आ सकीं। इस नये विभागके स्थापित करनेमें संत फ्रांसिसके साथ-साथ बहिन क्लाराका बड़ा भाग था।

जिस तीसरे विभागका हम वर्णन कर चुके हैं, उससे निस्सन्देह मानवजातिकी बहुत बड़ी सेवाएँ हुई हैं जहाँ पहले दो विभागोंमेंसे कभी-कभी कोई साधु-महात्मा निकले हैं। इस तीसरे विभागने तो जमींदार और प्रजाकी जो बहुत ही विषम पद्धति थी उसे समाप्त कर दिया और दासताकी जड़ काट डाली। युद्धके विरुद्ध यह पहली ही नैतिक औषध थी और इसके महत्त्वकी ठीक अटकल करना कठिन है। बात यह थी कि यह तीसरे विभागवाले अपने ही भाइयोंके विरुद्ध हथियार नहीं उठा सकते थे। इस तीसरे विभागमें सभी देश, सभी जाति और सभी कक्षाके लोग शामिल थे। किसान जमींदारके साथ जरूरत पड़नेपर उसकी ओरसे लड़नेकी शर्त नहीं कर सकता था। एक राजा दूसरे राजासे भी नहीं लड़ सकता था। यह विभाग अन्तरराष्ट्रीय था परन्तु पहले दो विभागोंसे जो विश्वव्यापी थे किसी प्रकार अलग न था। इस प्रकार जबरदस्ती शामिल होनेकी जड़ धीरे-धीरे कमजोर हो गयी। इस तरह यूरोपके इतिहासमें आध्यात्मिक हथियारोंसे एक महान् और दूरगामी विप्लव सुसाध्य हो गया।

जब हम पूर्वके देशोंसे मुकाबला करते हैं तो बौद्ध-मतके आन्दोलनके साथ-साथ बहुत सादृश्य पाते हैं। यहाँ भी गौतम बुद्धने अपने सम्प्रदायके दूसरे और तीसरे विभाग इसी प्रकारके खोले थे। संत फ्रांसिसके विभागोंके साथ बौद्ध वैरागियों और वैरागिनियोंका आनन्दी जीवन खूब मेल खाता है।

(१०)

गाँवके दरिद्र हरवाहों और दीन मजूरोंमें जो बुद्धिमान् व्यापारी और शिल्पी नगरोंमें लाचार होकर घुसते आते थे उनमें इस फ्रांसिस सम्प्रदायसे सचमुच नयी जान और आशाका सञ्चार हुआ। इतना ही नहीं था कि 'छुटभइये' लोग बड़ी कोमलता, बड़े प्रेम और देखभालके साथ रोगियोंकी सेवा करते थे, भूतकालमें जिसकी कोई उपमा न थी बल्कि उन्होंने पहले पहल अस्पताल बनाये, जिनमें दीन-दुखियोंकी सेवा होने लगी और उस समयके जो हाकिम थे उनके ऊपर बहुत ही भारी मजबूत क्रियाशील और सहानुभूतिमय प्रभाव डाला जिससे कि दीनोंकी स्थिति तुरन्त ही सुधर गयी। इन दीनबंधुओंके आनेहीसे दानवी नदीके पश्चिमके मध्यकालीन यूरोपके दास्य-बन्धनोंमें बँधे लोगोंको सदाके लिये छुटकारा मिल गया!

इस तरहकी जागृति और सुधारकी गति इन पुराने नगरोंके दरिद्रालयोंतक ही मर्यादित नहीं रही, यह अपने आनन्दमङ्गलको जीवनकी प्रत्येक दिशामें फैलाती रही। संत फ्रांसिसके जीवन-सम्प्रदायके भक्तमय जीवन और बलिदानके भाव अपरिमित और विस्मयोत्पादक सौन्दर्यसे काव्यकला और साहित्यकी भी जागृति हो गयी। जीवन्तो और दान्ते यह दो नाम ऐसे हैं कि जिनके उच्चारणसे ही यूरोपनिवासीकी आँखोंके सामने संसारके अभिनव सौन्दर्यके कैसे-कैसे विलक्षण सपने खड़े हो जाते हैं। परन्तु इन दोनों कला-कोविदोंकी चित्र-कारीकी प्रेरणा और कलाकी भावप्रवीणता फ्रांसिसके सम्प्रदायका फल था।

यह जागृति इटलीहीतक नहीं रह गयी, यद्यपि इसका आदर्शरूप आरम्भ वहीं हुआ था। पश्चिमके प्रत्येक देशमें यह बड़े वेगसे फैला। और एक शताब्दीके भीतर-ही-भीतर कोई ईसाई देश ऐसा नहीं रह गया था जिसने इस सम्प्रदायका प्रसाद न पाया हो। इसने विश्वविद्यालयोंका कायाकल्प कर दिया और यह विज्ञानकी बड़ी-बड़ी खोजोंका प्रवर्तक हुआ। पहला वैज्ञानिक राजा वेकन एक छुटभइया था। इस लेखमें मुझे कई बातें छोड़नी पड़ेंगी।

फ्रांसिसके जीवनके अन्तिम दृश्य, खीष्टके भावपर प्रगाढ़ ध्यान करती बेर उसके हाथों और पैरोंमें सूलीके चिह्नका प्रकट हो जाना, भूतमात्रके लिये उसका प्रेम, पशुओं और पक्षियोंको उसका उपदेश, जिसका जीवन्तोने बड़ा उत्तम चित्रण किया है, भगवान् भास्करको और जड़-चेतन-सृष्टिको सम्बोधन करते हुए उसके रहस्यमय भजन, निर्वाणमय पद, इन सब बातोंकी विस्तारसे चर्चा करनेका अवसर नहीं है। विह्वलताकी दशामें जो कुछ उसने लिखा है और जो कुछ उसके मुखसे निकला है और शिष्योंने सावधानीसे लिख रक्खा है उससे यह बात खुल जाती है कि सारे विश्वमें यह आनन्द उसके भक्तिभावका एक अंश-मात्र था। हर जगह लोगोंने इस सम्प्रदायके भाइयोंके चेहरों-पर जिस आनन्दकी छाप पायी, वह प्रकृतिके साथ पूर्णतया मिले रहनेके कारण देख पड़ती थी। यह प्रश्न हो सकता है कि संयमकी कठोरताकी अपेक्षा क्या यह आनन्द ऊँचे दर्जेकी साधुताका आनन्द नहीं है ? इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि परमात्मसत्ताका आन्तरिक रूप परमानन्द ही है।

संत फ्रांसिसकी अन्तिम अभिलाषा उसके सारे जीवन-के अनुरूप ही थी, जब वह मरणासन्न हुआ तो उसने लोगोंसे कहा कि 'मुझे खुलेमें ले चलो, अपने प्यारे अस्सीसाईको मरणके पहले देख लूँ।' सन्ध्याका समय था। सूर्य भगवान् डूब रहे थे। उसने घाटीके पार अपनी जन्मभूमिकी ओर निगाह दौड़ायी और भाग्यवान् अस्सीसाईको आशीर्वाद देते-देते अपने नश्वर शरीरको छोड़ दिया।

भगवान् भास्कर अस्ताचलके नीचे चले गये। पहाड़ों, घाटियों, नदियों और पक्षियों तथा फूलोंपरसे जिन्हें वह इतना चाहता था अपनी किरणें धीरे-धीरे हटा लीं। उस समय गम्भीर-नीरवतामें सुन्दर खुले आकाशके नीचे जहाँ एक-एक तारा धीरे-धीरे निकल रहा था, अनिर्वचनीय शान्तिसे वह अपनी दृष्टि अस्सीसाईकी ओर फेरे हुए हैं। पाठकवृन्द ! चलिये इस महात्माको इसी शान्तिमें छोड़कर हम लोग चलें।

अहल्या-उद्धार

(१)

भक्त-वत्सल, करुणा-अगार—
लोक-रञ्जन, शोभाके धाम,
विश्व-व्यापक, अविचिन्त्य, निरीह,
जगत्पति, निर्गुन, अज निष्काम।

(२)

वही माया-पति रघुकुल-भानु—
अज्ञ इव होकर परम अधीर—
निरखि निर्जन वन पूछत, 'नाथ !
शिला यह कैसी रम्य-कुटीर ?

(३)

बिहँसि बोले मुनि, 'हे रघुबीर !
तपोवन यह गौतमका धाम,
श्रापवस शिला भई ऋषिनारि—
अहल्या, गौतम तिय है नाम'।

(४)

'अपावन अबला पतित अधीर,
हुई कलुषित छलसे हे राम !
किन्तु पतिभक्ता थी यह पूर्ण—
भक्ति इसमें थी अतुल अकाम।'

(५)

'चाहते शिव विरञ्चि पद-पद्म—
जिन्हें पा खल होते भवपार—
उन्हीं पावन चरणोंकी रेणु—
चाहती यह हे करुणागार !'

(६)

सरल स्नेही सुठि सहज स्वभाव,
बिहँसि परस्यो सस्मय पाषाण,
परसि पद रज शुभ परम पुनीत—
पा गई दुसह दुःखसे त्राण।

(७)

दिव्य नारी-तन पा कमनीय—
अमित अस्तुति करि तजि भव-शोक,
जपति जय जय जय जय श्रीराम
सिधारी गौतम-तिय पतिलोक।

—'श्रीपति'

अहल्योद्धार

परसत पद-पावन सोक-नसावन प्रगट भई तपपुंज सही ।
देखत रघुनायक जन-सुखदायक संमुख होइ कर जोरि रही ॥

भक्तवर अर्जुन

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् । (अर्जुन)

भक्तवर अर्जुन पाँचों पाण्डवोंमें बिचले भाई थे । ये इन्द्रसे उत्पन्न तथा नर भगवान्‌के अवतार थे । महाभारतके पात्रोंमें सबसे प्रधान अर्जुन ही थे । भगवान् श्रीकृष्णके समवयस्क और सखा थे । अर्जुनका वर्ण भी श्रीकृष्णकी भाँति श्याम और चित्ताकर्षक था । ये महान् शूरवीर, धीर, दयालु, उदार, न्यायशील, निष्पाप, चतुर, दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यप्रिय, गुरु और गुरुजन-भक्त, बुद्धिमान्, विद्वान्, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे । भगवान्‌की भक्तिका उनके लिये सबसे बड़ा यही प्रमाण है कि जिस गीताशास्त्रके अध्ययन और विचारसे अबतक अगणित साधक परम-सिद्धिको प्राप्त कर चुके हैं, जो गीताशास्त्र सहस्रों साधु-महात्माओंको परमार्थका पावन पथ दिखलानेके लिये उनका पथप्रदर्शक और परमधामतक पहुँचा देनेके लिये परम पाथेय बन रहा है, उस गीतामृतके पान करनेका सबसे पहला अधिकारी यदि कोई हुआ तो वह अर्जुन ही हुए, उस समय अनेक ऋषि-मुनि तथा भीष्म, युधिष्ठिर-सरीखे राजर्षियोंकी कमी नहीं थी परन्तु भगवान्‌ने गीता सुनानेके लिये अपने अन्तरङ्ग सखा और परम श्रद्धालु अर्जुनको ही चुना ! वास्तवमें अर्जुनका भगवान् श्रीकृष्णमें बड़ा भारी विश्वास था ।

जिस समय दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णके महलमें युद्धमें सहायता माँगने गया, उस समय भगवान् सो रहे थे । दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसनपर बैठ गया, पीछेसे अर्जुन पहुँचे, वे नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठ गये । श्रीकृष्णने जागनेपर पहले सामने बैठे हुए अर्जुनको और पीछे दुर्योधनको देखा । उन्होंने दोनोंका स्वागत-सत्कार किया । दुर्योधनने कहा, 'युद्धमें आपकी सहायता माँगनेके लिये पहले मैं आया हूँ, अर्जुन पीछे आया है, आप मेरी तरफ ही आवें ।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा 'दुर्योधन, तुम पहले आये यह यथार्थ है । पर मैंने पहले अर्जुनको देखा, इसलिये दोनोंकी सहायता करूँगा'—बात सच है, सामने चरणोंमें बैठा हुआ ही पहले दीख पड़ता है, सिरपर बैठा हुआ नहीं, मतलब यह कि सबको नम्रतापूर्वक भगवान्‌के सन्मुख होना चाहिये, न कि ऐंठकर उनके सिर चढ़ना । अस्तु—

भगवान्‌ने कहा कि, 'एक ओर तो मेरे समस्त यादव वीर सशस्त्र सहायता करेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा परन्तु मैं न तो शस्त्र ग्रहण करूँगा और न युद्ध करूँगा । जिसकी जो इच्छा हो सो माँग ले ।' परीक्षाका समय है एक ओर भगवान्‌का बल-ऐश्वर्य है और दूसरी ओर स्वयं शस्त्रहीन भगवान् हैं । भोग चाहनेवाला मनुष्य भगवान्‌को और भगवान्‌को चाहनेवाला भोगको नहीं चाहता । अर्जुन भगवान्‌के प्रेमी थे, भोगके नहीं । उन्होंने कहा, 'अकेले श्रीकृष्ण ही मेरे सर्वस्व हैं वे ही मेरी सहायता करें ।' इस परीक्षामें अर्जुन उत्तीर्ण हो गये । भोगबुद्धिवाले दुर्योधनने सोचा, 'बड़ा अच्छा हुआ जो अर्जुनने निःशस्त्र और युद्धविमुख कृष्णको ले लिया और मुझे यादव योद्धा मिल गये ! अर्जुनको युद्ध करनेवाले वीरोंकी कम आवश्यकता थी सो बात नहीं है, परन्तु उन्होंने वीरोंकी अपेक्षा अकेले श्रीकृष्णकी कीमत बहुत अधिक समझी, इसी प्रकार जो भोगोंकी अपेक्षा भगवान्‌की कीमत अधिक समझते हैं,—भगवान्‌के लिये बड़े-से-बड़े भोगोंका त्याग करनेके लिये सहर्ष प्रस्तुत रहते हैं, वे ही भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं और उन्हींको भगवान्

मिलते हैं ! इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनके रथकी लगाम हाथमें लेकर निस्संकोच सारथीका क्षुद्र कार्य किया, पर यदि भगवान् इस ओर न आते, रथ न हाँकते तो महाभारतका इतिहास दूसरी ही तरह लिखा जाता । फिर संजय यह नहीं कह सकते कि 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।' और न जगत्‌का उद्धार करनेवाली गीता ही आज हमें मिलती । यह अर्जुनकी भक्तिका ही परिणाम समझना चाहिये । अर्जुन-सरीखे वत्स मिलनेपर ही श्रुतिरूपी गौ दुही जा सकती है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता-जैसी महान् सम्पत्ति अर्जुनके कारण जगत्‌को मिली, इस हेतुसे समस्त जगत्‌को सदाके लिये अर्जुनका कृतज्ञ होना चाहिये ।

अर्जुनमें भक्तके सब गुण मौजूद थे, गुरुदक्षिणाके लिये अर्जुनने द्रुपदका दर्प चूर्ण किया, बड़े भाईके सम्मानके लिये अर्जुनने युधिष्ठिरकी सब बातें मानीं, राजधर्म और सत्यताके पालनके लिये अर्जुनने बारह वर्षका देशनिकाला स्वयं माँगकर लिया !

माताकी आज्ञा और पूर्वजन्मके कई शाप-वरदानोंके कारण देवी द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ । इसके कुछ काल बाद नारद मुनि पाण्डवोंके पास आये और उन्होंने तिलोत्तमा अप्सराके कारण सुन्द-उपसुन्द नामक दो राक्षस भ्राताओंके परस्पर लड़कर नाश हो जानेका इतिहास सुनाकर यह कहा कि 'तुम पाँचों भाइयोंके एक ही स्त्री होनेके कारण कहीं आपसमें वैमनस्य होकर सबका नाश न हो जाय इसलिये तुमलोगोंको एक ऐसा नियम बना लेना चाहिये जिससे कभी वैमनस्यकी सम्भावना ही न रहे ।' इसपर नारदजीकी सम्मतिसे पाँचों भाइयोंने मिलकर यह नियम बनाया कि 'प्रत्येक भाई दो महीने बारह दिनके क्रमसे द्रौपदीके पास जायँ । यदि कोई भाई बीचमें द्रौपदीके साथ एकान्तमें दूसरे भाईको देख ले तो वह बारह वर्ष वनमें रहना स्वीकार करे ।'

पाँचों भाई इसी नियमके अनुसार बर्ताव करते रहे, एक दिन एक ब्राह्मणकी गायें चोरोंने चुरा लीं । ब्राह्मण यह चिल्लाते हुए राजमहलके आसपास घूम रहा था कि 'चोरको सजा देकर मेरी गायें ढूँढ़ दो ।' किसीने जब कोई उत्तर नहीं दिया तब ब्राह्मणने यह कहा कि 'जो राजा प्रजासे उसकी आमदनीका छठाँ भाग लेकर भी उसकी रक्षा नहीं करता वह अत्यन्त पापाचारी है ।' आजकलकी-सी बात होती तो ब्राह्मणको अवश्य कारागारकी हवा खानी पड़ती पर पाण्डव राजधर्मसे परिचित थे । इसलिये ऐसा न हो सका । अर्जुनने ब्राह्मणकी पुकार सुनते ही उसे आश्वासन दिया और हथियार लानेके लिये वे अन्दर जाने लगे । पीछेसे जब यह पता लगा कि महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें हैं तब वे विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिये । अन्दर जानेसे नियम टूटता है और फलतः बारह वर्षके लिये वनवासी होना पड़ता है, ऐसा न करनेसे क्षत्रियधर्म और प्रजापालनमें बाधा आती है, अन्तमें अर्जुन यह निश्चय करके अन्दर चले गये 'चाहे महाराजका अनादर हो, मुझे अधर्म हो, मेरा वनगमन या मरण हो पर प्रजापालनरूपी राजधर्मको कभी नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि शरीर छूटनेपर भी धर्म बना रहता है ।'

भीतरसे शस्त्र लाकर अर्जुनने लुटेरोंका पीछाकर उन्हें योग्य दण्ड दिया और उनसे गायें छीनकर ब्राह्मणको प्रदान कीं । राजधर्म पालनके लिये जो घरका नियम तोड़ा अब उसका दण्ड भी तो भोगना चाहिये । अर्जुनने आकर धर्मराजसे कहा, 'मैंने द्रौपदीके साथ एकान्तमें आपको देखकर नियम तोड़ दिया है, इसलिये मुझे बारह वर्षके लिये वन जानेकी आज्ञा दीजिये ।' धर्मराजने अर्जुनको बहुत समझाया परन्तु धर्मके प्रतिकूल राज्यसुख भोगना अर्जुनने उचित नहीं समझा और धर्मराजसे कहा—

न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥

'महाराज ! आपहीसे तो मैंने सुना है कि धर्म-पालनमें बहानेबाजी कभी नहीं करनी चाहिये, मेरा तो सत्य ही शस्त्र है, फिर मैं सत्यसे कैसे विचलित होऊँ ।' युधिष्ठिरके वचनोंसे लाभ उठाकर अर्जुनने अपना मन सत्यसे नहीं डिगने दिया और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर वे तुरन्त वनमें चले गये । धर्मपालन और सत्यपरायणताका कैसा सुन्दर उदाहरण है । अब एक जितेन्द्रियताका अद्भुत प्रमाण देखिये ।

अर्जुनने भगवान् महादेवजीसे युद्ध करके उन्हें प्रसन्न कर उनसे अमोघ 'पाशुपत' के धारण, मोक्ष और संहारकी क्रिया सीखी, तदनन्तर यम, वरुण, कुबेर आदि लोकपालोंको प्रसन्न कर उनसे क्रमशः गदा, पाश और अन्तर्धान तथा प्रस्तापन नामक अस्त्र ग्रहण किये । इतनेहीमें अर्जुनको बुलानेके लिये देवराज इन्द्रका सारथी मातलि रथ लेकर वहाँ आ गया और अर्जुन उसपर बैठकर आकाशमार्गसे भिन्न-भिन्न विचित्र लोकोंको देखते हुए सदेह स्वर्ग पहुँचे, वहाँ पाँच साल रहकर अर्जुनने दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किये और चित्रसेन गन्धर्वसे गाने-बजाने और नाचनेकी कला सीखी !

एक दिन इन्द्रसभामें स्वर्गीय अप्सराओंका नाच-गान हो रहा था, महावीर अर्जुन इन्द्रके साथ सिंहासनपर बैठे हुए थे ! इन्द्रने देखा, 'अर्जुनकी दृष्टि लगातार उर्वशीपर पड़ रही है ।' अर्जुनको प्रसन्न करनेके लिये इन्द्रने एकान्तमें चित्रसेनसे कह दिया कि तुम उर्वशीको समझा दो कि वह आज रातको अर्जुनके पास जाय । चित्रसेनने इन्द्रका सन्देश उर्वशीको अकेलेमें सुना दिया, अर्जुनके श्यामसुन्दर, अत्यन्त तेजस्वी तथा मनोहर वदन, उसकी मत्त-गजेन्द्रकी-सी चाल, सिंहके-से उन्नत स्कन्ध, कमलपत्रसे विशाल नेत्र, तत्त्ववेत्ताकी-सी मधुर तथा नम्र वाणी और विष्णुका-सा पराक्रम देखकर उर्वशी पहलेसे ही उसपर मोहित थी । उसने इन्द्रका सन्देश बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वीकार किया ! उसी दिन रातको दिव्य चाँदनी-में मुनि-मन-हरन करनेवाली उर्वशी दिव्यवस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जिता होकर एकान्तमें अर्जुनके महलपर गयी । अर्जुन इतनी रातको अपने शयनागारमें सजी-धजी उर्वशीको देखकर बड़े लज्जित हुए और मस्तक अवनत करके उसका पूज्यभावसे बड़ा स्वागत किया ! उर्वशीने इन्द्रका सन्देश सुनाकर अपना मनोरथ पूर्ण करनेके लिये अर्जुनसे विनयपूर्वक प्रार्थना की । परन्तु जितेन्द्रिय अर्जुनके मनमें कोई क्षोभ या विकार नहीं हुआ, अर्जुनने कहा 'माता ! आप हमारे पुरुवंशके पूर्वज महाराज पुरूरवाकी भार्या हैं, भरतकुलकी जननी हैं इसीलिये मैंने राजसभामें आपकी ओर मातृभावसे देखकर मन-ही-मन प्रणाम किया था, देवराजने समझनेमें भूल की है । आप क्षमा करें, कृपापूर्वक जैसे आयी हैं वैसे ही वापस लौट जायँ, मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मुझ अपने बालकसे आप ऐसी नरकप्रद बात न कहें !' इसपर उर्वशी बोली, 'हे सुन्दर ! पुरूरवाके बाद उसी वंशके स्वर्गमें आनेवाले सभी राजाओंने हम अप्सराओंका भोग किया है, अप्सराओं-का भोग ही तो स्वर्गका सुख है ।' उर्वशीने अर्जुनका मन अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये नाना प्रकारसे चेष्टा की परन्तु अर्जुन अटल और अचल रहे । और बोले—

श्रृणु सत्यं वरारोहे यत्त्वं वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
श्रृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥
यथा कुन्ती च माद्री च शची चेह ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥

'हे देवी ! मैं जो सत्य कहता हूँ सो सुनो, साथ ही सारी दिशाएँ और उनके देवतागण भी सुनें ।

आप मेरे लिये कुन्ती, माद्री और शची माताके समान पूजनीया हैं, अपना पुत्र समझकर आप माताकी तरह मेरी रक्षा करें।' अर्जुनके इन वचनोंको सुनकर उर्वशी बहुत क्रुद्ध हुई और अर्जुनको यह शाप देकर 'तू एक वर्षतक नपुंसक होकर नाचना-गाना सीखाता रहेगा। लोग तुझको पुरुष नहीं बतावेंगे।' वह चली गयी। अर्जुनने शाप सहन कर लिया परन्तु अपने ब्रह्मचर्य-व्रतसे वह तनिक भी नहीं डिगे! अर्जुन-सरीखे देवपूजित वीर युवकके सामने इन्द्रप्रेरित स्वर्गकी असामान्य सुन्दरी उर्वशी सज-धजकर रातको एकान्तमें उपस्थित हो गिड़गिड़ाकर कामभिक्षा माँगे, जिसपर उस युवकके मनमें रत्तीभर भी कामका विकार न हो। यह कोई साधारण बात नहीं है। परमहंस रामकृष्ण कहा करते कि 'सभाओंमें त्यागी सजनेवाले असली त्यागी नहीं हैं, त्यागी वह है जो जनशून्य एकान्त स्थानमें युवती स्त्रीको माँ कहकर वहाँसे अछूता निकल जाय।' अर्जुनका आचरण तो इससे भी ऊँचा है। यही तो भक्तका लक्षण है। स्वाँग धारण करने या मुँहसे लच्छेदार बातें करनेसे ही कोई भक्त नहीं होता, भक्तको अपने मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। भगवान् इतने भोले नहीं थे कि वे हर किसी राजपुत्रके घोड़े हाँकने या उनके यज्ञमें चाकरी करने-को तैयार हो जाते। अर्जुनके महान् त्याग और सच्चे प्रेमने ही उनको आकर्षित कर लिया था। कहाँ तो अर्जुनसदृश त्यागी भक्त, कहाँ आज परस्त्री और परधन अपहरण करनेके लिये भक्तिका स्वाँग धारण करनेवाले पाखण्डी! भक्त बनना चाहनेवाले पुरुषको अर्जुनके इस महान् आचरणसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

अर्जुनके पास दिव्य देवास्त्र थे परन्तु शत्रुओंपर वे उनका सामर्थ्य देखकर मानवी अस्त्रोंका ही प्रयोग करते। कहा जाता है कि शङ्करके पाशुपत अस्त्रका उन्होंने महाभारतमें कहीं प्रयोग नहीं किया। महान् बलवान् होनेपर भी वे उजड्ड नहीं थे। अर्जुनकी भक्ति, सभ्यता, गम्भीरता, बुद्धिमत्ता और प्रतिभाने उनके दिग्दिगन्तव्यापी शौर्यके साथ मिलकर सोनेमें सुगन्धका काम किया था। अपने गुणोंके कारण ही अर्जुनने दस नाम प्राप्त किये थे। भगवान् श्रीकृष्णपर अटल विश्वास होनेके कारण बड़े-बड़े विकट प्रसंगोंमें भगवान्ने उनको बचाया था।

अर्जुनको अपने गाण्डीवका बड़ा गर्व था, उन्होंने प्रण कर रक्खा था, कोई मेरे सामने गाण्डीवकी निन्दा करेगा तो मैं उसका मस्तक काट लूँगा। एक बार किसी कारणवश धर्मराजने गाण्डीवको धिक्कार दिया, इसपर दृढ़व्रत अर्जुनने तलवार निकाल ली। यदि वहाँपर धर्मके सूक्ष्म तत्त्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण अपने बुद्धिकौशलसे अर्जुनको इस पापसे न बचाते तो अनर्थ हो जाता। जयद्रथको मारने, द्वारिकामें ब्राह्मणबालककी रक्षा करने, सुधन्वा भक्तको मारने आदिमें अर्जुनने बेढब प्रण कर लिये थे। परन्तु भगवत्-शरणागत होनेके कारण भगवान्ने उनकी ठीक मौकेपर रक्षा की। अर्जुनका चरित्र भक्ति और वीरतासे भरा हुआ है। इस छोटे-से लेखमें कहाँतक वर्णन किया जाय।

—रामदास गुप्त

कर

भूल न अनीत कर, बासनाएँ जीतकर, प्रभु पद प्रीत कर लाज रख बानेकी,
राग द्वेष त्याग कर, हरी अनुराग कर, 'बलबीर' लाग कर सुकृत कमानेकी।
सबका ही हित कर, शुद्ध निज चित्त कर, नित्त कर बात सर्वेशको रिझानेकी,
कामादिसे हटकर, प्रेम भक्ति डट कर, रामनाम रट कर युक्ति मुक्ति पानेकी॥

—मा० हरगुलाल

सख्य-भक्त अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण
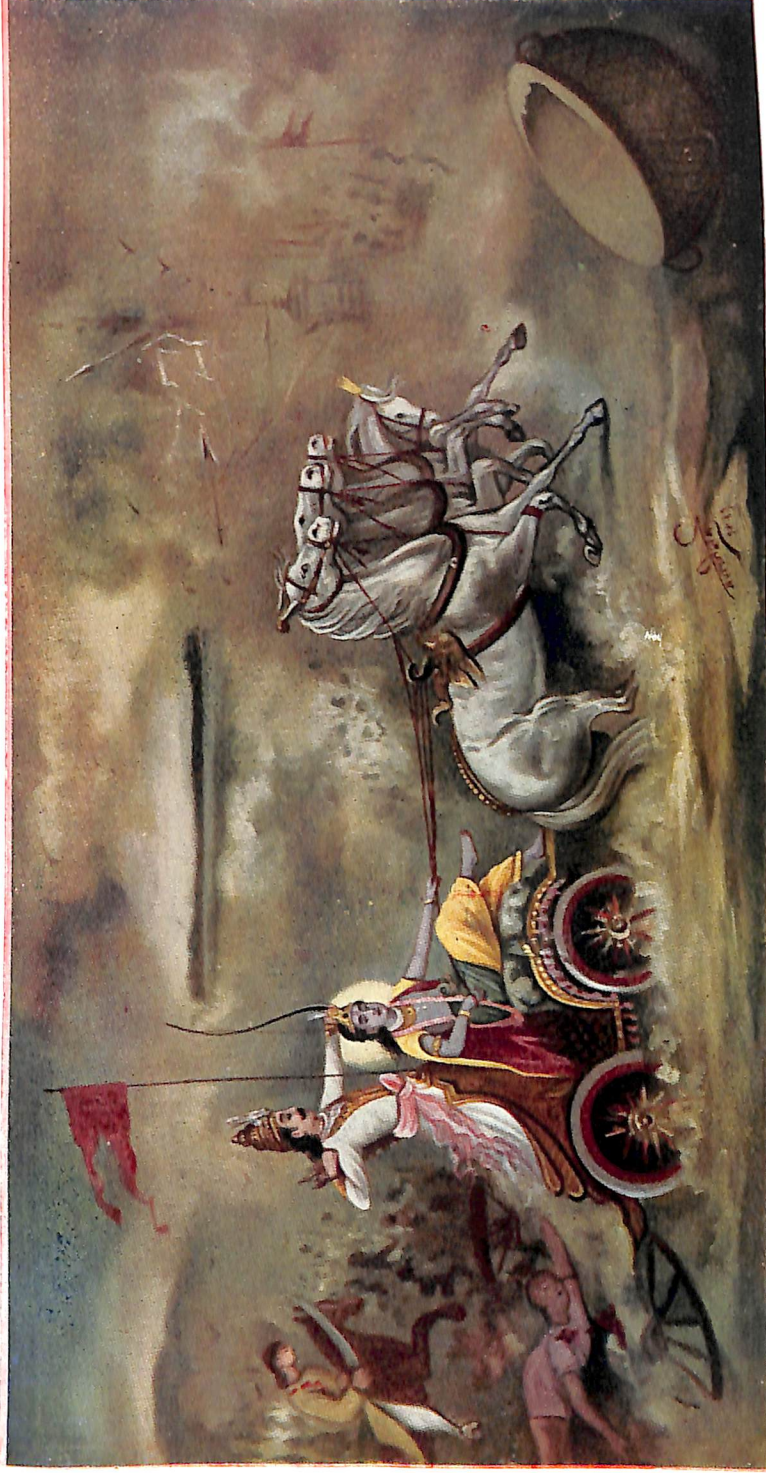
"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।"

भक्ति

(लेखक—जगद्गुरु स्वामीजी श्रीअनन्ताचार्यजी महाराज, प्रतिवादी भयङ्करमठ बम्बई)
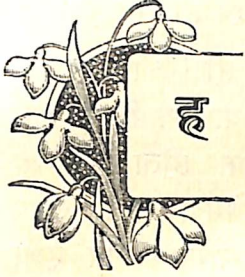
हमारे चिरपरिचित परमप्रेमी भक्त हनुमानप्रसादजी जब बम्बई आये थे तभी हमसे भक्ताङ्कके लिये एक लेख देनेका अनुरोध कर गये थे, इस बातको चार-पाँच महीने हो गये होंगे। तबसे कई पत्र हमारे पास आ चुके, उस समय हमने बिना विचारे यों ही कह दिया था कि लेख भेज देंगे। जब लेख लिखनेका अवसर आया तब विचार करनेपर मालूम हुआ कि कार्य कुछ कठिन है, क्योंकि भक्तिपर लेख लिखना है। जो वास्तवमें सच्चा भक्त होगा वही ऐसा लेख लिख सकता है। शास्त्रकारोंका यह सिद्धान्त है कि 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' जो मनेमें होगा वही वाणीसे कहा जा सकता है और तदनुसार ही कार्य भी होगा। 'यद्भाण्डे नास्ति कथं तद्दर्व्यामागच्छेत्' यह एक न्याय है, अर्थात् जो भाण्डेमें नहीं वह करछीमें कैसे आवेगा! परन्तु अब क्या हो सकता है? अब तो प्रतिज्ञानुसार कार्य करना ही होगा। चाहे लेख अच्छा हो या बुरा। 'हठादाकृष्टाणां कतिपयपदानां रचयिता' बनना ही पड़ेगा। अस्तु, जो कुछ होगा देखा जायगा, शास्त्रका तो यह सिद्धान्त है—'कर्ता कारयिता च सः' फिर हमें क्या चिन्ता?

भक्ति क्या चीज है?

भगवान् शाण्डिल्य महर्षिने भक्तिसूत्रमें—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'। (सूत्र २)

इस सूत्रसे भक्तिका स्वरूप बताया है। ईश्वर-विषयक परम अनुराग ही भक्ति है, प्रेमविशेषका नाम ही अनुराग है। स्नेह तीन प्रकारके होते हैं—समान-विषयक स्नेह, निकृष्टविषयक स्नेह और उत्कृष्ट-विषयक स्नेह। अपने बराबरके व्यक्तिमें जो स्नेह होता है उसको मैत्री कहते हैं। अपनेसे अपकृष्ट व्यक्तिमें जो स्नेह होता है उसको दया कहते हैं, अपनेसे उत्कृष्ट व्यक्तिमें जो स्नेह होता है उसको भक्ति कहते हैं। ईश्वर सबसे सर्वप्रकारसे उत्कृष्ट है, उसमें सबको गौरव ज्ञान होता है, ईश्वरमें जो उत्कर्ष है वह उत्कर्षकी पराकाष्ठा है, अतएव उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरमें जो स्नेह वा अनुराग हो वही भक्तिके नाम-से कहे जाने योग्य है। गुरुत्व बुद्धिसे संवलित स्नेह ही भक्तिशब्दवाच्य है। परमेश्वरमें जैसी गुरुत्वबुद्धि हो सकती है वैसी अन्यत्र नहीं हो सकती। अतएव महर्षि शाण्डिल्यने ईश्वरविषयक परम अनुरागको ही भक्ति बताया है। ईश्वरसे अतिरिक्त अन्यान्य महत्पुरुषोंमें जो अनुराग हो उसको भी भक्ति कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरविषयक स्नेह ही मुख्यरूपसे भक्तिशब्दवाच्य होना चाहिये। अन्य विषयका अनुराग भक्ति शब्दका अमुख्यार्थ होगा।

अनुरागमें परमत्व विशेषण लगाया गया है, वह क्या है, इसका विवेचन होना चाहिये। जिसमें अनुराग हो, उसके संयोगमें यदि चित्तकी तन्मयता प्राप्त हो, विषयान्तरका भाव ही न रहे और उसके वियोगमें प्राणवियोग होनेतककी सम्भावना हो उस अनुरागको परम अनुराग कहना चाहिये। संयोग बाह्य और आन्तर दो प्रकारके होते हैं, मानसिक चिन्तनको आन्तर संयोग कहते हैं, और प्रात्यक्षिकानुभवको बाह्य संयोग कहते हैं। भक्त जब परमात्मामें चित्त लगाकर भीतर-ही-भीतर उसका अनुभव करने लगते हैं तब वे समस्त बाह्य वियोगको भूल जाते हैं, उन्हें कुछ भान ही नहीं रहता। भक्तप्रवर प्रह्लाद इसके उदाहरण हैं।

स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः ।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसुस्थितः ॥
(वि० पु० १ । १७ । ३९)

प्रह्लादके शरीरको चारों ओरसे घोर सर्प काट रहे थे, परन्तु उनका चित्त परमात्मामें लीन था, भीतर-ही-भीतर वे परमात्मस्मरणजनित सुखका अनुभव कर रहे थे, अतएव उनको बाह्य शरीरका भान ही नहीं रहा, सर्पदंशजनित कष्टका उनको अनुभव ही नहीं हुआ । यही बात भगवद्गीतामें कही गयी है ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(गीता २ । ५५)

जब 'आत्मन्येवात्मना तुष्टता' प्राप्त होती है तब चित्तमें विषयान्तरको स्थान ही नहीं मिलता, यह कामत्याग पुरुषकी इच्छासे नहीं होता किन्तु काम स्वयं ही स्थान न पाकर अलग हो जाता है । ईश्वरमें पूर्ण अनुराग होनेका यही लक्षण है, ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर ही भक्तिकी सिद्धि मानना चाहिये ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।
(गीता २ । ५९)

परमात्माका अनुभव सतत भावनाके कारण मनमें होने लगता है, सर्वत्र परमात्मा ही दिखायी देने लगते हैं, तब उसके चित्तमें विषयान्तर रस रह ही नहीं सकता । उस भक्तके लिये समस्त भोग्य वस्तु ईश्वर ही है । परीक्षितको भगवत्कथामृतास्वाद मिलनेपर उनकी समस्त क्षुधा-पिपासा शान्त हो गयी थी, यह बात भागवतमें स्पष्ट लिखी है । श्रीवैष्णवसम्प्रदायके भक्तप्रवर श्रीशठकोप दिव्यसूरिको भी यही अवस्था प्राप्त हुई थी, जन्मसे लेकर वे जबतक इस पृथ्वीपर रहे तबतक उन्होंने कभी अन्नपान ग्रहण नहीं किया । उनके लिये—

उण्णुं शोरु, परुहुनीरु, तिन्नुं वेत्तिलैयुमेल्लां कण्णन् ।

—था, अर्थात् अन्न, पानीय और पान सभी चीजोंके स्थानमें एक कृष्ण ही थे । अन्न, जल और पानका स्वाद उनको कृष्णानुभवसे ही मिल रहा था !

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।
(गीता ७ । १९)

उस ज्ञानी भक्तके लिये वासुदेव ही सब कुछ है ।

भक्तोंको प्रायः आन्तरानुभव ही मिला करता है, किसी भाग्यशाली भक्तको ही कभी-कभी भगवान् बाह्यानुभव देते हैं, वह भी क्षणिक होता है । यह बात इतिहास-पुराणोंमें स्पष्ट है । विभवावतारके समय गोपिकाओंको बाह्यानुभव करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था । आन्तरानुभव भी भक्तोंको सदा अविच्छिन्नभावसे नहीं मिलता । अनुभवरसास्वादकी विलक्षणताका बोध करानेके लिये कभी-कभी भगवान् उस अनुभवमें विच्छेद कर देते हैं, तब उन भक्तोंकी दशा बड़ी ही शोचनीय हो जाती है । किसी कंजूस मनुष्यका सर्वस्व लुट जानेपर उसकी जो दशा होती है वही दशा उन भक्तोंकी होती है । उनके खेदका पार नहीं रहता ।

भगवद्वियोगमें जिनकी मृत्युपर्यन्त दशा हो जाय उनका ही अनुराग पूर्ण समझना चाहिये । इसका उदाहरण अपूर्व ही मिलता है ।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥
दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥
(भाग० १० । २९ । ९-११)

भगवान् कृष्ण पूर्व संकेतानुसार यमुनातटपर पहुँचकर वंशी बजाने लगे, उस मनोमोहक मुरली-शब्दको सुनकर गोपिकाएँ निज-निज गृहसे निकलकर यमुनातटकी तरफ दौड़ने लगीं, वे किसीके रोके नहीं रुकती थीं । कुछ गोपिकाएँ घरके भीतर थीं, वेणु-नाद सुनते ही वे परवश हो बाहर जानेको उद्यत हुईं, घरके लोगोंने रास्ता बन्द कर दिया, जाने नहीं पायीं, तब वहीं बैठ निमीलितलोचन हो भगवान्का

ध्यान करने लगीं, वे ध्यानमें भगवदनुभव कर रही थीं। परन्तु बाह्यसंश्लेष न मिला जिसके लिये वे तड़फड़ा रही थीं, अत्यन्त असह्य दुःख होने लगा और तत्काल ही उनके प्राण निकल गये। चिरकालके लिये सभी दुःखोंका अन्त हो गया। अनुरागकी यह पराकाष्ठा है। संयोगमें तदेकतानता और आत्यन्तिक वियोगमें शरीरपात, यही परमानुरागका कार्य है।

परस्परके प्रेमको ही स्नेह कहते हैं। यदि उनमेंसे एक स्त्री और दूसरा पुरुष हो तो उसका नामान्तर काम होता है। कभी-कभी भगवद्भक्तोंको भी स्त्रीभाव प्राप्त हो जाता है, भगवद्वियोगमें उनकी दशा भी कामिनी स्त्रियोंके समान ही होती है यह बात उचित भी है, क्योंकि पुरुष कहलाने योग्य तो एक परमात्मा ही है, उत्तमोत्तम पुरुष वही हैं, बाकी सब 'स्त्रीप्रायमितरं जगत्' है। परमात्मामें पुरुषभावना अपनेमें स्त्रीभावना स्वतः ही अनुरागकी परमकाष्ठावस्थामें प्राप्त हो जाती है। जब उस परमात्माके परम रमणीय दिव्यरूपका दर्शन होता है तब तो कहना ही क्या? तब तो 'पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।' उक्ति सार्थक हो जाती है, पुरुषोंका पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, स्त्रीभावना होने लगती है, उस मनोमोहक सौन्दर्यका वह प्रभाव है, जैसा कि द्रौपदीके सौन्दर्यके विषयमें महाभारतमें कहा गया है।

पाञ्चाल्याः पद्मपत्राक्ष्याः स्नायन्त्या जघनं घनम्।
याः स्त्रियो दृष्टवत्यस्ताः पुम्भावं मनसा ययुः॥

द्रौपदीके अङ्गोंकी सुन्दरताको देखकर स्त्रियोंको भी पुम्भाव प्राप्त हो गया था। परम पुरुषकी दिव्य सुन्दर मूर्त्तिके दर्शन होनेपर पुरुषोंको स्त्री भावना होने लगती हैं। अतएव उन भक्तोंकी कामशास्त्रोदित दसों अवस्थाएँ क्रमसे होने लगती हैं। वे अवस्थाएँ ये हैं—

नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
जागरणं कृशता चाप्यरतिर्लज्जापरित्यागः।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता दश दशाः स्युः।

इन अवस्थाओंमें अन्तिम मरण है। जब साधारण कामुक और कामिनियोंकी ये दशाएँ हो सकती हैं तब परमात्माके कामी भक्तोंको इन दशाओंके प्राप्त होनेमें क्या सन्देह हो सकता है?

इस प्रकार संयोग-वियोगमें जिस अनुरागके कारण पुरुषोंको उपर्युक्त अवस्थाएँ प्राप्त हों वही अनुराग पूर्णानुराग है, उसीको परमानुराग कहना चाहिये, और वही भक्ति है इसीको परम भक्ति कहते हैं, और साध्यभक्ति भी।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५५)

इस श्लोकमें तीनोंका उल्लेख है, प्रथम 'भक्त्या' शब्दसे परभक्तिका ग्रहण है, 'अभिजानाति' शब्दसे परज्ञानका, और 'ततः' शब्दसे परमभक्तिका। यही परमभक्ति भक्तोंके लिये प्रार्थनीय वस्तु है।

यह भक्ति अनन्यता, निष्कामता और विषयान्तर वैराग्यके बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। जबतक विषयान्तरोंमें अनुराग रहेगा, तबतक ईश्वरविषयक अनुरागकी पूर्णता नहीं हो सकती, अन्य देवताओंमें अनुराग होनेपर भी वह नहीं हो सकती, अतएव अन्य विषय-वैराग्य, निष्कामता और अनन्यता इनकी परमभक्तिकी प्राप्तिके लिये आवश्यकता होती है। सबका मूल विषयान्तर वैराग्य है, उसके होनेपर अनन्यता और निष्कामता दोनों स्वतः ही प्राप्त हो सकती हैं। विषयान्तरोंमें जब राग ही नहीं रहेगा तो उनकी कामना कहाँसे होगी, और जब कामना नहीं तो अन्य देवता-भजनकी आवश्यकता ही कहाँ रहेगी, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
(गीता ७।२०)

अन्यदेवता-भजनका मूल कारण कामना है, जब वही नहीं रहेगी तो तन्मूलक देवतान्तर भजन कोई क्यों करेगा?

इस प्रकारकी परमानुरागरूपी भक्ति, ईश्वरके स्वरूप, रूप, गुण और विभूतिको जाने बिना नहीं हो सकती,

ईश्वरके गुण, उनकी महाविभूतियाँ, उनका दिव्य सुन्दर विग्रह, और उनके सच्चिदानन्दस्वरूपको यथावत् जानकर मनन करनेसे ही परमानुराग उत्पन्न होगा, इसीको परज्ञान कहते हैं ।

यह तत्त्वज्ञान जीवोंको केवल शास्त्र-श्रवणादिसे नहीं प्राप्त हो सकता, किन्तु 'भक्त्या मामभिजानाति', के अनुसार ईश्वरभक्तिसे ही प्राप्त होगा । भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' 'ददामि बुद्धियोगं तं' परमात्माहीकी कृपासे ज्ञान प्राप्त होता है । भगवान् ही ज्ञानप्रदाता है, भगवान् ही भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वविषय—तत्त्वज्ञान प्रदान करते हैं ।

परभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति ये भक्तिकी ही तीन अवस्थाएँ हैं इनमें परमभक्ति ही परमानुरागरूप है ।

ऐसी परमभक्तिको प्राप्त पुरुषोंकी स्थितिगति विलक्षण होती है । जिसका उल्लेख निम्नश्लोकमें किया है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

(भाग० ११ । १४ । २४)

परमभक्तियुक्त परमानुरागी पुरुषको भगवदनुभवके सिवा और काम ही क्या रह जाता है, उसको भीतर-बाहर सदा सर्वत्र उसीका अनुभव होता रहता है, सतत भावनासे उसको सदा सर्वत्र उसीकी दिव्य सुन्दर मूर्तिका दर्शन होता रहता है । अतएव उस परमानुरागी पुरुषका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, जब उसको उस परमात्माका दर्शन होता है, तब वह गद्गदवाणीसे उसका गुणानुवाद गाने लगता है । भगवान् जब अपने भक्तकी इस अवस्थाको देखकर थोड़ी देरके लिये अन्तर्हित हो जाते हैं, तब वह रोने लगता है, इस दुःखको देखकर भगवान् जब पुनः दर्शन देते हैं तब वह हर्षसे ईश्वरके इस वात्सल्य और सौशील्यको देखकर हँसने लगता है और अपनी सुध-बुध भूलकर निर्लज्ज हो हर्षके वशीभूत होकर गाने-नाचने लगता है । यह सभी कार्य आप-से-आप परवश अवस्थामें हुआ करते हैं, जिसकी स्वाभाविक ऐसी अवस्थाएँ होती हों वही ईश्वरभक्त है, वही संसारको पवित्र करनेवाला है ।

ऐसी भक्ति प्राप्त करनी हो तो उसके लिये 'स्मरणं कीर्तनं विष्णोः' इत्यादि शास्त्रोक्त भगवत्कर्मोंमें निरत हो जाना होगा । 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इत्यादि शास्त्रोक्त निरन्तर भगवत्कीर्तनादि कार्योंमें लगे रहना होगा । तभी कभी किसी भाग्यशालीको वह परम-भक्ति प्राप्त हो सकेगी ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गीता ७ । ३)

यह भगवदुक्ति सर्वथा सत्य है ।

अर्चन, वन्दन, कीर्तन आदि सभी भगवद्भक्तिके अङ्गमात्र हैं, इन्हींको भक्ति समझ लेना भूल है । यह सब पहली-दूसरी सीढ़ियाँ हैं, क्रम-क्रमसे चढ़ते-चढ़ते उस परमा भक्तितक पहुँचना होगा ।

भक्तिके बिना मुक्ति नहीं । 'नाहं वेदैर्न तपसा' इत्यादि भगवदुक्ति इसी बातको बतला रही है, अतएव संसारताप-तप्त मुमुक्षु जनोंको भगवद्भक्तिका आश्रय लेना परम आवश्यक है ।

अहो ! गिरिधारन !

हौं भवसागरमें भ्रमि बूड़त हा ! न मिल्यो कोउ पार उतारन,
नाथ ! सुनो करुना करिके शरनागतकी अब दीन पुकारन ।
चाहौं सदा गुन गावनकै मनभावन वे उर माँहि निहारन,
कालिन्दी-कूल-निकुञ्जनकी भव-भञ्जन केलि अहो ! गिरिधारन ॥

—कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा ।

परम वैराग्यवान् भक्त-दम्पति राँका-बाँका

सच्चे वैरागी भक्त राँका-बाँका

'सोने और धूलमें भेद ही क्या है, आप धूलसे धूलको क्यों ढक रहे हैं?' (बाँका)

भक्त राँकाजीका निवासस्थान पण्ढरपुर था, ये जातिके ब्राह्मण थे। अत्यन्त रङ्क थे इसीसे इनका नाम राँका पड़ गया था। राँका कङ्गाल अशिक्षित होनेके कारण जगत्की दृष्टिमें नगण्य होनेपर भी तीव्र वैराग्य और परम भक्तिके प्रभावसे परमात्माके बड़े प्रेमपात्र थे। राँकाजीकी स्त्री भी बड़ी साध्वी पतिव्रता और भक्तिपरायण थीं। वैराग्यमें तो वह राँकासे बढ़कर थीं, दिनरात पतिसेवा और भजन ध्यान किया करतीं। जङ्गलसे चुन-चुनकर दोनों स्त्री पुरुष सूखी लकड़ियाँ ले आते और उन्हें बेचकर जो कुछ मिलता उसीसे भगवान्‌के भोग लगाकर भोजन कर लेते।

राँकाको स्त्रीसहित इस तरह दुःख भोगते देखकर प्रसिद्ध सिद्ध भक्त नामदेवजीको बड़ा दुःख हुआ।

उन्होंने राँकाको धन देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की, नामदेवजीको उत्तर मिला कि 'राँका कुछ भी लेना नहीं चाहता, तुम्हें देखना है तो कल प्रातःकाल वनके रास्तेपर छिपकर देखना' राँका अपनी स्त्रीसहित जिस रास्तेसे वनमें जाया करते उसी रास्तेमें मोहरोंकी एक थैली डालकर भगवान् अलग खड़े हो गये।

प्रातःकालका समय है। राँका और उनकी पत्नी दोनों लकड़ियाँ लाने जङ्गल जा रहे हैं। चलते-चलते राँकाके पैरमें थैलीकी ठोकर लगी, राँकाने बैठकर देखा, मोहरोंसे भरी थैली है। राँका उसपर धूल डालने लगे। इतनेमें उनकी स्त्री आ गयी उसने पूछा 'किस चीजको धूलसे ढक रहे हैं?' राँकाने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, स्त्रीने फिर पूछा, तब राँकाने कहा कि 'यहाँ एक मोहरोंकी थैली पड़ी है, मैंने सोचा कि तुम पीछेसे आ रही हो कहीं मोहरोंके लिये मनमें लोभ पैदा हो जायगा तो अपने साधनमें विघ्न होगा, इसीलिये उसे धूलसे ढक रहा था' परम वैराग्यवती स्त्री इस बातको सुनकर हँस पड़ी और बोली कि 'नाथ! सोने और धूलमें भेद ही क्या है आप धूलसे धूलको क्यों ढक रहे थे?' स्त्रीकी इस बातसे राँका-को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा कि, 'तुम्हारा वैराग्य बड़ा बाँका है। मेरी बुद्धिमें तो सोने-मिट्टीका भेद भरा है तुम तो मुझसे बहुत आगे बढ़ गयी हो।'

इस बाँके वैराग्यके कारण ही उसका नाम 'बाँका' पड़ा। भक्तवत्सल भगवान् छिपकर भक्तोंकी यह वैराग्यलीला देख-देखकर मुदित हो रहे थे!

नामदेवजी तो राँका-बाँकाके वैराग्यको देखकर अपनेको तुच्छ मानने लगे और भगवान्‌से बोले 'प्रभो! जिसपर तुम्हारी कृपादृष्टि हो जाती है, तीनों लोकोंके राज्यपर भी उसका मन मोहित नहीं हो सकता। तुम्हारे सिवा उसे और कुछ भी नहीं सुहाता। जिसको अमृतका स्वाद मिल गया है वह सड़े गुड़की तरफ क्यों ताकने लगा?'

भक्तवत्सल भगवान्‌ने उस दिन राँका-बाँकाके लिये जङ्गलकी सारी सूखी लकड़ियोंके बोझे बाँधकर रख दिये। राँका-बाँकाने समझा कि किसी दूसरेने अपने लिये बोझे बाँध रक्खे होंगे! परायी चीज छूना पाप समझकर उन्होंने उस तरफ ताका तक नहीं और सूखी लकड़ियाँ न मिलनेसे दोनों खाली हाथ वापस लौट आये! उस दिन दम्पतिको उपवास करना पड़ा। उन्होंने विचार किया कि 'यह तो मोहरें आँखसे देखनेका फल है, हाथ लगानेपर तो न मालूम क्या होता?'

अन्तमें भगवान्‌ने दया करके दम्पतिको अपना देवदुर्लभ दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ और धन्य किया!

—रामदास गुप्त

श्रीगीता भगवद्भक्ति मीमांसा

(लेखक—विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री, भिवानी)

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

गीता भगवद्भक्ति मीमांसा' इस नामसे हमारा प्रयोजन यह नहीं है कि, भगवद्भक्ति भगवद्गीतामें कोई नयी वस्तु है। क्योंकि भगवद्भक्ति नाम एक ईश्वरकी उपासनाका ही है और उपासना वेदके कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन काण्डोंमेंसे एक अन्यतम काण्ड है। एवम् वेद—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।'

इस स्मृतिवाक्यके अनुसार अनादिकालीन है, अतएव उपासना भी उसका एक मुख्य विषय होनेसे अनादि ही है। सुतराम् यह बुद्धि करना कि भगवद्भक्ति किसी समय-विशेषमें किसी पुरुषविशेषकी उद्भावना है, अलीक है। इसके जाननेके लिये हम कुछ वेदवाक्योंके अवतरण देते हैं—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

(य० सं० ३१, १६)

इस मन्त्रमें ईश्वरकी पूजा या उपासनाका इतिहास है। इसमें कहा गया है, कि ईश्वरकी पूजा पहले यज्ञ (वेदविहित कर्म) के द्वारा देवताओंने की, उनके अनुष्ठानके क्रमको लेकर ही ऋषियोंने ईश्वरकी पूजा की और उनके द्वारा मनुष्योंमें उसका प्रचार हुआ। यजन या देवाराधनके सब धर्म पहले देवताओंसे संसारमें आये हैं, इनका रचने-वाला कोई संसारी जन नहीं है। देवताओंने उन्हीं देवो-पासनाके धर्मोंद्वारा उस स्वर्गकी प्राप्ति की, जहाँ उनसे पुराने साध्य नामवाले देवता रहते थे। इससे यह भी आया कि देवताओंने अपनेसे पूर्वदेवताओंसे यह विद्या प्राप्त की थी। सारांश इस मन्त्रका यह है कि यह सब अनादि-कालीन धर्म है इसका कोई रचयिता नहीं है। इस मन्त्रमें यज्ञ शब्द दो बार आया है, एक 'यज्ञेन' यह तृतीया विभक्तिसे है जो करणका नाम है और दूसरा 'यज्ञम्' यह द्वितीया विभक्तिसे है जो कर्मकारक है। यह 'यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुतिसे यजनीय देव विष्णुका नाम है। 'विष्णु' नाम 'विष्लृ' व्याप्तौ धातुसे बनता है, जिसका अर्थ व्यापक विभु परमात्मा है।

इसी प्रकार छान्दोग्य आदि सब उपनिषद् विभिन्न प्रकारोंसे ईश्वरोपासनाका वर्णन करते हैं। जैसे—

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छां० उ० १। १। १)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'

(छां० खं० १४। १)

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छां० खं० १८। १)

इसी उपासनाके विशेष विचारके लिये उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के तृतीय अध्यायका तृतीय पाद अवतीर्ण हुआ है। वहाँपर सगुण ब्रह्मकी उपासनाका विस्तारसे विचार किया है और भाष्यकारने समझाया है कि उपासना भी कर्मके समान तीन ही प्रकारकी होती है, एक वह जिसका फल इसी जन्ममें मिल जावे जैसे पुत्र धन आदि, दूसरी वह जो दूसरे किसी जन्ममें स्वर्ग आदि उपासकके वाञ्छित फलको दे एवम् तीसरी वह जो परमात्माका यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष दे।

वास्तवमें वेदका जितना सम्पूर्ण मन्त्र भाग है और जितना कर्मकाण्ड है वह सब उपासना ही है। क्योंकि वेदमें मन्त्र उसी वाक्यको कहते हैं, जिसमें किसी कामनाको लेकर देवताकी स्तुति की जावे। इसका वर्णन विस्तारसे निरुक्तके दैवतकाण्डमें किया है। यद्यपि मन्त्रोंमें बहुत प्रकारके देवता बताये गये हैं और उनकी स्तुतियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी की गयी हैं, तथापि वे सब देवता ईश्वरके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, उनके द्वारा जो पूजा होती है वह ईश्वरकी ही होती है, और उन्हींकी पूजाके द्वारा स्वयं भगवान् कर्ताओंको उनका वाञ्छित फल देते हैं। यह बात निरुक्तके ही दैवतकाण्डमें भलीप्रकारसे समझायी गयी है। जैसे—

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति इत्याहुः प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः । कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥ (नि० दै० खं० ४)

देवताके महाभाग्य (अलौकिक सामर्थ्य) से देवताका एक आत्मा अनेक प्रकारसे स्तुति किया जाता है। एक आत्माके और-और देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग होते हैं, जैसे शरीरके अङ्ग हाथ, पैर आदि और उनके प्रत्यङ्ग अँगुलियाँ आदि। आत्मतत्त्वके जाननेवालोंके मतमें सब जगत्का मूल कारण परब्रह्म है, उसीके बहुत्वको लेकर ऋषि नानारूपसे देवताओंकी स्तुति करते हैं और प्रकृति जो सम्पूर्ण जगत्का कारण महान् आत्मा है, उसीके सब नाम हैं। जिस किसी नामसे मन्त्रोंमें जो स्तुति आती है, वह सब उसी परमात्माकी है। देवताओंमें एक देवता दूसरे देवतासे जन्म लेता है, तो दूसरा उससे जन्म लेता है। जैसे सूर्यसे अग्नि और अग्निसे सूर्य जन्म लेता है। आपसमें एकका कारण एक हो जाता है। देवता कर्मजन्मा होते हैं, इनका जन्म लोकोंको कर्मफल देनेके लिये होता है। अपनेसे ही आप उत्पन्न हो जाते हैं। आत्मा ही इनका रथ होता है, आत्मा ही घोड़ा, आत्मा ही शस्त्र, आत्मा ही बाण और आत्मा ही उनका सब कुछ है। निरुक्तमें ही अग्नि शब्दके निर्वचनमें ऋग्वेदका मन्त्र उद्धृत करके सब देवताओंकी एकात्मता सिद्ध की है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(१।१६४।४६)

एक ही देवको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं, वही द्युलोकमें रहनेवाला सुन्दर गतिवाला और महान् आत्मा है। एक होते हुएको ही वेदवेत्ता ब्राह्मण कर्मोंमें अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहते हैं। गीता स्वयम् इसी अर्थका अनुमोदन कर रही है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
(७।२१)

जो-जो भक्त जिस-जिस रूपको श्रद्धासे अर्चन करना चाहता है, मैं उस-उस भक्तकी उसी श्रद्धाको अचल करता हूँ—उसकी कामनाको पूर्ण करके दृढ़ कर देता हूँ, क्योंकि वह सब मेरे ही तो रूप हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (गीता १०।८)

मैं सबकी उत्पत्तिका स्थान हूँ, मुझमेंसे सब निकलता है।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
(गीता ११।१५)

अर्जुन कहते हैं कि हे देव! तुम्हारे देहमें मैं सब देवताओंको, सब नाना प्रकारके प्राणियोंको, कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको, महादेवको और सब दिव्य सर्पोंको देखता हूँ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
(गीता ११।३९)

अर्जुन कहते हैं कि हे भगवन्! वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और ब्रह्मा तुम्हीं हो, तुम्हें बार-बार सहस्रों बार और फिर भी बार-बार नमस्कार है, तुम्हारे लिये नमस्कार है, इत्यादि। इसी प्रकार जिन कर्मोंमें वे मन्त्र उपयुक्त होते हैं, वह देवताओंकी पूजा ही है। सर्वथा वैदिक कर्मकाण्ड भी प्रथम कक्षाकी एक उपासना ही है। ऐसी अवस्थामें वेदका अधिक भाग उपासनाप्राय है, यह ज्ञातव्य है।

भक्तिसे अन्य विषय

हमारा यह भी प्रयोजन नहीं है कि श्रीभगवद्गीतामें भगवद्भक्तिके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान, कर्म या योग आदि नहीं है। क्योंकि भगवद्गीता स्वयम् अनेक विषयोंको आरम्भ करती है और वैसे ही समाप्त भी करती है। जैसे—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
(२ । ३९)

हे अर्जुन ! यह तेरे लिये सांख्यशास्त्रकी बुद्धि दी, और यह योगशास्त्रकी जो बुद्धि है, उसको सुन, जिस बुद्धिसे हे पार्थ ! तू कर्मके बन्धनको त्याग देगा ।

इस श्लोकमें सांख्यके ज्ञानकी समाप्तिको सूचित करते हैं और योगशास्त्रके ज्ञानका आरम्भ कर रहे हैं, इसी प्रकार चतुर्थ अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
(२८—३२)

भगवान् कहते हैं, कोई द्रव्य साध्ययज्ञ है, कोई तपोयज्ञ, कोई योगयज्ञ, कोई स्वाध्याययज्ञ है और कोई ज्ञानयज्ञ है, ऋषियोंके बड़े कठोर व्रत हैं । कोई अपानवायुमें प्राणका होम करते हैं, कोई प्राणवायुमें अपानका होम करते हैं, कोई प्राण-अपान दोनों वायुओंका रोध करके प्राणायाम ही करते रहते हैं, कोई आहार (भोजन) को नियमित करके प्राणोंमें प्राणोंका होम करते हैं, अनशनव्रतसे शरीरको त्याग देते हैं । ये सभी साधना करनेवाले यज्ञके जाननेवाले देवताके आराधनको जाननेवाले हैं । इनमें किसीको भी मूर्ख नहीं समझना चाहिये, ये सभी देवताओंके आराधनसे—अपने अभीष्ट कर्मके अनुष्ठानसे सञ्चित पापोंका क्षय करके यज्ञके अवशिष्ट अन्नरूप अमृतको भोजन करते हुए अन्तमें सनातनब्रह्मको प्राप्त होते हैं, परिणाममें ये शुभ कर्ममें लगनेवाले धीरे-धीरे मेरी शरणमें आ जाते हैं और परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं । इनमें कुछ समयका अन्तर पड़ता है । जो इनमें सरल मार्ग है उससे शीघ्र और जो कुटिल मार्ग है उससे कुछ विलम्ब होता है, ऐसा अपेक्षाकृत तारतम्य मात्र है किन्तु जो मनुष्य इनमें किसी यज्ञको भी नहीं करता उसका यह भी लोक नहीं बनता है तब दूसरेकी तो कथा ही क्या है ? हे कुरुसत्तम ! इस प्रकारसे वेदमें बहुत प्रकारके यज्ञोंका विस्तार है ।

हाँ ! यहाँ एक बात यह कह देनी चाहिये कि इस गीताशास्त्रमें ब्रह्मज्ञानका एक प्रधान प्रबन्ध चलता है, जिसका दर्शन आदिसे अन्ततक अनुगतरूपसे गङ्गाके प्रवाहके समान होता है । क्योंकि वेदान्तशास्त्र जो ब्रह्मविद्या सब अन्य विद्याओंकी शिरोमणि है उसके तीन प्रस्थान हैं—गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् । अद्वैताचार्य भगवान् शङ्कराचार्यने अपने निर्विशेषाद्वैतसम्प्रदायकी स्थापनाके लिये इन्हींपर भाष्य लिखे हैं और इन्हीं ग्रन्थोंके द्वारा उन्होंने संसारके सब मतोंका विजय करके अपना अद्वैतमत स्थापन किया है, जिसके प्रभावसे घोर नास्तिक बौद्धसम्प्रदायका भारतवर्षसे मूलोन्मूलन हो गया । इससे यह बात तो सर्वात्मना स्वीकार्य ही है कि इस गीताशास्त्रमें गङ्गाजलीमें गङ्गाजलके समान ऊपरसे नीचेतक ब्रह्मज्ञान भरा हुआ है और इसके अतिरिक्त जो कल्याणमार्ग दिखाये हैं, वे सब एकदेशीय हैं ।

ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भगवद्भक्ति भी जो हमारा इस समय लक्ष्य एवं वर्णनीय है, पूर्वोक्त अन्य विषयोंके समान एकदेशीय ही है या इसकी कोई भिन्न गति है ? तो हम इसका इस एक ही वाक्यमें उत्तर दे देते हैं कि जिस प्रकारसे गङ्गोत्तरीसे समुद्रपर्यन्त लम्बमान गङ्गाप्रवाहमें, गङ्गाजलमें शीतलताका सम्बन्ध है वैसा ही अविच्छिन्नरूपसे श्रीमद्भगवद्गीतामें आदिसे अन्ततक ब्रह्मज्ञानमें भक्तिका सञ्चार दिखायी देता है । विशेषरूपसे और भी ध्यान लगाते हैं तो हमको—

पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः ।

'जलसे कमल शोभित होता है और कमलसे जल शोभित होता है एवं जलसे और कमलसे तडागकी शोभा होती है ।' इस न्यायसे ब्रह्मज्ञानसे भक्तिकी शोभा और भक्तिसे ज्ञानकी शोभा एवं भक्ति और ज्ञान दोनोंसे श्रीभगवद्गीताकी शोभा हो रही है । यदि इनमेंसे ज्ञानसे

देवदेव भगवान महादेव

भक्तिको अलग कर देते हैं तो वह फीका हो जाता है और भक्तिसे ज्ञानको अलग कर देते हैं तो वह फीकी हो जाती है एवं इन दोनोंको भगवद्गीतासे अलग कर देते हैं, तो गीता भी नीरस हो जाती है। प्रयोजन यह कि—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

भगवान् कहते हैं कि 'जो मुझे सब जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है उसको मैं अलक्षित नहीं होता और वह मुझे अलक्षित नहीं होता। अर्थात् ऐसा होनेसे ही हम दोनों परस्पर देखते हैं।' इस वाक्यके अनुसार जबतक उसको सर्वव्यापक ब्रह्मका ज्ञान न हो तबतक उसको ऐसी दृष्टि कहाँसे हो सकती है और ऐसी दृष्टिके बिना उसका साक्षात्कार नहीं होता। तात्पर्य यह कि उत्कृष्ट भक्तिके लिये ब्रह्मज्ञान अत्यावश्यक है। परिच्छिन्न ज्ञानवालेको भगवान्‌का दर्शन नहीं होता। एवं जैसे ब्रह्मज्ञानके बिना भक्ति अपूर्ण रहती है उसी प्रकार भक्तिके बिना भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे स्वयं भगवान् कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(गीता ७। १)

'हे पार्थ! जो मेरेमें मनको भक्तिभावसे आसक्त करके मेरे विषयमें योगधारणा करता है, वही मुझे निःसन्देह-रूपसे जान सकता है।' इसीको आगे और भी भगवान् स्पष्ट कर देते हैं कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १४)

'जो माया सब संसारी जीवोंको दुस्तर है, वह मेरी ही है, अतएव जो पुरुष मेरी शरणागति करते हैं वे ही इस माया (अविद्या) को तरते हैं' सुतरां भगवान्‌की शरणागतिके बिना अज्ञानकी निवृत्ति या ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव यह सिद्ध हुआ कि 'परमा भक्तिके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं और ब्रह्मज्ञानके बिना वह भक्ति भी नहीं' इसीसे इन दोनोंका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और इसीसे श्रीमद्भगवद्गीतामें ये दोनों ही पदार्थ मिलकर चलते हैं और इसीसे यह ग्रन्थरत्न भक्त और ज्ञानी दोनोंको ही प्राणप्रिय है।

इस प्रबन्धसे यह निर्णय हो गया कि इस गीता-शास्त्रमें भगवद्भक्ति और ब्रह्मज्ञान दोनों ही शरीर और प्राणके समान अथवा जीव और ब्रह्मके समान मिलकर गीतारूप शरीरमें व्यापकरूपसे प्रतिपादन किये गये हैं और यही हमारा भी निर्णय है। तथापि इस बातको समझानेसे पहले एक और विषय भी स्पष्ट कर देना इस प्रबन्धके लिये आवश्यक होगा कि शास्त्रोंके व्याख्यानोंमें व्याख्याता विद्वान् लोग प्रायः दो उपायोंको हाथमें रखते हैं, एक नित्य शब्द और दूसरा निर्वचन।

व्याख्यानके दो उपाय।

नित्यशब्दसे उन शब्दोंसे प्रयोजन है, जो वर्णनीय वस्तुको अपने स्वभावसे ही वर्णन करते हैं और उनके उस स्वभावको मूर्खसे पण्डितपर्यन्त तथा बालकसे वृद्धपर्यन्त समानतासे ही जानते हैं, उसके लिये उस शब्दका प्रयोग ही पर्याप्त हो जाता है, किन्तु कोई श्रुति, स्मृति आदि या कोश-काव्य आदिका उदाहरण नहीं देना पड़ता। जैसे गौ, हाथी, घोड़ा इत्यादि।

नित्य शब्द।

निर्वचनसे प्रयोजन यह है कि व्याकरणशास्त्रके द्वारा शब्दमें विभिन्न धातुओं और प्रत्ययोंकी कल्पना तथा उनके अर्थोंकी कल्पनासे अपने नाना प्रकारके इच्छित अर्थोंको निकालना। जैसे व्याकरणमें एक 'पचन' शब्द है, इसमें 'पच' धातु पाक या पकाना अर्थका वाचक है, इस एक ही धातुसे एक ही 'अन' प्रत्यय जोड़नेसे अनेक अर्थ हो जाते हैं। यथा जब भाव-अर्थमें 'अन' प्रत्यय करते हैं, तो 'पचन' शब्दका पकाना ही अर्थ होता है, जब कर्ता-अर्थमें 'अन' को रखते हैं, तो पकानेवाला हो जाता है और जब करण-अर्थमें रखते हैं तो पकानेके साधन बटलोई आदि किसी बर्तनका नाम हो जाता है, एवं जब सम्प्रदान-अर्थमें कर देते हैं तो उस मह्यमान पुरुषका नाम हो जाता है, जिसके लिये वह पाक होता है। यह गति तो धातु और प्रत्ययके रूपकी अपरिवर्तन अवस्थामें है किन्तु प्रकृति और प्रत्ययके परिवर्तनके विकल्प किये जायँ तो उसकी कोई संख्या निर्धारित नहीं हो सकती।

निर्वचन।

इसी प्रकार कोशकी सहायतासे शब्दमें धातु, प्रत्यय या व्युत्पत्ति कोई नहीं बदलनी पड़ती और अर्थ उसके बहुत हो जाते हैं। जैसे एक गो शब्द है, उसके पन्द्रह अर्थ एक कोशने दिखाये हैं। जैसे—

कोश।

गौर्नादित्ये[१] बलीवर्दे[२] किरण[३]क्रतु[४]भेदयोः।
स्त्री तु स्याद्दिशि[५] भारत्यां[६] भूमौ[७] च सुरभावपि।
नृस्त्रियोः स्वर्ग[९]वज्रा[१०]म्बु[११]रश्मि[१२]दृग्[१३]बाण[१४]लोमसु[१५]॥

सूर्य, बैल, किरण, यज्ञविशेष, इनमें पुँल्लिङ्ग। दिशा, भारती, भूमि और सुरभि, इनमें स्त्रीलिङ्ग। स्वर्ग, वज्र, जल, रश्मि, दृष्टि, बाण और लोम इन अर्थोंमें स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग रहता है। इत्यादि।

इसी प्रक्रियाके आधारपर निरुक्तशास्त्र है, जो समान मन्त्रोंमें ही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत अर्थोंको प्रतिपादन करता है, इसके लिये तो निरुक्तशास्त्र प्रसिद्ध ही है। निरुक्तमें भी 'गो' शब्दके, जो उस शास्त्रका प्रथम शब्द ही है, आठ अर्थ किये हैं—१ पृथ्वी २ चर्म ३ श्लेष्मा (चर्बी) ४ स्नाव (नाड़ी) ५ ज्या (धनुषकी ताँत) ६ आदित्य ७ सूर्यकी एक रश्मि जो चन्द्रमाके गोलेमें लगती है और ८ सम्पूर्ण रश्मियाँ। इनके मन्त्र-उदाहरण भी दिये हैं, जिनमें इस शब्दके उक्त अर्थ उपयुक्त होते हैं। इस रीतिसे निर्वचन जो व्याख्याका दूसरा उपाय है, यह यद्यपि व्याकरण, कोश आदि प्रमाणोंसे आदरणीय तथा आर्ष है और इसके बिना शास्त्रोंमें कार्य भी नहीं चलता, तथापि इस उपायकी सहायतासे व्याख्याताओंने एक-एक ग्रन्थके ही ऐसे न्यारे-न्यारे व्याख्यान कर दिये हैं, जिनके आधारपर अनेक सम्प्रदाय भी देशमें बन गये या प्रामाणिकरूपसे परिगृहीत हो गये। इसके उदाहरण गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र ये तीन ही सबसे महत्त्वके हैं। जिनमें अपनी-अपनी व्याख्याओंसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धान्त ही भिन्न-भिन्न सिद्ध कर दिखाये हैं। इसीसे इसके द्वारा किसी अर्थको किसी ग्रन्थमें प्रतिपादन किया जावे, तो चाहे वह यथार्थ भी हो, संशयका स्थान बना ही रहता है। अतएव अति यत्न करनेपर भी जो संशयसे मुक्त नहीं होता उसको हम इस थोड़े-से व्यापारमें लाकर व्यर्थोद्योग नहीं होना चाहते और उस प्रथम उपायसे ही हम अपने वक्तव्यको पूरा करना चाहते हैं, इसमें हम उसी अर्जुनके संशयच्छेत्ता भगवान् श्रीकृष्णकी कृपाके प्रार्थी हैं। आशा है, वे हमारी इस प्रार्थनापर ध्यान देंगे।

भगवद्भक्तिके बोधक नित्य शब्द

हम यह भी चाहते हैं कि भगवद्भक्तिके प्रतिपादन करनेवाले जो विशेष शब्द हैं जिनमें लोकप्रसिद्धिमें कोई विकल्प नहीं है उनको भी संक्षेपमें दिखा दें। इनमें मुख्य वे शब्द प्राधान्यसे होंगे जिनको परम भागवत बड़े प्रेम और आदरके साथ प्रयोगमें लाते हैं अथवा उनके वे असाधारण शब्द हैं, जिन्हें उनके अतिरिक्त अन्य लोग व्यवहारमें ही नहीं लाते हैं और न उनका माहात्म्य ही जानते हैं।

१ प्रपन्नम् (२ । ७) २ मत्परः (भगवत्परः) (२ । ६१, ६ । १४, १८ । ५७) ३ भक्तः (४ । ३,७।२१, ९ । ३१) ४ मामुपाश्रिताः (४ । १०) ५ मद्भावमागताः (४ । १०) ६ प्रपद्यन्ते (४। ११, ७ । १४) ७ भजति (६ । ३१, १५ । १९) ८ भजते (६ । ४७, ९ । ३०) ९ मय्यासक्तमनाः (७ । १) १० मदाश्रयः (नारायणाश्रयः-रामाश्रयः) (७ । १) ११ भजन्ते (७ । १६-२८, १०।८) १२ एकभक्तिः (७ । १७) १३ प्रपद्यते (७ । १९) १४ श्रद्धयार्चितुमिच्छति (७ । २१) १५ मामाश्रित्य यतन्ति (७ । २९) १६ भक्त्या युक्तः (८ । १०) १७ अनन्यया भक्त्या (८ । २२, ११ । ५४) १८ भजन्त्यनन्यमनसः (९ । १३) १९ उपासते (९ । १५, १२ । २-६) २० पर्युपासते (९ । २२, १२ । १-२०) २१ भजन्ति (९ । २९) २२ भक्ताः (९ । ३३, १२ । २०) २३ भजस्व (९ । ३३) २४ मद्भक्तः (९ ।३४, १३ । १८, १८ । ६५) २५ मद्याजी (भगवद्याजी) (९ । ३४, १८ । ६५) २६ मत्परायणः (९ । ३४) २७ मच्चित्ताः (१० । ९) २८ मद्गतप्राणाः (भगवद्गतप्राणाः) (१० । ९) २९ मत्कर्मपरमः (भगवदर्थमुख्यकर्मा) (१२ । १०) ३० यो मद्भक्तः (१२ । १४-१६) ३१ भक्तिमान् (१२ । १७-१९) ३२ मत्परमाः (१२ । २०)

३३ भक्तिरव्यभिचारिणी (१३ । १०) ३४ मम साधर्म्य-मागताः (१४ । २) ३५ अव्यभिचारेण भक्तियोगेन (१४। २६) ३६ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य (भगवन्तं पूजयित्वा) (१८ । ४६) ३७ मद्भक्तिं लभते पराम् (१८ । ५४) ३८ भक्त्या मामभिजानाति (१८।५५) ३९ मद्व्यपाश्रयः (भगवदाश्रितः) (१८ । ५६) ४० मच्चित्तः (१८ । ५७-५८, ६ । १४) ४१ तमेव शरणं गच्छ (१८ । ६२) ४२ मन्मनाः (१८ । ६५) ४३ मामेकं शरणं व्रज (१८ । ६६) ४४ मद्भक्तेषु (१८ । ६८) ४५ भक्तिं मयि परां कृत्वा (१८ । ६८) ।

ये पूर्वोक्त वे शब्द हैं जो भगवद्भक्तिके असाधारण और असन्दिग्ध हैं । इनसे यह निर्णय साधारणरूपमें सरलतासे हो सकता है कि भगवद्गीतासे जो भगवद्भक्तिका सम्बन्ध पहले बताया गया है, वह कोई बलात्कार नहीं है, न कोई निर्वचनलभ्य अर्थ ही है और इसके साथ यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि भगवद्भक्ति गीताका एकदेशीय या कोई विरल अर्थ नहीं है, प्रत्युत उसका सर्वावयवव्यापी तथा उसकी नस-नसमें आद्यन्त एवं बिना यत्नके ही उपलब्ध होता है ।

नवधा भक्ति

अब यह निर्णय करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि जैसे श्रीमद्भागवतमें भक्तिके नव (९) भेद बताये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(७ । ५ । २३)

१ श्रवण २ कीर्तन ३ स्मरण ४ पादसेवन ५ अर्चन ६ वन्दन ७ दासभाव ८ सखिभाव और ९ आत्मनिवेदन, इन प्रकारोंमें कोई प्रकार यहाँ मिलते हैं या नहीं ? अथवा कोई दूसरे प्रकारकी ही भक्ति यहाँ बतायी गयी है । इसका उत्तर यह है कि श्रीमद्भागवतके उक्त क्रमके अनुकरणपर या उसके क्रमसे भक्तिका निरूपण तो यहाँ नहीं है, किन्तु इसमें उक्त भक्तिके भेदोंमें सम्भवतः कोई भेद शेष नहीं रहा है, जिसके लिये हम गीताके अवतरण ही दे देते हैं, जिनसे गीतामें आये हुए भक्तिके भेदोंका परिचय भले प्रकारसे मिल सकेगा ।

श्रवणफल

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥
(गीता १८ । ७१)

जो मनुष्य श्रद्धासे दोषारोपके बिना मेरे इस उपदेशको सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्यकर्मोंवाले पुरुषोंके लोकोंको प्राप्त होगा ।

कथनफल

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(गीता १८ । ६८)

जो पुरुष इस परम गुह्य संवादको मेरे भक्तोंमें सुनावेगा वह मुझमें पराभक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं है ।

अध्ययनफल

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
(गीता १८ । ७०)

जो पुरुष हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादको पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित हूँगा, यह मेरी मति है ।

कीर्तनफल और वन्दनफल

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(गीता ९ । १४)

जो पुरुष दृढ़व्रत धारणकर यत्नके साथ मेरा निरन्तर कीर्तन करते हैं और मुझे नित्ययुक्त होकर नमस्कार करते हैं वे मेरे उपासक हैं और मुझे प्राप्त हो जाते हैं ।

स्मरणफल

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

अनन्यचित्त होकर जो मुझे नित्य-निरन्तर स्मरण करता

है, हे पार्थ ! मैं उस नित्ययुक्त योगीके लिये सुलभ हूँ ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

(गीता ८ । ७)

इस कारण सब समय मुझे स्मरण कर और युद्ध कर ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गीता ८ । १३)

'ओम्' इस अक्षर ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और मुझे अनुस्मरण करता हुआ जो शरीरको छोड़कर जाता है वह परमा गतिको प्राप्त होता है ।

अर्चनफल

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८ । ४६)

जिससे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उस परमात्माको अपने वर्णाश्रमविहित कर्मसे अर्चन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है ।

दास्य

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १४ । २६)

जो मनुष्य मेरी अखण्ड भक्तिसे सेवा करता है, वह इन सत्त्व आदि गुणोंको जीतकर ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ।

सख्य–सखिभाव

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

(गीता ४ । ३)

हे अर्जुन ! वही पुरातन योग मैंने तुझसे कहा है । क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है । यह योगशास्त्रका उत्तम रहस्य है ।

आत्मनिवेदन

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(गीता २ । ७)

हे भगवन् ! दीनताके दोषसे मेरा क्षात्रस्वभाव दब गया है, मैं धर्मके सम्बन्धमें बहुत ही मूढ़चित्त हूँ, जो निश्चित कल्याण हो, वह मुझे कहें, मैं आपका शिष्य हूँ, मेरा शासन करें, मैं आपके शरणागत हूँ ।

पादसेवन

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

(गीता १४ । २६)

जो मेरी दृढ़ भक्तियोगसे सेवा करता है । इस वाक्यसे सेवामें पादसेवा भी अन्तर्गत है अतएव उसकी पूर्ति इसीसे कर लेनी चाहिये एवं श्रीगीताजीमें जितने 'भज सेवायाम्' धातुके प्रयोग हैं, उन सबसे सब प्रकारकी उपयुक्त सेवाओंसे ही प्रयोजन है । इससे इस एक अंशमें त्रुटि नहीं देखनी चाहिये ।

इन ऊपर दिखाये हुए प्रमाणोंमें जो नौ प्रकारकी भक्तियाँ वर्णन की हैं उनके प्रमाण वाक्योंमें कहीं-कहीं विधिरूपसे और कहीं-कहीं उदाहरणरूपसे वह भक्ति आयी है, सर्वथा गीताशास्त्र भगवान् और अर्जुनके संवादरूपमें है, और वह समस्त संसारके उद्धारके निमित्त अथवा सदुपदेशके लिये है, अतएव यहाँ जो उदाहरणके रूपमें भी कहा गया है, उसको सब जनताके लिये विधान ही समझना चाहिये, जो उसके लिये उपयुक्त हो ।

नवधा भक्तिके अतिरिक्त भक्तियाँ

हम जहाँतक समझते हैं, ज्ञानयोगके समान भक्ति-मार्गमें भी बहुत कक्षाएँ हैं, जिनका विभाग विचारककी इच्छा अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम या आरम्भिक आदि भेदोंसे अनेक प्रकार हो सकता है । तदनुसार श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिके भेद आरम्भिक हैं क्योंकि मनुष्यकी प्रथम ही किसी कर्ममें जब प्रवृत्ति होती है तो सबसे पहले वह उसका श्रवण ही करता है । श्रवणके बिना भक्ति जैसे अलौकिक कार्यमें प्रवृत्त होना सम्भव ही नहीं है । श्रवणके अनन्तर वह भगवान्के नामोच्चारणका ही अधिकारी होता है अतएव श्रवणके अनन्तर भगवान्के

कीर्तनका ही उपदेश आया है। ऐसे ही अन्य भक्तियोंके विषयमें भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार पाठक समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी है कि भक्तियोंका एक साथ भी प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे किसी भक्तने उच्च स्वरसे कहा—

'गोविन्दाय नमो नमः'

जिसने यह वाक्य उच्चारण किया, कीर्तन तो वह उच्चारण ही हो गया, श्रवण उसके कानोंमें उस शब्दके आनेसे हो गया, स्मरण उसके अर्थमें ध्यान करनेसे हो गया, और वन्दन 'नमः' पदके उच्चारणके साथ सिर झुकानेसे हो गया। इसी प्रकार और-और बातोंपर भी विचार करनेसे रहस्य ध्यानमें आ जाते हैं। इसके भेदा-भेदका विचार भक्तिमान्‌की भक्तिके ऊपर है। यही आरम्भिक भक्ति अन्तिम कोटिमें भी पहुँच सकती है किन्तु कथन प्रत्येक बातका एक क्रमके बिना बाँधे होना कठिन हो जाता है तथा उपयोगमें आना भी वैसा ही हो जाता है। हम तो जब भगवद्गीताकी ओर दृष्टि फैलाकर देखते हैं तो भक्तियाँ-ही-भक्तियाँ दिखायी देती हैं। हमारा तो निर्णय यही है कि जिस किसी व्यापारसे ईश्वर प्रसन्न हो, वह सब व्यापार भक्ति ही है। उसके प्रकारोंका कोई अन्त नहीं हो सकता। ऐसा होनेपर भी इस लेखमें कार्य यही है अतएव कुछ अन्य प्रकारोंके अवतरण और देते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

आओ! फिर यदि भक्तिके कुछ नमूने देखने हैं तो थोड़ी देरके लिये हरिमन्दिरमें प्रवेश करें, जहाँ अनेक भक्त बैठे अपने-अपने इच्छित प्रकारसे भगवान्‌को रिझा रहे हैं। देखिये, इधर एक ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए व्यासजी भगवान्‌के लीलाचरित्रोंको सुना रहे हैं, श्रोतागण ध्यानमग्न हैं, कोई धीरे-धीरे सुबकी ले रहा है, कोई मन्द-मन्द भीतर-ही-भीतर आह्लादसे फूल रहा है। किन्तु कुछ मुख-कमल खिला हुआ-सा है, कोई जोरसे चिल्ली मारकर कभी रो उठता है, ये श्रवणभक्तिवाले धन्य हैं। दूसरी ओरसे तो 'गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे' की रटनाकी ध्वनि आ रही है, एक ओर तो—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता ६।३०)

—इस वाक्यके अनुसार सर्वत्र जगत्‌में हरिका दर्शन करता है और कभी संपूर्ण चर-अचरको हरिमें ही देखने लगता है यह ईश्वर और जगत्‌में आधार-आधेय-भावके विकल्पसे न्यारी ही भक्ति है।

अच्छा उधर देखो—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

इस भगवान्‌के आदेशके अनुसार अपनी सब क्रियाएँ अशन, होम, दान और तप सबको अर्पण करता हुआ नारायणार्पण भक्तिका अनुष्ठान कर रहा है।

इधर एक महात्मा—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४।२४)

इस वाक्यके उदाहरण बन रहे हैं। अपनी अग्निहोत्र-क्रियामें, होमरूप क्रियामें ब्रह्म देख रहे हैं, होम करनेके घृत आदि द्रव्यको भी ब्रह्म ही देखते हैं एवं जो वहाँ अग्नि, आप कर्ता तथा आराधनीय देवता सबको ब्रह्म ही जान रहा है, यह एक अलग ही ब्रह्मकर्मसमाधिरूप भक्ति है।

एक ओर तो कुछ भक्त अपने सब कुशल-क्षेमकी चिन्ता छोड़कर अनन्य ही हो रहे हैं। उनके सब कार्योंकी चिन्ता भगवान्‌के ही ऊपर आ रही है, आप ही भगवान् उनके कार्य साधन करते रहते हैं, यह तो वही भक्ति है जो भगवद्गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे कही है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

यह देखो, भगवान्‌की भोग-भक्तिका चमत्कार अलग ही है, पास तो इसके दुनियादारीका कोई सामान नहीं है किन्तु कहीं वनसे पत्र-पुष्प और फल आदि ले आया है और प्रेमसे भगवान्‌की सेवामें भोग लगा रहा है। क्या यह वही भक्ति है, जो गीताजीमें—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९।२६)

इस अपने वचनसे उपदेश की है।

अच्छा तो अब भगवान्‌के मन्दिरकी घण्टी बजनेवाली है, अतिरिक्त नर-नारी बाहर कर दिये जायँगे और फाटक बन्द हो जायगा, जो कुछ देखा जा सके थोड़ा और देख लो ! ये अर्जुनसे भगवान् क्या उपदेश कर रहे हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

शरणागतिधर्मकी बड़ी मुख्यता है ! इसमें तो भगवान् अपने भक्तको पापोंसे मुक्त करनेका भी ठेका लेते हैं । फिर चिन्ता क्या ? सम्पूर्ण ही शोकोंको हरनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

देखो उस एक स्थानमें भक्तोंका मण्डल बैठा हुआ है, उनको संसारका कुछ पता ही नहीं है, वे आपसमें भगवान्‌के चरित्रोंको कहते जाते हैं, और—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(गीता १० । ९)

इस श्लोककी सारी मूर्ति ही बन रहे हैं । अब तो पीछेसे आवाज आ रही है 'बाहर हो' 'फाटक बन्द होता है' चलो बाहर निकलो, रुचि तो नहीं भरती पर भाग्य यहाँ अधिक नहीं टिकने देता । चलो चलो इधर यह क्या ध्वनि आ रही है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
(गीता ४ । २८-३२)

कोई द्रव्योंसे यजन करते हैं, कोई तपोयज्ञमें निरत हैं, कोई योग (समाधि) रूप यज्ञ कर रहे हैं, कोई वेदोंका स्वाध्यायरूप यज्ञ कर रहे हैं, कोई अपानमें प्राणका होम कर रहे हैं और कोई प्राणायाम ही कर रहे हैं, कोई अपने आहारको रोककर प्राणोंमें प्राणोंका ही होम कर रहे हैं— अनशनव्रतके द्वारा इस नश्वर शरीरको त्यागकर अपनी स्वतन्त्रतासे ही ईश्वरमें मिलनेका कार्य कर रहे हैं । इस प्रकार वेदमें बहुत प्रकारके यज्ञ हैं, उनकी कोई संख्या नहीं है, सभी अपने-अपने अभीष्ट यज्ञोंद्वारा सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं । फाटक बन्द, चलो अपने-अपने घरका मार्ग पकड़ो !

भगवद्भक्त तुकारामजी

(लेखक-श्रीदिनकर गंगाधर गोरे, बी० ए०)

जिस देशमें जितने अधिक निःस्वार्थी और निःस्पृह पुरुष उत्पन्न होंगे उस देशकी उतनी ही अधिक उन्नति होगी । एक ही निःस्वार्थी पुरुष सम्पूर्ण संसारको हिला सकता है किन्तु यह शक्ति प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको असीम कष्ट उठाने पड़ते हैं, लोकनिन्दा सहन करनी पड़ती है, भूखों मरना पड़ता है, स्त्री, पुत्र और समाजके दुर्वचन सहने पड़ते हैं, यह असिधारा-व्रत है । पर इसको जो पालन करते हैं वे स्वयं तो तर ही जाते हैं और भी असंख्य लोगोंको तार देते हैं । यह दिव्यशक्ति केवल त्यागरूपी तपसे ही प्राप्त होती है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
(७ । ३)

हजारों मनुष्योंमें कदाचित् कोई मनुष्य परमार्थके मार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है और उन हजारोंमेंसे कदाचित् ही कोई पुरुष ही भगवान्‌को यथार्थतः जानता है । यानी संसारमें

संत तुकारामजी

कोई बिरला ही पुरुष त्यागरूपी तपको अङ्गीकार करता है परन्तु जो इस तपस्याको अपनाता है वही संसारकी भलाई कर सकता है, वही संसारको अपने तेजसे हिला सकता है और उसको उन्नतिके पावन पथपर अग्रसर कर सकता है। यह काम उदरपोषणके लिये त्यागमूर्तिका स्वाँग रचनेवाले नहीं कर सकते। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं 'इतर पोटा साठी सोंग। तेथे कैचा पांडूरंग' अन्य सब उदरपोषणके निमित्त ढकोसले हैं वहाँ भगवान् नहीं है। यथार्थमें बात भी यही है।

जब हम तुकारामजीकी जीवनीपर दृष्टि डालते हैं तो दीखता है कि वे पक्के निःस्पृही और यथार्थ निः-स्वार्थी थे, स्पष्ट शब्दोंद्वारा मनुष्योंको उपदेश करते थे। उनकी वाणी सत्यपूर्ण और हृदयस्पर्शी होती थी। अन्तःकरणसे आनेके कारण वह सीधी श्रोताके अन्तःकरणतक पहुँचती थी। एक बार तुकारामजीने यह कहा कि 'नली फुंकिली सोनारे, इकडु न तिकड़े गेले बारे' संसारमें असंख्य मनुष्य ऐसे होते हैं जो अच्छे उपदेशको सुनने अवश्य जाते हैं किन्तु इस कानसे सुनके उससे निकाल देते हैं, उपदेशको हृदयतक नहीं जाने देते, ऐसे मनुष्योंका सुधार होना बड़ा कठिन है। हमारा सुधार हमारे ही कर्मोंपर निर्भर है किन्तु संतोंके शब्द साधारण मनुष्योंके शब्दोंसे अधिक शक्तिशाली होते हैं क्योंकि वे प्रथम स्वयं जिस बातका आचरण करते हैं, वही दूसरोंको कहते हैं। हम लोगोंका आचरण इसके विपरीत है, हम कहते तो बहुत हैं पर आचरण नहीं करते। इसीलिये हमारे कहनेका दूसरोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि हम दूसरोंका सुधार किया चाहते हैं तो पहले हमें स्वयं अपना सुधार करना आवश्यक है। हम सुधर जायँगे तो हमें दूसरोंके सुधारमें भी सफलता मिलेगी किन्तु आज हमने अपना उद्देश्य केवल दूसरोंका सुधार करना ही बना रक्खा है। हम दूसरोंके घरोंकी सफाई अवश्य चाहते हैं किन्तु अपने घरके कूड़े-करकटकी ओर ध्यान देना बिल्कुल नहीं चाहते। यही कारण है कि आजकलके नेताओंका प्रभाव जनतापर नहींके बराबर पड़ता है। श्रीतुकारामजीका कहना है कि 'बोले तैसा चाले त्याची बंदावी पाडले' मनुष्य जैसा बोलता है वैसा ही आचरण भी करे तो वह वन्दनीय होता है। वास्तवमें ऐसा ही मनुष्य संत कहलाने योग्य है। संत तुकारामजीने अपने जीवनमें इसी भावसे सारे कार्य किये थे!

श्रीतुकारामजी जातिके वैश्य थे, इनके पिताका नाम कोलहोबा और माताका नाम कनकाई था। ये दोनों ईश्वरभक्त थे। तुकारामजीका जन्म देहूग्राममें सन् १५७८ के लगभग हुआ था। इनके बड़े भाई सावजीने पहले ही संन्यास ले लिया था। इससे इनको तेरह वर्षकी अवस्थामें ही अपने पिताके व्यापार-में बाध्य होकर सहयोग देना पड़ा! बाल्यकालमें तुकारामजी खेलते नहीं थे, अपने पिताके साथ सन्ध्या समय नित्य भगवद्भजन किया करते थे। तुकारामजीके दो स्त्रियाँ थीं। पहली स्त्रीको रुग्णा देखकर इनके पिताने दूसरा विवाह कर दिया था। एक समय दैवयोगसे अकाल पड़ा और उसमें इनकी एक स्त्री और छोटे पुत्रको कालका ग्रास होना पड़ा। इसीके बाद इनको वैराग्य हुआ और इनका चित्त संसारसे हट गया।

तुकारामजीकी दूसरी स्त्री बड़ी कर्कशा थी। कहते हैं एक दिन तुकारामजी खेतसे एक ऊखका बोझा ला रहे थे, रास्तेमें लड़कोंने इन्हें घेर लिया। तुकारामजी बड़े ही सौम्य स्वभावके थे उन्होंने गन्ने बालकोंको बाँट दिये। घर पहुँचे तब केवल एक गन्ना बच रहा, गृहिणी भूखसे व्याकुल थी उसको पतिकी इस उदारतापर बड़ा गुस्सा आया, उसने उनके हाथसे

गन्ना छीनकर बड़े जोरसे उनकी पीठपर मारा, गन्ना टूट गया, तुकारामजी हँसकर बोले 'तुम बड़ी साध्वी सती हो, मुझे हम दोनोंके लिये इस ऊखके दो टुकड़े करने पड़ते, तुमने बिना कहे ही कर दिये ।'

तुकारामजी ईश्वरके अनुरागी भक्त थे । सुख-दुःखको समान मानते थे । इनका मन एकान्तवासमें अधिक लगता था । इन्होंने अपना समय भजन, वेदान्त ग्रन्थोंके अवलोकन और उनके मननमें लगाया, इससे इनका देहाभिमान जाता रहा और कुछ दिनोंके बाद इन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया !

कहते हैं कि इन्हें किसी ब्राह्मणद्वारा स्वप्नमें 'रामकृष्णहरि' का मन्त्र मिला था । इसके अनन्तर ये अपने गाँवके पासकी टेकड़ीपर जप करनेके लिये चले गये । वहाँ इनकी जपमें समाधि लग गयी । इसी जङ्गलमें इनको श्रीबिट्ठलजीके दर्शन हुए । उन्होंने इनको उपदेश दिया कि 'गृहस्थाश्रममें रहकर ही भजन-कीर्तन करो !' इसलिये तुकारामजी घरपर लौट आये और भिक्षावृत्ति करके अभंगोंद्वारा लोगोंको उपदेश करने लगे । मराठी भाषामें एक प्रकारके छन्दको अभङ्ग कहते हैं । इससे उनकी कीर्ति सब ओर फैल गयी और सैकड़ों लोग दर्शनको आने लगे किन्तु कुछ ढोंगी साधु इनसे द्वेष रखने लगे । पर तुकारामजीका व्यवहार ऐसा क्षमाशील था कि जो इनको आज दुःख देते थे वे ही अन्तमें इनकी क्षमाके प्रभावसे इनके भक्त बन जाते थे ।

तुकारामजी बड़े निःस्पृही थे । एक बार छत्रपति शिवाजीने तुकारामजीको अपने यहाँ बुलाया, बहुत-से मनुष्य हाथी-घोड़े लेकर तुकारामजीको लिवाने गये । तुकारामजीने महलमें जाना स्वीकार नहीं किया और शिवाजीको एक पत्र लिखा, जिसका कुछ सार यह है 'हे पण्ढरीनाथ ! मुझे इस विपत्तिसे बचाइये । मैं जो कुछ नहीं चाहता सो मुझे क्यों देते हो ? मैं घर-द्वारसे अलग रहता हूँ, मान, दम्भ, धनसे मुझे घृणा है, भगवन् ! मुझे इनसे अलग रहने दो । महाराज शिवाजी ! मुझे छत्र-चामर, हाथी-घोड़े दिखाकर क्यों ललचाते हो ? तुम्हारे यहाँ आकर मैं क्या करूँगा, भूख लगती है तो माँग लाता हूँ, अङ्ग ढकनेके लिये राहमें पड़े चीथड़े बहुत हैं, कहीं भी पड़कर सो रहता हूँ, मैं किससे क्या आशा करूँ ? महाराज ! मेरी प्रार्थना है कि सब प्राणियोंमें एक ही आत्माको देखकर उसमें मन लगाओ, अनाथ और दुर्बलोंकी सहायता करो, गुरु समर्थ रामदासजीका अनुकरण करो, तुम्हारा भला होगा ।' इस उत्तरसे शिवाजी बड़े प्रसन्न हुए और वे स्वयं तुकारामजीकी कुटियापर आये । शिवाजीने बहुत-सा द्रव्य भेंट किया किन्तु उन्होंने उसी समय वापिस कर दिया, एक पैसा भी नहीं रक्खा !

एक समय राजा शिवाजी इनके कीर्तनमें बैठे थे । इतनेमें औरङ्गजेबके सिपाही उन्हें पकड़नेको आ पहुँचे । शिवाजी भागनेको उद्यत हुए किन्तु तुकारामजीने रोककर कहा कि 'डरो मत, भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते रहो' फल यह हुआ कि सिपाहियोंको शिवाजी दिखायी ही नहीं पड़े और उन्हें खाली हाथ लौट जाना पड़ा ! शिवाजी सुरक्षितरूपसे अपने किलेमें चले गये !

एक समय एक किसानने तुकारामजीसे अपने खेतकी रखवाली करनेको कहा । ये रखवाली करते-करते भजनमें निमग्न हो गये और जब किसान आया तो उसको सारा खेत चिड़ियोंद्वारा उजाड़ा हुआ मिला । उसने पंचोंमें फर्याद कर दी । पंचोंने भी हर्जाना भरनेका हुक्म दे दिया । किन्तु जब किसानने जाकर अपना खेत सँभाला तब उसको अपने अन्दाजसे बहुत ज्यादा अनाज मिला । यह देख किसान बड़ा लज्जित हुआ । उसने बढ़ा हुआ अन्न तुकारामजीको देना चाहा पर इन्होंने नहीं लिया । सन् १६४९ में एक दिन तुकारामजीने अपने शिष्योंसे कहा कि 'आज हम वैकुण्ठको जायँगे' यह खबर उनकी स्त्रीको भी दी गयी । उसने कहा कि मैं गर्भवती हूँ, बच्चे छोटे हैं । इस समय नहीं आ सकती । उसने सोचा कि ये तो रोज ही वैकुण्ठ जाते हैं । किसी तीर्थयात्राको

जाते होंगे। पर आज तो तुकारामजीकी महायात्रा थी उस दिन वे अपने शिष्योंके साथ नदीके तीरपर गये। वहाँ उन्होंने कुछ अभङ्गोंकी रचना की—कीर्तन किया। तदनन्तर उनका शरीर तेजोमय हो गया और लोगोंने देखा कि वे एक विमानपर बैठकर तुरन्त अदृश्य हो गये!

उनकी स्त्री कड़े स्वभावकी होनेपर भी बड़ी पतिव्रता थी। वह तुकारामजीको खिलाये बिना कभी नहीं खाती थी, उसको इस घटनासे बड़ा दुःख और पश्चात्ताप हुआ। उनके शिष्य भी तीन दिन-तक इस आशामें बैठे रहे कि तुकारामजी लौटकर आवेंगे। कहते हैं कि तीन दिन बाद उनकी गुदड़ी, करताल और अभंग लौट आये!

तुकारामजीके मतके अनुसार मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहकर भी ईश्वरभक्ति करके ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्षके लिये संन्यासकी आवश्यकता नहीं है, मनुष्यको निष्काम और अनासक्त भावसे अपना कर्तव्यकर्म करते रहना चाहिये।

भक्त और चमत्कार

(लेखक—स्वामीजी श्रीरघुनाथदासजी)

भारतीय भक्तोंकी जीवनीमें कुछ-न-कुछ चमत्कारका उल्लेख रहना एक नियमित प्रथा-सी हो गयी है। भक्त-जीवनमें अलौकिक घटनाओंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो सर्वशक्तिमान् भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' समर्थ है, अघटनघटनापटीयसी माया नर्तकी जिसके साधारण इङ्गितपर सदा सावधानीसे पैंतरे बदलती हुई नृत्य करती है, जो संकल्पमात्रसे ही अवकाशमें अनवकाश और अनवकाशमें अवकाश कर सकता है, समस्त विश्वकी रचना, स्थिति और विनाश जिसका केवल क्रीड़ा-कौतुक है उस प्रकृतिसे पर परमात्मामें सर्वथा आत्मसमर्पण कर चुकनेवाले प्रेमी भक्तोंद्वारा उसी अचिन्त्य-समर्थके सामर्थ्य-बलपर असाधारण और अप्राकृतिक कर्मोंका बन जाना असाधारण बात नहीं है। इसीसे बालक प्रह्लादका अग्निमें न जलना—विषपान करके भी जीवित रहना आदि सर्वथा विश्वसनीय भी है। हम अभक्तोंको भक्तजीवन-की अलौकिक घटनाओंपर अविश्वास करनेका कोई अधिकार नहीं है। हमारी अनिश्चयात्मिका विषय-रस विमुग्ध बुद्धि उनके यथार्थ स्वरूपको पहचाननेमें समर्थ नहीं हो सकती। अहङ्कार, बल, दर्पादिके त्यागसे ब्रह्मभावमें स्थिति होनेपर परम भक्तिके द्वारा जब साधक परमात्माके यथार्थ तत्त्वको समझता है तभी वह उसके भक्तके चरितको समझनेका अधिकारी होता है। भगवान्‌की भाँति सच्चे भक्तके कर्म भी दिव्य होते हैं, सुतराम् प्रह्लादसे लेकर भक्त तुकाराम तुलसीदास आदिके जीवनकी अलौकिक घटनाओंको पढ़ सुनकर उनपर कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। आजकल हमें ऐसे भक्त दिखायी नहीं देते या हममें ऐसी शक्ति नहीं है इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि इन लोगोंके चरित्र भी मिथ्या, कल्पित या अतिरञ्जित घटनाओंके घर हैं। हमें उनपर विश्वास और श्रद्धा करनी चाहिये।

किन्तु विचारणीय प्रश्न तो यह है कि क्या चमत्कार या अलौकिक घटनामें ही भक्त-जीवनकी पूर्णता है, क्या भक्तजीवनमें चमत्कारकी घटना अवश्य रहनी चाहिये, क्या चमत्काररहित जीवन भक्त-जीवन नहीं बन सकता और क्या भक्तोंकी पहचान चमत्कारोंसे होती है? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी समझमें तो यही बात आती है कि भक्तोंके लिये चमत्कार वास्तवमें अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है। भक्तोंके चरितमें जिन चमत्कारोंका वर्णन है उनपर अविश्वास न करता हुआ भी मैं यह अवश्य कहूँगा कि भक्त-

जीवनकी पूर्णता तो एक ओर रही, चमत्कारके बलपर भक्त कहलाना या कहना यथार्थ सच्ची भक्तिका तिरस्कार करना है । जो भक्त भगवत्कृपासे असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, उनके लिये किसी एक कोढ़ीका कोढ़ दूर कर देना या एक मृतकको जिला देना साधारण-सी बात है, इस तरहकी घटनाओंसे वास्तवमें भक्तजीवनका महत्त्व कदापि नहीं बढ़ता, भक्तका जीवन तो इन बातोंसे बहुत ही ऊँचा उठा हुआ होता है । भगवान्के यथार्थ तत्त्वका सम्यक् प्रकारसे अपरोक्ष साक्षात्कार हो जानेके कारण भक्तकी दृष्टिमें अखिल विश्व परमात्माके रूपमें बदल जाता है, ऐसी दशामें किसीका दुःख दूर करनेकी भावना उसके मनमें उठ ही कैसे सकती है ? सारा जगत् ईश्वररूप है, ईश्वरमें दुःख और कष्टकी कल्पना करना ईश्वरत्वमें बट्टा लगाना है । जब कोई दुःख ही नहीं तब दुःख दूर करनेकी भावना कैसी ? परमात्मा नित्य आनन्दस्वरूप है, उस आनन्दघनमें दुःख नामक किसी अन्यको अवकाश ही कहाँ ? जब दुःख ही नहीं तब उसे मिटाना कैसा ? कारण बिना कार्य नहीं होता, ऐसी अवस्थामें भक्तने अमुकके दुःखसे दुःखी होकर अपने चमत्कारसे उसका दुःख दूर कर दिया, यह कहना युक्तिसंगत नहीं । इतना होनेपर भी मङ्गलमय बन जानेके कारण भक्तके ईश्वरार्पित और ईश्वरमय तन, मन, धनसे जगत्का सदा स्वाभाविक मंगल ही हुआ करता है । अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती, इसी भाँति भक्तसे भी किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता । उसका अन्तःकरण ईश्वरीय गुणसम्पन्न होनेके कारण स्वभावसे ही अखिल विश्वरूप परमात्माकी सेवामें सदा संलग्न रहता है, शरीर तो अन्तःकरणके अनुसार चलता ही है अतएव भक्त सदा ही लोकसेवक है, पर वह चमत्कारसे नहीं है, है स्वाभाविक वृत्तिसे !

चमत्कारी वर्णनोंकी अधिक विस्तृति और महत्तापर विश्वास हो जानेके कारण भारतवर्षमें अनर्थ भी कम नहीं हुआ है । चमत्कारने साधुके सच्चे स्वरूपको ढक दिया, साधुकी कसौटी चमत्कारोंपर होने लगी ! इसीसे सच्चे सीधे सादे संतोंकी दुर्दशा हुई, भण्ड और पाखंडियोंका काम बना । सिद्ध साधककी जोड़ी बनाकर अनेक प्रकारकी चमत्कारपूर्ण मिथ्या और अतिरञ्जित भली बातें फैलायी जाने लगीं । 'अमुक बाबाजीने रोग मिटा दिया, अमुकने छूते ही कोढ़ दूर कर दी, अमुकने कमण्डलुके जलसे पुत्र दान दे दिया, अमुकने आशीर्वाद मात्रसे जज साहबकी बुद्धि बदलकर मुकद्दमा जिता दिया ।' कहीं काकतालीय न्यायसे कोई घटना हो गयी कि तुरन्त उसको चमत्कारका रूप दे दिया गया । यों भेड़की खालमें अनेक भेड़िये घुस बैठे और वे भक्तकी पवित्र गद्दीको कलङ्कित करने लगे । इसी चमत्कारकी भावनाने अनेक अपात्र और अभक्तोंके अनेक मिथ्यावादी, व्यभिचारी, शराबखोर, ढोंगी और पाखण्डियोंतकको लोगोंकी दृष्टिमें भक्त बना दिया और वे लोग भक्तिके पवित्र नामपर मनमानी घरजानी करने लगे !

इसलिये हम लोगोंको भक्तकी पहचान उसमें किसी चमत्कारको देख-सुनकर नहीं करनी चाहिये । चमत्कार तो चालाकी या जादूसे भी दिखलाया जा सकता है । चमत्कार दिखलानेवाले आजकल अधिकांश तो धोखा ही देनेवाले हैं, भक्तमें तो उसके आराध्यदेव भगवान्के सदृश दैवीसम्पत्तिके गुणोंका विकास होना चाहिये अतएव भक्तकी कसौटी भी उन गुणोंपर ही हो सकती है । भक्तजीवनका सर्वथा शुद्ध, लोक परलोक हितकारी स्वाभाविक प्रेममय जीवनमें परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय और स्तुत्य चमत्कार है, भक्त बननेवालोंको अपने अन्दर इसी चमत्कारके विकासके लिये प्रयत्न करना चाहिये !

वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं

आज आश्रमके अन्तेवासियोंमें बड़ी हलचल मची है। भगवान् भास्कर गगनतलके मध्यस्थलको लाँघ चुके हैं पर आश्रमका मध्याह्नकृत्य अभी अवसित नहीं हुआ। गुरुदेव प्रातःकालसे ही विचित्र दशामें मग्न हैं। कभी हँसते हैं, कभी जोरसे रोते हैं, कभी धर्मबलपूर्ण भगवान्‌के विमल चरित्रोंको अलापते हैं, कभी सिर झुकाकर भगवान्‌की वन्दना करते हैं, कभी प्रेमपूर्ण शब्दोंमें उलहना-सा देते हैं और कभी एकाग्र-चित्त हो समाधिका अनुभव करते हैं। गुरुजीकी ऐसी आश्चर्यमय अवस्था अद्यावधि पहिले कभी नहीं देखी गयी। आज अन्तेवासियोंका दैनिक पाठ भी बन्द है। छात्रमण्डलमें परस्पर नानाप्रकारकी अनेक कल्पनाएँ हो रही हैं। इस विद्यार्थी-मण्डलमें माधव और मोहन ये दो छात्र अधिकवयस्क हैं। ये दोनों बड़े व्याकुल एवं किंकर्तव्यविमूढ हो रहे हैं।

मोहन—सखे! माधव! क्या कहूँ, मैंने गुरुजीकी यह अनिर्वचनीय अपूर्व अवस्था देखकर उनके हृद्गत भावोंको जाननेके लिये एक युक्ति रची थी पर वह सफल न हो सकी। मैं ब्रह्मसूत्र लेकर गुरुजीके सम्मुख गया वे मुझे देखते ही आसनसे खड़े हो गये और नेत्रोंसे आँसुओंकी लड़ियाँ विखराते हुए अति मधुर एवं वात्सल्यपूर्ण स्वरसे कहने लगे—वत्स! आज पाठ होना कठिन है। मैंने गुरुदेवका ऐसा अपूर्व भाव प्रथम कभी नहीं देखा था। गुरुजीकी भक्तिभावनामें विघ्नबाधा होते देख मैं कुटीरसे तुरन्त उलटे पाँव चला आया। मुझे भय हुआ कि यदि मैं यहाँ कुछ और विलम्ब करूँ तो शायद गुरुजी मेरे चरण..........।

माधव—मित्र! आपने बड़ा साहस किया। मैंने तो गुरुजीके कुटीरमें एक छोरसे झाँका; देखता क्या हूँ कि गुरुजीके अर्धनिमीलित नयनोंसे अप्रतिहत अश्रुधारा बह रही है, मुखकमलमें मन्द मन्द हासकी रेखा विमल चन्द्रिकाका विडम्बन करती हुई अलौकिक छटा दे रही है। कभी बीच बीचमें वे खड़े होकर नाच रहे हैं, समस्त शरीरमें पुलकमाला व्याप्त हो रही है, उन्नत भालस्थलमें आकीर्ण स्वेदविन्दु मानो दिवसावसानके समय आरक्त गगनतलमें उदीयमान नक्षत्रमण्डलका उपहास करनेके लिये विशालता एवं उज्ज्वलता धारण कर रहे हों। इस अवस्थामें भीतर प्रवेश करनेकी हिम्मत मुझे नहीं हुई। गुरुजीकी इस विचित्र दशाकी यह प्रथम ही भूमिका है। भाई! कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ निकालना चाहिये जिससे गुरुजीकी संरक्षकतामें आश्रमके सब कृत्य निर्बाध चलें और उनकी लोकद्वय-साधनी अनमोल शिक्षासे हम लोग कल्याण पथके पटु पथिक बनें। अच्छा चलो, मुकुन्दके पास चलें शायद उनकी प्रार्थनाका कुछ असर पड़े। अब तो वे मध्याह्न-कृत्य समाप्त कर चुके होंगे।

माधव और मोहन दोनों मुकुन्दके पास जाते हैं। मुकुन्द उक्त आश्रमके सबसे प्राचीन छात्र हैं और नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। साङ्गोपाङ्ग समस्त वेदोंका सार्थ दृढ़ अभ्यास कर लेनेके पश्चात् उन्होंने दर्शनों एवं प्रस्थानत्रयका अध्ययन भी गुरुमुखसे भलीभाँति कर लिया है। आश्रमके एक कोणमें उनकी पृथक् एक पर्णकुटी बनी हुई है। पास ही एक यज्ञशाला है जिसमें वे प्रतिदिन सायं प्रातः विधिविधानसे समिधा-धान करते हैं। उसीके समीप एक गोशाला है जिसमें शुभ्रवर्ण घटोध्नी एक धेनु बछड़ेके सहित विराजमान है। अब इस महातपस्वी पण्डित-प्रकाण्डकी उपकरण विभूतिकी ओर दृष्टिपात कीजिये। केवल दो खादीके वस्त्रोपवस्त्र, एक कुशासन, एक मृगचर्म, एक कोणपर एक मृण्मय दीवट, उसके पास ही एक तैलपात्र और ईंधनछेदनका साधन एक कुठार तथा एक चौकीपर रखी हुई दो चार पुस्तकें, बस, इसके सिवा सूर्य

चन्द्रमाके तेजसे भी प्रतिहत न होनेवाला अहर्निश जाज्वल्यमान ब्रह्मचर्य, गुरुशुश्रूषा-कर्मकाण्ड-उपासना एवं अध्ययनाध्यापनसे उपलब्ध जगत्पावन ब्राह्मतेज, जिसने केवल उनकी पर्णकुटीको ही नहीं बल्कि सारे आश्रममण्डलको प्रकाशमय एवं दिव्य बना रक्खा है। यह सब रहते हुए भी वे विनीत इतने हैं कि यदि छात्रवृन्द उनको 'गुरुजी' ऐसा सम्बोधन करते हैं तो उनकी ओरसे ऐसी चेष्टा होती है कि जिससे पुनः ऐसा सम्बोधन करनेका साहस किसीको नहीं होता। उनका सब छात्रोंके साथ मधुर और आदर्श व्यवहार होता है। वे बड़े परिश्रमी हैं। गोशाला-यज्ञशाला-सम्बन्धी समस्त कृत्य स्वयं करते हैं। किसीसे भी अपना कार्य लेना पाप समझते हैं। प्रदोष-कृत्य समाप्त कर सायंकाल एक समय भोजन करते हैं। इतने व्रत-नियमोंमें रहते हुए भी उनका शरीर सुसंगठित एवं कान्तिमान है। माधव और मोहनने देखा कि मुकुन्द स्वस्तिकासनसे अपनी कुटीमें बैठे हैं और शास्त्रचिन्तन कर रहे हैं। उनके उन्नत एवं विशाल भालस्थलपर त्रिपुण्ड्र सुशोभित हो रहा है। और गलेमें विमल रुद्राक्ष-की माला, हाथमें पलाशदण्ड तथा कटिमें मौञ्जी मेखला है। उनके वृषस्कन्ध, ऊरू और बाहुओंकी विशालता देखकर यही भान होता है कि मानो वीररसने तपस्वी-का वेश धारण किया है। माधव तथा मोहनको देखते ही मुकुन्द बड़े सम्मान और स्नेहके साथ उनका आगत-स्वागत करनेके लिये कुटीसे बाहर आये और प्रेमपूर्वक दोनोंको अभिवादन किया। उनको झुकते देखकर माधव और मोहनने चरणस्पर्शपूर्वक उनको बड़े विनयसे प्रणाम किया। उन लोगोंका परस्पर व्यवहार एवं मिलन आदर्श था। उन लोगोंके म्लान मुखने उनके हृत्पटलमें अङ्कित उस विषादमयी रेखाका भान बिना कहे-सुने मुकुन्दको करा दिया।

मुकुन्द—भाई ! तुम्हारा वदन मलिन क्यों है ? इस अनवसरमें यहाँ आनेका क्या कारण है ? क्या आश्रम-में किसीको दैवी विपत्तिने ग्रस्त तो नहीं कर रक्खा है ? आश्रममें सर्वत्र मङ्गल तो है न ?

माधव—भगवन् ! भला यहाँ भी अमङ्गलकी दाल गल सकती है ? जहाँ अहर्निश वेदकी ध्वनियाँ इस छोरसे उस छोरतक गूँजती हैं, जहाँ हविर्गन्धधूम इस ओरसे उस ओरतक बहता हुआ हिंस्र पशुओंमें भी दया एवं पवित्रताका सञ्चार करता है, जहाँ राग, द्वेष, लोभ, मोह, मद, अहङ्कारका लवलेश नहीं, जहाँ आप-सरीखे शान्त दान्त और कान्त मूर्तियोंका आवास है भला वहाँ प्रत्यूहव्यूहोंका सन्देह—विघ्न-बाधाओंकी आशङ्का स्वप्नमें भी सम्भव हो सकती है ?

मुकुन्द—बस बस भाई साहेब ! झूठ मूठ श्लाघाओंका पुल न बाँधो। भला कहो भी तो सही फिर कारण क्या है ? तुम लोग उदास क्यों हो ?

माधव—भाईजी ! गुरुजीकी अवस्थामें आज विचित्र परिवर्तन दीखता है।

मुकुन्द—(विस्मयपूर्वक) ऐं ! कैसा परिवर्तन ? क्यों स्वास्थ्य तो अच्छा है ?

माधव—(उनकी पूर्वोक्त दशाका वर्णन कर) एक बज गया है अभी उन्होंने भिक्षा ग्रहण नहीं किया।

मुकुन्द—(स्वगत) ये सब भगवद्भक्ति-उद्रेकके लक्षण हैं। (प्रकाश) तो क्या सब छात्र अभीतक भूखे हैं ?

माधव—फिर नहीं तो क्या ! गुरुजीके भिक्षा ग्रहण किये बिना भिक्षा ग्रहण करनेका किसे अधिकार है ?

मुकुन्द—तो चलो, विलम्ब न करो, उसी अज्ञान-तिमिरनाशक भवपाश-विदारक ज्योतिके शरणमें चलें। यदि हम लोगोंसे कोई चूक हो गयी तो उसके लिये क्षमा याचना करें। अन्य उपाय ही क्या है ?

तीनोंका गुरुजीकी कुटीरकी ओर प्रस्थान, गुरुकुटीरके द्वारपर पहुँचकर हाथ जोड़ विनीत भावसे—

तीनों—महाराज ! बचाइये, अशरणोंको अपनाइये, गुरुदेव ! क्षमा कीजिये । तीनों गुरुजीके चरणोंमें सिर नवाते हैं, उनके मस्तकके स्पर्शसे गुरुजीने चौंककर नेत्र खोल दिये ।

मु०—महाराज ! दो बजनेको हैं, अभीतक सब छात्र भूखे हैं ।

गुरुजी—(आश्चर्यपूर्वक) क्यों, क्या आज भिक्षा लेने नहीं गये ?

मु०—भगवन् ! भिक्षा यथासमय आ गयी है और निर्दिष्ट स्थानपर रक्खी हुई है । आप थोड़ा ग्रहण कर लीजिये और सब छात्रोंको आज्ञा दीजिये !

गु०—ओह ! आज हम अन्यमनस्क हो गये थे अतः हमें इधरका कुछ ध्यान ही नहीं रहा । आह ! बड़ा अनर्थ हुआ, मेरे कारण सबको अभीतक अनशन रहना पड़ा । अच्छा चलो, अब जल्दी चलो । सबका अन्य कुटीरके प्रति प्रस्थान होता है । गुरुजी हस्तपाद प्रक्षालनकर पूर्वाभिमुख हो शुद्ध एवं शीतल जलसे आचमनकर भगवदर्पणपूर्वक छात्रोंको भिक्षा बाँटकर स्वयं ग्रहण करते हैं ।

मध्याह्न-कृत्योंसे अवकाश पाकर एकान्तमें पद्मासनासीन गुरु महाराजके समीप जाकर तीनों छात्र विनयसे बैठ गये । उनमेंसे कुछ जिज्ञासा प्रकट करते हुए मुकुन्द बोले—

मुकुन्द—(विनयसे) भगवन् ! आजकी-सी शारीरिक अवस्था कभी नहीं देखी गयी । यदि अति रहस्य न हो तो दासोंको जाननेकी अति प्रबल इच्छा हो रही है ।

गु०—(गद्गद होकर)

सखि शृणु कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् ।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

मा०—(आश्चर्यसे स्वगत) अहो ! 'सखि' यह स्त्रीसमुचित सम्बोधन ! अच्छा देखें मुकुन्द क्या कहते हैं ।

मु०—(स्वगत) ठीक है । इस विषयमें सारा निष्कर्ष आज गुरुजीके मुँह सुन लेना चाहिये । (प्रकाश) भगवन् ! वेदान्त-सिद्धान्त उपनिषद्-प्रतिपाद्य ब्रह्म नन्दके निकेताङ्गण (गृहाङ्गन) में नाच करता है, यह कैसे ? महाराज ! बृहदारण्यकमें योगी याज्ञवल्क्यने गार्गीसे ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार कहा है—

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् इत्यादि। (३।८।८)

कृष्णमें तो ये लक्षण नहीं घटते वे तो आकारवान् एवं श्यामसुन्दर हैं ।

गु०—आकारवानोंको भगवान् श्याम ही प्रतीत होते हैं वास्तवमें उनका कोई आकार नहीं है जैसे आकाशका । देखो, शुभ्रवर्ण परम स्वच्छ समुद्रका जल भी नील ही प्रतीत होता है । भगवान्को श्यामसुन्दर कहते हैं, यह श्यामता प्राकृत काले वर्ण सदृश नहीं है । काले भी कहीं सुन्दर होते सुने हैं ? इस श्यामताकी उपमाके लिये कोई वस्तु नहीं है तथापि कवि लोग 'सजलजलदनीलम्' कहते हैं । अर्थात् जिस प्रकार सजल जलद प्राणिमात्रको सुखप्रद होता है उसी भाँति भगवान् विश्वभावन चराचरको सुखप्रद हैं । जैसे सजल जलदको देखकर मयूर नाचने लगते हैं उसी तरह भगवद्भक्त उस श्यामलरूपकी भावनाकर नृत्य करते हैं । भाई ! यह नीलिमा बड़ी विलक्षण है । इसकी महिमा कहाँतक बखानूँ । देखो, नेत्रोंमें स्थित नीलिमा ही समस्त लोकोंको प्रकाशित करती है यदि नेत्रमें नीलिमा न हो तो नेत्र रहते भी मनुष्य अन्धा कहा जाता है । हीरेमें यदि नीलिमाकी झलक हो तो उसका मूल्य सामान्य हीरेकी अपेक्षा कई गुना अधिक हो जाता है । भक्तोंकी भावनाके अनुसार ही भगवान् निराकार और रूपशून्य होते हुए भी नाना आकारों एवं रूपोंमें भासते हैं । देखो भागवत दशम स्कन्ध अध्याय ४३ श्लोक १७ —

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥

मु०—महाराज ! बृहदारण्यकमें ब्रह्मका लक्षण प्रतिपादन करते हुए भगवती श्रुतिने ब्रह्मको शोक, मोह, जरा, मृत्युसे परे बतलाया है—

योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।
(३ । ५ । १)

भगवान् कृष्ण तो गोपोंके साथ बराबर खाते थे और खानेकी इच्छा भी प्रकट करते थे । उन्होंने एक समय यज्ञमें भिक्षा माँगनेके लिये गोपोंको ब्राह्मणपत्नियों-के पास भेजा था—

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥
(भा० १० । २३ । १७)

सो कैसे ?

गु०—खानेवाले भक्तोंकी भावनाके अनुसार खाते हुए प्रतीत होते थे । परन्तु वास्तवमें तो भगवान् पूर्ण हैं । खानेकी इच्छा करनेवाला अपूर्ण होता है अतएव बाह्य खाद्य पदार्थोंसे अपनी पूर्ति करता है । लेकिन भगवान्के भीतर तो पहिलेसे ही समस्त पदार्थ भरे पड़े हैं उनको बाह्य पदार्थ ग्रहण करनेकी आवश्यकता ही क्या है । यही बात भगवान् कृष्णने माता यशोदाके सम्मुख कही थी । जब कि समस्त ग्वालबालोंने मिलकर मातासे उनकी शिकायत की कि कृष्णने मिट्टी खायी है। तब भगवान् कहते हैं—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥*
(भाग० १० । ८ । ३५)

यह कहकर भगवान्ने समस्त ब्रह्माण्डको अपने मुखमें दर्शाया—

सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः ।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च ।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ॥
एतद्विचित्रं सहजीवकाल-
स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये
व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥
(भागवत १० । ८ । ३७ से ३९)

यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति । (छान्दोग्य ८ । १ । ३)

छान्दोग्य उपनिषद्की इस श्रुतिको भगवान्ने प्रत्यक्ष कर दिखाया ।

मु०—परन्तु भगवन् ! ब्रह्मको तो उपनिषदोंमें ऐसा भी कहा है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥
(कठ० १ । २ । २४)

गु०—तभी तो भगवान्ने अर्जुनको वह रूप भी दिखाया ।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
(गीता ११ । २९-३०)

मु०—महाराज ! अशना या पिपासाके विषयमें तो ठीक है परन्तु कृष्णमें तो शोक, मोह, जरा, मृत्यु इत्यादि सभी शरीर धर्म अस्मादिवत् वर्तमान हैं ।

* अहं भक्षितवान् न, सर्वे गोपा अमिथ्याभिशंसिनः । हे सति ! यदि अगिरस्तर्हि मे मुखं समक्षं पश्य ।

हे अम्ब ! मैं खानेवाला नहीं हूँ ये, लोग भी ठीक कहते हैं । यदि तुमको ये वचन परस्परविरोधी मालूम होते हैं तो लो, स्वयं मेरा मुँह प्रत्यक्ष देख लो ॥
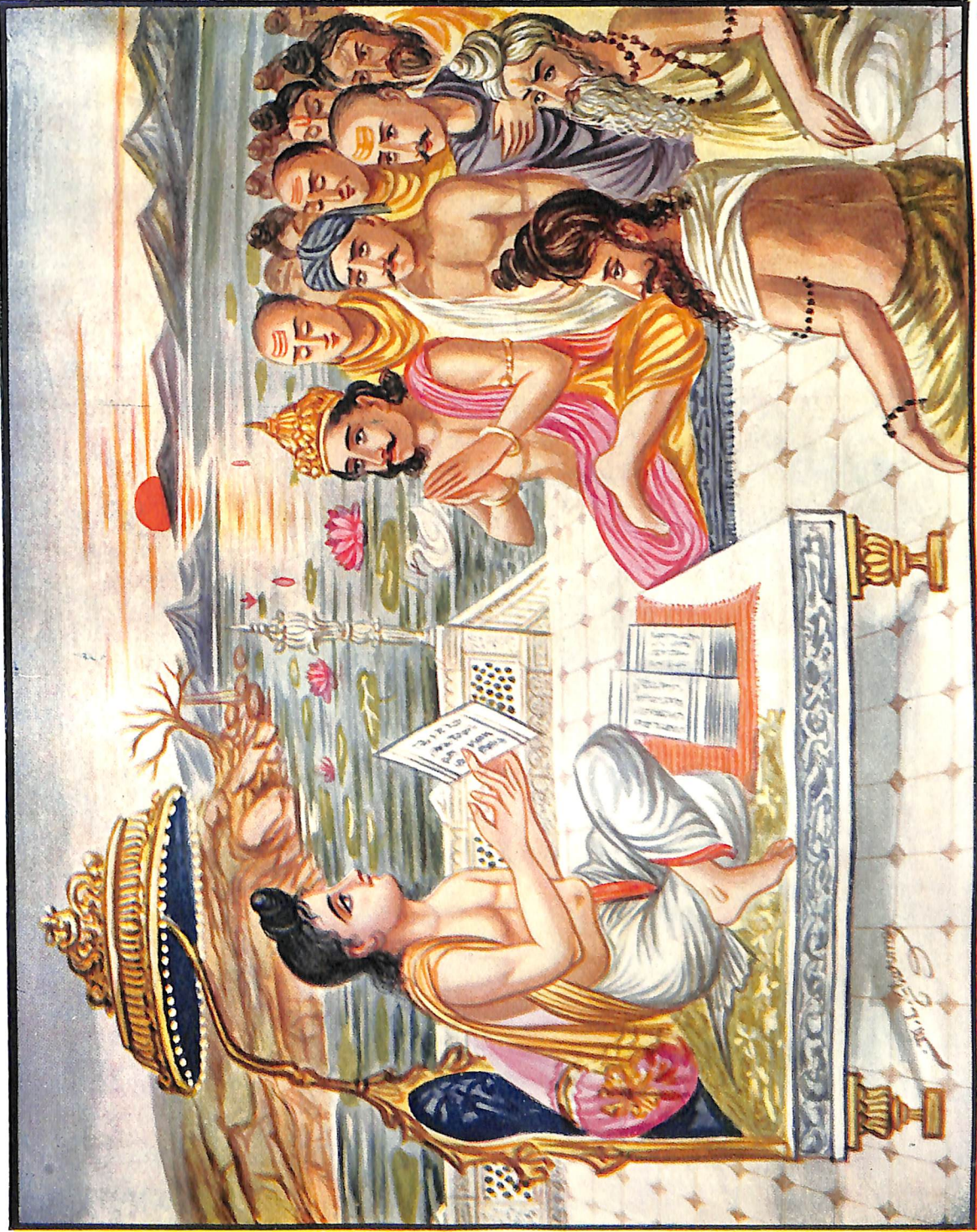
श्रवण-भक्त राजा परीक्षित एवं कीर्तन-भक्त परमहंस शुकदेव मुनि

गु०—क्या कहते हो भाई ! जरा ध्यान दो, आनन्दघन भगवान् कृष्णको कब मोह हुआ और कब शोक ? अपने सम्बन्धियों एवं कुटुम्बियोंके नष्ट होनेपर भी भगवान् तनिक चिन्तित नहीं हुए। गोकुल और वृन्दावनकी क्रीड़ाओंपर भगवान्की पहिले कैसी अविरत संलग्नता रही पर मथुरागमनके पश्चात् वृन्दावनकी ओर कभी झाँके भी नहीं। यही मोह कहलाता है न ? जन्म-मृत्युका प्रसङ्ग बड़ा विलक्षण है, प्राकृत जीवोंकी नाईं भगवान्का जन्म-मरण नहीं होता। भगवान्का आविर्भाव और तिरोभाव भक्तोंके सङ्कल्पोंके अनुसार होता है। भागवत दशम-स्कन्धके तृतीय अध्याय और एकादश स्कन्धके ३२वें अध्यायका अच्छी तरह पाठ कर जाओ।

मु०—भगवन् ! ब्रह्म तो सब प्राणिमात्रमें समान है जैसा कि श्रुति कहती है—

समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः।
(बृह० १।३।२२)

परन्तु कृष्णमें ये बातें कभी नहीं देखी गयीं, कृष्ण तो राक्षसोंको मारते थे और अपने भक्तोंका पालन करते थे।

गु०—भाई मुकुन्द ! यह बात नहीं है, भगवान् कृष्ण भी सबके लिये समान हैं—

न चास्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथातथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥
(भाग० ३।२९।४०)

देखो भगवान् स्वयं कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९।२८)

ब्रह्माने सब गोपोंको—चाहे उनमें कोई पङ्गु, बधिर, और मूक ही क्यों न थे—समानरूपसे देखा।

तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥
(भागवत १०।१३।४६-४७)

यही प्रश्न भागवतके सप्तम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे किया है—

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान्स्वयम्।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद् विषमो यथा॥

इस अध्यायका आद्योपान्त पाठ कर जाओ तो यह संशय निवृत्त हो जायगा। देखो, भगवान् तो भक्तकी भावनाके अनुसार फल देते हैं। भृगुके मनमें द्वेष नहीं था उन्होंने सोते हुए भगवान्को लात मारी, लात लगनेपर भी भगवान् उनका चरण दबाते हुए बोले—

आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।
वज्रकर्कशमद्वक्षःस्पर्शेन परिपीडितौ॥
(भागवत १०।८९।९-१०)

क्या ही दिव्य लीला है !

मु०—महाराज ! ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त है, किसी भी स्थानमें उसका अभाव नहीं है जैसा कि श्रुति प्रतिपादन करती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
(मुण्डक० २।२।११)

परन्तु कृष्ण तो एक ही देशमें रहते थे।

गु०—एक देशमें रहते हुए भी कृष्ण सर्वात्मा और सर्वगत हैं। जैसे सूर्य एक देशमें स्थित प्रतीत होता हुआ भी सब देशोंमें है। भगवान् श्रीकृष्ण, मैथिल और श्रुतदेवके यहाँ दो रूप धरकर एक साथ गये। (देखो भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८६) और १६१०८ पत्नियोंके गृहोंमें भी एक ही समय पधारे।

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः।
(भा० १०।९०।५)

मु०—महाराज ! **'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः ।'**
(बृह० ३ । ८ । ९)

इत्यादि बातें कृष्णमें कहाँ हैं ?

गु०—सत्य है ! ब्रह्मसंवाद (भा० १० । १४) यमसंवाद (भा० १० । ४५) इन्द्रसंवाद (भा० १०।२७) वरुणसंवाद (भा० १० । २८) इन सब अध्यायोंका पाठ कर जाओ तब प्रशासन श्रुतिकी बात समझमें आवेगी ।

मु०—महाराज ! श्रुतिने तो ब्रह्मसे इस प्रकार सृष्टि होना प्रतिपादित किया है—

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
(मुण्डक० २ । १ । १)

गु०—ठीक है, ब्रह्माजीसे ग्वालबाल तथा बछड़े चुराये जानेपर यह श्रुति भगवान् कृष्णमें पूर्णतया चरितार्थ हुई—

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥
स्वयमात्मात्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः ।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद्व्रजम् ॥
(भागवत १० । १३ । १९-२०)

और पश्चात् जैसे भगवान्‌से उत्पन्न हुए थे वैसे ही भगवान्‌में विलीन हो गये । ये ही क्या शिशुपाल और अघासुर प्रभृति अन्य दैत्य भी इन्हींमें लीन हो गये । (देखो—भा० स्क० १० अ० १२ और ७४) (प्रेमसे) भाई मुकुन्द ! तुम कृष्ण भगवान्‌को चर्मचक्षुओंसे देखना चाहते हो तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? यह तो श्रुतिसे भी विरुद्ध है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो' इत्यादि । (केन० १ । ३)

भगवान्‌ने श्रीमुखसे स्वयं कहा है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
(गीता ११ । ८)

दिव्य चक्षु देकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपना दिव्य रूप दिखाया ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥
(गीता ११ । १३)

श्रुतिने भी इस रूपका वर्णन किया है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
(मुण्डक० २ । १ । ४)

यही विश्वरूप भगवान्‌ने नारदको दिखाया था ।

मु०—वहाँ तो रूप दिखाकर भगवान्‌ने नारदजीसे कहा था—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥
(महा० शान्ति०)

सो कैसे !

गु०—यह तो ठीक ही है भगवान्‌का वास्तविक रूप तो ज्ञानचक्षुसे ही दीखता है—

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म ।

इसी दृष्टिका भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके प्रथम श्लोकसे षष्ठ श्लोकतक वर्णन किया है ।

मु०—इस ज्ञानचक्षुसे किसीने रूप देखा भी ?

गु०—जो भगवत्कृपापात्र हुआ उसीने, अरे एकने ? अनेकोंने देखा । इस अवतारमें तो इन दृष्टिवालोंकी कोई गणना ही नहीं है ।

देखो जन्म होते ही माता देवकीने देखा—

रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।

सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥
नष्टे लोके द्विपरार्द्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥

(भाग० १० । ३ । २४-२५)

कुन्तीने देखा—

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥
न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥
जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥

(भागवत १ । ८ । २८—३०)

गोपियोंने देखा—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥

(भागवत १० । २९ । ३१)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

(भा० १० । ३१ । ४)

मु०—(कुछ रुककर हाथ जोड़कर) भगवन् ! क्षमा कीजिये । शुकदेव, नारदादि आत्मज्ञानी मुनियोंका नाम न लेकर आप सबसे प्रथम इन गोपियोंका नाम गिना रहे हैं । इनके न द्विजातिसंस्कार हुए हैं, न गुरुकुलमें वास, न सत्संग, न वेदादिका अध्ययन । इनको भगवान्‌के उस रूपका कैसे साक्षात्कार हुआ ? (गिड़गिड़ाकर चरण पकड़कर) भगवन् ! मुझे बतलाइये ये गोपियाँ थीं कौन ? इन्होंने कौन-से साधन किये ? और कैसे भगवत्-कृपापात्र बन गयीं ।

गु०—मुकुन्द ! अभी तुमको, मैं ब्राह्मण हूँ, तपस्वी हूँ, विद्वान् हूँ एवं त्यागी हूँ यह अहङ्कार है । तुम अपनेको बड़ा धर्मात्मा समझते हो परन्तु पाप-पुण्यकी व्याख्या करना अति कठिन है । देखो, विद्वान् लोग 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' यह कहकर इस विषयमें मौन धारण करते हैं । जो लोग श्रेष्ठ कर्म करते हुए संसारमें यशोभाजन होते हैं, सम्भव है जैसा लोग समझते हैं वैसा ही उन कर्मोंका श्रेष्ठ फल हो । सम्भव है उससे भी कहीं उत्कृष्ट हो । सम्भव है कुछ फल न हो । सम्भव है प्रत्युत निकृष्ट फल हो । इसी प्रकार जो प्रत्यक्ष पापकर्म करते प्रतीत होते हैं उन कर्मोंसे उनको पाप होगा या पुण्य, उनका उत्कृष्ट फल होगा या निकृष्ट या कुछ न होगा । यह कहना कठिन है कि किन संस्कारोंको लेकर कर्म हो रहा है और कर्मके पश्चात् अन्तःकरण निर्मल हुआ या मलिन, इस कर्मसे लोगोंके अन्तःकरणपर क्या प्रभाव पड़ा ? उनका वास्तविक उपकार हुआ या अपकार यह कहना असम्भव है । जो लोग विचारशून्य हैं उनके शुभ कर्मोंसे भी जैसा फल होना चाहिये वैसा नहीं होता । देखो भगवान् क्या कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥

(भागवत ३ । २९ । २१—२७)

जो कर्म बीजरूप हैं, जिनसे एक अथवा अनेक जन्म होते हैं वे कैसे ही पुण्यप्रद क्यों न हों बन्धनके

ही हेतु हैं। पुण्यभोगके समय अनेक पाप होने सम्भव हैं जिनसे पुनः निकृष्ट गति अवश्यम्भावी है। जो कर्म फलस्वरूप हैं, देखनेमें चाहे पापप्रद ही क्यों न मालूम पड़ें यदि उनसे दूसरे जन्म नहीं होते हैं तो उनको पापप्रद कैसे कह सकते हैं? भागवतमें कहा है—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥
(भाग० ११।३।४३)

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥
(भाग० ११।१९।४५)

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥
(भाग० ११।२८।१)

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥
(भाग० ११।११।१)

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥
(भाग० ११।११।१८)

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥
(भाग० ११।१४।१६, १७)

अभी तो तुम्हारी स्थूल दृष्टि है। इस अवस्थामें तुम गोपियोंके माहात्म्यको कैसे जान सकते हो। उपनिषद् पढ़े हैं पर उनके तत्त्वकी ओर दृष्टि नहीं दी। देखो, उपनिषदोंकी ओर ध्यान दो—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
(कठ० १।२।२२)

अरे! तुम नारदको उत्तम समझते हो परन्तु '*यथा व्रजगोपिकानाम्*' (नारदसू० २१) नारदसूत्रके इस सूत्रपर श्रद्धा नहीं करते और शुकदेवके प्रति आदर करते हुए भी उनके इस वाक्य—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

—पर श्रद्धा नहीं करते हो। गोपियोंकी महिमा समझनेके लिये इन अशुद्ध एवं अन्नमय देह और इन्द्रियों तथा वासनामय अन्तःकरणको तिलाञ्जलि दे देनी होगी। फिर यदि कृपासिन्धु भगवान् कृपापूर्वक प्रेममय अन्तःकरण प्रदान करें और फिर वह उस आनन्दघन भगवान्के चरणकमलोंमें सर्वतोभावेन अर्पित किया जाय और उस अन्तःकरणमें प्रेममय इन्द्रियाँ और शरीर नूतन उत्पन्न हों और प्रेममय जगत्में विहरण करें तब गोपियोंकी महिमा जाननेका सामर्थ्य प्राप्त हो तो हो!

गुरुजीकी व्याख्या सुनकर तीनों आनन्दमें निमग्न हो गये बहुत देरतक चित्रवत् निश्चेष्ट-से एक प्रकारकी समाधिका अनुभव करने लगे। पश्चात् माधवने विचारा कि मेरी शङ्का तो ज्यों-की-त्यों बनी हुई है उसका तो मुकुन्दने कोई उल्लेख ही नहीं किया। अस्तु, माधव अञ्जलि बाँधकर सिर झुकाते हुए जिज्ञासुभाव प्रकट करता है।

गु०—वत्स माधव! क्या कुछ पूछना चाहते हो?

मा०—(अति विनयसे) महाराज! आपके मुखारविन्दसे स्त्रीसमुचित सखि शब्द सुनकर····।

गु०—(गद्गद होकर) भाई! बड़ी रहस्यमय बात पूछते हो। अच्छा सुनो।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।

मुकुन्द एवं मोहन भी सिर ऊँचा कर लेते हैं। स्त्री अर्थात् भोग्य, पुरुष अर्थात् भोक्ता!

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(गीता ७।५)

भोक्ता तो केवल कृष्ण भगवान् ही हैं और सब चराचर भोग्य हैं, जबतक अपनेमें भोग्यदृष्टि अच्छी

प्रकारसे न हो जाय तबतक उस भोक्ताकी दृष्टि होना असम्भव है । जैसे पतिव्रता स्त्रीकी अहोरात्रिचर्या पतिके लिये होती है । उसका स्वार्थ केवल पतिकी प्रसन्नता मात्र है । इसी प्रकार इस भावनावाले भक्तकी अहोरात्रिचर्या भगवान्‌के लिये ही होती है । उनकी शरीरस्थिति भी भगवान्‌की सेवाके लिये ही होती है, उनके प्रत्येक संकल्प भगवदर्थ ही होते हैं ।

गुरुजीके इस परम पुनीत उपदेशने उन तीनोंके हृदयमें रासायनिक चमत्कार पैदा कर दिया । उनका कृष्णविषयक सन्देह सदाके लिये विदा हो गया । मायामानव, आनन्दकन्द, श्रीकृष्णचन्द्रकी नाना बाललीलाएँ उनके दृष्टिगोचर होने लगीं । वे उस नटनागरको कभी विलोलालक बालकके रूपमें माता यशोदाकी गोदमें विश्वरूप दिखाते हुए, कभी इस स्वल्पावस्थामें महा अन्यायी आततायी अघासुर, बकासुर, प्रलम्बासुर, कालिय, केशि, कंसादिका संहार करते हुए, कभी विमल कालिन्दीके कूलमें ग्वालबालोंके साथ बालकेलि करते हुए, कभी गोकुलके मध्यमें मृदुल वंशीनाद करते हुए, कभी यमलार्जुनका उद्धार करते हुए, कभी व्रजमें माखन चुराकर कुहराम मचाते हुए, कभी द्रुपदनन्दिनीकी लाजरक्षाके हेतु अपरिमित वस्त्र प्रदान करते हुए, कभी योधाओंके बीचमें न्यायान्यायका निर्णय करते हुए, कभी धर्मके तत्त्वका उपदेश करते हुए, कभी पेचीली राजनैतिक उलझनोंको सुलझाते हुए, कभी महर्षियोंसे भी दुर्वच तत्त्वज्ञानका आदेश करते हुए और कभी भूभार संहार करते हुए देखने लगे । इस अमन्द आनन्दमें निमग्न होकर उन्हें स्वयं गुरुजीकी पूर्वावस्थाका अनुभव होने लगा । भगवद्भक्ति पीयूषपारावारके प्रखर पूरमें आकण्ठमग्न उन लोगोंका गुरुजीकी पूर्वावस्थाके विषयमें प्रश्न-कौतूहल बिल्कुल शान्त हो गया । उस समय उनकी एकाग्रता एवं निश्चलता इतनी बढ़ गयी थी कि भावुकजनके लिये भी यह जान लेना सरल नहीं था कि ये प्रस्तर मूर्तियाँ हैं या सजीव मानव ! उनका मानसमधुप चिरकालतक एकतानतासे भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें प्रमोदमकरन्दका आस्वादन करता रहा । अन्तमें मुकुन्दके मुँहसे यकायक निकला अवश्य 'वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं* ।'

हरिनाम भजो !

(लेखक—श्रीलालकुँअरिजी, राजमाता नीमाजराज)

(राग आसावरी)

हरिनाम भजो मन मेरा, क्यों बृथा फिरावत फेरा ॥टेक॥
झूठे जगसे प्रीत लगाकर, करता मेरा मेरा ।
मात पिता सुत बान्धव नारी, कोइ नहीं है तेरा ॥
इस जगमें स्वारथके नाते, किसको जानत नेरा ।
हरि सम जगमें कोइ न तेरो, मेटे जमका फेरा ॥
मोह भुलाना कदर न जाने, साँचा नाम न हेरा ।
बिरथा जगके काज पियारे, धंधा करे घनेरा ॥
जगके जाल छोड़कर सारे, रहो नामसे नेरा ।
'लाल' भरोसे हरिचरणोंके, छूटे बन्धन मेरा ॥

* इसके लेखक हमारे एक बड़े प्रेमी बन्धु हैं जो विषयी पुरुषोंकी सम्पत्ति लक्ष्मीके साथ ही विद्वानोंकी सम्पत्ति सरस्वती और सन्तोंकी सम्पत्ति प्रज्ञा-भक्ति आदिसे सम्पन्न होनेपर भी अपनी अत्यधिक नम्रताके कारण अपना नाम प्रकाशित न करनेके लिये हमसे वचन ले चुके हैं ।

—सम्पादक

महर्षि श्रीवाल्मीकिजी

उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भे ब्रह्म समाना॥ (रामा०)

वाल्मीकि मुनि पहले एक बड़े भारी डाकू थे। मुसाफिरोंको लूटकर अपना और परिवारका पालन करते थे। एक समय देवर्षि नारदजी जा रहे थे, लुटेरेने उनपर हमला किया। इसपर नारदजीने उससे कहा, 'तू यात्रियोंको क्यों लूटता है? मनुष्यको लूटना और उनकी हत्या करना महापाप है।' उसने कहा 'इससे मैं अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करता हूँ।' मुनि बोले, 'तब तो तेरे कुटुम्बी इस पापमें भी भागी होंगे?' उसने कहा 'अवश्य भागी हैं, लूटनेका माल खाते हैं तो क्या पापमें भागी नहीं होंगे?' देवर्षिने कहा, 'भाई! तू भूलता है। जिनके लिये तू रात-दिन पाप करता है वे केवल स्वार्थके सम्बन्धी हैं, तेरे पापसे उनका कोई सरोकार नहीं, यदि तू इस बातको नहीं मानता तो घर जा और उनसे पूछकर निश्चय कर ले।' डाकूने समझा कि मुसाफिर मुझे धोखा देकर भागना चाहता है। उसने कहा, 'मैं तेरी बातोंमें नहीं आता, यों तुझे भागने नहीं दूँगा।' ऋषिने कहा, 'भाई! मैं भागना नहीं चाहता, तुझे विश्वास नहीं है तो मुझे पेड़में बाँधकर तू घर जा।' ऋषिके क्षणभरके सत्सङ्ग और दिव्य वचनोंका उसके मनपर कुछ विलक्षण प्रभाव पड़ा, उसने उनको विश्वासकर एक पेड़में बाँध दिया और अपनी शङ्का मिटानेको उसी समय घर गया।

जाते ही उसने सबसे पहले ऋषिके कथनानुसार पितासे पूछा—'पिताजी! मैं आपकी सेवाके लिये लोगोंको लूटता-मारता हूँ, इस बातका आपको पता ही है। इस पापमें आपका हिस्सा है न?' पिताने कहा, 'तू ऐसा पाप क्यों करता है? मैंने तुझसे कब खून और डकैती करनेको कहा था, हमें अन्न देना तेरा कर्तव्य है सो तू देता है। पाप-पुण्यसे हमें क्या मतलब? तेरा पाप-पुण्य तू जाने।' माताने कहा, 'बेटा! तेरे पापमें हम हिस्सा क्यों बटावें? तू अच्छी राहसे धन क्यों नहीं कमाता?' इसके बाद पत्नीसे पूछा तो वह कहने लगी 'आप पति हैं, मेरा पालन-पोषण करना आपका कर्तव्य है, पापमें मैं क्यों हिस्सा बटाऊँ?'

अब उसे चेत हुआ, वह सोचने लगा कि मैंने बड़ा बुरा किया, जिस कुटुम्बके भरणपोषणके लिये दिनरात पापमें लिप्त रहा वे कोई भी पापमें हिस्सेदार नहीं। जगत्के लोगो! सोचो! हम सबका यही हाल है। वाल्मीकि व्याध खुली डकैती करता था, हम सभ्यताकी आड़में करते हैं। आज हम पापकी कुछ भी परवा नहीं करते, परन्तु जब इसका फल भोगनेका समय आवेगा तब बड़ी बुरी दशा होगी!

लुटेरा पश्चात्ताप करता हुआ वहाँसे दौड़ा आया और दूरसे ही नारदजीको प्रणामकर तुरन्त उनके बन्धन खोल दिये और चरणोंमें पड़कर कहने लगा, 'मैंने बड़े पाप किये हैं, मेरा उद्धार कीजिये। पश्चात्तापकी अग्निसे मेरा हृदय धधक रहा है, महाराज! मुझे पापोंसे छुटकारा और शान्ति मिले, ऐसा उपाय कीजिये।' ऋषिने कहा, 'भाई! तू देख चुका, कुटुम्बका कोई भी मनुष्य विपत्तिमें तेरे साथ नहीं है अतएव इस मोहको त्यागकर भगवान्का भजन कर। पापकर्म बिल्कुल छोड़ दे। घरद्वार, धन-दौलतका भ्रम मिटाकर तू उस परमात्मासे प्रेम कर जो सदा सबके साथ रहता है और जो किसी भी हालतमें कुटुम्ब-परिवार सबके द्वारा त्यागे जानेपर भी हमारा त्याग नहीं करता। उससे प्रेम करनेवालेका कभी पतन नहीं होता।'

उसने कहा, 'महाराज! पाप तो आजसे छोड़ दिये, परन्तु मुझे भजन करना नहीं आता।' मुनिने कहा 'राममन्त्रका अखण्ड जप कर' वह बोला 'मुझसे इस मन्त्रका निरन्तर उच्चारण नहीं होगा, मैंने तो सारी
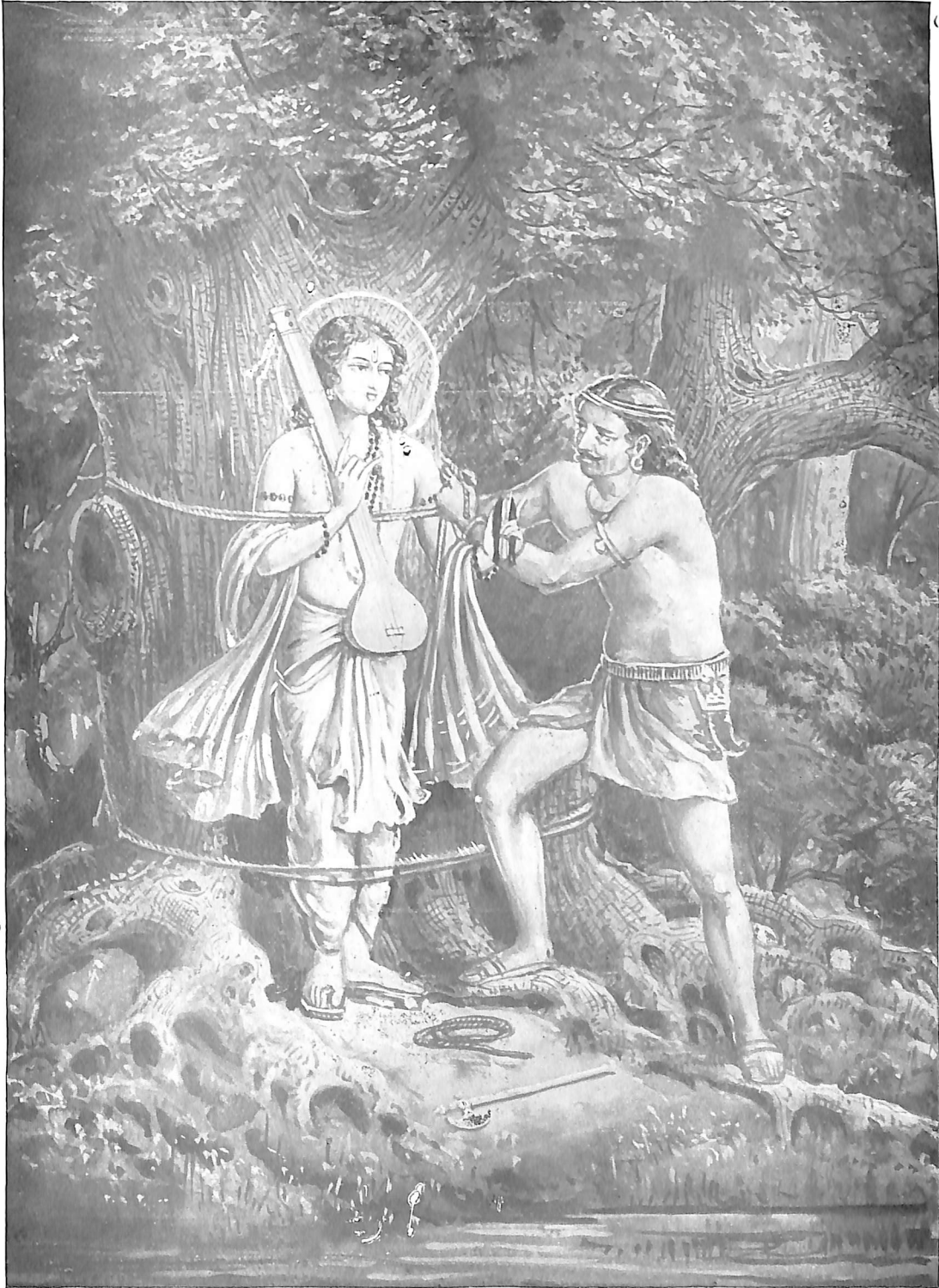
देवर्षि नारदको व्याध (वाल्मीकि) बाँध रहा है।

व्याधसे महामुनि वाल्मीकि

करि केहरि कपि कोल कुरंगा । विगत बैर बिहरहिं इक संगा ॥

उग्र 'मरो मारो' पुकारा है । मुनि बोले, 'अच्छा ! "मरा" मन्त्रका जप कर, इसीसे 'राम' हो जायगा ।'

व्याध सब कुछ छोड़कर वहीं बैठ गया और तन्मय होकर भजन करने लगा । भजनकी तल्लीनतामें उसे किसी बातका पता नहीं रहा, शरीरपर मिट्टी जम गयी और उसमें चींटियोंने अपने बिल बना लिये । अनेक वर्षों बाद उसने यह दिव्यवाणी सुनी कि 'ऋषि ! उठो, जागृत होओ !' उसने उत्तर दिया, 'मैं तो लुटेरा हूँ ऋषि नहीं ।' उसको फिर सुनायी दिया 'आप डाकू नहीं रहे, अब तो आप महामुनि हैं, आपके समस्त पाप-कर्मोंका नाश हो गया है । वल्मीकमेंसे निकलने के कारण अब आप वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध होंगे ।' इस तरह साधुसंग और नामके प्रतापसे खूनी डाकू महामुनीन्द्र वाल्मीकि हो गये ।

शठ सुधरहिं सत संगत पाई । पारस परसि कुधातु सुहाई ॥

इसके बाद भगवान् ब्रह्मा और नारदजीके अनुरोधसे आपने रामायणकी रचना की । किसी व्याधके द्वारा एक क्रौंच पक्षीकी मृत्युपर क्रौंचस्त्रीके करुण रुदनको सुनकर वाल्मीकि मुनिका मन क्रोध और दयासे भर गया और उसी आवेशमें उनके मुँहसे एक श्लोक निकला—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

(वाल्मीकिरामायण १ । २ । १५)

जगत्में यही पहला श्लोक हुआ, इसीसे मुनि 'आदिकवि' कहलाये ।

इनका आश्रम बड़ा पवित्र था, भगवान् श्रीराम वन गये थे तब इनके आश्रममें पधारे थे । सीताजी इन्हींके ही आश्रममें रही थीं । लव-कुशने इनके आश्रममें ही जन्म लेकर वहीं सब प्रकारकी शिक्षा पायी और रामायणका गान सीखा था । इनके आश्रममें हिंसक जन्तु भी परस्परमें वैर त्यागकर रहते थे ।

वाल्मीकिरामायण हिन्दुओंका परम पवित्र प्रामाणिक ऐतिहासिक और धार्मिक ग्रन्थ है ।

भक्त श्रीधर

(लेखक—परलोकगत श्रीमध्वगौड़ेश्वराचार्य मधुसूदनजी गोस्वामी सार्वभौम *)

गौड़ देश (बंगाल)में पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर नवद्वीप नामक एक नगर है । विद्या और शास्त्राध्ययनके लिये यह अत्यन्त प्रसिद्ध है । यहाँ न्याय और वेदान्तके दिग्गज पण्डित निवास करते हैं । अबसे ४९२ वर्ष पहलेकी बात है, वहाँ श्रीधर नामक एक बड़ा गरीब निर्धन ब्राह्मण रहता था, संसारमें गरीबका आदर कौन करता है ? गरीबको दान ही कौन देता है ? धनियोंके यहाँ तो धूर्त ढोंगी और खुशामदियोंका ही आदर होता है, वहाँ सीधे सादे गरीबका प्रवेश कहाँ ? इस गरीब ब्राह्मणकी तो धोती भी मैली और जगह-जगहसे फटी है, सीनेके लिये सूई डोरा कहाँसे आवे ? फटी धोतीमें गाँठें लगी हैं । एक टूटी झोंपड़ी ही इसका राजमहल है, वह भी नगरसे बाहर दूर ! धनियोंके बीचमें गरीबोंकी बस्ती कैसी ?

गरीब ब्राह्मण कहींसे माँग जाँचकर दसपाँच पैसे लाया है उसीसे अपनी जीविका चलाता है । कहींसे एक फटा पुराना टाट ले आया है, पाँच छै पैसेमें एक पुराना केलेका पेड़ ले आता है, उसे काटकर छिलकोंके दोने बना लेता है, कुछ थोड़े निकाल लेता है, गङ्गाजीके रास्तेमें पसार लगाकर बैठता है, पत्ते दोने तोड़ बेचकर नित्य चारपाँच पैसे कमा लेता है; जो मिलता है उसमेंसे आधेके तो फलफूल खरीदकर श्रीभगवान्‌के

* खेदका विषय है कि 'कल्याण'के लिये यह लेख लिखनेके बाद कुछ दिन हुए आपका अकस्मात् परलोकवास हो गया—स०

उद्देश्यसे गङ्गाजीमें चढ़ा देता है, झोंपड़ीमें भगवान्का पूजन कहाँ करे ? गङ्गाको विष्णुपदी मानकर वहीं भगवान्का पूजन करता है । बाकीके आधे पैसोंसे चना चबेना चिउरा लेकर भगवान्के निवेदनकर भोजन कर लेता है । उसकी टूटी झोंपड़ीमें भात राँधनेको बरतन तक नहीं है। पात्रोंमें एक जल पीनेका लोहेका फूटा लोटा मात्र है । ऐसे दीन हीन कङ्गालपर कौन करुणा करे ?

हाँ, पड़ोसियोंका उसपर कोप अवश्य था, क्योंकि वह गरीब होनेपर भी रातभर जोर-जोरसे हरिनाम-कीर्तन किया करता था । उस उच्चकीर्तनकी ध्वनिसे बेचारे पड़ोसियोंको बड़ी पीड़ा होती थी । कोई कहता, 'इस अभागेको पेटभर खानेको तो मिलता नहीं जिससे रातको नींद आवे, पेटकी ज्वालासे दुष्ट रातों जागता और चिल्लाता है ।' कोई कहता, 'इस बदमाशकी झोंपड़ीमें आग लगा दो ।' कोई कहता 'नहीं रे, आग लगानेसे तो हम पड़ोसियोंके घर जलनेका डर है, इसके झोंपड़ेको खोद खादकर गङ्गामें ही क्यों न बहा दो ।' कोई-कोई ईश्वरसे यह प्रार्थना करता कि, 'यह दुष्ट मर जाय तो हम सुखकी नींद सोवें ।' कई लोग श्रीधरके मुँहपर गालियाँ सुनाते और शाप दिया करते। परन्तु श्रीधर इन सब दुर्व्यवहारोंसे कभी विचलित, भीत या दुःखित नहीं होता । वह तो कभी-कभी एक दूसरे ही उत्पातसे भयभीत और पीड़ित हुआ करता था !

* * *

नवद्वीपमें एक बड़ा ही चञ्चलप्रकृति नवयुवक ब्राह्मण रहता था, उसका नाम था निमाई पण्डित ! नवयुवक होनेपर भी नगरके सब पण्डित उससे डरते और उसका सम्मान करते थे । उसका वर्ण सुन्दर गौर था इससे लोग उसे गौराङ्ग या गौर भी कहा करते थे । मातापिताने उसका नाम रक्खा था 'विश्वम्भर' । यह निमाई पण्डित स्वयं जैसा चञ्चल था, वैसे ही इसके विद्यार्थी भी बड़े चञ्चल थे । विद्यार्थी तो प्रायः उत्पाती हुआ ही करते हैं परन्तु इस अध्यापक पण्डित-का चपल होना सोनेमें सुगन्ध-सा था !

जिस दिन निमाई पण्डित श्रीधरकी दूकानके सामनेसे निकलता उस दिन उस बेचारेकी विपत्ति सीमाको पहुँच जाती । निमाईका श्रीधरके यहाँसे कुछ न कुछ लेनेका नियम था, वह जिसका दाम अधेला कहे, निमाई उसका छदाम दे । न दे तब उसे यह अपनी ओर खींचे और वह अपनी ओर, इस तरह दो चार मिनिट खींचातानी जरूर हो । एक दिन निमाई-ने कुछ लेकर कहा—'दो जी ! छदाममें दे दो !'

श्रीधर—नहीं बाबा ! मैं गरीब कमजोर कङ्गाल ब्राह्मण हूँ, मुझपर दया करो !

निमाई—क्या हम ब्राह्मण नहीं हैं, हम क्या दयाके पात्र नहीं हैं ?

श्रीधर—बाबा ! तुम पण्डित हो, धनी हो, मान्य हो । मैं निर्धन, दीन, दयाका पात्र हूँ, दया करो !

निमाई—तू निर्धन नहीं है, तेरे पास बहुत धन है, और लोग नहीं जानते, मैं जानता हूँ !

श्रीधर—बाबा ! पत्ते दोने छोड़ दो, तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ !

निमाई—इतना अभिमान ? मेरे हाथोंसे छीनता है ?

श्रीधर—बाबा ! तुम यों ही ले जाओ, मुझसे झगड़ा न करो; मैं हारा, तुम जीते ।

निमाई—क्या मैं प्रतिग्रही हूँ जो यों ही ले जाऊँ, अच्छा तू नित्य गङ्गापूजन करता है, मैं तेरी गङ्गाका पिता हूँ , मुझे दोने पत्ते कम कीमतपर दे दे !

श्रीधर—(कानोंमें अँगुली डालकर) विष्णु ! विष्णु !! पण्डित तो देवी देवताओंका सम्मान किया करते हैं, तुम पण्डित होकर देवताओंके अपराधसे भी भय नहीं करते ? हरे ! हरे !!

श्रीधरने दोने पत्ते छोड़कर कानोंमें अँगुलियाँ डाली थीं कि निमाई दोने पत्ते लेकर चलता बना । निमाईके

लिये यह कौतुकमय प्रमोद था और बेचारे श्रीधरके लिये महान् विपत्ति !

निमाई श्रीधरका यह झगड़ा प्रायः नित्य ही चला करता ।

* * *

यह बात नगरभरमें फैल गयी कि निमाईने दिग्विजयी पण्डितको पराजित कर दिया । अब नवद्वीपमें निमाईसे बढ़कर कोई पण्डित नहीं है । श्रीधर तो यह सुनते ही सन्न हो गया । "ऐसे पण्डितके प्रतिकूल आचरण करनेका साहस किसको होगा ? मेरी कौन सुनेगा ? मुझपर अब भारी विपत्ति आयी ! नवद्वीप छोड़कर जाऊँ भी कहाँ ? यहाँ टूटी झोंपड़ी तो है, दूसरी जगह तो स्थान भी नहीं मिलेगा । क्या करूँ ? भगवान् उसे सुबुद्धि दे, संभव है इतनी बड़ी प्रतिष्ठा पाकर अब वह चपलता नहीं करेगा ।" श्रीधरका मन इस उधेड़बुनमें लग गया !

निमाई पण्डित गयाजी गये—चले गये ! सब लोगोंका चित्त उदास है । नवद्वीपमें मानो अन्धकार छा गया । सब लोग दिन गिनते हैं, कब निमाई पण्डित लौटेंगे । सबके रहते भी नवद्वीप सूना-सा हो गया !

निमाई पण्डित लौट आये, लौटे तो सही पर अब वह निमाई नहीं रहे । पण्डिताईका सारा अभिमान हवा हो गया, नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहती है, जिसे देखते हैं उसीके गले लिपट कर कहते हैं, 'मेरा जीवन व्यर्थ है, बताओ मेरे प्राणजीवन श्रीकृष्ण कहाँ हैं ? वे कहाँ मिलेंगे बताओ क्या उपाय है ? मेरे प्राण जाते हैं बताओ !' यों कहते-कहते पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, धूलमें लोटने लगते हैं, सोनेका-सा कमनीय कलेवर धूलिधूसरित हो जाता है, आँसुओंकी इकतार धारासे बदनके कपड़े भींग जाते हैं । 'हा ! कृष्ण, हा ! कृष्ण' पुकारते पुकारते मूर्च्छित हो जाते हैं, स्नान-भोजनकी कुछ भी सुधि नहीं है, रात-दिनका कोई ज्ञान नहीं है ।

निमाई पण्डितके इस परिवर्तनका समाचार धीरे धीरे सारे नवद्वीपमें फैल गया । लोग तरह तरहकी चर्चा करने लगे । कोई कहता "रातदिन तर्क-वितर्क और शास्त्रविचार करते रहनेसे वायुका प्रकोप हो गया है ।" दूसरा कहता, "नहीं ! गर्मी चढ़ गयी है !" तीसरा कहता, "भाई आश्चर्य है, मनुष्यकी आँखोंमें इतने आँसू कहाँसे आते हैं ? मनुष्यके शरीरमें यह कम्पन और मूर्च्छा कहाँ ? निमाई साधारण मनुष्य नहीं हैं, कोई महापुरुष है ।" कुछ अपनेको विशेष सयाना समझनेवाले लोग कहते, छोड़ो जी इस अन्धश्रद्धाको, इसके तो मृगीका रोग है रोग !" जितने मुँह उतनी बातें !

निमाई जब मूर्च्छित होकर गिर पड़ते तब मार्गके लोग एकत्र हो जाते और 'हरि बोल हरि बोल' की ध्वनि करने लगते थे, उस ध्वनिसे उनकी मूर्च्छा भंग हो जाती थी । निमाई रास्तेमें चले जा रहे हैं, लड़कोंने कौतुकसे कह दिया 'हरि बोल हरि बोल' बस, निमाई मूर्च्छित होकर गिर पड़े । 'हरि बोल' से ही इनको मूर्च्छा होती और उसीसे फिर चैतन्य होता ! इनका कुन्दनके समान गौरवर्ण तो था ही, हरिनामसे इनकी दशाका परिवर्तन देखकर लोग इन्हें 'गौरहरि' कहने लगे ।

* * *

निमाई परम भक्त हो गये हैं, अब उनमें चपलता नहीं रही है, वह औद्धत्य नहीं है । यह सुनकर श्रीधरको बड़ा आनन्द हुआ । निमाई बड़े सुन्दर हैं, उनके दर्शनसे हृदय तृप्त होता है—नेत्र शीतल होते हैं—प्राण आकृष्ट होते हैं । श्रीधर चाहता है कि मैं भी उनके दर्शन करूँ, पूजन करूँ, पर फिर उनके उत्पातकी आशंकासे रुक जाता है मनका भाव मनहीमें रह जाता है ।

गौरहरिका अनुराग यहाँतक बढ़ा कि अब प्राचीन और नवीन सभी भक्तगण सदा उनके पास रहनेमें अपना सौभाग्य समझते हैं, उनका चरित्र और प्रभाव

देख देखकर अब उनको भक्त-श्रेष्ठ और महापुरुष ही नहीं प्रत्युत साक्षात् ईश्वरका अवतार मानने लगे हैं।

श्रीधर भक्त हैं, इससे वह, 'गौरहरि भगवान् हैं' यह सुनकर वह फूले अङ्गों नहीं समाता। कलिकालमें, पृथ्वीपर, इसी देश और इसी नगरीमें मनुष्य नाट्यमें भगवान्! हम उन्हें देख सकते हैं, छू सकते हैं, बातें कर सकते हैं! आहा! जीवका इससे अधिक सौभाग्य और क्या होगा?

निमाई पहले बड़े तार्किक थे। भक्तमण्डलीको मार्गमें देखकर वे उसे घेर लेते और तर्क-वितर्क किया करते। कभी कभी हँसकर 'सोऽहम्' कह देते, इस अभेदवादसे वैष्णवभक्तोंके मनमें बड़ा कष्ट हुआ करता, लोग पीछा छुड़ाकर भागते। परन्तु अब वे ही सब भक्त सदा सर्वदा इनके साथ रहते हैं, रक्षा करते हैं, चरणस्पर्श करते हैं, और इनकी सेवा करना दुर्लभ लाभ समझते हैं।

गौरहरिकी आज्ञासे श्रीवास पण्डितके प्रांगणमें सब वैष्णवमण्डली एकत्र होकर मृदङ्ग, करताल, शङ्ख, घण्टा, रणसिंगा और तुरही लेकर उच्चस्वरसे तुमुल हरिसंकीर्तन करती है। यह संकीर्तन रातको हुआ करता है। इससे निन्दकों और पाखण्डियोंको एक काम मिल गया, खूब समालोचना होने लगी! देखो, "निमाई पण्डित कैसा अच्छा विद्वान् था, पण्डितोंमें अग्रगण्य था परन्तु जबसे यह गयाजीसे आया है, सब पढ़ना लिखना छोड़कर होहल्ला मचाने और नाचने कूदने आदि निकम्मे कर्म करने लगा है, पता नहीं इसमें इसने क्या लाभ सोचा है। अरे भाई! पहले तो शहरमें एक बूढ़ा ब्राह्मण ही ऐसा था जिसको भूखके कारण रातको नींद नहीं आती इसलिये वह चिचियाया करता था परन्तु यह सब तो नंगे भूखे नहीं हैं! क्या इन्हें भी नींद नहीं आती है जिससे रातभर चिल्लाया करते हैं? न खुद सोते हैं, न मुहल्ले-के दूसरे भले आदमियोंको सोने देते हैं। भाई! हमने सुना है जिनका माथा गरम हो जाता है उन्हें नींद नहीं आती, भला एक दो पागल होते तो दूसरी बात थी परन्तु ये तो सैकड़ोंकी संख्यामें हैं? क्या उन्माद भी छूतकी बीमारी होती है। चलो देखें तो सही, ये रातको क्या पाखण्ड करते हैं, सुना है दरवाजा भी बन्द कर लेते हैं!"

श्रीवास पण्डितके आँगनमें श्रीहरिनाम-संकीर्तनमें गौरहरि ऐश्वर्य प्रकाश करने लगे हैं यह संवाद भी नवद्वीपमें धीरे धीरे फैलने लगा। बेचारे अकिञ्चन श्रीधरके कानतक भी यह समाचार पहुँचा, वह मन-ही-मन मुदित होने लगा। "आहा! मेरा जन्म कैसे शुभ समयमें हुआ है जब कि श्रीभगवान् स्वयं धरातलपर मनुष्योंमें विहार करते हैं। जाऊँ दर्शन तो कर आऊँ! छू न सकूँगा, बोल न सकूँगा तो क्या दूरसे भी देख न सकूँगा? फिर विचारता है, जहाँ श्रीअद्वैत आचार्य और श्रीवास पण्डित-सरीखे महापुरुषोंका समवाय है वहाँ मुझ-जैसे अकिंचनकी पहुँच कहाँ?

* * *

आज श्रीवासके आँगनमें कीर्तन करते करते गौर-हरि आनन्दके आवेशमें मनुष्य नाट्य भूल गये। ऐश्वर्य प्रकाश हो गया! वे ठाकुरजीके मन्दिरमें सिंहासनपर जा बैठे। सहस्र सहस्र सूर्यके सदृश अङ्गोंका प्रकाश हो गया, पर देखनेवालोंकी आँखें चौंधियायीं नहीं। प्रकाश उज्ज्वल शान्त शीतल है। भक्तमण्डली जय जय ध्वनि करने लगी। सबके सब आनन्दमें डूब रहे हैं, रातदिनका पता नहीं है। हम कहाँ हैं, कौन हैं, यह पृथ्वी है या वैकुण्ठ है कुछ ज्ञान नहीं है। प्रभु एक एक भक्तको बुलाते हैं—दर्शन देते हैं-वर देते हैं। भक्तगण अपने अपने उपास्य इष्ट-रूपसे प्रभुके दर्शन कर रहे हैं!

प्रभुने पुकारकर कहा, 'श्रीधर! श्रीधर! श्रीधरको लाओ!' सुनते ही कुछ लोग श्रीधरके घरकी ओर

दौड़े और श्रीधरके पास जाकर बोले—'श्रीधर चलो, श्रीधर चलो, तुमको प्रभुने बुलाया है।' 'प्रभुने बुलाया है' इतना सुनते ही श्रीधर आनन्दसे विह्वल होकर गिर पड़ा, उसके मनमें भावतरङ्गें उमड़ने लगीं—'प्रभुने बुलाया है—जीव सहस्रों वर्ष जप-तप-योग-यज्ञ करके बड़ी कठिनतासे जिसका दर्शन पाते हैं, उसने बुलाया है ? इससे अधिक जीवका और क्या सौभाग्य है ? अहा हा ! जीवको भगवान् बुलाते हैं—ऐसा भी होता है ? मुझे भगवान् बुलाते हैं, मुझ-सरीखे दीनपर यह दया ! भगवान्की मुझपर दृष्टि है—भगवान् मुझे जानते हैं, अरे जानते ही नहीं, बुलाते हैं।' इन सब भावोंने श्रीधरको स्तब्ध कर दिया, उसकी बाहरकी सब इन्द्रियाँ,—उसका सम्पूर्ण ज्ञान लुप्त हो गया ! अब चले कौन ?

दो चार भक्तोंने उसे उठा लिया और ले चले। नगरके लोग देखते हैं कि कुछ मनुष्य एक दरिद्र कङ्गाल वृद्ध ब्राह्मणको उठाये लिये जा रहे हैं, सब आनन्दमें हँसते और नाचते गाते हैं, बीसों लोग पीछे दौड़े जा रहे हैं और सब मतवाले होकर हरिनामकी ध्वनि कर रहे हैं। नगरके लोग कहने लगे, 'अरे, बेचारे बूढ़े ब्राह्मणको गंगा-प्राप्ति हो गयी। हाय ! गंगाका मार्ग छोड़कर ये लोग इस मृतकको नगरमें कहाँ लिये जा रहे हैं ? इसको एक कपड़ेसे भी तो नहीं लपेटा। पर ये लोग हँसते-हँसते जा रहे हैं। क्या बात है, पागल तो नहीं हो गये ?'

श्रीधरको ले जानेवाली भक्तमण्डलीको नगरके लोगोंके कहने-सुननेकी कुछ भी परवा नहीं है, वे अपनी धुनमें मस्त हैं, आनन्दसे नाचते जा रहे हैं—प्रभुकी आज्ञा पालन कर रहे हैं।

उन्होंने श्रीधरको मूर्च्छित दशामें ही ले जाकर श्रीवास पण्डितके आँगनमें सुला दिया। सब भक्त उसे घेरकर खड़े हैं और देख रहे हैं !

* * *

गौरहरिने मेघगम्भीर वाणीसे कहा, 'श्रीधर !' इस वाणीने श्रीधरके हृदयमें बिजलीका काम किया, उसने आँखें खोलीं, वह क्या देखता है कि, 'मृदुमन्दगतिसे यमुनाजी हिलोरें ले रही हैं। पुष्पित द्रुमलताओंपर पक्षी कलरव कर रहे हैं, भ्रमर गुंजार करते हैं, कदम्बतरुमूलमें नवजलधर गोपकिशोर पीताम्बर मयूर-मुकुट-वनमालाविभूषित त्रिभङ्ग ललित खड़े वंशी बजा रहे हैं। गोपबालक इतस्ततः क्रीड़ा कर रहे हैं। गौएँ चर रही हैं, और बछड़े उछल रहे हैं' श्रीधरने मन-ही-मन कहा, 'ऐं ! यह क्या ? मैं कहाँ हूँ ? स्वप्न देख रहा हूँ ? नहीं, मैं तो जागता हूँ, इतनी दूरसे मैं यहाँ कैसे और किस मार्गसे आ गया ?'

श्रीधर यह सोच ही रहा था कि फिर उसके कानोंमें यह आवाज़ पड़ी, 'श्रीधर ! मुझे देख, मैंने तेरे दोने और पत्तोंमें बहुत बार भोजन किया है, तैंने मुझे बहुत दोने पत्ते दिये हैं।' श्रीधर विचार करता है—'कैसे दोने पत्ते ? किसे दिये ? यह है क्या खेल ?' प्रभुने हँसकर कहा,—'नहीं नहीं ! तैंने नहीं दिये, मैं तो छीनकर लेता था। तू समझता था कि मैं अन्याय कर रहा हूँ, परन्तु प्यारे ! मैं भक्तके धनको अपना धन समझता हूँ इसीसे कभी छीन लेता हूँ, अरे—कभी कभी तो चुरा भी लेता हूँ, पर अभक्तका दिया हुआ तो कुछ भी नहीं लेता !'

अब श्रीधरको स्मरण आया—'अहा ! ये निमाई पण्डित हैं। हा ! मैंने कौड़ियोंके लिये भगवान्से झगड़ा किया। मेरे जीवनको धिक्कार है ! मैं घोर अपराधी हूँ। जिनके उद्देश्यसे ऋषि मुनिगण वेदमन्त्रोंसे अग्निमें हवनकर अपने जीवनको कृतार्थ मानते हैं वह साक्षात् हरि मेरे दोने-पत्ते अपने हाथोंसे ग्रहण करते थे और मैं उनसे छीनाझपटी करता था। मेरे सिरपर वज्र क्यों न गिर पड़ा ? अब इसका क्या प्रायश्चित्त है ? प्रायश्चित्त कहाँ ? प्रायश्चित्त तो पापका

होता है, अपराधका प्रायश्चित्त कहाँ है? अग्निसे जले-का प्रधान उपाय अग्नि ही है, भगवदपराधकी शान्ति भगवान् ही हैं। चलूँ, चरणोंपर गिरकर उनकी ही शरण लूँ। अरे, अपराधीको चरणस्पर्शका अधिकार कहाँ? यह विचारते-विचारते श्रीधर फिर मूर्च्छित हो गया!

* * *

प्रभु भक्तका सन्ताप जानकर फिर मेघगम्भीर स्वरसे बोले, 'श्रीधर, इधर आ!' श्रीधर उठा और मन्त्रमुग्धकी तरह डगमगाता हुआ चला। हर्ष विषादके मिलनेसे जो सुख होता है उसको वही जानते हैं जिनको कभी वह हुआ है। यह है विषामृतका एकत्र मिलन—प्रतिक्षण जीवन और मरण!

प्रभुने अपना दहिना चरण बढ़ाकर श्रीधरके मस्तकपर रख दिया और कहा, 'श्रीधर! माँग, क्या माँगता है—तू दरिद्रतासे पीड़ित है, कपड़ा सीनेको सूईतक तुझे नहीं जुटती। तेरी फटी धोतीमें गाँठें लगी हैं और उसमेंसे धूल झड़ती है, तेरे छप्परपर फूस नहीं है, आज धन, राज्य, सम्पद् जो चाहे सो ले ले!'

अब श्रीधरका कष्ट मिटा, उसे विश्वास हो गया कि मेरा ऐसा घोर अपराध भी प्रभुने ग्रहण नहीं किया, ऐसी कृपा! अहा! आनन्द! आनन्द!!

भृत्यस्य पश्यति गुरूनपि नापराधान्
सेवां मनागपि कृतां बहुधाभ्युपैति॥

पर मैंने सेवा कहाँ की है? मैं तो इनके हाथोंसे छीन लेता था। तिसपर यह कृपा! अहा! विचार तो बड़े-बड़े उठते हैं परन्तु प्रभुके चरणस्पर्शसे जो आनन्दका समुद्र उमड़ा उसमें सब कुछ डूब गया, केवल एक आनन्द ही शेष रह गया।

श्रीधरको फिर आनन्द-मूर्च्छा हो गयी! बहिरिन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार सबका एक साथ उस आनन्दमें लय हो गया। इस प्रेमानन्दके आगे ब्रह्मानन्द भी तुच्छ है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेषश्चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिरसाम्भोधेः परमाणुतलामपि॥

श्रीज्ञानदेव महाराज

(लेखक—श्रीयुत 'अग्रवाल' बेगूसराय)
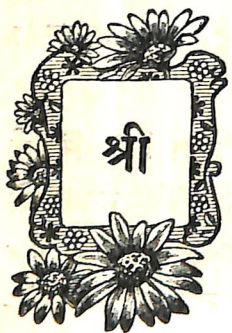
ज्ञानदेवजीका दूसरा नाम ज्ञानेश्वर था। इनके पिताका बिट्ठलपन्त और माताका नाम रुक्माबाई था, संवत् १३८५में दक्षिणके आलन्दी नामक गाँवमें आपका जन्म हुआ था। बिट्ठलपन्त परमात्माके भक्त और वैराग्यवान् पुरुष थे, उनके मनमें संन्यास ग्रहण करनेका विचार था, उन्होंने कई बार इसके लिये अपनी पत्नीसे अनुमति माँगी परन्तु कोई सन्तान न होनेके कारण बुद्धिमती स्त्रीने शास्त्रानुकूल उन्हें सम्मति नहीं दी। बिट्ठलजीको इससे खेद हुआ और वे किसी न किसी बहाने स्त्रीकी सम्मति प्राप्त करनेकी ताकमें लगे रहे, दैवयोगसे एक दिन उनकी साध्वी स्त्री किसी दूसरे विचारमें निमग्न थी इसी अवसरपर पन्तजीने उससे गंगास्नान करने जानेकी अनुमति माँगी, स्त्रीने बिना विचारे, 'आपकी इच्छा हो वहीं जाइये' कह दिया। पन्तजीने इसीको पत्नीकी अनुमति समझा और वे तुरन्त काशी चले गये और वहाँ स्वामी पाद्यतेश्वरजीसे दीक्षा लेकर संन्यास ग्रहण किया। स्वामीके पूछनेपर पन्तजीने कह दिया कि वह स्त्रीकी अनुमति लेकर घरसे निकले हैं।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी तीर्थयात्रा करते हुए आलन्दी ग्राममें आ निकले और एक पीपलके वृक्षके

सिद्धभक्त ज्ञानदेवजी
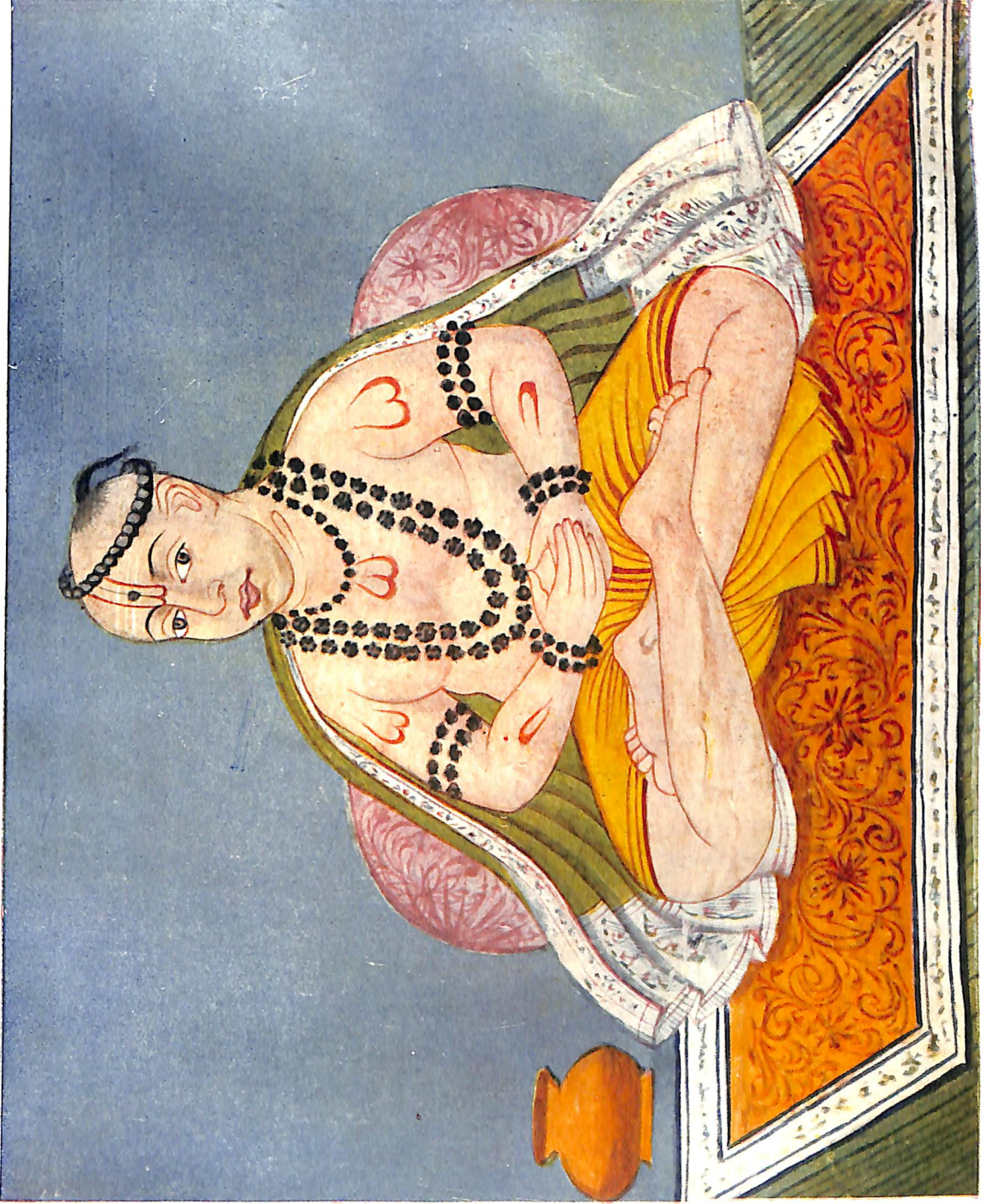
नीचे ठहरे, संयोगवश रुक्माबाई भी वहीं पीपल पूजने आयी थी। उसने साधुको देखकर प्रणाम किया तब स्वामीजीने उसे 'पुत्रवती भव' कहकर आशीर्वाद दिया। इस आशीर्वादको सुनकर वह हँस पड़ी। स्वामीजीने जब हँसनेका कारण पूछा तब उसने अपने पतिके घरसे चले जानेकी बात कहकर उसकी बिना अनुमति संन्यासी हो जानेकी शङ्का प्रकट की। सारा वृत्तान्त सुननेपर स्वामीजीको यह निश्चय हो गया कि उनका नवीन शिष्य विट्ठलपन्त ही इस स्त्रीका स्वामी है। स्वामीजीने रुक्माबाईको सान्त्वना देकर विदा किया और पन्तपर किञ्चित् नाराज होकर उसे पुनः गृहस्थाश्रममें जानेकी आज्ञा दी, यह आज्ञा पन्तजीके लिये बड़ी कठोर और असह्य थी परन्तु गुरुकी आज्ञाको गरीयसी मानकर पन्त उसे स्वीकारकर घर लौट आये।

विट्ठलपन्तके तीन पुत्र और एक कन्या हुई, जिनका नाम क्रमशः निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ताबाई था। महाराष्ट्रमें ये चारों ही संतोंकी प्रधान श्रेणीमें गिने जाते हैं।

पुत्रोंके बड़े होनेपर पिताने इनके उपनयनके लिये ब्राह्मणोंसे आज्ञा माँगी परन्तु ब्राह्मणोंने यह कहकर उपनयन कराना अस्वीकार कर दिया कि जिनका पिता पहले संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ हुआ हो उसके पुत्रोंका शास्त्रानुकूल उपनयन-संस्कार नहीं हो सकता। यह सुनकर पन्तजीने प्रायश्चित्त करना स्वीकार किया तब ब्राह्मणोंने कहा कि प्राणत्यागके सिवा इसका और कोई प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। पन्तने ब्राह्मणोंकी आज्ञा शिरोधार्यकर प्रयाग जाकर पापविनाशिनी भगवती त्रिवेणीको अपना नश्वर शरीर अर्पण कर दिया। सती रुक्माबाईने भी स्वामीका पदानुसरण किया!

इस समय निवृत्तिनाथ आदिकी अवस्था बहुत छोटी थी। प्रयागसे काशी लौटते समय कुटुम्बियोंने उनके पास जो कुछ था सो सभी छीन लिया। भिक्षावृत्तिके सिवा उनके पास उदरपोषणका अन्य कोई साधन नहीं रह गया! एक दिन निवृत्तिनाथ रास्ता भूल गये, भटकते-भटकते वे अञ्जनी नामक पहाड़की एक गुफामें पहुँचे। सौभाग्यवश मुनि श्रीगैनीनाथजीके उन्हें दर्शन हुए। निवृत्तिनाथ उनके चरणोंपर गिर पड़े। मुनिने उनको परम अधिकारी जानकर ब्रह्मोपदेश देकर विदा किया। निवृत्तिनाथने घर आकर वही उपदेश अपने दोनों भाई और बहिनको देकर उन्हें कृतार्थ किया।

कहना नहीं होगा कि वे सब जातिबाहर तो कर ही दिये गये थे। कुछ समय बाद चारों भाई-बहिनोंने ब्राह्मणोंसे पुनः जातिमें लेनेके लिये कहा इसपर ब्राह्मणोंने सर्वसम्मतिसे निश्चय करके उनसे कहा कि यदि तुम 'पैठण' जाकर वहाँसे शुद्धिपत्र ला सको तो तुम्हें जातिमें ले सकते हैं। चारों भाई-बहिन 'पैठण' गये और वहाँ एक ब्राह्मणके घर ठहरे। ब्राह्मणोंकी एक विराट् सभा हुई, अध्यक्षने कहा कि 'यद्यपि इसका कोई प्रायश्चित्त तो नहीं है परन्तु यदि ये परमात्माकी अनन्य भक्ति करें और सर्वभूतोंमें समभाव रक्खें तो इस प्रायश्चित्तसे ये जातिमें लिये जा सकते हैं।' इस व्यवस्थासे चारों भाई-बहिन बड़े प्रसन्न हुए। फिर ज्ञानदेवने वहाँ कुछ चमत्कार भी दिखाये। परन्तु वहाँके ब्राह्मणोंको इससे सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने कहा कि 'संन्यासीके छोकरोंका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता, जिस ब्राह्मणने इन लोगोंको घरमें रक्खा है वह भी जातिबाहर कर दिया जाय। कल उसके बापके श्राद्धमें कोई ब्राह्मण भोजन करने न जाय' यही हुआ।

अन्तमें ज्ञानेश्वरजीके तपोबलसे उस ब्राह्मणके यहाँ श्राद्धकी रसोई जीमने पैठणके ब्राह्मणोंके पूर्वज शरीर धारणकर आ गये। इस चमत्कारको देखकर ब्राह्मण शान्त हो गये और उन्होंने ज्ञानेश्वरजीकी स्तुति की। जिसके उत्तरमें ज्ञानेश्वरजीने जो उपदेश दिया था उसका सार यह है—

'अनन्त जन्मोंके पुण्यबलसे जीभपर रामनाम आता है, जिस कुलमें रामनामका उच्चारण होता है वह कुल

धन्य है । रामनाम कहते ही अनेक जन्मोंके दोष नष्ट हो जाते हैं । रामनामसे कोटि कुलोंका उद्धार हुआ है । राम-कृष्णका स्मरण करनेवाले धन्य हैं । आधी घड़ीके लिये भी रामनामको नहीं बिसारना चाहिये । पहले कुछ तप किया होगा तभी रामनाम मुखमें आवेगा । यह नाम अमृतसे भी मधुर है, कल्पतरुसे भी उदार है । नामके प्रतापसे ही प्रह्लादको भगवान्‌ने अपनी गोदमें बैठाया, ध्रुव और उपमन्युने भी वही नाम गाया, अजामिल पवित्र हो गया, लुटेरा व्याध वाल्मीकि मुनि बन गया । अतएव कहना यही है कि भगवन्नामरूप अश्वारोहण करो, भजनरूपी तलवार पकड़ो, उससे काम-क्रोधादिके मस्तक छेदनकर सब प्राणियोंमें समानता रक्खो, और अविवेकरूपी दुष्ट राजाको मारकर क्षमा-दयारूप नगरीका उद्धार करो ।' आपकी ज्ञानेश्वरी गीता विख्यात है । इसके सिवा 'अमृतानुभव' नामक एक वेदान्तका और ग्रन्थ लिखा ।

ज्ञानदेवने और भी कई अलौकिक चमत्कार दिखाये । एक बार एक योगी जिनका नाम चांगदेव था ज्ञानदेवसे मिलनेके लिये बाघपर सवार होकर चले । ज्ञानदेवको भी इस बातका पता लग गया । उन्होंने चांगदेवके अहंकारको तोड़ देना ही उचित समझा । इसलिये भाई-बहिन एक दीवारपर जा बैठे और उसे चलनेकी आज्ञा दी । दीवार चलने लगी । यह चमत्कार देख चांगदेवके आश्चर्यका ठिकाना न रहा और उनका सब अहंकार जाता रहा । श्रीज्ञानदेवजी संवत् १४०७ में २२ वर्षकी आयुमें जीवित समाधिस्थ हुए ।

भक्तवर सूरदासजी

भक्तवर सूरदासजीका जन्म संवत् १५४० वि० में दिल्लीके पास सिही नामक गाँवमें हुआ था और मृत्यु संवत् १६२० वि० में पारसोली गाँवमें गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीके सामने हुई । इनके पिताका नाम रामदासजी था । ये सारस्वत ब्राह्मण थे । सूरदासजी जन्मके अन्धे नहीं थे । कहा जाता है कि एक बार वे एक युवतीको देखकर उसपर आसक्त हो गये और नेत्रोंने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीको छोड़कर अस्थि-चर्ममयी स्त्रीके रूपको देखा इसलिये ये नेत्र निकम्मे हो गये, ऐसा समझकर उन्होंने सूइयोंसे अपनी दोनों आँखें फोड़ डालीं । कहते हैं कि एक बार सूरदासजी कुएँमें गिर पड़े, सातवें दिन एक गोपबालकने उन्हें कुएँसे निकाला और प्रसाद खिलाया । सूरदासजी बालककी अमृतभरी वाणी सुन और उसके करका कोमल स्पर्श पाकर यह ताड़ गये कि बालक साक्षात् श्यामसुन्दर हैं । सूरदासजीने उनकी बाँह पकड़ ली, पर वे बाँह छुड़ाकर भाग गये, इसपर उन्होंने यह दोहा पढ़ा--

बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकै मोहिं ।
हिरदै ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहिं ॥

इस घटनाके बाद वे गऊघाट नामक स्थानमें रहने लगे, वहीं गोस्वामी श्रीवल्लभाचार्यके शिष्य हुए और उन्हींके साथ गोकुलमें श्रीनाथजीके मन्दिरमें गये । गोस्वामी विट्ठलनाथजीने इनको पुष्टिमार्गीय आठ महाकवियोंमें सर्वोच्च स्थान दिया था । सूरदासजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त, व्रजसाहित्याकाशके सूर्य और सिद्ध कवि थे । भक्तिपक्षमें इनको उद्धवका अवतार मानते हैं । आपने कई ग्रन्थोंकी रचना की जिनमें 'सूरसागर' प्रधान है । सूरसागरके सवा लाख पद कहे जाते हैं परन्तु मिलते बहुत थोड़े हैं । आपकी रचनामें तो अमृत भरा पड़ा है । भगवत्-प्रेमसे छलकती हुई सूरकी कविताका जो प्रेमी रसिकजन आनन्द लूटते हैं वे धन्य हैं !—शरीर छोड़ते समय सूरदासजीने प्रेमगद्गदकण्ठसे यह पद गाया था—

खंजन नैन रूप रस माते ।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ॥
चलि चलि जात निकट स्रवननिके, उलटि पलटि ताटंक फँदाते ।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते ॥

—रामदास गुप्त

शरणागत भक्त सूरदासजी
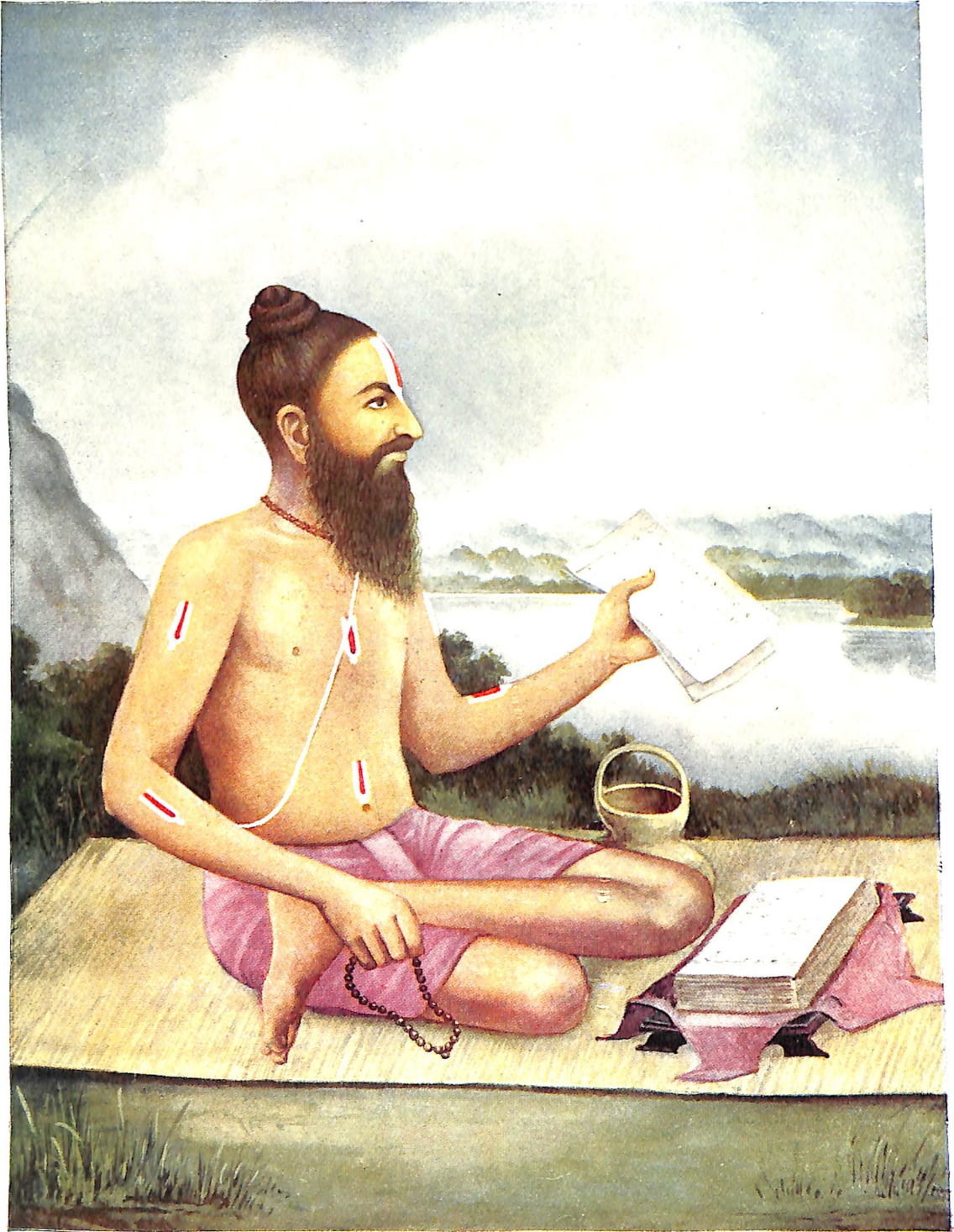
गोस्वामी तुलसीदासजी

ईश्वरभक्तकी पहचान

(लेखक—पं० श्रीघासीरामजी शर्मा—सम्पादक 'पारीकप्रकाश' देहली)

जिस प्रकार ईश्वरभक्त होना कठिन है उसी प्रकार ईश्वरभक्तको जानना और समझना भी कठिन है। स्वयं सीधे-सादे ईश्वरभक्त भी इस बातमें बहुत धोका खाया करते हैं। स्त्री, बच्चों और बेपढ़े या कम पढ़े मनुष्योंके लिये ईश्वरभक्तका परखना विशेष कठिन है।

बहुतसे मूर्ख मनुष्य पागल, छली, कपटी, दम्भी, पाखण्डी, मायावी, मतलबी और दुष्ट पुरुषोंको ही उनके बाहरका भेष देखकर ईश्वरभक्त मान बैठते हैं। यदि सीता महारानीजी रावणका कपटवेश पहले जान लेतीं तो शायद उससे न हरी जातीं और इसी प्रकार छोटी अवस्थावाले लड़के भी दुष्ट पुरुषोंका कपटरूप पहलेसे जान लें तो उनके मायाजालसे बच सकते हैं।

साधारण रीतिसे जो पुरुष सत्यवादी, इन्द्रिय-निग्रही, ब्रह्मचर्यव्रती, स्वार्थत्यागी, दयालु, परोपकारी, क्षमाशील, ज्ञानी, विनयी, सेवकभाव और निर्वैर होता है उसे ईश्वरभक्त समझना चाहिये। बहुतसे मनुष्य बाहरसे तिलक-माला धारण करके मुखसे ईश्वरनाम लेते हुए नजर आते हैं, लेकिन उनमें बहुतोंके भीतरके भाव मलिन होते हैं। जो लोग ऊपरसे सादा चालचलन रखते हैं, सत्य और इन्द्रियदमन आदि अच्छे कार्य करते हैं उनको ईश्वरका प्रेम होता है। वे ही ईश्वरके सच्चे भक्त हैं। दुष्ट लोग भीतरके मलिन भाव छिपानेके लिये ऊपरसे ईश्वरभक्तिका स्वाँग दिखाया करते हैं इसलिये उन्हें सच्चे ईश्वरभक्त न समझना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १२ श्लोक १३-१४ में भगवान्ने भक्तकी पहचान बतलायी है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

वह पुरुष जो सब जीवोंसे द्वेषभाव न रक्खे, सबका प्रेमी, अकारण कृपालु, जिसके किसी बातमें ममता न हो, अहङ्कार न हो, जो सुख-दुःखमें एक भावसे रहे, और दूसरेके दोषोंको क्षमा कर दे।

लगातार हानि या लाभमें एक-सा संतुष्ट रहे, मनसहित इन्द्रियोंको अपने वशमें रक्खे और मुझमें जिसका निश्चय हो ऐसा मेरा 'भक्त' मुझे प्रिय है।

जिसने दम्भ दूर नहीं किया, जो अविद्यान्धकारमें फँसा हुआ है, जिसकी आशाएँ नहीं मिटी हैं, सबमें वासनाएँ बसी हुई हैं, जिसका क्रोध नहीं गया है, जो अच्छे पुरुषोंका संग नहीं करता है उसे ईश्वरभक्त नहीं समझना चाहिये।

ईश्वरभक्त उसे ही समझना चाहिये जो दूसरोंको दुःख न दे, संकट पड़नेपर कष्ट सहनेके लिये तैयार रहे, सबकी भलाई करता रहे, ईश्वरमें दोष न निकाले, सब धर्मकथाओंको प्रेमसे सुने, किसीका माल न छिपा रक्खे, ईश्वरको उपासना, पाठ, पूजा, प्रणाम आदि समयानुसार करता रहे उसे अवश्य ईश्वरभक्त समझना चाहिये।

ईश्वरभक्तके भाव बहुत ही शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं जैसा एक कविका वचन है—

मर जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तनके काज।
परमारथके कारणे, मोहिं न आवे लाज॥

ईश्वरभक्तका चेहरा चमकदार होता है, नेत्र नीचे और नरम होते हैं। वह सबका हितैषी होता है। उसका स्वभाव सरल होता है। शरीरके शृंगारसे उसे नफरत और सादगीसे प्रेम होता है।

श्रद्धा और भक्ति

(लेखक—पण्डितवर श्रीरमापतिजी मिश्र, बम्बई)

किसी विशेष कारणके पराधीन हो जानेसे बुद्धिमें प्रायः एक प्रकारका दोष-सा उत्पन्न हो जाता है जिससे ध्येय पदार्थका वास्तविक स्वरूप तो संशयास्पद ही रह जाता है और उस पदार्थका भान तथा निरूपण बुद्धिदोष-के उत्पादक संस्कारोंके अनुसार किसी और ही रूपमें हो जाया करता है। अनिच्छया बाधित होकर प्रमाणोंको प्रमाताके संस्कारोंका आश्रय लेना पड़ता है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष अनुमिति या शब्दके अनुपाती सभी विषयोंके तत्त्वनिर्धारण-में समकक्ष विद्वानोंके सिद्धान्त भी एक दूसरेसे अधिकांशमें विभिन्न हुआ करते हैं। नामरूप और जातिकी अनिश्चित दशा-में दूरस्थ वस्तुके प्रत्यक्ष विषयतया स्वरूपनिर्धारणमें जो बहुधा मतभेद अवगत होता है वहाँ भी बुद्धिदोष ही कारण माना जा सकता है। अनुमापक कारणमें भ्रम आ जानेपर बुद्धि-दोषके कारण अनुमान भी तर्क बनाकर अप्राण बन जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिव्यापारके बिना किसी भी प्रमेयका प्रतिपादन शक्य नहीं कहा जा सकता और बुद्धिका निर्दोष या समानदोष होना प्रायः असंभव ही प्रतीत होता है।

इस निर्दिष्ट विश्वप्रसृत सिद्धान्तके सार्वभौम आधि-पत्यसे अन्यान्य मान्य विद्वानोंके समान मेरा भी अधीनता-विधायक सम्बन्ध है अतः सर्वप्रथम यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि लेखका उत्तरदायित्व केवल मेरे भ्रमपूर्ण विरस विचारोंको है, शास्त्र-तात्पर्यके साथ विश्वासार्थ जोड़ा गया सम्बन्ध बहुत साधारण और स्वल्प है।

लक्षणसे पदार्थके निरूपणमें तत्पर विद्वान् इस रहस्यको भलीभाँति जानते हैं कि लक्षणोंसे केवल साधारणतया समूहात्मक पदार्थोंका निरूपण साध्य किया जा सकता है। लक्षणोंका आश्रय इसीलिये लिया जाता है कि विभिन्न देशकाल-में स्थित अपरिचित अपार पदार्थोंका बोध सुगमतासे अल्प-कालमें हो जाय। इस उपायसे पदार्थोंके बोधकी शैलीके आविष्कारने संसारपर अपार उपकार किया है यह कहनेका अधिकार उन लोगोंको है जो स्वलक्षण और स्वरूपलक्षण लक्षणकी अनुपादेयता और अव्यावहारिकताको पूर्णरूपसे अवगत कहते हैं। लक्षणसे तटस्थ लक्षणसे वस्तुके परिचय करने-करानेसे पूर्व, परिचेय वस्तुओंका एक समूह जो समान-रूपसे किसी धर्मका पोषक होता है उन समुदायोंसे पृथक् किया जाता है जो भिन्न-भिन्न धर्मोंके विरोधानुसंधानपूर्वक परिपोषक होते हैं। इस परिश्रमका फल यह होता है कि पदार्थगत धर्मोंके वर्गीकरण करनेमें सफलता और उन संसक्त धर्मोंके द्वारा पदार्थविभागकी क्रियामें प्रवीणता उद्बुद्ध होने लगती है। तो भी यह त्रुटि तो विशिष्ट व्यक्तियोंमें भी बनी ही रहती है कि उनसे भी नियतरूपसे वस्तुओंमें विद्यमान तारतम्यका ज्ञान स्वयं कदाचित् अवगत होनेपर भी लक्षणोंके विषय न होनेसे पर-प्रत्ययार्थ व्यक्त नहीं किया जा सकता है। कहनेका आशय यह है कि लक्षणके, लेखके या उपदेशके द्वारा समान धर्मके सहारे साधारणरूपसे वस्तुका निर्देश या निरूपण साध्य है परन्तु तारतम्यका बोध अस्पष्ट होनेसे एवं रूपसे उपदेश्य नहीं है।

यद्यपि अनुभवी परोपकारी विद्वानोंने यह बतानेका यत्न किया है कि सत्त्व, रज, तम इन गुणोंके तारतम्यसे प्रति-कार्योंमें तारतम्य उत्पन्न होता है और यही कारण है कि चौरासी लक्षके स्वभावोंकी और समान स्वभावानुसार अमान संख्यक जीवसमूहकी ८४ लक्ष जातियोंकी अलग-अलग विद्यमानता प्रामाणिक मानी जाती है तो भी इसका आशय यह नहीं हो सकता कि इतनेसे ही गुण-तारतम्यकी इतिश्री हो जाती है। यह निर्देश दिग्दर्शन है, एक मनुष्यसमुदायगत तारतम्यकी ओर दृष्टिपात करनेसे ही यह कहना पड़ता है कि इन मनुष्योंकी संख्याका ज्ञान साध्य है, इनका पालन-पोषण साध्य है परन्तु इनके स्वभावानुगामी तारतम्यका बोध मनुष्यप्रयत्नसे साध्य नहीं है।

प्रमाताके स्वभावकी ओर और स्वभावमूलक शृङ्गार आदि रसोंकी ओर ध्यान देकर पूर्वाचार्योंने श्रद्धा और भक्तिके तारतम्यका दिग्दर्शन कराया है उससे यह नहीं जान या मान लेना चाहिये कि श्रद्धा और भक्तिकी संख्या

इससे अधिक नहीं है। शृङ्गारके भेदोंके अनन्त होनेसे केवल शृङ्गार श्रद्धा और शृङ्गारभक्ति ही अनन्त प्रकारकी हैं। गीता आदि ग्रन्थोंमें बताये हुए त्रिधा प्रकरणमें भेद भी दिग्दर्शन ही हैं। धर्मामृतप्रकरणमें दी हुई भक्तोंकी गुणावली भी दिग्दर्शन ही है।

शास्त्रमें श्रद्धाका लक्षण यह है। 'प्रत्ययो धर्मकार्येषु श्रद्धा' धार्मिक क्रियाओंमें विद्यमान आस्था–विश्वासको श्रद्धा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि बुद्धिविशेषका नाम श्रद्धा है। इस बुद्धिविशेषका सम्बन्ध जहाँतक धर्मकार्योंके साथ रहता है वहाँतक वह बुद्धिविशेष श्रद्धाके नामसे प्रसिद्ध होता है। बुद्धिके बुद्धिविशेष बननेका कारण भी बुद्धिका धार्मिक-क्रियाओंके साथ सम्बन्ध ही है। कर्तव्यधर्मकार्यके उपदेशक शास्त्रमें निर्दिष्टफलके अवश्यम्भावमें शास्त्रके ज्ञाता गुरुजनोंमें आस्थाका होना ही श्रद्धा है, फलके परोक्ष होनेपर भी उपायमें प्रवृत्त करानेवाली फलाशा भी श्रद्धा ही है। व्यवहार-धर्ममें भी श्रद्धाकी आवश्यकता रहती है। फलके दूरवर्ती होनेपर भी श्रद्धा ही व्यवहार-कार्यमें प्रवृत्त कराती है। श्रद्धा साकांक्ष पदार्थ है। यह जिस पदार्थको विषय करती है उसीके साथ इसका प्रयोग किया जाता है, जैसे धर्ममें श्रद्धा, शास्त्रमें श्रद्धा, गुरुमें श्रद्धा, राजामें श्रद्धा इत्यादि यह लक्षण पारिभाषिक है।

अनुसन्धानके बाद यह सिद्धान्त स्पष्टरूपसे सत्य प्रतीत होने लगता है कि श्रद्धा ही भावी सम्पूर्ण प्रेय और श्रेयसुखकी जननी है। श्रद्धा अन्ततोगत्वा अपने विषयके रूपमें श्रद्धावान्‌को परिणत कर देती है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता) इस उपदेशने श्रद्धाको ही समस्त कल्याण-परम्पराका सर्वस्व माना है। सामान्य प्रतिभाके उपयोगमात्रसे तृप्त विद्वान्वर्गका यह ऊहापोह उपहासास्पद है कि इस उपदेशमें मात्रासे अधिक सम्भावनाकी सीमासे परे श्रद्धाके सम्बन्धमें अर्थवादका निर्देश किया गया है। इस कथनके समर्थनसे पूर्व यह बतला देना उचित है कि इस सम्बन्धमें अन्यान्य शास्त्रोंका क्या मत है। 'कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति' (बृह० अ० ३ प्र० ९) (दक्षिणाका आश्रय क्या है? इस प्रश्नका उत्तर है कि श्रद्धा–आस्तिक्यबुद्धि। उत्तरकी पुष्टिमें यह कहा गया है कि जब श्रद्धा उत्पन्न होती है तो यजमान दक्षिणा देता है अतः कहा जाता है कि दक्षिणा श्रद्धाका आश्रय लेती है अर्थात् दक्षिणाका आश्रय आस्तिक्यबुद्धिस्वरूप श्रद्धा है) इस ग्रन्थसे यह उपदेश दिया गया है कि श्रद्धाप्रधान यज्ञ, होम, दान आदि सब शुभ कार्य श्रद्धास्वरूप हैं। श्रद्धाके अस्तित्वदशामें यावत् शुभ कर्मोंका फलप्रद होनेसे अस्तित्व है। श्रद्धाके अभावदशामें फलशून्य होनेसे कृतकर्मोंका भी अस्तित्वाभाव है। श्रद्धा और श्रद्धेय वस्तुके तादात्म्यमें जिनको सन्देह होता है वे 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति' (छान्दो० ख० ४) उस देवलोककी अग्निमें देवता लोग जिस आहुतिका हवन करते हैं उसका सोम राजा है। इस वस्तुस्थितिके अनुवादक श्रौत उपदेशपर विचार करें। उत्तर मिल जायगा कि अर्थवाद नहीं है, पदार्थमात्र अपनी-अपनी श्रद्धाकी सृष्टि हैं। यहाँ श्रद्धाको ही आहुति कहा है। स्मार्तप्रकरणमें भी श्रद्धा ही यावत् अभ्युदयोंका कारण मानी गयी है। 'श्रुतिमात्ररसाः सूक्ष्माः प्रधानपुरुषेश्वराः। श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा॥ कायक्लेशैर्न बहुभिस्तथैवार्थस्य राशिभिः। धर्मः संप्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि। श्रद्धाधर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं पयः। श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्॥' (अग्निपु०) शास्त्रमात्रसे प्रमाणित ग्राहकरूपादि गुणोंके द्वारा अग्राह्य होनेके कारण सूक्ष्म प्रकृति पुरुष ईश्वर आदिका ज्ञानात्मक ग्रहण केवल श्रद्धासे होता है न कि किसी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रियसे। श्रद्धावान् पुरुषके अनुभवमें प्रधान पुरुष ईश्वर परलोक पुनर्जन्म आदिके साधक युक्ति प्रमाणोंका आविर्भाव और तादृश युक्ति प्रमाणोंके ऊपर विश्वासका आविर्भाव होता है, श्रद्धाहीन हीन मनुष्योंको निर्दिष्ट पदार्थका अस्तित्व अलीक प्रतीत होता है यह व्यवहार सर्वानुभव-प्रसिद्ध है। देवता भी श्रद्धाहीन रहकर अनेक प्रकारके शरीरकष्टसाध्य योग जप तप आदिसे या प्रभूत धनके व्ययसे सूक्ष्म धर्मकी सम्पूर्णतया प्राप्ति नहीं कर सकते। श्रद्धा ही उत्कृष्ट अतीन्द्रिय अदृष्ट है। अदृष्टके उत्पादक होम और हवनीय द्रव्य श्रद्धा ही है। ज्ञान–आत्मानुभव भी श्रद्धा ही है धर्मप्राप्य स्वर्ग और ज्ञानप्राप्य मोक्ष भी श्रद्धा ही है। यह सम्पूर्ण संसार श्रद्धारूप है—श्रद्धाका ही विवर्त है—श्रद्धाका ही परिणाम है या श्रद्धाका ही कार्य है। श्रद्धापूर्वक

अवलोकन करनेसे यह सिद्धान्त स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि उच्च नीच सभी पदार्थोंका अस्तित्व श्रद्धापदार्थमें अनुविद्ध हो रहा है। यह नाना नामरूपमें दृश्यमान संसार भी प्राणीसमूहकी श्रद्धाका ही विकास है। भगवान् श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्रके वर्णन-प्रसंगमें यह सिद्धान्त पुष्ट किया गया है। रङ्गमण्डपगत श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपको देखनेवालोंने निज-निज श्रद्धाके अनुरूप ही देखा था अनन्त-कल्याण-गुणराशिमेंसे या सर्वगुणविरक्त मन वचनके अविषय वस्तुमें दर्शकोंको वे ही या वे गुण दीखने लगे जो पहलेसे ही उनकी श्रद्धामें सम्पन्न हो चुके थे। सम्पूर्ण व्यवहार या उसका अभाव श्रद्धामय है इस सिद्धान्तकी प्रत्यक्षरूपसे पोषक स्वप्नावस्था है। पुरीतती नाड़ीके मध्यमें प्रवेश करनेके बाद निजनिर्मित जगत्के साथ क्रीड़ा करनेकी इच्छासे बाधित होकर जीवात्मा जिस सृष्टिका निर्माण करता है उसको जीव-सृष्टि सङ्कल्प-सृष्टि या स्वाप्निक सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टिके विलक्षण होनेमें या होनेमें श्रद्धा ही कारण है अर्थात् यह सृष्टि भी श्रद्धाका ही अन्यतम व्यक्त रूप है। किसी दूरस्थ स्थाणुका दर्शन भी यह सिद्ध करता है कि श्रद्धाके साम्राज्यका आरपार नहीं है। जिसकी स्त्री खो गयी है और ढूँढनेको निकला है उसको उस दूरस्थ स्थाणुमें स्त्री होनेका सन्देह होता है। जो धन लेकर एकाकी जा रहा है उसको आरण्यक तस्कर होनेका सन्देह होता है। इस दर्शन-वैजात्यमें श्रद्धा ही हेतु है। सत्पुरुष धर्मराजने जो संसारको सात्त्विक भावमें देखा था और अविश्वास-नीतिमें निपुण सुयोधनने जो जगत्को जम्बूकके भावसे देखा था, इस भेद-दर्शनका कारण भी श्रद्धा ही थी।

निर्दिष्ट कतिपय प्रमाणों और तर्कोंकी सहायतासे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि श्रद्धाका ही साम्राज्य सम्पूर्ण जगत् या यावत् प्रमाण प्रमेय व्यवहारपर है तो भी व्यवहारमें अभ्युदयके उन्मुख आस्तिक्यबुद्धिको ही श्रद्धा कहा जाता है। पदार्थके रूपको सङ्कुचित बनाकर व्यवहार करना भी रूढिलक्षणासम्मत व्यवहार सर्वमान्य है। विश्वनाथको काशीनाथ या जगन्नाथको अयोध्यानाथ कहनेकी परिपाटीमें उक्त व्यवहार ही सहायक है।

'स्रक् मे सुखं चन्दनं मे सुखं भार्या मे सुखं शरीरं मे सुखं त्यागो मे सुखम्' इन उदाहरणोंमें सुखके कारण स्रक् चन्दन वनिता शरीर और त्यागमें सुख शब्दका प्रयोग मिलता है सही; परन्तु वास्तवमें माला चन्दन आदि सुख नहीं हैं किन्तु सुखविशेषके कारण हैं। इसी तरह 'श्रद्धा स्वर्गः श्रद्धा मोक्षः' इन उदाहरणोंमें भी श्रद्धाको स्वर्गका कारण या मोक्षका कारण समझना चाहिये। श्रद्धाको ही स्वर्ग या मोक्ष कहना एक प्रकारसे अनुभवका अपलाप करना है, यह भी एक मत है। इस सिद्धान्तके खण्डनमें लग जानेसे लेख विस्तृत हो जायगा और साम्प्रदायिक भेद उपस्थित होकर वैरस्य उत्पन्न करेगा। अतः समाधानकी उपेक्षा ही प्रस्तुत प्रतीत होती है। इस पक्षमें भी श्रद्धाकी शक्तिमें क्षति नहीं पहुँचती। यह पक्ष भी आस्तिकाभिमानीका ही है।

श्रद्धा संसारयात्रासे जब विरक्त होती है, जबसे इसको यह मालूम होने लगता है कि सांसारिक सुखका वर्णन अर्थवादपूर्ण है। अप्राप्तिदशामें अपेक्षित होनेके कारण जो-जो भाव आकर्षक मालूम होते थे, प्राप्त होनेपर वे ही कभी-कभी उद्वेजक बनने लगते हैं। तब यह श्रद्धा विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करती है और संन्यासप्रथाके अनुसार अपने नामको भी अन्यथा कर देती है अर्थात् श्रद्धा ही भक्ति कहाने लगती है। कर्म और उसके फलके सम्बन्धसे उदासीनता बतानेके लिये या कर्मफलसे तृप्त होनेके बाद उपरतिके आवेशमें आत्मभावका परिचय मात्र ही कर्तव्य कर्म अवशिष्ट रह जाता है इस सिद्धान्तकी सूचनाके लिये श्रद्धाका नाम परिवर्तन करना पड़ता है।

'सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र २) (ईश्वरविषयक निरतिशय प्रेम भक्ति है) भक्तिशब्दका प्रयोग अन्य पूज्य सत्कार्यविषयक प्रेमस्थलमें भी होता है अतः विषयनिर्देश अनावश्यक है। अथवा तो यह लक्षण पारिभाषिक भक्तिका है, इस आशयका पोषक है। एक मत यह भी है कि ईश्वर शब्दार्थ व्यापक है, इसके लक्षणमें रहनेपर भी कोई दोष नहीं है। किसी-किसी विद्वान्का यह मत हो सकता है कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां' इस (गीता १८। ६१) और 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस (योगसूत्र १। २३) की ओर दृष्टिपातकर लक्षणमें ईश्वररूप विषयका निर्देश किया गया है। परन्तु यह मत पारिभाषिक लक्षणमें गतार्थ हो जाता है। सिद्धान्त तो यह है कि लक्षण-गत ईश्वर शब्दका अर्थ आत्मा है और यह लक्षण पारि-भाषिक भक्तिका है।

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।' 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय-स्थितः' (गीता ३। १६; १०। २०) (जो आत्मा-को बाह्यवस्तु-निरपेक्ष सच्चिदानन्दस्वरूप समझकर

निवृत्तिपरायण हो जानेपर आत्मामें निरतिशय प्रेम करने लगता है, आत्मज्ञानसे अपनेको तृप्त-परिपूर्ण मानने लगता है और आत्मातिरिक्त वस्तुओंमें अस्थिरताके भान होनेसे अननुरक्त होकर तन्मात्रमें ही स्थित परिपूर्ण तोषकी विषयताका ज्ञाता बन जाता है तो उसको और कोई कर्तव्य अवशिष्ट रहा मालूम नहीं होता है। (हे अर्जुन ! प्राणीमात्रका आत्मा मैं ही हूँ अर्थात् व्यष्टिका अभिमानी आत्मा मैं जीव हूँ और समष्टिका अभिमानी आत्मा मैं ईश्वर हूं।) इस सिद्धान्त-भूत उपदेशके रहस्यपर ध्यान देनेसे यह निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर शब्दार्थ समष्टिका अभिमानी आत्मा ही है अतः सूत्रस्थ ईश्वर शब्द आत्माका पर्याय है।

'यस्त्यक्त्वा प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः। सर्वभूतात्मभूतात्मा स्याच्चेत्परतमा गतिः' (महाभा० शा० प०) इस उपदेशका आशय भी यही है। आत्मामें अनुरक्त मननशील प्रमाता जब अपनेको--अपनी आत्माको प्राणीमात्रकी आत्मा मानने लगता है तो फलस्थानीय आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है और पुष्पस्थानीय कर्मका त्याग हो जाता है। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' (ब्र० सू०) इस ब्रह्मसूत्रसे भी यही उपदेश मिलता है कि आत्माराम प्रमाता ही मोक्षका अधिकारी है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानार्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू०) ('त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'(गी० २।४५)'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' इन वचनोंसे आविर्भावित महान् विचार-समुद्रके मथनसे भी यही सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि यावत् श्रद्धाका संसार व्यावहारिक रहता है वहाँतक यथाधिकार कर्म करना ही शास्त्रीय पन्था है, अनन्तर स्वाभाविक विरक्ति आजानेपर सर्वाङ्गपुष्ट सर्पकी कंचुलीके समान कर्मरुचिके स्वतः अलग होकर बिदा ले लेनेपर आत्मामें स्थित परिपूर्ण सुखके अन्वेषणमें तत्पर हो जाना ही शास्त्रीय ईश्वरभक्ति है।

ईश्वरको जगन्नियन्ता और जगत्को नियम्य मानकर इन दोनोंमें स्थित स्वस्वामिभाव भी अन्ततोगत्वा व्यवहार ही है। इससे ही सन्तुष्ट होजाना भजनमें एक प्रकारका अन्तराय उपस्थित होना है। व्यवहारकी मर्यादा व्यवहार-सम्बन्धी नियमोंके त्यागमात्रसे ही पिण्ड नहीं छोड़ती है। अलग की हुई नौकरानी अपनी जगह जहाँतक दूसरी नौकरानीको नियुक्त नहीं देखती है वहाँतक वह पुनः स्थानापन्न होनेका उपाय करती ही रहती है। शास्त्रकारोंने व्यवहार-मर्यादाका अस्तित्व भेदबुद्धिके अस्तित्वपर्यन्त माना है। 'विज्ञानान्तर्यामिप्राणविराड्देहे पिण्डान्ताः। व्यवहारस्थस्यात्मन एतेऽवस्थाविशेषाः स्युः' (परमार्थसार) जहाँतक यह भ्रम बना रहता है कि मेरा विज्ञान अन्तर्यामी प्राण विराट् और देहके साथ भेद सम्बन्ध है वहाँतक व्यवहारका—अपरमार्थ संसारका अस्तित्व बना रहता है कारण कि विज्ञान अन्तर्यामी आदि भेदसे भासमान पदार्थ व्यवहारस्थ आत्माके अवस्थाविशेष—शक्तिविशेष है। उक्त परमार्थसारका अनुभव केवल निजी सृष्टि नहीं है। 'सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः' (तात्पर्य)—भेदसे भासमान ब्रह्मा इन्द्र प्रजापति शिव विष्णु आदि स्वामिस्थानापन्न ध्येय शास्त्रप्रमाण शास्त्रविषय पदार्थ भी प्रज्ञानके—आत्माके नामविशेष हैं अर्थात् 'अयं ब्रह्मा अयम् इन्द्रः' आदि व्यवहार अपरमार्थ हैं 'अहं ब्रह्मा अहम् इन्द्रः' आदि व्यवहार ही परमार्थ हैं इत्यादि श्रुतियोंका अनुवाद है। भक्तिका मुख्य विषय आत्मा है इस सिद्धान्तकी पुष्टि व्यतिरेकरूपसे भेदोपासनाकी निन्दारूपसे भी की गयी है।'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव ँ स देवानाम्।'(बृह० उ० १।४।१०) (जो यह समझता है कि मैं भक्त—उपासक भिन्न हूँ और मेरा उपास्य स्वामी मेरेसे भिन्न है वह देवताओं--विद्वानोंकी दृष्टिमें पशु पामर है) गीताकारने भी भेदभावको द्वितीय श्रेणीमें स्थान देना ही उचित समझा है। 'पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथक्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्' आत्मासे अतिरिक्त विषयके संयोगसे जायमान सुखको भी गीतामें द्वितीय श्रेणीका ही स्थान मिला है। 'विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्' (तात्पर्य)—भेदभावसे उत्पन्न ज्ञान और भिन्न वस्तुके संयोगसे उत्पन्न सुख ये दोनों राजस कहे जाते हैं। आत्मातिरिक्त वस्तु—निरपेक्ष ज्ञान और सुखके सर्वश्रेष्ठ होनेमें श्रुति और स्मृति दोनों एक मत हैं। 'एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स्वराट्' (छान्दो० उ० ७।२५।२) 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्' (गीता)। आत्मातिरिक्त ईश्वरादि भिन्न वस्तु निरपेक्ष ईश्वराभिन्न आत्ममात्रसापेक्ष बुद्धिविशेष-रूप सुख ही वास्तवमें प्रथम श्रेणीका सात्त्विक-सुख है।

इस आशयको आरम्भमें स्पष्ट कर दिया है कि श्रद्धा और भक्तिकी अवस्थाएँ अनेक हैं। तारतम्य-निर्देश-पूर्वक इनका लक्षण द्वारा परिचय कराना असाध्य है। अपनी-अपनी इच्छासे हम लोगोंने श्रद्धा और भक्तिको भिन्न पदार्थ मान लिया है। वास्तवमें ये दोनों आस्तिक्य बुद्धिकी अवस्थाविशेष ही हैं। कर्मप्रकरणमें अनुरक्त आस्तिक्य बुद्धिका श्रद्धारूपसे व्यवहार-निर्वाहार्थ अनुगम किया गया है। आत्मज्ञानमें व्यापृत आस्तिक्य बुद्धिका भक्तिरूपसे व्यवहार-निर्वाहार्थ ही अनुगम किया है। व्यवहार, अविद्या, प्रेय, कर्मयोग आदि प्रवृत्तिमार्गविहारी पदार्थ श्रद्धाके साथी हैं। परमार्थ, विद्या, श्रेय, सांख्ययोग आदि निवृत्तिमार्गविहारी पदार्थोंकी सहकारिणी भक्ति है अर्थात्-'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।' (सृष्टिके आरम्भमें मैंने ही ज्ञानयोग और कर्मयोग नामक दो साधनाओंको श्रेय और प्रेय फलके अर्थ कहा था। ज्ञानियोंको ज्ञानके द्वारा श्रेय और कर्मियोंको कर्मके द्वारा प्रेयकी प्राप्ति होती है। 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते' (कठ०) (मनुष्यको कर्तव्यरूपसे ज्ञान और कर्म दोनों उपस्थित होते हैं। धीर पुरुष प्रेयफलक कर्मसे श्रेय-मोक्षफलक ज्ञानको अधिक मानकर उसे ही अपनाता है। मन्द अधिकारी योगक्षेमप्रद होनेसे कर्मको ही अपनाता है) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंमें बताये हुए कर्म और ज्ञानके साथ श्रद्धा और भक्तिका रूढ़ सम्बन्ध है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अधिकारीके मन्द और धीर नामक भेद व्यक्तिगत अवच्छेद—पार्थक्यके कारण नहीं बने हैं किन्तु अवस्थाविशेषके कारण बने हैं। इस विषयकी पुष्टि 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।' (जो अधिकारी अविद्या और विद्या इन दोनोंको एक साथ जानता है वह अविद्यासे जन्म-मरणको पारकर विद्यासे मोक्ष प्राप्त करता है) इस मन्त्रमें बड़े ढंगसे व्याख्या की गयी है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अविद्या जन्म-मरणके प्रवाहका हेतु है तथापि विद्याके आगमनको जानकर वह जन्म-मरण समुद्रका तारक बन जाती है। इसी तरह जो अविद्यामें-कर्ममें रत नहीं, वह विद्यावान्-ज्ञानवान् नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तका स्पष्टरूपसे वर्णन रामगीताहीमें पाया जाता है। भगवद्गीताके प्रेमियोंसे मेरा अनुरोध है कि वे रामगीताको भी देखा करें। उक्त उपदेशका रहस्य यह है कि विद्या और अविद्या नामके दो उपाय स्वतन्त्रतया किसी फलके साधक नहीं हैं। मध्य मध्यमें प्रतीयमान फलोंमें वास्तवमें अनियत होनेसे फलबुद्धि करना भी बालुकाघटके छिद्रको बन्द करनेके लिये दक्षिणावर्त शंखका चूर्ण बनाना है। विद्यासे प्राप्य आत्मानन्दके अनुभवके लायक बननेके लिये विशिष्टरूपसे अविद्याका अनुष्ठान आवश्यक है। बिना कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डका दर्शन दुर्लभ ही नहीं अलभ्य है। कर्ममें यह सामर्थ्य है कि विधिवत् सेवित होनेपर वह स्वर्गादिके समान, उससे भी अधिक सुखप्रद शान्ति दान्ति उपरति आदिका कारण बनकर निर्दिष्ट भक्तिका और परम्परया आत्मज्ञानका हेतु बन जाता है।

भक्तिकी परमहंसावस्था ही इसकी अन्तिम सिद्धि है या चरम तारतम्य है। जब यह अवस्था निकटवर्ती होती है तो भक्त एकान्तवासको पसन्द करने लगता है। जन-समुदायको विक्षेपका कारण समझने लगता है तथा हठी विघ्नदलके दलनमें समर्थ शस्त्र असंग ही है, इस सिद्धान्तसे सहमत हो जाता है। अब विलम्ब करना अनुचित है, यह जानकर परमात्मा भी अपनी 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (निरन्तर सावधानीसे प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह ज्ञान देता हूँ जिससे वह भक्त मुझे शीघ्र ही पहचानने लगते हैं) इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करता है। आवरणको अलग कर देता है और भक्तको तत्काल ही ज्ञानवान् बना देता है।

ज्ञानी भक्तके सभी सञ्चित कर्म भस्मसात् हो जाते हैं। वह 'न शोचति न काङ्क्षति' की सहचारिणी ब्राह्मी स्थितिको पाकर अपनेको ब्रह्मभूत मानने लगता है और यह जाननेके बाद कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' 'तमेव शरणं गच्छ' इस स्मृतिमें 'तत्' शब्दसे निर्दिष्ट और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस स्मृतिमें निर्दिष्ट अस्मद् शब्दार्थ परमात्मा एक ही है भक्त, भक्ति भगवान् इस भेदभावसे मुक्त हो जाता है, अपनी ज्ञाननिष्ठाको पूर्ण हुआ मानने लगता है और सोऽहम्, हंसोऽहम् कहने लगता है!

श्रीराम-जटायु
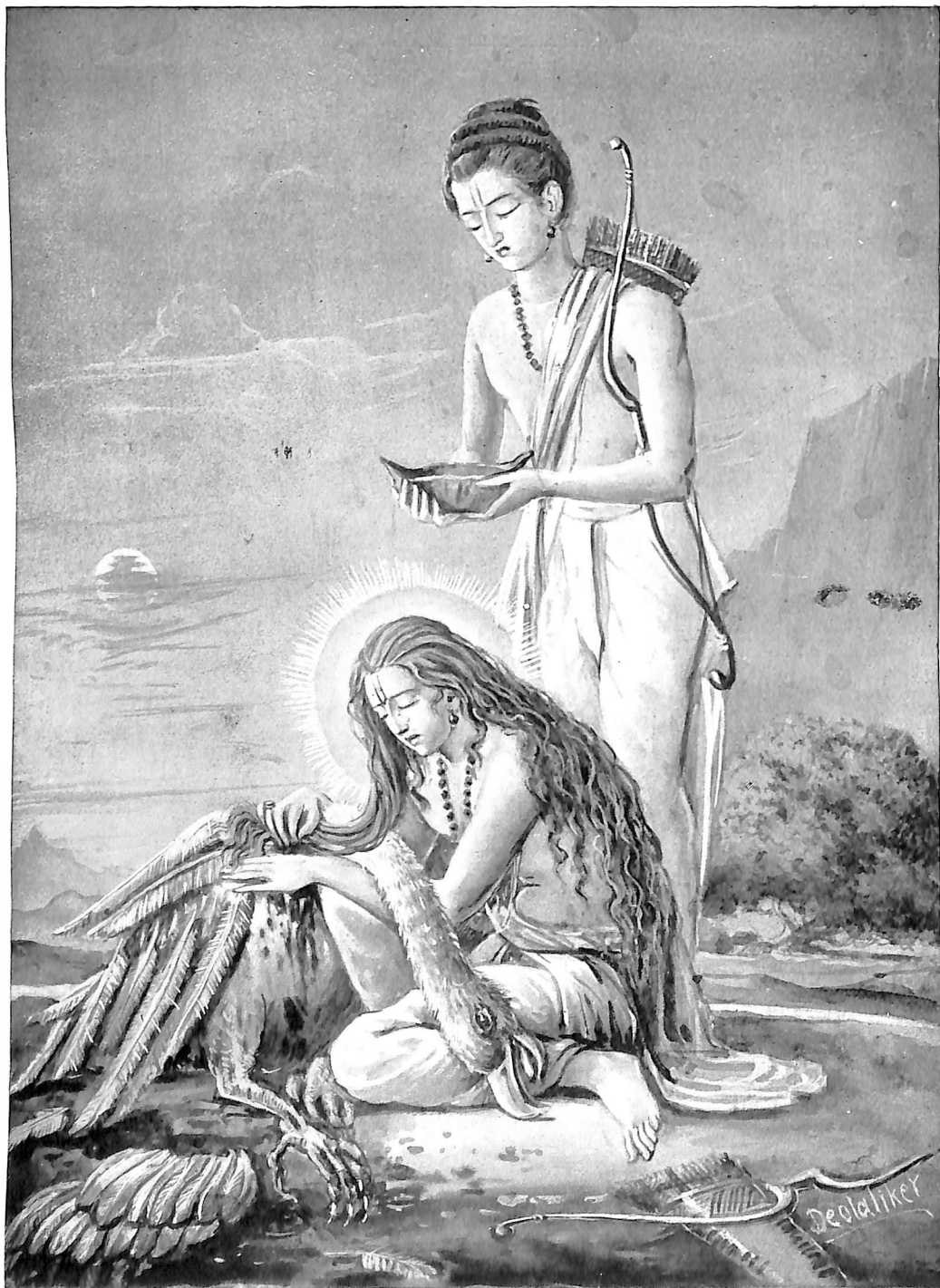
करसरोज सिर परसेउ कृपासिन्धु रघुबीर ।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर ॥

ज्ञान, भक्ति और इनका सम्बन्ध

(लेखक—विद्यानिधि पं० श्रीगणेशदत्तजी व्यास, काव्यतीर्थ)

ज्ञान

ज्ञान मुक्तिका साक्षात् साधन है। इसके सिवा अन्य तप, जप और योग आदि परम्परासम्बन्धसे मोक्षके साधन हो सकते हैं पर साक्षात् साधन नहीं! इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेवाली 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ हैं। यदि कहा जाय कि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादि स्मृति-वाक्योंके प्रमाणसे भक्ति, योग, जप, तप, सत्संग और यज्ञादि महाफलवाले कर्म क्यों नहीं मुक्तिके असाधारण कारण हो सकते हैं? तो इसका यही उत्तर है कि प्रथम तो यहाँ 'संसिद्धि' शब्दसे मोक्ष नहीं है किन्तु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इत्यादि पूर्वोक्त एवं ऐसी ही अनेकानेक दूसरी श्रुति और स्मृतियोंके अनुरोधसे 'अन्तःकरणकी शुद्धि' का ग्रहण करना ही शास्त्रसम्मत है। दूसरे इस मतको परिपुष्ट करनेवाली अनेक युक्तियोंमेंसे यह एक महाप्रबल युक्ति है कि योग, तप आदि कर्मकलाप कर्मस्वरूप अतएव जड़ होनेसे अज्ञानके विरोधी नहीं किन्तु सजातीय ही हैं। जगत्में यह प्रसिद्ध ही है कि जो पदार्थ जिसका विरोधी नहीं होता वह उसको नष्ट करनेमें भी समर्थ नहीं होता, जैसे अन्धकार अन्धकारका नाश नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि तपादि कर्म अज्ञान निवृत्ति नहीं कर सकते! किन्तु 'मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हूँ, मैं स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीररूप उपाधित्रयसे निर्मुक्त हूँ, मैं पञ्चकोशसे पृथक् हूँ, मैं सत्-चित्-आनन्द, नित्य निर्मल स्वभाव हूँ, मैं निर्विकार हूँ, मैं अप्राण-शुभ्र-निर्गुण—निष्क्रिय-निर्विकल्प निरञ्जन हूँ, मैं अद्वय और अनन्त हूँ।' इस प्रकारका ज्ञान, जो शम, दमादि साधनसम्पन्न पुरुषको तत्त्वमस्यादि महावाक्योंसे उत्पन्न होता है, अज्ञानको दूर कर सकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्षका असाधारण साधन तो केवल ज्ञान ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं!

भक्ति

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकारसे मोक्षका साक्षात् साधन तो ज्ञान ही है तथापि अशुद्ध अन्तःकरणमें केवल महावाक्यों-के श्रवणमात्रसे वह ज्ञान नहीं ठहर सकता अतः अन्तः-करणकी शुद्धि और चित्तकी एकाग्रताके लिये शास्त्रोंमें अग्निहोत्रादि चयनान्त अग्निसाध्य कर्म, सन्ध्योपासनादि आवश्यक क्रियाएँ, स्वस्ववर्णाश्रमोचित नित्यनैमित्तिक क्रियाओंका निष्कामभावसे केवल कर्तव्यबुद्धिसे प्रयोग, यम-नियमादि योगपथ एवं चान्द्रायणादि उपवास, नमः आदि यज्ञ, किंवा भक्ति, तप, सत्संग, कथाश्रवण, वैराग्य आदि अनेकानेक उपाय बताये गये हैं।

यद्यपि उपर्युक्त सभी उपाय अन्तःकरणकी शुद्धिके साक्षात् और तद्द्वारा ज्ञानप्राप्तिपूर्वक मुक्तिके परम्परा कारण हैं तो भी किस पुरुषके लिये कौन-सा उपाय उपादेय है यह निश्चयरूपसे नहीं कहा जा सकता।

यदि मुमुक्षु विद्वान्, बहुज्ञ, बहुश्रुत, तीक्ष्ण बुद्धि और तार्किक है तो वह देश, काल और अपनी योग्यता देखकर इनमेंसे स्वयमेव किसी एकको चुन सकता है। यदि वह केवल मुमुक्षुमात्र ही है और उक्त गुणोंसे शून्य है तो उसे गुरुकी शरणमें जाकर (गुरु उसकी योग्यतानुसार जो कुछ बतावे तदनुसार) साधन करना चाहिये।

मेरी समझमें यह कथन भी पक्षपातसे शून्य नहीं है कि केवल भक्ति ही कल्याणका साधन है और कोई है ही नहीं। वास्तवमें उक्त एवं कई अन्य अनुक्त साधन भी कल्याणके देनेवाले हैं परन्तु इस 'भक्ताङ्क' का भक्तिसे घनिष्ठ होनेके कारण इस लेखमें केवल भक्तिका ही वर्णन किया जाता है।

मैं पाठकोंको यह भी सूचित कर देना परमावश्यक समझता हूँ कि जहाँ-जहाँ भक्तिको मुक्तिका कारण बतलाया गया है वहाँ असाधारण कारण नहीं, किन्तु सहकारी कारण ही बतलाया है। कई वाक्य ऐसे भी मिलते हैं कि जिनमें भक्तिको ही मुक्तिका प्रधान कारण कहा है, नहीं, कहीं-कहीं तो भक्तिके अनेक रूपोंमेंसे साधारण-से-साधारण किसी एक रूपपर ही इतना जोर देकर कहा गया है कि बस,

केवल यही एक मुक्तिका प्रधान साधन है अन्य सब गौण हैं, परन्तु मेरे मतसे वह सब अर्थवाद है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्ति भी एक बहुत उत्तम, सरल और परमोत्तम विद्वान्से लेकर हलग्राही तथा चाण्डालतकके लिये एक ही भावसे उपादेय कल्याणका पथ है । चाहे कैसा ही साधारण-से-साधारण जड़बुद्धि क्यों न हो, भक्तिके अनेकानेक अवान्तर भेदोंमेंसे किसी-न-किसी भेदका तो वह अधिकारी हो ही सकता है । इतना ही नहीं, भक्ति एक ऐसा साधन है जो ध्यान, योग, तप, यज्ञादि कर्म एवं इसी प्रकारके अन्यान्य साधनोंमें भी तत्तत्साधनको बलप्रदान करनेवाला है । यदि इसी साधनको प्रधान साधन समझकर काममें लाया जाय तो कहना ही क्या है पर निरीश्वर सांख्य और सिद्धान्तशास्त्रोंद्वारा ज्ञानप्राप्ति एवं ऐसे ही दो-चार अन्य कल्याणके मार्गोंको छोड़कर भक्तिकी प्रायः सभीमें आवश्यकता भी है ।

भक्तिके स्वरूपका पूरा वर्णन करना तो बड़ा कठिन है, क्योंकि उसके भेद और अवान्तर भेद असंख्य हो जाते हैं अतः कोई संक्षेपसे भी कुछ लिखनेकी चेष्टा करें तो भी उसके लिये बहुत विचार और समयकी आवश्यकता है । इसलिये आज भक्तिके स्वरूपका वर्णन थोड़ेसेमें ही किया जाता है ।

मन, वाणी, कायासे या 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि अध्यासयुक्त स्वभावसे जो कुछ करे, सब परमात्माके अर्पण करना । भगवान्के जन्म-कर्मोंको सुनना, सुनाना, गाना, नामस्मरण करना और उक्त कार्य करते हुए ही कभी-कभी ऐसे प्रेमका पैदा हो जाना कि जिससे हृदय पिघल जाय, अतएव लोकबाह्य और विलज्ज होकर ऊँचे स्वरसे हँसना, रोना, गाना और यहाँतक कि उन्मत्तकी तरह नाचने लग जाना । आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तारे, दिशाएँ, वृक्ष, नदी और समुद्र आदि समस्त वस्तुको हरिका ही शरीर समझकर नमस्कार करना । ऐसा न हो सके तो ईश्वर, अपने समान, मूर्ख और शत्रुमें क्रमसे प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा करना । ऐसा भी न कर सके तो केवल किसी प्रतिमा आदि एकमें भी ईश्वरकी भावनाकर शनैः-शनैः पूर्ण भक्त होनेका प्रयत्न करना । इन्द्रियोंसे विषयोंको ग्रहण करते हुए भी किसी विषयमें द्वेष या उपादेय बुद्धिका न होना । जन्म, मरण, भूख, प्यास, भय और तृष्णा आदि संसारके धर्मोंसे मोहित न होना । अपने-परायेका भेद न होना । मनमें संकल्पोंका उदय न होना । जन्म, कर्म, वर्ण और आश्रममें अहंभावका न होना । त्रिभुवनके विभवकी प्राप्तिके लिये भी चित्तका भगवत्पदारविन्दकी स्मृतिसे एक निमिष भी विचलित न होना । विषयोंमें वैराग्य होना । सत्संगति करना । शौच, तप, तितिक्षा रखना । वृथा वाक्य उच्चारण न करना । शान्तिवर्द्धक और भगवत्में प्रेमवर्द्धक शास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना । स्वच्छ और नम्र रहना । ऋतुकालमें स्वदार नियमादिरूप ब्रह्मचर्यको धारण करना । प्राणियोंमें अद्रोहभाव रखना । भक्तिवर्द्धक शास्त्रोंमें प्रेम करते हुए भी अन्य धर्म और शास्त्रोंकी निन्दा न करना । हरिका श्रवण, कीर्तन, ध्यान करना । यज्ञ, दान, तप, जप आदि कर्मोंका और स्त्री, पुत्र, गृह, अथ च प्राण आदि अपने प्रिय पदार्थोंका हरिमें अर्पण करना । भगवान्में मन लगा देना । इन्द्रियोंको वशमें रखना । सबका हितचिन्तन करना । सन्तोषी होना । निःस्पृह होना, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें समचित्त रहना ।

इस प्रकार शास्त्रोंमें भक्तिकी अनेक प्रकारकी व्याख्याएँ हैं, इनमेंसे कई तो भक्तिके उत्तम स्वरूप और कई मध्यम तथा कई अधम स्वरूपका वर्णन करती हैं । तात्पर्य यह है कि यदि कोई ईश्वरके अनन्यशरण होकर भक्तिके उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे एक, दो या अधिकको श्रद्धाके साथ धारण करे तो वह ईश्वरकी कृपासे धीरे-धीरे आगे बढ़ता जायगा और अन्तमें उत्तम भागवत बनकर सब पदार्थोंमें भगवत्स्वरूप दर्शनरूपी भक्तके लक्षणोंकी पराकाष्ठाको पहुँच जायगा !

वास्तवमें भक्तिका स्थूल स्वरूप यही है कि साधक अपनेको ईश्वरका और ईश्वरको अपना समझकर अपने योगक्षेमकी चिन्ता न कर स्ववर्णाश्रमोचित कर्म उसीके लिये करे, अपने लिये न करे । इसी मूलस्वरूप भक्तिके नौ भेद हैं जो प्रसिद्ध हैं ।

ज्ञान और भक्तिका सम्बन्ध

उक्त प्रकारसे ज्ञान और भक्तिका पृथक्-पृथक् स्थूल स्वरूप कहा गया । अब इन दोनोंका सम्बन्ध कहकर लेखका उपसंहार किया जाता है ।

ज्ञान-विज्ञानकी दृढ़ अवस्थितिके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि परमावश्यक है और अन्तःकरण-शोधनार्थक कर्मोंमें भक्ति भी एक प्रधान कर्म है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भक्ति अन्तःकरणकी शुद्धिको सम्पादन करनेवाली है और शुद्ध अन्तःकरण श्रुत ज्ञानको यथार्थ और दृढ़ रूप देकर तद्द्वारा मुक्तिका विधायक है, इस नीतिसे भक्ति भी परम्परासे कैवल्यकी हेतु होती है।

इसी प्रसंगमें इतना बता देना भी बिल्कुल अप्रासङ्गिक न होगा कि व्युत्पन्न पुरुष शम-दमादि साधन-सम्पत्तिपूर्वक अपना कल्याण कर सकता है। मध्यमाधिकारी वैराग्यसहित भक्तिद्वारा शनैः-शनैः ज्ञानी होकर मुक्त हो जायगा। परन्तु यदि साधक न तो विद्वान् है और न वैराग्यवान् है तो उसे चाहिये कि वह भक्तिके श्रवण-कीर्तनादि किसी भी एक दो या बहुतोंको अथवा जितनोंको वह साध सके उतने अंगोंको लेकर साधता जाय। अन्तमें इसका परिणाम भी वही होगा जो सर्वोत्तम है। भाव यह है कि भक्तिका कोई-सा भी एक अवयव साधकको अन्तमें पूर्ण भक्त बनानेके साथ-साथ वैराग्यवान् और ज्ञानवान् कर देता है।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि भक्ति, वैराग्य और ज्ञान यह तीनों स्वरूपसे पृथक्-पृथक् हैं तथापि इनका ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि प्रत्येकमें दूसरे दोनोंका मिश्रण-सा दीखता रहता है।

वैराग्यकी भक्तिसाधनमें भी आवश्यकता है और ज्ञानकी दृढ़धारणाके लिये भी। वैराग्यवान् भी तभी हो सकता है कि जब एक ईश्वरमें ही उसका सच्चा प्रेम हो जाय। पूर्ण वैराग्यवान् आत्मतत्त्वके साक्षात्कारहीसे हो सकता है। इस प्रकार इनका सम्बन्ध ही नहीं, कभी-कभी तो इनमें अन्योन्याश्रयता-सी प्रतीत होने लगती है।

भक्ति भी जब अपनी पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब ज्ञानसे केवल थोड़ी-सी ही नीची रह जाती है, विशेष अन्तर नहीं रहता। जब भक्त किसी सगुणरूपकी उपासना करता है तब ईश्वरको उपास्य समझता है तथा अपनेको उपासक समझता है इसीसे द्वैतभाव रहता है परन्तु ज्ञानी आत्माके शुद्ध स्वरूपको समझकर अपने सहित किसी भी पदार्थको आत्मासे पृथक् नहीं समझता इससे वह अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है!

भक्तिकी विशेषता

(प्रे०—गंगातीरनिवासी पूज्यपाद स्वामीजी श्रीअच्युतमुनिजी महाराज)

अथ सिद्धान्तसर्वस्वं शृणु भक्तिरसायनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिभेषजं तद्रसायनम्॥

हे शिष्य! सम्पूर्ण सिद्धान्तोंके निष्कर्ष (निचोड़) 'भक्तिरसायन'नामक प्रकरणको सुन। इस प्रकरणको रसायन नाम इसलिये दिया गया है कि यह भक्तिरूपी साधन जन्म (देहमें अहंभावना), मृत्यु, जरा तथा रोग आदि देहविकारोंको निवृत्त करनेवाली परमौषध है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि।
अन्तःकरणशुद्धेश्च भक्तिः परमसाधनम्॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य तथा अन्तःकरणकी शुद्धिका श्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। जो भगवान्में स्नेह-वृत्तिके रूपसे प्रकट होती है।

ययात्र रक्त्या जीवोऽयं दधाति ब्रह्मरूपताम्।
साधिता सनकाद्यैः सा भक्तिरित्यभिधीयते॥

जिस रागरूप वृत्तिके कारण प्राणाद्युपाधिमान् यह जीव ब्रह्मरूपताको धारण कर लेता है। जिसको सनक-सनन्दनादिने सिद्ध किया है वही भक्ति कहाती है।

सर्वा साधनसम्पत्तिरस्ति भक्तिस्तु नास्ति चेत्।
तर्हि साधनसम्पत्तिस्तुषकण्डणवद् वृथा॥

प्रेमलक्षणा भक्तिके बिना मोक्षके कारणभूत नित्यानित्य-वस्तुविवेक आदि सकल साधनोंका उपार्जन करना इसी प्रकार व्यर्थ है कि जैसे कि तुषोंका मूसल आदिसे कूटना।

यद्यन्यत्साधनं नास्ति भक्तिरस्ति महेश्वरे।
तदा क्रमेण सिद्ध्यन्ति विरक्तिज्ञानमुक्तयः॥

अगर तुममें महेश्वरके लिये केवल भक्ति विद्यमान हो फिर चाहे अन्य साधन न भी हों तो भी क्रमसे वैराग्य, ज्ञान तथा मोक्ष ये तीनों सिद्ध हो ही जायँगे।

न हि कश्चिद्भवेन्मुक्त ईश्वरानुग्रहं विना ।
ईश्वरानुग्रहादेव मुक्तिरित्येष निश्चयः ॥

ईश्वरके अनुग्रह बिना इस संसार-सागरको कोई पार नहीं कर सकता, ईश्वरके अनुग्रहसे [देशिक (आचार्य) के मिलनेपर] ही मुक्ति होती है ऐसा निर्णय है ।

ईश्वरः परिपूर्णत्वान्न तु किञ्चिदपेक्षते ।
प्रीत्यैवाशु प्रसन्नः सन्परं कुर्यादनुग्रहम् ॥

परिपूर्ण होनेसे ईश्वर यज्ञादिके द्वारा दी गयी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता, वह तो केवल प्रीतिसे ही शीघ्र प्रसन्न होकर महान् अनुग्रह करता है । यज्ञादि करनेवालोंकी भी प्रेमवृत्तिको बिना देखे ईश्वर कोई अनुग्रह नहीं करता तथा उनको सांसारिक फल देकर टाल भी सकता है परन्तु यदि केवल शुद्ध भक्ति ही हो तब तो उसको देशिक दर्शन-रूपी अनुग्रह करना ही पड़ता है जिससे साधकको ज्ञान-प्राप्ति होकर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

अज्ञानी लोग नानाप्रकारके अनुलङ्घनीय विघ्नोंकी कुछ परवा न करते हुए भी सांसारिक स्त्री-पुत्रादि भोगोंमें जिस प्रकार बड़े परिश्रमसे अव्यभिचारिणी भक्ति बनाये रखते हैं उसी वृत्ति और उसी प्रेमसे तुझे सदा चिन्तन करते हुए मेरे हृदयभवनमें तेरी वही अव्यभिचारिणी भक्ति सदा बनी रहे । अथवा हे लक्ष्मीपते ! तेरे स्मरण करनेसे वैसी विषयभक्ति मेरे हृदयभवनको तेरे निवासके लिये खाली करके चली जाय !

तथा च शाण्डिल्यसूत्रम्—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति ।

ऐसी भक्तिको शाण्डिल्य मुनिने एक सूत्रद्वारा बताया है, परब्रह्ममें जो निरतिशय प्रेम है वही भक्ति है ।

परमात्मनि विश्वेशे भक्तिश्चेत् प्रेमलक्षणा ।
सर्वमेव तदा सिद्धं कर्तव्यं नावशिष्यते ॥

विश्वेश्वर परमात्मामें यदि प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हो जाय तो समझो कि सब कुछ सिद्ध हो चुका, अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा ।

अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता ।
प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणामः स एव हि ॥

वेदान्तमें जिस प्रत्यक्ष अनुभवका निरूपण किया गया है वह भी तो निरतिशय प्रेमरूप भक्तिका ही फल है ।

शास्त्रार्थः संपरिज्ञातो जातं प्रेम महेश्वरे ।
प्रेमानन्दप्रकारेण द्वैतं विस्मरणं गतम् ॥

वेदान्तादि शास्त्रोंका तात्पर्य जाननेके अनन्तर महेश्वर परमात्मामें जब प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब प्रेमसे आनन्दका उल्लास होनेपर द्वैतकी विस्मृति हो जाती है । क्योंकि निरतिशय प्रेम द्वैतको भुलानेवाला होता है तथा ज्ञान स्वयं अद्वैतरूप है ही, इसलिये ज्ञानसे साधक जिस परिणामपर पहुँचता है भक्ति भी साधकको वहीं पहुँचा देती है ।

वासुदेवमयं सर्वं वासुदेवात्मकं जगत् ।
इत्थं द्वैतरसाढ्यस्य ज्ञानं किमवशिष्यते ॥

यह जगत् सम्पूर्ण प्रकाश्य है, वासुदेव इसका प्रकाशक है इसलिये पद-पदपर वासुदेवकी ही प्रधानता होनेसे यह जगत् वासुदेवमय है । वासुदेवके भानसे ही इस जगत्का भान हो रहा है इसलिये यह जगत् वासुदेवात्मक है इस प्रकार द्वैत-आनन्दके धनी पुरुषके लिये कुछ भी ज्ञान शेष नहीं रह जाता । अर्थात् ज्ञानसे प्रापणीय पदपर एकान्त भक्तने भी अपना अधिकार जमा रक्खा है ।

वासुदेवः परं ब्रह्म परमात्मा परात्परः ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

सम्पूर्ण सत्ताओंका निर्वाहक सर्वभूतनिवास तथा सर्वव्यापित्वादि गुणोंको स्मरण करके भक्त वासुदेव नामसे भगवान्का स्मरण करता है, वह जगत्का कारण किसी देश, काल तथा वस्तुसे भी परिच्छिन्न नहीं होता इसी अर्थका चिन्तन करके 'परब्रह्म' नामसे भगवान्का स्मरण किया जाता है । न वह किसीका कार्य है, न किसीका कारण है किन्तु असंग, शुद्ध, चैतन्य है । इस भावसे 'परमात्मा' नाम लिया जाता है, जिसको हम जगदारोपका मूल कारण समझते हैं । इसलिये जो पर है परन्तु जब कि इस आरोप्यके भी मिथ्यात्वका निश्चय हो जाता है तब सकल बाध साक्षी या सर्वलयावशेषरूपसे जो बाकी रह जाता है वह तो 'परात्पर' नामसे स्मरण किया जाता है । इस सम्पूर्ण कार्य-कारणात्मक प्रपञ्चको अन्दर-बाहर व्याप्त करके, जीवोंको प्राप्तव्य होकर वह नारायण नामसे स्मरण किया जाता है ।

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
इत्यादिवचनैर्भक्तो वैष्णवः स्तौति केशवम् ॥

अणु भी वही है, देशकाल आदिकी इयत्तामें न आनेसे बृहत् भी वही है, सबसे अधिक सूक्ष्म होनेसे कृश शब्द मुख्यवृत्त्या उसीमें चरितार्थ होता है, जो अपने संकल्पसे स्थूल भी हो गया है, जो सगुण भी है, साथ ही गुणोंके मिथ्या होनेसे जो निर्गुण भी है, सर्वजगत्पूज्य होनेसे जो महान् भी है, इत्यादि प्रकारसे विष्णुका भक्त केशवकी स्तुति करता है ।

शिवः कर्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वेश्वरेश्वरः ।
शिव आत्मा शिवो जीवः शिवादन्यन्न विद्यते ॥

कर्मेन्द्रियोंसे व्यापार करता हुआ बुद्धि-वृत्तिमें प्रतिफलित होकर शिव (कूटस्थ चैतन्य) ही कर्ता होता है । आनन्दमयमें प्रतिफलित होकर सुख-दुःखादिका साक्षात् करता हुआ वही शिव भोक्ता होता है, संपूर्ण जगत्‌के ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ईश्वरोंका भी नियमन करनेवाला शिव ही है । संपूर्ण जगत्‌के सुखका मूल कारण शिव ही है । समष्टि उपाधिसे आवृत वही शिव देहत्रयविशिष्ट जीव हो जाता है । इस प्रकार गहरी दृष्टि डालनेपर हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि एक शिव (आत्मा) से भिन्न कुछ भी नहीं है । वही अकेला शैलूष (नट) की तरह नाना उपाधियोंके कारण आपातदृष्टि लोगोंको अनेक-सा प्रतीत होता है ।

खवायुतेजोजलभूक्षेत्रज्ञार्केन्दुमूर्तिभिः ।
अष्टाभिरष्टमूर्तिं च शाम्भवः स्तौति शङ्करम् ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, जीव, सूर्य, चन्द्रमा इन आठ मूर्तियोंसे शिवका भक्त अष्टमूर्ति शिवकी ही स्तुति करता है ।

इदं यदा परिणतं प्रेम तज्ज्ञानमेव हि ।

इस प्रकार दीर्घकालतक श्रद्धापूर्वक भजन करते-करते जब यह भजन प्रेमरूपमें परिणत हो जाता है तब उसको ज्ञान शब्दसे कहने लगते हैं । अर्थात् भगवद्भजन ही कालान्तरमें भगवत्प्रेम बनकर भगवज्ज्ञान हो जाता है ।

अथ युक्त्यन्तरम्

भक्ति तथा ज्ञानके ऐक्यमें और भी युक्ति बताते हैं ।

बालकस्तात तातेति जनकं प्रति भाषते ।
न पुनस्तातशब्दार्थं स तु जानाति किञ्चन ॥

बालक अपने पिताको 'तात' 'तात' कहता तो रहता है परन्तु उस बिचारेको क्या मालूम कि किस अभिप्रायसे यह 'तात' शब्द बोला जाता है ।

यदा तातपदार्थस्य व्युत्पत्तिं यात्यसौ क्रमात् ।
तदा तु सत्यमेवायं तात इत्येति निश्चयम् ॥

परन्तु समयके प्रभावसे जब वह सयाना होने लगता है तब 'तात' पदके पितृरूप अर्थको ध्यानमें लाने लगता है तो फिर वह यह मेरा पिता है इस दृढ़ निश्चयको पहुँच जाता है जिससे उसकी तातविषयक भ्रमसंभावना सदाके लिये नष्ट हो जाती है ।

तथा भक्तो भजन्देवं वेदशास्त्रोदितैः क्रमैः ।
व्युत्पत्तिं परमां प्राप्य मुक्तो भवति हि क्रमात् ॥

इसी प्रकार प्रारम्भकी अवस्थामें भगवान्‌के स्वरूपको न जाननेवाला भक्त वेद-शास्त्रवर्णित विधियोंसे, ईश्वरका भजन करता हुआ अन्तःकरणके परिमार्जित हो जानेपर यथार्थ ज्ञानको प्राप्तकर धीरे-धीरे ज्ञानके स्थिर होते ही मोक्षको प्राप्त हो जाता है ।

किं च लक्षणभेदो हि वस्तुभेदस्य कारणम् ।
न भक्तज्ञानिनोर्दृष्टा शास्त्रे लक्षणभिन्नता ॥

लक्षणोंके भेदसे पदार्थोंमें भेद हुआ करता है किन्तु शास्त्रमें मैंने भक्त तथा ज्ञानीमें लक्षणोंका भेद नहीं देखा ।

विरागश्च विचारश्च शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
वेदे च परमा प्रीतिस्तदेकं लक्षणं द्वयोः ॥

संसारके आपातमात्र मधुर विषयोंमें वितृष्णा, नित्यानित्यवस्तुविवेक, बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच, इन्द्रियोंका ज्ञानसाधनोंसे अतिरिक्त विषयोंसे निग्रह, अध्यात्मशास्त्रमें प्रगाढ़ प्रीति इन पाँचों लक्षणोंसे भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही पहचाने जाते हैं ।

अध्याये भक्तियोगाख्ये गीतायां भक्तलक्षणम् ।
यदुक्तमष्टभिः श्लोकैर्दृष्टं ज्ञानिषु तन्मया ॥

गीताके भक्तियोग नामक बारहवें अध्यायमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि आठ श्लोकोंसे पुरुषोंकी भगवद्भक्तिको पहचाननेके लिये जो-जो चिह्न बतलाये हैं वे चिह्न मैंने

गीताके तेरहवें अध्यायके 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादि पौने पाँच श्लोकोंमें तत्त्वज्ञानियोंके भी देखे हैं इसलिये ज्ञान तथा भक्तिमें कोई अन्तर नहीं है।

तवास्मीति भजत्येकस्त्वमेवास्मीति चापरः।
इति किञ्चिद्विशेषेऽपि परिणामः समो द्वयोः॥

भगवान्‌के प्रति भक्तका यह भाव रहता है कि 'मैं तेरा हूँ' तेरा सेवक हूँ इसके विपरीत ज्ञानीकी सदा यह दृष्टि रहती है कि उपाधिका त्याग करते ही उपहित हम दोनों तत्त्वदृष्टिसे एक हैं, इतना कुछ परस्पर भेद होनेपर भी परिणाम दोनोंका तुल्य ही है इसलिये ज्ञानी और भक्त एक ही हैं।

अन्तर्बहिर्यदा देवं देवभक्तः प्रपश्यति।
दासोऽहं भावयन्नेव दाकारं विस्मरत्यसौ॥

भगवान्‌के भक्तको 'दासोऽहम्' अर्थात् 'मैं दास हूँ।' इस प्रकार भजन करते-करते भजनकी परिपक्वावस्था आनेके कारण जब अन्दर और बाहर देव-ही-देवके अखण्ड दर्शन होने लगते हैं तब वह अपने 'दासोऽहम्' इस पूर्वाभ्यासमेंसे दाकारको भूलकर 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' करने लगता है। अन्यत्र भी कहा है—

दासोऽहमिति मे बुद्धिः पुरासीत् परमात्मनि।
दाशब्दोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥

अपने अभ्यासकी अपरिपक्व अवस्थामें मैं भगवान्‌के साथ सेव्य-सेवक-भाव समझता था और 'दासोऽहम्' ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय था। समय पाकर अभ्यासकी पक्व अवस्था आते-आते भगवान्‌से मेरा यह भ्रम सहन न हो सका, उसने अपने गोपीवस्त्रापहरणरूपी पूर्वाभ्यस्त स्वभावके अनुसार मेरे 'दासोऽहम्' इस नैवेद्यमेंसे 'दा' शब्दको स्वीकार कर लिया, तबसे मैंने इस शेष रहे 'सोऽहम्' को ही भगवद्यज्ञका यज्ञशिष्ट अमृत समझकर अपना निश्चय बना लिया है—

दृष्टमेकान्तभक्तेषु नारदप्रमुखेषु तत्।
किंचिद् विशेषं वक्ष्यामि त्वमेकाग्रमनाः शृणु॥

भगवान्‌के अनन्य भक्त नारदादि पहले 'दासोऽहम्' ऐसी भावना करते-करते 'दा' को भूलकर अन्तमें 'सोऽहम्' इस निश्चयपर पहुँच गये थे। इसलिये ज्ञान और भक्ति परिणाममें एक ही हैं। अब मैं ज्ञानसे भक्तिकी कुछ थोड़ी-सी अधिकता बताता हूँ, तू एकाग्र होकर सुन।

यदीश्वररसी भक्तस्तदीश्वररसी बुधः।
उभौ यद्यप्येकरसौ तथापीषद्विलक्षणौ॥

जिस अक्षय सुखसागर ईश्वरमेंसे भक्त रसास्वादन करता है वही ईश्वर ज्ञानीका भी रस है इस प्रकार यद्यपि दोनों एक ही सुखके रसिक हैं तो भी दोनोंमें थोड़ी विलक्षणता है।

बुद्धा बोधरसादन्यरसनीरसतां गताः।
तथाधिकप्रेमरसान्न तु भक्ताः कदाचन॥

जिस प्रकार ज्ञानियोंके लिये ज्ञानसुखके अतिरिक्त अन्य सब वैषयिक सुख नीरस हो जाते हैं उस प्रकार भक्तको कभी नहीं होते क्योंकि उनको ज्ञानियोंके ज्ञानरसकी अपेक्षा भक्तिका प्रेमरस और अधिक होता है। अर्थात् भक्त ज्ञानीसे दूना आनन्द भोगते हैं।

जब कि ज्ञानी और भक्त दोनों ही परिणाममें एक हो जाते हैं तब किसीको ज्ञानी और किसीको भक्त ही क्यों कहा जाता है इसका कारण बतानेके लिये प्रश्न किया जाता है।

ननु ज्ञानं विना मुक्तिर्नास्ति युक्तिशतैरपि।
तथा भक्तिं विना ज्ञानं नास्त्युपायशतैरपि॥

सैकड़ों उपाय करनेपर भी ज्ञानके बिना मुक्ति कभी नहीं हो सकती। वैसे ही सैकड़ों उपाय कर डालनेपर भी भक्तिके बिना ज्ञानका होना सम्भव नहीं।

भक्तेर्ज्ञानं ततो मुक्तिरिति साधारणक्रमः।
ज्ञानिनस्तु वसिष्ठाद्या भक्ता वै नारदादयः॥

भक्तिसे भगवान्‌के सन्तुष्ट हो जानेके अनन्तर ज्ञान होता है तब कहीं ज्ञानसे मुक्ति होती है यद्यपि यही सामान्य क्रम है तो भी वसिष्ठादि ज्ञानी और नारदादि भक्त ही क्यों कहलाते हैं?

एवमादिव्यवस्थायाः कारणं किं निरूप्यताम्।
अत्रोच्यते विचित्रं यत्कारणं तन्निशामय॥

इत्यादि व्यवस्थाका कुछ कारण निरूपण करना चाहिये। हे शिष्य! इस व्यवस्थाका विचित्र मूल कारण तू मुझसे सुन।

कथयामि सदृष्टान्तं येनार्थः स्फुटतां व्रजेत्।
स्यात्तापस्य च पापस्य गङ्गास्नानेन हि क्षयः॥

इस बातको उदाहरणसहित निरूपण करता हूँ जिससे इस बातका रहस्य प्रकट हो जायगा। देख, गंगास्नानसे शरीरके ताप और पाप दोनोंका नाश हो जाता है।

यस्तु स्यात्तापशान्त्यर्थी तस्यापि स्यादघक्षयः।
यस्तु स्यादघशान्त्यर्थी तापस्तस्यापि नश्यति॥

गङ्गास्नानसे केवल शीतलता चाहनेवाले पुरुषका भी पाप नष्ट हो जाता है तथा जो पापनिवृत्तिके लिये गङ्गा स्नान करता है उसका भी ताप नष्ट होता है।

तापपापक्षयौ स्नानं त्रयमेतत्समं द्वयोः।
तथाप्येकस्तु शैत्यार्थी शुद्ध्यर्थी तु द्वितीयकः॥

तापकी निवृत्ति और पापका क्षय तथा स्नान ये तीनों तो दोनों (पापक्षयार्थी, तापशान्त्यर्थी) में तुल्य हैं तो भी उसमेंसे एकको लोकमें शीतलता चाहनेवाला कहा जाता है तथा दूसरेको शुद्धि चाहनेवाला।

यथैव भावभेदेन नामभेदस्तयोरभूत्।
एवमेव बुधैर्यैस्तु देवो मुक्त्यर्थमाश्रितः॥

जिस प्रकार वासनाके भिन्न-भिन्न होनेसे व्यवहारमें दोनोंके पृथक्-पृथक् दो नाम पड़ गये हैं इसी प्रकार जिन विवेकी पुरुषोंने मुक्तिके उद्देश्यसे परमात्माका आश्रय लिया—

भक्त्या ज्ञानमवाप्यैव ये मुक्ता ज्ञानिनो हि ते।
यैस्तु संसारविरसैर्भक्त्यर्थं हरिराश्रितः॥

जो विवेकी लोग अपनी भक्तिसे ज्ञानको प्राप्त होकर मुक्तिको प्राप्त हुए वे भक्ति और ज्ञानका एकसा ही अनुशीलन करनेपर भी—ज्ञानी ही कहलाये और जिन्होंने ऐहिक तथा आमुष्मिक भोगोंमें दोषदृष्टिके कारण विरक्त होकर ज्ञान तथा मोक्षकी भी कुछ परवा न करते हुए केवल भक्तिके लिये हरिका आश्रय लिया—

ततो भक्तिप्रभावेण स्वभावाज्ज्ञानमुद्गतम्।
तज्ज्ञानं प्राप्य मुक्ता ये ते भक्ता इति वर्णिताः॥

और उस भक्तिके प्रतापसे रागादि मलोंके निवृत्त होते ही स्वरूपानुभव होनेपर अखण्ड ज्ञान उदय हो गया, इस क्रमसे उस ज्ञानको प्राप्त होकर जो लोग मुक्त हुए वे सदा भक्त ही कहलाये।

विरक्तिभक्तिविज्ञानमुक्तयस्तु समा द्वयोः।
तथापि भावभेदेन नामभेदस्तयोरभूत्॥

यद्यपि ज्ञानी और भक्तमें वैराग्य, भक्ति, ज्ञान तथा मोक्ष चारों समान रूपसे रहते हैं, तो भी वासनाके भेदसे दोनोंके नाम पृथक्-पृथक् हो गये हैं।

मुक्तिर्मुख्यफलं ज्ञस्य भक्तिस्तत्साधनत्वतः।
भक्तस्य भक्तिर्मुख्यैव मुक्तिः स्यादानुषङ्गिकी॥

ज्ञानीके लिये मुक्ति ही मुख्य फल है, भक्ति तो मुक्तिका साधन होनेसे उसे स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु भक्तके लिये मुक्ति ही मुख्य रहती है, उसकी दृष्टिमें मुक्ति उसका आनुषङ्गिक (सहचारी) फल है।

रीत्यानयापि सुमते वरिष्ठा भक्तिरीश्वरे।

अथान्योऽपि महिमा—

परमानन्दरूपोऽसौ परमात्मा स्वयं हरिः॥

हे सुमते! इस रीतिसे भी ईश्वरमें भक्ति करना ही श्रेष्ठ मार्ग है। अब दूसरे प्रकारसे भी भक्तिकी महिमा निरूपण करते हैं। यद्यपि वह परमात्मा हरि स्वयं परमानन्द-स्वरूप है—

शिवभक्तिं पुरस्कृत्य भुङ्क्ते भक्तिरसायनम्।
सनकाद्या वसिष्ठाद्या नन्दिस्कन्दशुकादयः॥

तो भी शिवभक्तिके मिससे भक्तिरूपी रसायनका भोग लेता है। तात्पर्य यह है कि स्वयं परमानन्दस्वरूप होनेसे ज्ञान तो निर्विषय है परन्तु भक्तिमें जो एक प्रकारकी प्रेम-लक्षणावृत्ति है उसमें सम्पूर्ण विषयानन्द भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। साथ ही सम्पूर्ण दुःखोंका अभिभव तथा उसमें प्रेमातिशय होनेसे परमानन्दरूप भी है ही, इस द्विगुणित आनन्दके लोभसे हरि भी शिवभक्तिमें प्रवृत्त हो गये हैं इसी लोभमें आकर सनक-सनकादि वसिष्ठ, नन्दि, स्कन्द, शुकादि—

भुञ्जते तत्पदं प्राप्ता अपि भक्तिरसायनम्।
द्वैतं बिना कथं भक्तिरिति तत्रोत्तरं शृणु॥

उस अद्वैत पदको प्राप्त करके भी भक्ति सुखका अनुभव करते ही हैं। यहाँपर शङ्का होती है, भक्तिका तत्त्व स्वीकार करनेवालेको द्वैत मानना ही होगा। वह तो भय रूप है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' तब द्वैतके बिना भक्ति कैसे हो सकेगी? इसका उत्तर सुन।

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक्प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

ज्ञानसे पूर्वकालमें द्वैत मोहमें डाल सकता है परन्तु बोध हो जानेके अनन्तर तो भक्तिके लिये अपनी इच्छासे कल्पित द्वैत दूना आनन्द देनेके कारण सामान्य एकरूप अद्वैतसे भी सुन्दर हो जाता है ।

भागवतमें भी कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

जिनको क्रीड़ा करनेके लिये किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रहती, जो केवल आत्मामें ही रमण करते हैं। मननके लिये भी जिन्हें शास्त्रकी सहायता अपेक्षित नहीं है, ऐसे निरपेक्ष मुनिलोग भी उस उरुक्रम भगवान्‌की फलासक्तिसे रहित होकर श्रवण कीर्तनादिरूपसे अहैतुकी भक्ति करते हैं। भगवान् हरिमें ऐसे अपरिमित गुण विद्यमान हैं, जिनके कारण ऐसे लोग भी उसकी भक्तिमें प्रवृत्त हो ही जाते हैं।

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥

परस्पर अत्यन्त प्रेमवाले पति पत्नीकी तरह समरस आनन्दके निर्बाधरूपसे उत्पन्न हो जानेपर जीवात्मा तथा परमात्माका केवल भक्तिके लिये कल्पना किया हुआ द्वैत (पार्थक्य) मुक्ति सुखके साथ तुलना करने योग्य हो जाता है।

हृदये वसति प्रीत्या लोकरीत्या च लज्जते ।
यथा चमत्कारमयी नित्यमानन्दिनी बधूः ॥

जिस प्रकार पतिके आनन्दको बढ़ाती हुई चमत्कारमयी पत्नी पतिके प्रेमकी अनुवृत्तिसे उसके हृदयपर रहती है साथ ही लोकरीतिसे लज्जा भी करती है ।

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका ॥

पारमार्थिक रूपसे अद्वैतको अङ्गीकार किया जाय और भजनके लिये द्वैतकी कल्पना कर ली जाय, यदि किसीकी भक्ति ऐसी हो तब तो वह सैकड़ों मुक्तियोंसे भी अधिक आनन्ददायिनी होती है !

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम् ।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव ॥

प्यारी स्त्री अपने प्रियतमके वक्षःस्थलपर खेले या चरण-संवाहनादि सेवामें लगी रहे। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य तत्त्वज्ञानके अनन्तर चाहे निर्विकल्प समाधिमें गोते लगाता रहे या भजन करता रहे, ये दोनों बातें परिणाममें तुल्य ही हैं।

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः ।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥

सेव्य-सेवकादि भ्रम मिट जानेपर भी सुधी पुरुषको उचित है कि भक्तिसहित प्रेमसे जगदीश्वरकी पूजा करे। अन्तःकरण मिल जानेपर भी बुद्धिमती स्त्रीको उचित है कि अपने प्राणेश्वरका निरीक्षण घूँघटका व्यवधान करके ही किया करे।

भक्तिरसविषयक प्राचीन श्लोक भी है—

योगे नास्ति गतिर्न निर्गुणविधौ सम्भावनादुर्गमे
नित्यं नीरसया धिया परिहृते द्वे ऐहिकामुष्मिके ।
गोपः कोऽपि सखा कृतः स तु पुनर्नानाङ्गनासङ्गवा
नास्माकं पदमर्थयन्ति मुनयश्चित्रं किमस्मात्परम् ॥

अष्टाङ्गयोगमें तथा दुष्प्राप्य वेदान्तशास्त्रमें तो हमारी गति नहीं, इस लोकके स्रक्-चन्दनादि भोगों तथा परलोकके अमृतादि भोगोंको नीरस समझकर परित्याग कर दिया। अन्तमें सोच विचारकर अनेक अङ्गनाओंके सङ्गी किसी गोपको अपना मित्र बना लिया। आश्चर्य तो यह है कि बड़े-बड़े मुनिगण भी हम गोपाल-भक्तोंके पदकी प्रार्थना करते हैं। इसलिये इससे श्रेष्ठ और क्या वस्तु हो सकती है?

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः ।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते ॥

कृष्ण भगवान्‌का अर्चन करते हुए हमारा शरीर रोमाञ्चित हो गया, भक्तिसे मन आनन्दित हो गया। प्रेमके कारण उत्पन्न अश्रुओंने हमारे मुखमण्डलको तथा गद्गद वाणीने हमारे कण्ठोंको सुशोभित कर दिया ! अब तो हमें जरा-सा भी अवकाश नहीं है कि, हम अन्य किसी भी विषयको स्वीकार कर सकें। इतने पर भी सायुज्य आदि चारों प्रकारकी मुक्ति हमारे द्वारपर हमारी दासता स्वीकार करनेके लिये बड़ी ही आतुर हो रही हैं।

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि-
स्त्वैवाङ्घ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला ।

प्रेमोन्मादिनी विदुर-पत्नी

सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता
सकामास्त्वान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे॥

हे हरे! हमारा तो केवल तेरे ही भजनमें गाढ़ प्रेम है, ज्ञान आदि किसी भी अन्य पदार्थमें प्रीति नहीं है, तेरे ही चरणयुगलको प्रणाम करनेमें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तेरी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बिचारी मुक्ति जब सकाम विषयार्थी लोगोंको नापसन्द कर डालती है तो तत्क्षण ही अपनेको निराश्रय देखकर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तिकामियोंके चरणोंमें चिपटकर हमारी चरणसेवा करने लगती है।

गुरु नानक

गुरु नानकजीका जन्म वि० संवत् १५२६ में पंजाबके तालबन्दी नाम ग्राममें एक क्षत्रियके घर हुआ था। आपके पिताका नाम कालूराम था। नानकजीका स्वभाव पिताकी अपेक्षा माताकी प्रकृतिसे बहुत अधिक मिलता था। सबसे पहले नानकको जब ककहरा सिखानेके लिये गुरुजीके पास बैठाया, तब नानकने उनसे कहा कि 'आप मुझे ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरे मायाका बन्धन टूट जाय।' इस समय नानकजीकी अवस्था छः वर्षकी थी। गुरुने नानकको धमका दिया। इसके बाद एक दिन फिर नानकने गुरुजीसे कहा, 'आप जो धर्म करते हैं वह तो धर्मका ऊपरी रूप है, मनकी पवित्रता और इन्द्रियनिग्रहकी सबसे पहले आवश्यकता है। भगवान्‌की पूजा केवल भोग लगानेसे ही नहीं होती। सरल और शुद्ध चित्तसे भक्ति-पुष्पके द्वारा जो पूजा की जाती है वही सच्ची पूजा है।'

नानक बचपनहीमें ध्यानका अभ्यास करने लगे थे और कई बार वे ध्यानकी अवस्थामें बहुत देर तक घर नहीं आया करते थे। एक दिन ध्यानके समय माताने उनसे भोजन करनेको कहा पर उन्होंने भोजन करना नहीं चाहा। माता पिताने सोचा कि लड़का बीमार हो गया। वैद्य बुलाये गये, नानकने वैद्यसे कहा, 'महाशय! आप मेरी बीमारीको दवासे दूर करना चाहते हैं पर आपके अन्दर जो काम-क्रोधकी बीमारी मौजूद है उसे हटाकर आप आत्माको स्वस्थ क्यों नहीं करते? मुझे कोई शारीरिक रोग नहीं है, मेरे प्राण तो उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हैं, मेरे लिये आप क्या उपाय करेंगे?'

कालूरामके खेतीका काम था। उसने एक दिन नानकको खेतकी रखवालीके लिये भेजा, खेतमें बहुत-सी चिड़ियाँ आ गयीं, उनके उड़ानेके बदले आप आनन्दसे गाने लगे 'रामदी चिड़ियाँ रामदा खेत। खालो चिड़ियाँ भर भर पेट' पिता इससे बहुत नाराज हुए। एक बार पिताने समझाते हुए नानकसे कहा कि, 'बेटा! तुम खेतीका काम करने लगो तो तुम्हें भी लोग निठल्लू न कहें और हमें भी आराम मिले।' नानकने नम्रतापूर्वक कहा, 'पिताजी! मेरे खेतकी जमीन बहुत लम्बी चौड़ी है, उसमें मैंने भगवान्‌के नामका बीज बो दिया है, बड़ी फसल होगी, मेरी इस खेतीमें जो फल फलेगा, उस फलको खानेवाले पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होंगे।'

पिताने दूकान करनेके लिये कहा तो आप बोले कि, 'संसारमें चारों ओर मेरी दुकानें हैं पर उनमें बाजारू माल नहीं है। मेरी दुकानमें विवेक और वैराग्यका माल भरा है इन चीजोंको जो लेंगे वह सहजहीमें भवसागरसे पार हो जायँगे।'

कालूरामने एक बार बीस रुपये देकर बाला नामक नौकरके साथ नानकको विदेश भेजा। नानकजी रास्तेमें ही उन रुपयोंसे साधुओंकी सेवाकर खाली

हाथ वापस लौट आये । कालूरामको इससे बड़ा क्रोध हुआ परन्तु रायबुलार नामक एक सज्जनने नानकके गुणोंपर मुग्ध होकर कालूरामको वह रुपये चुका दिये, इससे वह शान्त हो गया ।

एक बार नानक पाकपट्टनके मेलेमें गये और वहाँ बाबा फरीदकी गद्दीके एक फकीरसे मिले, मुसलमान-धर्मकी चर्चा होनेपर नानकने कहा कि, 'सच्चा मुसलमान वह है जो संतोंके मार्गको अच्छा समझे, अभिमान छोड़ दे, ईश्वरके नामपर दान दे, जीने-मरनेके सन्देहको मिटा दे, ईश्वरकी इच्छापर सन्तुष्ट रहे, अपने पुरुषार्थका अभिमान छोड़ दे और सब जीवोंपर दया करे' ।

कालूराम जब बहुत ही नाराज हो गये तब नानककी बहिन बीबी नानकी उनको अपने ससुराल सुलतानपुर ले गयी और वहाँ अपने पतिसे कहकर नानकको नवाबका भंडारी बनवा दिया । नानक यहाँ भी हर दम भजन, कीर्तन और साधु महात्माओं-का संग किया करते थे । यहाँ नानकपर भण्डारके रुपये उड़ानेका लाञ्छन लगाया गया पर ईश्वरकृपासे हिसाब ठीक निकला । अन्तमें नानकने उस कामको भी छोड़ दिया और संन्यासी होकर घरसे निकल पड़े। इससे पहले ही उनके मनकी गति बदलनेके लिये माता-पिताने विवाह कर दिया था । श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नामके दो पुत्र भी हो गये थे । परन्तु स्त्री-पुत्र नानकका चित्त आकर्षित नहीं कर सके । बाला और मर्दाना नामक दो व्यक्ति नानकके साथ हो गये थे । इसके बाद नानकका सारा जीवन धर्म और भक्तिके प्रचारमें बीता । नानक निराकारके उपासक और राममंत्रके बड़े पक्षपाती थे । बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ नानकपर आयीं परन्तु नानकने अपने सिद्धान्त और प्रचारका कार्य कभी बन्द नहीं किया ।

नानकने अपनी बहिनका उपकार जीवनभर माना, इसलिये यात्रा समाप्तकर वह सुलतानपुरमें ही आकर रहते थे । नानकने बड़ी-बड़ी चार यात्राएँ कीं । पहली यात्रा संवत् १५५६ वि० के लगभग हुई, इस यात्राको समाप्तकर १५६६ वि० में अपनी बहिनके पास दस वर्ष बाद नानक सुलतानपुर पहुँचे ।

दूसरी यात्रा संवत् १५६७ वि० में आरम्भ हुई और दो वर्ष बाद संवत् १५६८ वि० में समाप्त हुई ।

तीसरी यात्रा संवत् १५७० वि० में आरम्भ हुई । इससे आप संवत् १५७३ वि० के लगभगमें अनुमान दो वर्षसे वापस लौटे ।

चौथी यात्रा आपने भारतवर्षके बाहर मुसलमानी देशोंमें की । संवत् १५७५ वि० में आप मुसलमानों-के प्रधान तीर्थ मक्कामें पहुँचे । एक दिन रातके समय आप हजरत मुहम्मदकी कब्रकी ओर पैर पसारे सो रहे थे । मुसलमानोंने उत्तेजित होकर कहा 'इसे मार डालो, यह खुदाके घरकी ओर पाँव पसारे लेटा है' इसपर नानकने बड़ी शान्तिसे कहा 'भाई ! जिस ओर खुदाका घर न हो उस ओर मेरे पैर कर दो ।' कहा जाता है कि वे लोग बाबा नानकके पैर जिस ओर घुमाते थे उसी ओर मुहम्मदकी कब्र दीखती थी, अन्तमें उन लोगोंने नानकको महात्मा समझकर छोड़ दिया और उनसे पूछा कि 'तुम कौन हो ?' नानकने कहा—

हिन्दू कहाँ तो मारिये, मुसलमान भी नांय ।
पंचतत्त्वका पूतला, नानक साडा नांव ॥

इसके बाद नानकजी मदीना, बगदाद, अलप्पो, ईरान, हिरात, बुखारा होते हुए काश्मीर और स्याल-कोट होकर संवत् १५७९ वि० में देश लौटे । इसी यात्रामें गुरु नानकके संगी मरदानाजीका ख्वारज़्म नामक नगरमें देहान्त हुआ ।

कहा जाता है कि करतारपुरमें एक दिन ध्यानमें मग्न नानकजीको भगवान्‌की ओरसे यह आज्ञा हुई कि 'नानक ! मैं तुम्हारी स्तुतिसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम

सदा मेरे नामकी घोषणा करके नर-नारियोंको मुक्तिके मार्गपर आरूढ़ करते हो, तुम्हारे इस गीतको जो व्यक्ति सुनेगा और मानेगा उसकी मुक्ति होगी। भगवान्‌की यह वाणी सुनकर नानकने अपनेको धन्य समझा। उस समय जो नानकजीने स्तुति की थी उसको उनके शिष्य अंगदजीने लिख लिया था, इसीको 'जपजी' अथवा 'आदिग्रन्थ' कहते हैं। सिक्खोंका यह परम पूज्य धर्मग्रन्थ है।

दो पुत्र होनेपर भी गुरु नानकने उनसे अधिक योग्य समझकर अंगदको ही अपनी गद्दीपर बैठाया। गुरु नानक संवत् १५९६ वि० आश्विनके महीनेमें लगभग सत्तर वर्षकी अवस्थामें उपस्थित भक्त-मंडली-द्वारा होनेवाली परमात्माके नामकी दिग्दिगन्तव्यापिनी ध्वनिको सुनते और भगवान्‌का 'राम नाम' स्मरण करते हुए सदाके लिये यहाँसे विदा हो गये!

परमात्मामें अटल विश्वास, धैर्य, सत्य, परोपकार, त्याग, कृतज्ञता, उदारता, सन्तोष, विनय, वैराग्य, भक्ति और नाम-प्रेम आदि आपके जीवनमें खास गुण थे!

निष्काम भक्ति

(लेखक—श्रीमेलारामजी वैश्य, भिवानी)

एक राजाके देशमें वर्षा न होनेके कारण दुर्भिक्ष पड़ गया। राजाने आज्ञा दी कि एक ऐसी नहर खोदी जाय जिसमें और नदियोंका पानी लाया जा सके। कोषसे लाखों रुपयेकी स्वीकृति दी गयी और निश्चय किया गया कि इस कामपर ऐसे लोगोंको लगाया जाय जो मजदूरी न मिलनेके कारण भूखों मरते हैं। ऐसा ही किया गया। बहुतसे मजदूर काम करने लगे। मजदूर प्रतिदिन अपने कामकी मजदूरी चुका लेते। इनमें एक ऐसा मजदूर भी सम्मिलित हो गया जो नहर खोदनेमें तो अन्य मजदूरोंकी तरह परिश्रमसे कार्य करता था परन्तु शामको जब मजदूरी बाँटनेका समय आता तब वह कहीं चला जाता अतः उसकी मजदूरी जमा रक्खी जाती थी और प्रतिदिन एक नक़शा खोदाईका राजाके पास भी भेजा जाता था। प्रतिदिनके हिसाबकी जाँच करनेसे राजाका ध्यान इस मजदूरकी ओर भी जाने लगा, जो काम करनेके समय तो हाजिर और मजदूरी लेनेके समय गैरहाजिर हो जाता था। इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया, तब राजाको आश्चर्य हुआ और उस मजदूरको देखनेकी (उत्कण्ठा) हुई, राजा कार्यस्थलपर पहुँचा। वहाँके अधिकारियोंने अपना-अपना काम दिखाना चाहा परन्तु राजाने कहा 'मैं तो पहले उस मजदूरके दर्शन करना चाहता हूँ जिसके लिये मैं आया हूँ।' आज्ञा पाते ही प्रबन्धकर्ताने उस मजदूरको राजा साहबके सामने पेश किया। राजाने बड़ी प्रीतिसे उसकी ओर देखा और पूछा कि 'तुम मजदूरी क्यों नहीं लेते?' मजदूरने साधारण शब्दोंमें इसका उत्तर दिया कि, 'जब आप-जैसे दयालु राजा अपनी प्रजाके लिये लाखों रुपये अपने कोषसे खर्च कर रहे हैं तो मैं भी यथाशक्ति इस कार्यमें जनताकी सहायता करूँ, तो यह मेरा धर्म ही है। मेरा व्यक्तिगत खर्च थोड़ा है, मैं थोड़े समय रातको परिश्रम करके उसके योग्य कमा लेता हूँ।' राजाको उसकी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह मनमें विचार करने लगा

कि यदि ऐसा धर्मात्मा पुरुष दीवान हो तो जनताको बहुत लाभ हो। ऐसा विचारकर राजाने उस मजदूरको मन्त्रीपद स्वीकार करनेके लिये कहा; उसने उत्तर दिया कि 'मुझमें न तो इतनी ताकत है, न विद्या है और न इतनी बुद्धि ही है। इतने भारी कार्यका उत्तरदायित्व मैं कैसे ले सकता हूँ।' राजाने कहा, 'हमको केवल तुम्हारे उस मनकी आवश्यकता है जिसकी प्रेरणासे तुम ऐसा धर्मका काम कर रहे हो।' अन्तमें उसने राजाकी आज्ञा स्वीकार कर ली परन्तु जब राजाके अन्यान्य वजीरोंको यह पता चला कि राजा साहबने एक साधारण मजदूरको एक बड़े मन्त्रीका पद दे दिया है तो सब-के-सब द्वेषाग्निमें जलने लगे और उन्होंने राजासे शिकायत की कि, आपका यह काम न्यायोचित नहीं है, हम चिरकालसे आपकी सेवा करते आये हैं अतः उच्चपद-प्राप्तिका पहले हमारा हक है इसपर राजाने उनको एक उदाहरण देकर समझाया जो इस प्रकार है:—

एक रईस एक बागका मालिक था, जहाँपर कई मजदूर काम किया करते थे। एक दिन प्रातःकाल वह बाजारमेंसे गुजर रहा था कि उसने देखा कि कुछ मजदूर सामान टोकरी आदि उठाये मजदूरीके लिये बाजारमें घूम रहे हैं। रईसने पूछा, 'क्या तुम मेरे बागमें नौकरी करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'हाँ' फिर रईसने पूछा कि शामतक क्या मजदूरी लोगे? उत्तर मिला कि 'एक रुपया आदमी' रईसने कहा 'बहुत अच्छा' हमारे बागमें जाकर काम करो। मजदूरोंने बागमें जाकर कार्य आरम्भ कर दिया। दोपहरके बाद वह रईस फिर बाजारमें घूमने निकला और देखा कि कुछ और मजदूर अपना सामान लिये मजदूरीके लिये बाजारमें फिर रहे हैं। रईसने पूछा 'क्या तुम मजदूरी करोगे?' उत्तर मिला 'हाँ।' रईसने उनको भी बागमें कामपर भेज दिया, वे भी वहाँ जाकर काम करने लगे। पुनः दो घड़ी दिन रहनेपर रईस फिर बाजारमें गश्त कर रहा था, उसको फिर भी कुछ मजदूर कामके लिये फिरते हुए दीख पड़े। उसने पूछा, 'क्या तुम मेरे बागमें काम करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया 'हाँ', रईसने उनको भी बागमें भेज दिया। वहाँ जाकर उन्होंने भी अपना कार्य आरम्भ कर दिया। जब दिन छिप गया तो रईस अपने खजांचीको साथ लेकर बागमें मजदूरी बाँटनेके लिये पहुँचा। सबसे पहले उन मजदूरोंको बुलाया जो प्रातःकालसे शामतक लगे रहे थे, उनको एक एक रुपया देकर बिदा किया। फिर उन मजदूरोंको बुलाया जिन्होंने दोपहरसे शामतक काम किया था, उनको भी एक एक रुपया देकर बिदा किया। तीसरी बार उन मजदूरोंको बुलाया जिन्होंने केवल दो घड़ी ही काम किया था, उनको भी एक एक रुपया देकर बिदा किया। बाहर निकलकर जब सब मजदूर एकत्रित हुए तो उन्होंने अपने-अपने काम करने और मजदूरी मिलनेका आपसमें जिक्र किया। दो घड़ी काम करनेवालोंको भी वही मजदूरी मिली, यह सुनकर उन मजदूरोंने जिन्होंने पूरे और आधे दिन काम किया था, रईसपर नाराज होकर कहा कि, 'आपने बहुत बेइन्साफी की है क्योंकि हमको उन मजदूरोंके बराबर ही पैसे मिले हैं जिन्होंने केवल दो घड़ी ही काम किया है। कहाँ बारह घंटे, कहाँ छः घंटे और कहाँ एक घंटेसे भी कम, और मजदूरी सबको समान, भला यह कैसे न्याय हो सकता है, यह तो पूरा अन्याय है। रईसने पहले उन मजदूरोंकी ओर देखा जिन्होंने दिनभर काम किया था और पूछा

कि 'तुमने सारे दिनके लिये क्या माँगा था ?' उन्होंने कहा 'प्रतिजन एक रुपया' 'तो फिर क्या मिला ?' उन्होंने कहा, 'जो माँगा था मिल चुका' रईसने कहा, 'तो फिर क्या अन्याय हुआ ?' उन्होंने कहा कि 'हमने दिनभर टोकरी ढोई हमको भी एक रुपया और जिन्होंने केवल एक घंटासे भी थोड़ा काम किया उनको भी एक रुपया।' यही पुकार उन लोगोंने भी की जिन्होंने आधे दिन काम किया था। इसपर रईसने कहा कि 'जिस थैलीसे तुमको यह मजदूरीके पैसे मिले हैं उसमें किसके रुपये थे' उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपके।' रईसने कहा कि 'जब रुपये मेरे थे तो उनके खर्च करनेका अधिकार भी तो मुझको ही है। यदि मैं इसमेंसे किसीको कुछ भी दे दूँ तो इसमें अन्याय नहीं हो सकता। हाँ! यदि मैं किसीकी निश्चित मजदूरी काटकर उसका हक किसी दूसरेको दे दूँ तो यह न्यायविरुद्ध हो सकता है, चाहे उन लोगोंको इससे सन्तोष हो या नहीं।' रईसका ऐसा जवाब सुनकर वे सब-के-सब चुपचाप अपने-अपने घरको चले गये। राजाके यह वचन सुनकर सब मन्त्री भी चुप हो गये!

श्रीगदाधर भट्ट

यह महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके समकालीन थे, आप महाप्रभुको भागवत सुनाया करते थे। आपके चरित्र और स्वभावमें साधुता भरी हुई थी, आप जब प्रेमरसमें छककर भागवतकी कथा कहते तब सुननेवालोंकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती। एक दिन एक भक्तिहीन महन्त कथामें आ बैठे, भट्टजीकी कथा सुनकर सभी श्रोता आँसू बहाने लगे परन्तु उसके आँखसे एक बूँद भी नहीं गिरी, अपना प्रेम दिखानेके लिये महन्त दूसरे दिन मिर्च पीसकर साथ ले गया और युक्तिसे उसे आँखोंमें लगा लिया, मिर्च लगते ही आँखोंसे पानी बहने लगा। भट्टजीको पीछेसे यह बात मालूम होनेपर उन्होंने महन्तकी तारीफ की और कहा कि मैं उनसे मिलूँगा। भट्टजी महन्तके घर गये और बोले कि 'आपको धन्य है, आपका भगवान्‌पर बड़ा प्रेम है तभी तो आप कथा सुनने पधारे थे। कथामें प्रेमाश्रु बहने चाहिये इस बातको भी आप जानते हैं। किसी पूर्वके प्रतिबन्धकसे नेत्रोंसे आँसुओंने निकलनेमें देर की इसीसे आपने नेत्रोंपर क्रोध करके उन्हें सजा देनेकी चेष्टा की!'

सरलहृदय भट्टजी किसीसे भी घृणा नहीं करते, महन्तकी कपटताको भी उन्होंने किस सुन्दर भावसे ग्रहण किया! यही भक्तोंके स्वभावकी महिमा है। महन्तने मनमें सोचा कि मेरे अपराध-छलका भी इन्होंने कितना अच्छा अर्थ लगाया है, उसका हृदय द्रवित हो गया, वह सचमुच रोने लगा और भक्त भट्टजीके चरणोंमें गिर पड़ा। इसी दिनसे उसका स्वभाव बदल गया और वह पाषाणहृदयके बदले अत्यन्त कोमलहृदय सच्चा भगवद्भक्त बन गया!

एक दिन रातको किसी चोरने भट्टजीके घर आकर धनकी गठरी बाँधी, गठरी भारी हो गयी, किसी प्रकार उठती न देखकर, भट्टजीने उसके पास आकर गठरी उठा दी, चोर उन्हें पहचानकर घबरा गया! भट्टजी बोले! 'भाई घबरा मत! इस सामानको तू ले जा, यहाँ भी लोग ही खायँगे और तेरे घरपर भी मनुष्य ही खानेवाले हैं। इसे जल्दी ले जा! यहाँ तो और भी सामान है, तुझे ऐसा शायद कभी न मिला होगा?' भगवत्प्रेमी गदाधरजीके करुणवचनोंने चोरके हृदयपर बड़ा प्रभाव डाला, उसने उसी दिनसे चोरी छोड़ दी और वह भट्टजीका शिष्य बनकर मेहनत-मजदूरीसे अपने परिवारका पालन करने लगा और सच्चा भक्त बन गया!

भट्टजीका कोई स्वतन्त्र हिन्दी ग्रन्थ नहीं मिलता, फुटकर पद मिलते हैं जो बड़े ही उत्तम और सरस हैं। आपका एक पद है—

है हरितैं हरिनाम बड़ेरो, ताकों मूढ़ करत कत झेरो॥
प्रगट दरस मुचकुन्दहिं दीन्हौं, ताहू आयुसु भो तप केरो॥
सुत हित नाम अजामिल लीनो, या भवमें न कियो फिरि फेरो॥
पर अपवाद स्वाद जिय राच्यो, बृथा करत बकवाद घनेरो॥
कौन दसा ह्वैहै जु गदाधर, हरि हरि कहत जात कह तेरो॥

—रामदास गुप्त

भक्ति-सुधा-सागर-तरंग

(लेखक—श्रीयुत 'यन्त्रारूढ़')

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक। इनके पद बन्दन किये नाशत विघ्न अनेक॥

(१) प्राणिमात्र पूर्ण और नित्य सुख चाहते हैं।

(२) पूर्ण और नित्य सुख अपूर्ण और अनित्य वस्तुसे कभी नहीं मिल सकता।

(३) ब्रह्मलोकतकके समस्त भोग अपूर्ण और अनित्य हैं, उनकी प्राप्तिसे नित्य तृप्ति नहीं होती; वहाँसे भी वापस लौटना पड़ता है, पूर्ण और नित्य तो केवल एक परमात्मा है, जिसके मिल जानेपर फिर कभी लौटना नहीं पड़ता—(गीता ८।१६) इसीलिये मनुष्य किसी भी स्थितिमें तृप्त और सन्तुष्ट नहीं है, इसीसे ऋषिकुमार नचिकेताने भोगोंका सर्वथा तिरस्कार कर कल्याणकी इच्छा की थी। (कठोपनिषद्)

(४) उस परम कल्याणकी प्राप्तिके कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति आदि अनेक उपाय हैं, परन्तु उन सबमें भक्ति मुख्य है (शाण्डिल्यसूत्र २२; नारदसूत्र २५)

(५) भक्तिमें साधकको भगवान्‌का बड़ा सहारा रहता है, अपनेमें चित्त लगानेवाले भक्तको भगवान् ऐसी निश्चयात्मिका विमल बुद्धि दे देते हैं जिससे वह अनायास ही परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है (गीता १०।१०) भगवान् बहुत शीघ्र उसका संसारसागरसे उद्धार कर देते हैं। (गीता १२।७)

(६) भक्तिरहित योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप, या त्यागसे भगवान् उतने प्रसन्न नहीं होते जितना भक्तिसे होते हैं (भागवत ११।१४।१९) क्योंकि भक्तिमें इन सबका स्वाभाविक समावेश है और भगवान्‌के परम तत्त्वको जानना, भगवान्‌के दर्शन करना तथा भगवान्‌में मिल जाना तो केवल अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है। (गीता ११।५४)

(७) अखिल विश्वके आत्मरूप एक परमात्माको सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण कर देना उस भूमाकी असीम सत्तामें अपनी आत्मसत्ताको सर्वथा विलीन कर देना ही वास्तविक भक्ति है। इसी भक्तिका तत्त्वज्ञ और रसज्ञ भक्तोंने 'परमप्रेमरूपा' और 'परानुरागरूपा'के नामसे वर्णन किया है। (शाण्डिल्यसूत्र २, नारदसूत्र० २) असलमें तत्त्वज्ञान और पराभक्ति एक ही स्थितिके दो नाम हैं।

(८) जगत्‌के वन्दनीय जनों तथा देवताओंकी भी भक्ति की जाती है परन्तु मनुष्यके अनादिकालीन ध्येय नित्य और पूर्ण सुखरूप परमात्माको प्राप्त करानेवाली तो ईश्वरभक्ति ही है। अतएव भक्ति शब्दसे 'ईश्वरभक्ति' ही समझना चाहिये।

(९) साकार-निराकार दोनों ही ईश्वरके रूप हैं, 'परमात्मा अव्यक्तरूपसे सबमें व्याप्त है'(गीता ९।४) और वही भक्तकी भावनानुसार व्यक्त साकार अग्निकी तरह चाहे जब चाहे जहाँ प्रकट हो सकता है। असलमें जल तथा बर्फकी तरह निराकार और साकार एक ही है!

(१०) भगवान्‌के किसी भी नाम-रूपकी या निराकारकी भक्ति की जा सकती है। यह भक्तकी प्रकृति, रुचि, अधिकार और अवस्थापर निर्भर है।

(११) मुख्यके अतिरिक्त उसीके साधनस्वरूप गौणी भक्ति तीन प्रकारकी है, साधकके स्वभाव-भेदसे ही भक्तिमें इस भेदकी कल्पना है। (भागवत ३।२९।७)

(१२) जो भक्ति हिंसा, दम्भ, मत्सरता, क्रोध और अहङ्कारसे कामनापूर्तिके लिये की जाती है वह तामस है। (भागवत ३।२९।८)

(१३) जो भक्ति विषय, यश या ऐश्वर्यकी कामनासे भेददृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमा आदिकी पूजा-रूपमें की जाती है वह राजस है (भागवत ३।२९।९)

(१४) जो भक्ति पाप-नाशकी इच्छासे, समस्त कर्मफल परमात्मामें अर्पण करके, परमात्माकी प्रीतिके

लिये यज्ञ करना कर्तव्य है यह समझकर भेददृष्टिसे की जाती है वह सात्त्विक है (भागवत ३ । २९ । १०)

(१५) इन तीनोंमें कामना और भेददृष्टि रहनेसे इनको गौणी भक्ति कहते हैं । इनमें तामससे राजस और राजससे सात्त्विक श्रेष्ठ है (नारदभक्तिसूत्र ५७) इनके साधनसे साक्षात् मुक्ति नहीं मिलती परन्तु सर्वथा न करनेकी अपेक्षा इनको करना भी उत्तम है । मनुष्यको चाहिये कि यदि सात्त्विक न हो सके तो कम-से-कम राजससे ही भक्तिका साधन अवश्य आरम्भ कर दे ।

(१६) गीतामें आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ये चार प्रकारके पुण्यात्मा और उदार भक्त बतलाये गये हैं । इनमेंसे पहले तीन गौण और चौथा मुख्य भगवान्‌का आत्मा ही है (गीता ७ । १६-१७; नारदसूत्र ५६-५७)

(१७) रोग-शोक-भयसे पीड़ित होकर उससे छूटनेकी इच्छासे जो पुरुष भक्ति करता है वह आर्त भक्त है । जैसे गजराज, द्रौपदी आदि ।

(१८) इस लोक या परलोकके किसी भोगके लिये जो भक्ति करता है वह अर्थार्थी भक्त है जैसे ध्रुव, विभीषण आदि ।

(१९) ये दोनों प्रकारकी भक्ति राजसीके अन्तर्गत आ जाती हैं । वास्तवमें भगवान्‌की भक्तिमें किसी प्रकारकी कामना नहीं करनी चाहिये (नारदसूत्र ७) । पर किसी तरहसे भी की हुई भगवान्‌की भक्ति अन्तमें साधकके हृदयमें प्रेम पैदा करके उसका परम कल्याण कर देती है (गीता ७ । २३) । ध्रुव, विभीषण, गजराज, द्रौपदी आदिके उदाहरण प्रत्यक्ष हैं ।

(२०) विषयोंकी कामना भगवान्‌का यथार्थ महत्त्व न जाननेके कारणसे ही होती है, इससे जो पुरुष भगवान्‌के रहस्यको यथार्थरूपसे जाननेके लिये भक्ति करता है वह जिज्ञासु कहलाता है, उसे अन्य कोई कामना नहीं रहती, इसीलिये वह पूर्वोक्त दोनोंसे उत्तम माना गया है । वास्तवमें स्वरूप जाने बिना भक्ति किसकी और कैसे हो ?

(२१) जाने बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई ।
जिमि खगेस जलकी चिकनाई ॥
बिमल ज्ञान जल पाइ अन्हाई ।
तब रह राम भगति उर छाई ॥

(२२) भगवान्‌को यथार्थ जानकर जो अभेद भावसे निष्काम और अनन्यचित्त होकर भक्ति करता है वह ज्ञानी भक्त है। ऐसे तन्मय एकान्त-भक्तको ही श्रीनारदने 'मुख्य' बतलाया है । (नारदसूत्र ६७, ७०) वास्तवमें जो अपनेमें भगवान्‌की भावना करके सब प्राणियोंमें अपनेको और भगवत्स्वरूप आत्मामें सबको देखता है वही श्रेष्ठ भागवत है । (भागवत ११ । २ । ४५) परन्तु इस प्रकार सर्वत्र वासुदेवको देखनेवाले भक्त जगत्‌में अत्यन्त दुर्लभ हैं । (गीता ७ । १९) परमात्माके माहात्म्यको न जानकर जो भक्ति की जाती है वह तो व्यभिचारिणी स्त्रीकी उपपतिके प्रति रहनेवाली प्रीतिके सदृश है (नारदसूत्र २२-२३) ।

(२३) भगवान्‌के सम्यक् ज्ञान बिना भजनका परम आनन्द स्थायी और एक-सा नहीं होता । भजनकी एकतानतामें श्रीनारदजीने गोपियोंका दृष्टान्त देकर (नारदसूत्र २१) यह बतलाया है कि गोपियोंकी भक्ति अन्ध नहीं थी, वे भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानती थीं (नारदसूत्र २२, भागवत १० । २९ । ३२; १० । ३१ । ४) गोपियोंकी परमोच्च भक्तिमें व्यभिचार देखनेवालोंकी आँखें और बुद्धि दूषित हैं ।

(२४) ज्ञानी भक्त भगवान्‌को आत्मवत् प्रिय होते हैं (गीता ७ । १८) यह नहीं समझना चाहिये कि आत्माराम ज्ञानी पुरुष नित्य बोधस्वरूपमें अभिन्न स्थित होनेके कारण भक्ति नहीं करते, सच्ची अहैतुकी भक्ति तो वे ही करते हैं । भगवान्‌के गुण ही ऐसे

विलक्षण हैं कि शुकदेव-सरीखे आत्माराम मुनियोंको भी उनकी अहैतुकी भक्ति करनी पड़ती है ।

(भागवत ३ । २५)

(२५) भगवान् ही सब भूतोंके अन्दर-बाहर और सर्वभूतरूपसे स्थित हैं (गीता १३ । १५), यह जानकर जो 'उस सर्वव्यापी भगवान्के गुण सुनते ही, सब प्रकारकी फलाकांक्षासे रहित होकर, गंगाका जल जैसे स्वाभाविक ही बहकर समुद्रके जलमें अभिन्नभावसे मिल जाता है वैसे ही भक्तगण अपनी कर्मगतिको अविच्छिन्नभावसे भगवान्में समर्पण कर देते हैं, इसीका नाम निर्गुण या निष्काम भक्ति है । इसीको अहैतुकी भक्ति कहते हैं (भागवत ३ । २९ । ११-१२)

(२६) ऐसे अहैतुक भक्त आप्तकाम, पूर्णकाम और अकाम होनेके कारण भगवत्-सेवाके स्वाभाविक आचरणको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते । संसारके भोग और स्वर्गसुखकी तो गिनती ही क्या है वे मुक्ति भी नहीं ग्रहण करते— 'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने' । भगवान् स्वयं उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य यह पाँच प्रकारकी मुक्ति देना चाहते हैं, पर वे नहीं लेते, यही आत्यन्तिक एकान्त-भक्ति है । (भागवत ३ । २९)

(२७) ऐसे भक्त श्रद्धायुक्त होकर, अनिमित्त माया-भोगको त्यागकर, हिंसा-द्वेषसे रहित हो विधिवत् कर्मयोगका निष्काम आचरण करते हैं—भगवान्का दर्शन, सेवन, अर्चन, स्तवन और भजन करते हैं—धैर्य और वैराग्यसे युक्त होकर प्राणिमात्रमें भगवान्को देखते हैं—महात्माओंका मान, दीनोंपर दया और समान अवस्थाके लोगोंसे मैत्री करते हैं,—यम-नियमका पालन, भगवत्-कथाओंका श्रवण, भगवन्नाम-कीर्तन और अहंकार तथा कपट छोड़कर विनीत भावसे सदा-सर्वदा सत्संग करते हैं (भागवत ३ । २९ । १५-१८) ।

(२८) इसी भक्तिको 'पराभक्ति' कहते हैं । पराभक्तिको प्राप्त करनेका क्रम यह है—विशुद्धबुद्धि, एकान्तसेवी और मिताहारी होकर, मन-वाणी-शरीरको वशमें कर, दृढ़ वैराग्य धारणकर, नित्य ध्यान-परायण रहकर, सात्त्विकी धारणासे चित्तको वशमें कर, विषयोंका त्यागकर, रागद्वेषको छोड़कर, अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध-परिग्रहसे रहित होकर, ममता-मोहको त्यागकर जब साधक शान्तचित्त हो जाता है तब वह ब्रह्मज्ञानके योग्य होता है, तदनन्तर ब्रह्मीभूत होकर, किसी वस्तुके जानेमें शोक एवं किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी आकांक्षाका सर्वथा त्यागकर जब प्रसन्नचित्तसे समस्त प्राणियोंमें समभावसे परमात्माको देखता है तब उसे पराभक्ति मिलती है । इस पराभक्तिसे वह भगवान्को यथार्थ जानकर उसी क्षण भगवान्में मिल जाता है (गीता १८ । ५१-५५)

(२९) इसी भक्तिका एक नाम 'प्रेमाभक्ति' है । इसमें भी भक्त सब प्रकारके परिग्रहको त्यागकर, सब कुछ परमात्मामें अर्पणकर उसके प्रेममें मतवाला हो जाता है, एक क्षणकी भगवान्की विस्मृति उसे परम व्याकुल कर डालती है (नारदसूत्र १९)। 'प्रेमाभक्ति'का साधक इतना उच्च वैराग्यसम्पन्न होता है कि जिसकी किसीसे तुलना नहीं की जा सकती । वह अपने प्रेमास्पद भगवान्के लिये इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंको सदाके लिये तिलाञ्जलि देकर अपने आचरणोंसे केवल हरिको ही प्रसन्न करना चाहता है, वह उसी कर्मका अनुष्ठान करता है जिससे हरि भगवान्को आनन्द हो, 'तत्सुखे सुखित्वम्' ही उसके जीवनका लक्ष्य रहता है (नारदसूत्र २४), वह अपना सिर तो हथेलीपर रक्खे घूमता है । तदनन्तर प्रेमकी बाढ़से उस भक्तिकी गुणरहित मादकतासे वह उन्मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो (नारदसूत्र ६) कभी द्रवित-चित्त होकर गद्गद् वाणीसे गुणगान करता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चुप हो रहता है, कभी निर्लज्ज होकर गाता और कभी प्रेमविह्वल होकर नाचता है । ऐसे

वन्दन-भक्त—अक्रूरजी

भक्तिसम्पन्न सच्चे प्रेमी पुरुषके संसर्गसे त्रिभुवन पवित्र होता है। (भागवत ११।१४।२४) ऐसे प्रेमियोंके कण्ठ रुक जाते हैं, वे आँसुओंकी धारा बहाते हुए कुल और पृथ्वीको पवित्र करते हैं। वे तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मको सत्कर्म और शास्त्रको सत्‌शास्त्र बनाते हैं, क्योंकि वे भगवान्‌में तन्मय हैं, उनको देखकर पितृगण आनन्दमें भर जाते हैं, देवता नाच उठते हैं और पृथ्वी सनाथा होती है। (नारदभक्तिसूत्र ६८—७१)

प्रेमी भक्त सब प्रकारके विधि-निषेधसे स्वाभाविक ही परे रहते हैं। (नारदसूत्र ८) आगे चलकर वह भक्त तद्रूप हो जाते हैं और समस्त जड़-चेतन-जगत्‌में केवल हरिका स्वरूप ही देखते हैं। उनका 'मैं' पन भगवान्‌में सर्वथा विलीन हो जाता है। यही प्रेमाभक्ति-का परिणाम है।

जब मैं था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' हैं मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

(३०) इसीका एक नाम अनन्यभक्ति है, जो साधक अनन्यभावसे भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करता है, भगवान्‌के ही परायण रहता है, भगवान्‌का ही भक्त है, स्त्री-पुत्र-स्वर्ग-मोक्षादिकी आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें सर्वथा निर्वैर होता है वह भगवान्‌को ही पाता है। (गीता ११।५५) ऐसे भक्तके पूर्वकृत समस्त पाप बहुत शीघ्र नाशको प्राप्त हो जाते हैं (गीता ९।३०-३१) और उसके योगक्षेमका स्वयं भगवान् वहन करते हैं।

(गीता ९।२२)

(३१) इस प्रकार अहैतुकी, परा, एकान्त, विशुद्ध, निष्काम, प्रेमा, अनन्य आदि सब एक ही उच्चतम भक्तिके कुछ रूपान्तर भेद हैं। इस परम भक्तिको प्राप्त करना ही भगवत्-प्राप्तिका प्रधान उपाय है। गौणी भक्ति भी इसी फलको देती है। इस परम भक्तिका परिणाम या इसीका दूसरा नाम 'भगवत्-प्राप्ति' है।

(३२) प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त एकनाथ महाराजने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानीकी व्याख्या दूसरी तरहसे की है। उनका भाव है कि मूल श्लोकमें जब आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानीका यह क्रम है तब हमें अर्थ करनेमें यह क्रम क्यों बदलना चाहिये। ज्ञानी तो भगवद्रूप है ही। बाकी तीनोंके लौकिक और पारमार्थिक दोनों अर्थ करके वे पारमार्थिक अर्थ ग्रहण करनेको कहते हैं—

आर्त—रोगी (लौकिक अर्थ), भगवत्-प्राप्तिके लिये व्यथित (पारमार्थिक)।

जिज्ञासु—वेदशास्त्रके जाननेका इच्छुक (लौकिक अर्थ), भगवत्-तत्त्व जाननेके लिये उद्योग करनेवाला (पारमार्थिक)।

अर्थार्थी—धनकी कामनावाला (लौकिक), सब अर्थोंमें एक भगवान् ही परम अर्थ है ऐसी दृढ़ भावनावाला भगवान्‌का अर्थी (पारमार्थिक)।

इस अर्थका क्रम देखनेसे उत्तरोत्तर उत्तमता समझमें आती है। भगवान्‌के लिये जिसके हृदयमें व्यथा उत्पन्न होती है वह आर्त, तदनन्तर जो वेद-शास्त्र-पुराणादि और साधु-महात्माओंके सेवनद्वारा भगवान्‌का अनुसन्धान करता है वह जिज्ञासु और भगवान्‌के सिवा अन्यान्य सभी अर्थ अनर्थरूप हैं, यों जानकर सभी अर्थोंमें उस एक अर्थको देखनेवाला अर्थार्थी एवं उस अर्थके प्राप्त कर लेनेपर 'सब कुछ हरिमय है' इस निश्चयपर सदा आरूढ़ रहनेवाला ज्ञानी भक्त है।

(३३) इस भक्तिसाधनकी नौ सीढ़ियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। (भागवत ७।५।२३)

इन नौके तीन विभाग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरणसे भगवान्‌के नामकी सेवा; पादसेवन, पूजन और वन्दनसे रूपकी सेवा; और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदनसे भावद्वारा होनेवाली सेवा है। इन नौ साधनोंको इस तरह समझना चाहिये—

श्रवण—भगवान्‌की महिमा, कीर्ति, शक्ति, लीला, कथा और उनके चरित्र, नाम, गुण, ज्ञान, महत्त्व

आदिको श्रद्धापूर्वक अतृप्तमनसे सदा सुनते रहना और अपनेको तदनुसार बनानेकी चेष्टा करना। राजा परीक्षित, पृथु, उद्धव आदि इसी श्रेणीके भक्त हैं।

कीर्तन—भगवान्‌के यश, पराक्रम, गुण, माहात्म्य, चरित और नामोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना।

(क) कीर्तन स्वाभाविक होना चाहिये, उसमें कृत्रिमता न हो, (ख) कीर्तन केवल भगवान्‌को रिझानेकी शुभ भावनासे हो, लोगोंको दिखलानेके लिये न हो। (ग) कीर्तन नियमितरूपसे हो। (घ) यथासम्भव कीर्तनमें बाजे और करतालका भी प्रबन्ध रहे। (ङ) कीर्तनके साथ स्वाभाविक नृत्य भी हो। (च) समय-समयपर मण्डली बनाकर नगर-सङ्कीर्तन भी किया जाय। स्वाभाविक कीर्तन वह है जो अपने मनकी मौजसे अपने सुखके लिये बिना प्रयास होता है, उसमें एक अनोखी मस्ती रहती है जिसका अनुभव उस साधकको ही होता है, दूसरे लोग उसका अनुमान भी नहीं कर सकते !

माननीय, गुणज्ञ, सारग्राही सत्पुरुष इसीलिये कलियुगकी प्रशंसा करते हैं कि इसमें कीर्तनसे ही साधक संसारके सङ्गका त्यागी होकर परमधामको पाता है। (भागवत ११ । ५) महाप्रभु चैतन्य, भक्त तुकाराम और नरसीजी आदि इसके उदाहरण हैं। इस दोषपूर्ण कलियुगमें यही एक भारी गुण है कि इसमें भगवान्‌के कीर्तनसे ही मनुष्य समस्त बन्धनोंसे छूटकर परमधामको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल होता था वही कलियुगमें केवल श्रीहरि-कीर्तनसे होता है। (भागवत १२ । ३) अतएव जो अहर्निश प्रेमपूर्वक हरिकीर्तन करते हुए घरका सारा काम करते हैं वे भक्तजन धन्य हैं। (भागवत)

भगवान्‌के नामके समान मङ्गलकारी और कुछ भी नहीं है, भक्तिरूपी इमारतकी नींव श्रीभगवन्नाम ही है। पूर्वकृत महान् पापोंका नाश करनेमें भगवान्‌का नाम प्रचण्ड दावानल है, भक्त अजामिल और जीवन्ती वेश्याका इतिहास प्रसिद्ध है। परन्तु जो लोग दम्भसे या पाप करनेके लिये भगवान्‌का नाम लेते हैं वे पातकी हैं। जो लोग नामकी आड़में पाप करते हैं उनके वे पाप वज्रलेप हो जाते हैं, उन पापोंकी शुद्धि करनेमें यमराज भी समर्थ नहीं हैं। (पद्मपुराण ब्रह्मखण्ड २५ । १५) नारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य, सूर, तुलसी, नानक, तुकाराम आदि कीर्तनश्रेणीके भक्त समझे जाते हैं।

स्मरण—जैसे लोभी धनको और कामी कामिनीको स्मरण करता है उसी प्रकार नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये। भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको बार-बार स्मरणकर उसपर मुग्ध होना और उस गुणावलीके अनुकरण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जो मनुष्य अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता है, उसके लिये भगवान् बड़े सुलभ हैं। (गीता ८ । १४) जो मृत्युसमय भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह निःसन्देह भगवान्‌को प्राप्त होता है परन्तु अन्तकालमें स्मरण वही कर सकता है जिसने जीवनभर भगवत्-स्मरणका अभ्यास किया हो। (गीता ८ । ५—७) स्मरणके अन्तर्गत ही ध्यान समझना चाहिये। स्मरणभक्तिमें प्रह्लाद, भीष्म, हनुमान्, व्रजबालाएँ, विदुर, अर्जुन आदि समझने चाहिये।

पादसेवन—श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो निराकार और निर्गुण भगवान्‌का भी हो सकता है, परन्तु पादसेवनसे लेकर आत्मनिवेदनतकमें साकारकी भी आवश्यकता रहती है। भक्त श्रीभगवान्‌के जिस रूपका उपासक हो उसीका चरणसेवन करना चाहिये। भगवत्पदारविन्दसेवन भक्तिमें प्रधान साधन है। महादेवी श्रीलक्ष्मीजी सदा श्रीभगवान्‌के पादसेवनमें प्रवृत्त रहती हैं। जबतक यह जीव श्रीभगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं लेता तभीतक

वह धन, घर और परिवारके लिये शोक, भय, इच्छा, तिरस्कार और अति लोभ आदिके द्वारा सताया जाता है। (भागवत ३। ९। ६) ज्ञान-वैराग्ययुक्त होकर योगीलोग भक्तियोगसे भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं। (भागवत ३। २५। ४२) श्रीलक्ष्मीजी, रुक्मिणीजी आदि इसमें प्रधान हैं।

जगत्‌में प्राणिमात्रको भगवद्रूप समझकर आवश्यकतानुसार सबकी चरण-सेवा करनी चाहिये। स्त्री पतिको, पुत्र मातापिताको और शिष्य गुरुको परमात्मा मानकर उनकी चरण-सेवा करे।

पूजन—अपनी रुचिके अनुसार मनसा वाचा कर्मणा भगवान्‌की पूजा करना अर्चन या पूजन कहलाता है। पूजनके लिये आकारकी आवश्यकता होती है इसीलिये सुविज्ञ शास्त्रकारोंने मूर्तिकी व्यवस्था की है। (क) पत्थरकी, काठकी, धातुकी, मिट्टीकी, चित्रकी, बालूकी, मणियोंकी और मनकी यह आठ प्रकारकी प्रतिमाएँ होती हैं। (भागवत ११। २७) बाह्य पूजा करनेवाले साधकको मनकी मूर्ति छोड़कर बाकी सात प्रकारमेंसे अपनी रुचि और अवस्थाके अनुसार कोई-सी मूर्ति निर्माण करनी या करानी चाहिये। (ख) पूजामें सोलह उपचार होते हैं। (ग) पूजाकी सामग्री सर्वथा पवित्र होनी चाहिये। (घ) केवल बाहरी पवित्रता ही नहीं, परन्तु भगवान्‌की पूजा-सामग्री न्यायोपार्जित द्रव्यकी होनी चाहिये, अन्याय या चोरीसे उपार्जित द्रव्यद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेसे वह पूजा कल्याण देनेवाली नहीं हो सकती। (पद्म-पुराण पातालखण्ड ५०। ७२) शुद्ध वृत्तिद्वारा उपार्जित द्रव्यसे ही नारायण भगवान्‌का यज्ञ करना चाहिये। (भागवत १०। ९४। ३७) भगवान्‌की पूजा करनेवाले-को द्रव्यशुद्धिके लिये धन कमानेमें अन्याय, असत्यका त्याग करना चाहिये। (ङ) इसके सिवा भगवान्‌को वही वस्तु अर्पण करनी चाहिये जो अपनेको अत्यन्त प्रिय और अभिलषित हो। (भागवत ११। ११। ४१) जो लोग निकम्मी चीजें भगवान्‌के अर्पणकर अभिलषित वस्तुकी रक्षा करते हैं वे यथार्थमें भक्त नहीं हैं। (च) इसलिये पूजाके साथ-साथ हृदयमें भक्ति भी चाहिये। भक्तिरहित पुरुष पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि अनेक सामग्रियोंद्वारा भगवान्‌की बड़ी पूजा करता है तब भी भगवान् उसपर प्रसन्न नहीं होते।

भगवान् प्रेम या भावके भूखे हैं, उन्हें पूजा करवानेकी अभिलाषा नहीं है, केवल भक्तोंका मान बढ़ाने और उन्हें आनन्द देनेके लिये ही भगवान् पूजा स्वीकार करते हैं। असलमें जो लोग भगवान्‌का सम्मान करते हैं वह उन्हींको मिलता है, जैसे दर्पणमें अपने ही मुखकी शोभा दीख पड़ती है।

(भागवत ७। ९। ११)

भगवान्‌के किसी रूपविशेषकी मानसिक पूजा भी होती है, भगवान्‌के एक-एक अवयवकी कल्पना करते हुए दृढ़तासे सम्पूर्ण मूर्तिको मनमें स्थिर करके उसकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर मूर्तिको चित्तसे हटाकर, चित्तको सर्वथा चिन्तनशून्य—निर्विषय करके अचिन्त्य परमात्मामें स्थित हो रहना चाहिये। यह अचिन्त्य ही विष्णुका परमपद है।

भगवान्‌के अवतारोंके दिव्य शरीरोंका वर्णन पुराणोंमें पढ़कर तदनुसार मूर्ति-निर्माण या मनमें कल्पना की जा सकती है। इस रूपमय जगत्‌की उत्पत्ति अरूपसे ही हुई है, इसलिये रूपसे ही वापस अरूपमें पहुँचा जा सकता है। जब चतुर चित्रकार अपने मनोमय रूपको चित्राङ्कित करके दिखला देता है तब यह भी मानना चाहिये कि भक्तके हृदयपटपर भगवान्‌के जिस असाधारण सौन्दर्यकी छाया पड़ती है, भक्त भी उसे बाहर अङ्कित करके उसकी पूजा कर सकता है। बाहर-भीतर दोनों जगह पूजा होनेसे ही तो पूजाकी पूर्णता है। (भू० सं०)

मूर्तिपूजासे भक्तिकी वृद्धिमें बड़ा लाभ हुआ है और उसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव

भक्तोंको मूर्तिपूजाका विरोध करनेवाले लोगोंके फेरमें भूलकर भी नहीं पड़ना चाहिये।

भगवान्‌के पूजनमें इन सात पुष्पोंकी बड़ी आवश्यकता है। (१) अहिंसा (२) इन्द्रियसंयम (३) दया (४) क्षमा (५) मनोनिग्रह (६) ध्यान (७) सत्य। इन पुष्पोंद्वारा की जानेवाली पूजासे भगवान् जितना प्रसन्न होते हैं उतना प्राकृत पुष्पोंसे नहीं होते। क्योंकि उन्हें उपकरणोंकी अपेक्षा भक्ति विशेष प्यारी है। भक्तके सिवा और किसीमें इन फूलोंसे भगवान्‌को पूजनेका सामर्थ्य नहीं है। (पद्मपुराण पातालखण्ड ५३। ४८—५०)

भगवान्‌की प्रतिमाओंके अतिरिक्त सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, अनन्त आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और सम्पूर्ण प्राणी इन ग्यारहको भगवान् मानकर इनकी पूजा करनी चाहिये। (भागवत ११। ११। ४२)

जो लोग सब प्राणियोंमें सदा निवास करनेवाले, सबके आत्मा और ईश्वर परमात्माको भुलाकर प्राणियोंसे तो हिंसा और द्वेष करते हैं पर भेदभावसहित प्रतिमापूजन बड़ी विधिसे किया करते हैं उनकी वह पूजा विफल होती है, वे भगवान्‌की अवज्ञा करते हैं, उनपर भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते। सब प्राणियोंके अन्दर रहनेवाले भगवान्‌से वैर रखनेवाले और उसका अनादर करनेवाले लोगोंको कभी शान्ति-सुख नहीं मिल सकता। (भागवत ३। २९। २१—२४) परन्तु कोई किसी भी तरह भगवान्‌की पूजा करे, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

अतएव प्राणिमात्रमें भगवान्‌की भावनाकर तन-मन-धनसे उनकी पूजा करना प्रत्येक भक्तका कर्तव्य है। भगवान् सर्वत्र है इससे भजनका अच्छे-से-अच्छा और समझमें आनेयोग्य स्थल प्राणिमात्र है। प्राणियोंमें जो दुःखी है, अपङ्ग है, निराधार है, उनकी सेवा ही भगवत्-सेवा है। (म० गा०) भूखेको अन्न, प्यासेको पानी, रोगीकी सेवा, गृहहीनको आश्रय, भयातुरको अभय और वस्त्रहीनको वस्त्र देना—श्रद्धा और सत्कारपूर्वक कर्तव्य समझकर देना सर्वभूतस्थित भगवान्‌की पूजा करना है। आवश्यकतानुसार मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, अनाथाश्रम, विधवाश्रम, औषधालय, कुआँ, तालाब आदिका भगवत्प्रीत्यर्थ निर्माण, स्थापन और सत्यतापूर्वक सञ्चालन करना भी भगवत्-पूजन ही है।

पूजनभक्तिमें राजा पृथु, अम्बरीष, अक्रूर, शबरी, मीरा और धन्ना आदि माने जाते हैं।

वन्दन-भगवान्‌की मूर्ति, संत-महात्मा, भगवद्भक्त, माता-पिता, आचार्य, पति, ब्राह्मण, गुरुजन और प्राणिमात्रके प्रति भगवान्‌की भावनासे नमस्कार करना, नम्रतायुक्त बर्ताव करना वन्दनभक्ति है। भक्तकी बुद्धिमें जगत् हरिमय हो जाता है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जीवजन्तु, वृक्षादि, नदी, समुद्र इन सबको भगवान्‌का शरीर समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये। (भागवत ११। २। ४१)

श्रीअक्रूर, अर्जुन आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

दास्य—भगवान्‌को एकमात्र स्वामी और अपनेको नित्य सेवक मानकर भक्ति करना। केवल सेवक मानना ही नहीं परन्तु प्रतिक्षण बड़ी सावधानी, नित्य नये उत्साह और बढ़ती हुई प्रसन्नतामें मन-बुद्धि-शरीरद्वारा निष्काम भावसे बाह्यान्तर सेवा करते रहना कर्तव्य है। जितनी अधिक सेवा हो उतना ही हर्ष बढ़ना दास्यभक्तिका लक्षण है। सच्चा भगवत्-सेवक सदा सेवा मिलती रहनेके अतिरिक्त और कोई फल नहीं चाहता। जिन भाग्यवानोंका चित्त भगवान्‌की सेवामें संलग्न है उनको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है। (भागवत) जो सेवाके बदलेमें भगवान्‌से

कुछ चाहता है वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। निष्काम सेवकको किसी भी फलकी अभिसन्धि नहीं होती।
(भागवत ७।१०।४)

निष्काम सेवकका धर्म स्वामीके इशारेपर चलना ही होता है, कोई कैसा ही मनके प्रतिकूल कार्य हो, प्रभुका इशारा मिलते ही वह उसके अनुकूल बन जाता है, जैसे आदर्श सेवक श्रीभरतजीका वनसे पुनः अयोध्यामें लौट आना।

सेवक कभी मन मारकर या बेगार समझकर सेवा नहीं करता। सेवामें प्रतिक्षण उसकी प्रसन्नता बढ़ती रहती है और वह किसी तरहका शुल्क लेकर सेवा नहीं करना चाहता। इसीसे गोपियोंने अपनेको निःशुल्क सेविका और प्रह्लादजीने निष्काम दास बतलाया था। अपूर्व दासभक्त हनुमान्जी महाराजने कभी कुछ नहीं माँगा, बिना माँगे उन्हें अमूल्य हार दिया गया तो उसको भी रामसे रहित जानकर नष्ट कर दिया। कभी माँगा तो केवल नित्यसेवाका सुअवसर माँगा और कहा कि, 'हे नाथ! मुझे वह भवबन्धनको काटनेवाली मुक्ति मत दीजिये, जिससे आपका और मेरा स्वामी-सेवकका सम्बन्ध छूटता है, मैं ऐसी मुक्ति नहीं चाहता।' भक्तको चाहिये कि वह सारे विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी निष्काम सेवा करे। विश्वका सेवक ही परमात्माका सेवक है, विष्णुसहस्रनाममें सबसे पहले 'विश्व' नामसे ही परमात्माका निर्देश किया गया है! श्रीहनुमान्जी, प्रह्लादजी और गोपियाँ इस श्रेणीके भक्तोंमें माने जाते हैं।

सख्य—भगवान्को ही अपना परममित्र मानकर उसपर सब कुछ न्योछावर कर देना। 'मित्रके दुःखमें दुःखी होना, मित्रके संकटको बहुत बड़ा और उसके सामने अपने बहुत बड़े संकटको तुच्छ समझना, मित्रको बुरे पथसे हटाकर अच्छेमें लगाना, उसके दोषोंको न देखकर गुण प्रकट करना, देन-लेनमें शङ्का न करना, शक्तिभर सदा हित करना, विपत्तिमें सौगुना प्रेम करना।' ये मित्रके लक्षण गोसाईं तुलसीदासजी महाराजने बतलाये हैं। अकारण सुहृद् भगवान् इन गुणोंसे स्वाभाविक ही विभूषित हैं। मनुष्यमें इन गुणोंकी पूर्णता नहीं मिल सकती। इसीलिये सख्य करने योग्य केवल परमात्मा ही है। भक्तको चाहिये कि वह इन गुणोंको अपने अन्दर उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे। सच्चे भक्तमें तो इन गुणोंका विकास होता ही है। वह समस्त चराचर जगत्को भगवान्का रूप समझकर सबसे प्रेम और मित्रताका व्यवहार करता है। इसीसे भगवान्ने भक्तको जगत्का मित्र बतलाया है। (गीता १२-१३)

भगवान्का सखा-भक्त अपना हृदय खोलकर भगवान्के सामने रख देता है यानी छल-कपटका वह सर्वथा त्यागी होता है, सुख-दुःखमें वह भगवान्की ही सत् सम्मति चाहता है, भगवान्को ही अपना समझता है और अपने घर-द्वार-धन-दौलत सबपर उस सखारूप भगवान्का ही निरंकुश अधिकार समझता है। उससे उसका प्रेम स्वाभाविक ही होता है, उसमें स्वार्थ या कामनाका कलङ्क नहीं रहता। ऐसे मित्रोंमें अर्जुन, उद्धव, सुदामा, श्रीदाम आदिके नाम लिये जाते हैं।

आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्तिका अन्तिम सोपान है। भक्त अपने आपको अहंकारसहित सर्वथा सदाके लिये परमात्माके समर्पण कर देता है। ऐसा भक्त ही निष्किञ्चन कहलाता है। यह अवस्था बहुत ही ऊँची होती है। राजा बलिने साकार भगवान्के चरणोंमें अपनेको अर्पण करके और याज्ञवल्क्य, शुकदेव, जनकादिने नित्य निर्विकार निर्गुण निराकार भगवान्में अपना अहंकार सर्वतोभावेन विलीन करके आत्मनिवेदनभक्तिको सिद्ध किया था।

यही भागवतोक्त नवधा भक्तिके भेद हैं।

(३४) रामचरितमानसमें गोसाईंजी महाराजने नवधा भक्तिका क्रम यों बतलाया है। (१) सत्संग (२) भगवत्-कथामें अनुराग (३) मानरहित होकर गुरुसेवा करना (४) कपट छोड़कर भगवान्के गुण गाना (५) दृढ़ विश्वाससे रामनाम जप करना (६) इन्द्रियदमन, शील, वैराग्य आदि सत्पुरुषोंद्वारा सेवनीय

धर्ममें लगे रहना (७) जगत्को हरिमय और सन्तको हरिसे भी अधिक समझना (८) सबसे छल छोड़कर सरल बर्ताव करना (९) भगवान्पर दृढ़ भरोसा रखकर हर्ष-विषाद न करना । श्रीअध्यात्मरामायणमें भी कुछ रूपान्तरसे नवधा भक्तिका ऐसा ही वर्णन है । सम्भव है, गोसाईंजीने यह प्रसंग वहींसे लिया हो ।

(३५) देवर्षि नारदजीने भक्तिके ग्यारह भेद बतलाये हैं । गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और परम विरहासक्ति । (नारदसूत्र ८२)

(३६) शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये पाँच रस भक्तिके माने जाते हैं । वेदान्ती भक्तोंने शान्त, सख्य, श्रीगोसाईंजी महाराजने दास्य, श्रीपुष्टिमार्गीय वैष्णव आचार्योंने वात्सल्य और श्रीचैतन्य महाप्रभुने माधुर्यको प्रधान माना है ।

(३७) कतिपय भक्ताग्रगण्य महानुभावोंने शरणागतिको ही प्रधान माना है । वास्तवमें बात भी ऐसी ही है ।

जो जाको शरणो गह्यो ताकहँ ताकी लाज ।
उलटे जल मछली चले बह्यो जात गजराज ॥

अवश्य ही शरण सच्ची होनी चाहिये । फिर भगवान् उसका सारा जिम्मा ले लेते हैं । भगवान्ने कहा है—सब धर्मोंको छोड़कर तू मुझ एककी शरण हो जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता न कर ! (गीता १८ । ६६) इससे अधिक आश्वासन और कैसे दिलाया जा सकता है । शरणागत भक्त सर्वथा भगवान्के अनुकूल होता है । शरणागति त्रिविध है—'मैं भगवान्का', 'भगवान् मेरे' और 'मैं वह एक ही हैं' इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है । बस, शरणागतिमें ही भक्ति-साधनका उपसंहार है । शरणागत भक्त भगवान्की आज्ञानुसार चलनेवाला, भगवान्के प्रत्येक कठोर-से-कठोर विधानमें सन्तुष्ट तथा भगवान्का ही अनुकरण करनेवाला होता है ।

(३८) जो मनुष्य भक्त बनना चाहता है परन्तु भगवान्के सद्गुणोंका अनुकरण नहीं करना चाहता उसकी भक्तिमें सन्देह है । भक्तको चाहिये कि वह भगवान् श्रीरामजीकी पितृमातृभक्ति, भ्रातृस्नेह, एकपत्नीव्रत, मर्यादापालन, शूरवीरता, नम्रता, प्रजावत्सलता, समता, तेज, क्षमा, मैत्री और भगवान् श्रीकृष्णके सखाप्रेम, गीताज्ञान, सेवा, दुष्टदलन, शिष्टसंरक्षण, निष्काम कर्म, न्याययुक्त मर्यादारक्षण, समता, शौर्य, प्रेम आदि गुणोंका अनुकरण करे ।

(३९) भक्तिका साधन केवल प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही किया जाता है, लोगोंको दिखलानेके लिये नहीं । अतएव भक्त बनना चाहिये, भक्ति दिखलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये । भक्ति हृदयका परम गुह्य धन है । तमाशा या खिलौना नहीं !

(४०) भक्त किसी प्रकारकी भी कामनाके वश नहीं होता, जो किसी कामनाके लिये भक्ति करते हैं वे असलमें भगवान् और भक्तिका मूल्य घटाते हैं । स्वार्थ और प्रेममें बड़ा विरोध है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रवि रजनी इक ठाम ॥

(४१) इन्द्रियसुखके लिये भक्ति करनेवालोंकी बुद्धिमें भगवान् या भक्ति साधन है और विषयसुख साध्य वस्तु है, वे विषयको भगवान्से बड़ा समझते हैं । जो लोग विषयसुखके साथ-साथ ही भगवत्प्राप्तिका सुख चाहते हैं वे या तो मूर्ख हैं, नहीं तो पाखण्डी ! एक म्यानमें दो तलवार नहीं रह सकती । भगवान् चाहिये तो विषयोंकी प्रीति छोड़ो !

(४२) भक्त अकिञ्चन कहलाता है क्योंकि वह अपना सर्वस्व 'मैं' 'मेरे' सहित शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार सब कुछ भगवान्के अर्पण कर देता है, उस-

के पास अपनी कहलानेवाली कोई वस्तु रहती ही नहीं। जिसके पास कुछ न हो, वही तो अकिञ्चन है। ऐसे अकिञ्चन भक्त भगवान्‌को बड़े प्यारे होते हैं। भगवान् उनकी चरणरज पानेके लिये उनके पीछे-पीछे घूमा करते हैं। (भागवत ११।१४।१६) क्योंकि वे भक्त ब्रह्मा, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहते। (मुक्ति तो उनके पीछे-पीछे डोला करती है) भगवान्‌को ऐसे भक्त ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी और अपने आत्मासे भी बढ़कर प्रिय होते हैं। वास्तवमें ऐसे ही अकिञ्चन, शान्त, दान्त, ईश्वरार्पित-चित्त, अखिल-जीव-वत्सल, विषय-वाञ्छा-रहित भक्त उस परमानन्दरूप परमात्माके आनन्दका रस जानते हैं। (भागवत ११।१४।१७)

(४३) ऐसे भक्तोंके ममत्वकी चीज अगर कोई रहती है तो वह केवल भगवान्‌के चरणकमल रहते हैं इसीसे वे भगवान्‌के हृदयमें निरन्तर बसते हैं।

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बटि डोरी॥
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं। हर्ष शोक भय नहिं मन माहीं॥
सो सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥
(रामचरितमानस)

(४४) भक्त शरीर, वाणी और मनसे तीन प्रकारके व्रतोंका आचरण किया करते हैं। शरीरसे हिंसा, व्यभिचार, अस्तेयका सर्वथा त्यागकर सबकी सेवा किया करते हैं। वाणीसे किसीकी चुगली-निन्दा न कर सत्य, मधुर और हितकर भाषण तथा वेदाध्ययन और नाम-संकीर्तन किया करते हैं और मनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकपटता, निरभिमानिता, निर्वैरताका पालन करते हुए सबका कल्याण चाहा करते हैं। जो मनुष्य मन, वाणी, शरीरसे छिपकर पाप करता है वह सर्वान्तर्यामी भगवान्‌को वास्तवमें मानता ही नहीं वह तो एक प्रकारका नास्तिक है।

(४५) भक्तिमें श्रद्धा मुख्य है। भगवान्‌को कोई व्यक्ति श्रद्धासे एक बूँद जल अर्पण करता है तो भगवान् उससे भी तृप्त होते हैं (वाराहपुराण) श्रद्धावान् ही ज्ञान पाते हैं। (गीता ४।३९) भगवान्‌को श्रद्धावान् अत्यन्त प्रिय हैं। (गीता १२।२०) भगवान्‌के मतके अनुसार बर्तनेवाले श्रद्धायुक्त पुरुष कर्मोंसे छूट जाते हैं। (गीता ३।३१) जो श्रद्धावान् योगी भगवान्‌में मन लगाकर उन्हें भजता है वह सबसे श्रेष्ठ है। (गीता ६।४७)

(४६) कुछ लोगोंका कहना है कि वर्णाश्रम-धर्म भक्तिमें बाधक है, इसको छोड़ देना चाहिये। बस, केवल भक्ति करो, सन्ध्या-तर्पण-बलिवैश्वदेव आदि किसी कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं, ये सब वर्ण-धर्मके झंझट त्याग देने चाहिये। परन्तु यह कथन ठीक नहीं। जो लोग हरिरसपानमें मत्त होकर वर्णाश्रमकी सीमाको लाँघ गये हैं अथवा जिनका वर्णाश्रममें अधिकार ही नहीं है उनकी बात दूसरी है परन्तु वर्णाश्रमके माननेवाले साधकोंको यह धर्मव्यवस्था अवश्य माननी चाहिये। वर्णाश्रम भक्तिमें बाधक नहीं, पर पूरा साधक है। नारद कहते हैं जबतक परमात्मामें ऐकान्तिक निष्ठा न हो जाय तबतक शास्त्रका रक्षण करना चाहिये, नहीं तो गिरनेका भय है। (नारदभक्तिसूत्र १२-१३) जो वर्णाश्रमधर्मके विरुद्ध कार्य करते हैं वे नरकोंमें पड़ते हैं (विष्णुपुराण २।६।२८) अतएव वर्णाश्रमधर्मी सज्जनोंको वर्णाश्रमके कर्म भगवदर्थ निष्कामभावसे अवश्य करने चाहिये, इसमें उन्हें भक्तिमें सहायता मिल सकेगी।

(४७) पर इस बातको अवश्य याद रखना चाहिये कि मायाके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये तो केवल भक्ति ही सर्वोत्तम उपाय है। (गीता ७।१४, भागवत ११।८७।३२)

(४८) जो मनुष्य भक्त कहलाकर धन, मान, बड़ाई, स्त्री, पुत्र आदिकी प्राप्तिमें प्रसन्न और दरिद्रता,

अपमान, निन्दा, स्त्री-पुत्रादिके नाशमें दुःखी होता है और भगवान्को कोसता है वह वास्तवमें भक्त नहीं है। सच्चा भक्त इन आने-जानेवाले विषयोंकी कभी कोई परवा नहीं करता। उसके लिये जीवन-मरण समान है। अमावस्याकी कालरात्रि और पूर्णिमाकी निर्मल ज्योत्स्ना दोनोंमें ही वह अपने प्रियतम भगवान्का मनोहर वदन निरखकर निरतिशय आनन्द लाभ करता है। उसे न सुखकी स्पृहा होती है, न दुःखमें उद्विग्नता।

(४९) भक्तकी तो अग्निपरीक्षाएँ हुआ करती हैं। प्रह्लादका अग्निमें पड़ना, हरिश्चन्द्रका रानीको बेचकर डोमका दासत्व करना, शिविका अपना मांस काटकर देना, दधीचिका अपनी हड्डियाँ देना, मयूरध्वजका पुत्रको चीरना, पाण्डवोंका वन-वन भटकना, हरिदासका कोड़ोंकी मारसे व्याकुल न होकर भी हरिनाम पुकारना, ईसाका शूलीपर चढ़ जाना आदि। जो इन सब परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होता है वही यथार्थ भक्त है।

(५०) पीड़न-प्रहार, निर्यातन-निष्कासन, अत्याचार-अपमान आदि तो भक्तके अंग-आभूषण होते हैं। भक्तको अपने जीवनमें इनका सदा ही स्वागत करना पड़ता है। संसारके लोग उसके जीवनकालमें इन्हीं पुरस्कारोंसे उसकी पूजा किया करते हैं। श्रीहरिदास, नित्यानन्द, कबीर, नरसी, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, मीरा आदि सब इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(५१) हजार अत्याचार सहन करनेपर सर्वत्र भगवान्का दर्शन करनेवाला क्षमास्वरूप प्रेमी भक्त किसीका भूलकर भी बुरा नहीं चाहता बल्कि प्रह्लाद और हरिदासकी तरह वह उन सबके भी कल्याणके लिये ही परमात्मासे प्रार्थना करता है।

(५२) भक्त नित्य निर्भय होता है। जो सबमें सब समय अपने प्राणाराम प्रभुको देखता है वह किससे और कैसे डरे? बात-बातमें डरनेवाले भक्त नहीं हैं। हाँ, पाप करनेमें उस ईश्वरसे अवश्य डरना चाहिये।

(५३) भक्तिके मार्गमें निम्नलिखित प्रतिबन्धक हैं—इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये। दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, असत्य, अहंकार, द्वेष, द्रोह, हिंसा, सिद्धियाँ, भक्तिका अभिमान, अपवित्रता, मानबड़ाईकी इच्छा, निन्दा-अपमानकी परवाह, ब्रह्मचर्यकी हानि, स्त्री और स्त्रीसंगियोंका संग, विलासिता, घृणा, नेतागिरी, आचार्य बनना, उपदेशक बनना, धनासक्ति, ममता, कुसङ्गति, लोकसमूहमें नित्य निवास, तर्कवितर्क, माननाशकी चिन्ता, सभासमितियोंका अधिक संसर्ग, समाचारपत्र तथा गन्दे श्रृङ्गारके और व्यर्थ ग्रन्थ पढ़ना और स्त्री-धन-नास्तिक-वैरीका चरित्र याद करना आदि।

(५४) भक्ति-मार्गमें निम्नलिखित सहायक हैं—इनका संग्रह करना चाहिये। सत्संग, श्रद्धा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्-शरणागति, शास्त्रश्रवण, पठन, नामजप, नामकीर्तन, दया, क्षमा, वैराग्य, सादगी, प्रेम, साधुसेवा, मैत्री, उपेक्षा, तर्क न करना, एकान्तसेवन, योगक्षेमकी वासनाका त्याग, कर्मफलका त्याग, दीनता, सहनशीलता, निरभिमान, निष्कामभाव, इन्द्रियनिग्रह, मनका वशमें करना, मूर्तिपूजा, मन्दिरसेवा, लोकसेवा, रोगीकी शुश्रूषा और पात्रको दान आदि।

(५५) चैतन्य महाप्रभुके मतसे भक्तके लक्षण—अपनेको एक तिनकेसे भी नीचा समझना, वृक्षसे अधिक सहनशील होना—अमानी होकर दूसरोंको मान देना और सदा हरिकीर्तन करना।

(५६) गीतोक्त भक्तके सच्चे लक्षण—सब प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, निःस्वार्थी मित्र, अकारण दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुखदुःखको समान समझनेवाला, अपराधीपर भी क्षमा करनेवाला, सर्वदा सन्तुष्ट, निरन्तर भक्तियोगमें रत, संयतात्मा, दृढनिश्चयी, भगवान्में अर्पित मनबुद्धिवाला, किसीको उद्वेग न पहुँचानेवाला, किसीसे उद्वेग न पानेवाला, हर्ष-विषाद-

भय-उद्वेगसे रहित, इच्छारहित, बाहर-भीतरसे पवित्र, चतुर, पक्षपातहीन, निन्दा-तिरस्कार आदिमें व्यथारहित, कामनामुक्त, सर्वारम्भका परित्यागी, प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष, अप्रियकी प्राप्तिमें द्वेष, प्रियके वियोगमें शोक, इच्छित वस्तुकी आकांक्षासे रहित, शुभाशुभ फलकी परवा न करनेवाला, शत्रु-मित्रमें समान, मान-अपमानमें समान, शीत-उष्णादि सुखदुःखोंमें समान, ईश्वरके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी रमणीयतापर आसक्त न होनेवाला, निन्दास्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, किसी प्रकारसे भी जीवननिर्वाहमें सन्तुष्ट, घरद्वारकी ममतासे रहित, स्थिरबुद्धि, भगवत्परायण और श्रद्धाशील । (गीता १२ । १३—२०)

(५७) भागवतके मतके अनुसार भक्तके लक्षण— भगवान्में मन लगाकर (रागद्वेषरहित हो) इन्द्रियों-के द्वारा विषयोंका भोग करता हुआ भी सारे विश्वको भगवान्की माया समझकर किसी भी वस्तुसे द्वेष या किसीकी आकांक्षा नहीं करनेवाला, हरिस्मरणमें संलग्न रहकर शरीर-प्राण-मन-बुद्धि इन्द्रियके सांसारिक धर्म जन्ममरण-भूखप्यास-भय-तृष्णा-कामना आदिसे मोहित न होनेवाला, कर्मके बीजरूप कामनासे रहित चित्तवाला, एकमात्र वासुदेवपर निर्भर करनेवाला, जन्म-कर्म-वर्ण-आश्रम और जातिसे शरीरमें अहंभाव न करनेवाला, धन और शरीरके लिये अपने-परायेका भेदभाव न रखनेवाला, सब प्राणियोंमें एक आत्मदृष्टि-वाला, शान्त, त्रिभुवनके राज्य मिलनेपर भी आधे पलके लिये भी हरि-चरण-सेवाका त्याग न करनेवाला और जिस हरिका नाम विवश अवस्थामें अचानक मुखसे निकल जानेके कारण सब पाप नष्ट हो जाते हैं उस हरिको प्रेमपाशमें बाँधकर निरन्तर अपने हृदयमें रखनेवाला। (भागवत ११)

(५८) सनत्कुमार, व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान् और विभीषणादि भक्तिके आचार्य माने गये हैं। (नारदभक्तिसूत्र ८३)

(५९) इस भक्तिसाधनमें सबका अधिकार है, ब्राह्मण-चाण्डाल, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभीको भक्तिके द्वारा भगवान्के परमधामकी प्राप्ति संभव है। भगवान्का आश्रय लेनेवाले अन्त्यज, स्त्री, वैश्य, शूद्र सभी उत्तम गतिके अधिकारी हैं। (गीता ९।३२) भक्तिमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाका भेद नहीं है। (नारदभक्तिसूत्र ७२) निन्दित योनितक सबका भक्तिमें अधिकार है। (शाण्डिल्यसूत्र ७८) सभी देश और सभी जातिके मनुष्य भक्ति कर सकते हैं क्योंकि भगवान् सबके हैं। चाण्डाल, पुक्कस आदि यदि हरि-चरणसेवी हैं तो वे भी पूजनीय हैं। (पद्मपुराण स्वर्ग० २४ । १०)

(६०) भक्तिसे ही जीवन सफल हो सकता है, जो भगवान्से विमुख हैं वे लोहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ साँस लेकर जीते हैं। (भागवत १० । ८७ । १७) ऐसे लोगोंको घर, सन्तान, धन और सम्बन्धियोंको अनिच्छासे त्यागकर नीच योनियोंमें जाना पड़ता है। (भागवत ११ । ५ । १८)

(६१) भक्तका कभी नाश नहीं होता। (गीता ९।३१) सब प्राणियोंका आवास समझकर भगवान्की भक्ति करनेवाला भक्त मृत्युको तुच्छातितुच्छ समझकर उसके सिरपर पैर रखकर (वैकुण्ठमें) चला जाता है। (भागवत १० । ८७ । २६)

(६२) भक्ति, परमशान्ति और परमानन्दरूपा है। इसके साधनमें भी आनन्द है। परमात्माका सहारा होनेसे गिरनेका भी भय नहीं है। सच्चे सुख-को पानेके लिये आजतक भक्तिके समान कोई भी साधन दुनियामें और नहीं मिला। अतएव भक्ति ही करनी चाहिये। यही एकमात्र अवलम्बन है।

भक्त ही संसारसे तरता है और सब लोगोंको तारता है। (नारदभक्तिसूत्र ५०)

भक्तिमार्ग

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री, बम्बई)

च्चिदानन्दरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय कहे हैं। मनुष्यका प्राप्तिस्थान सच्चिदानन्द परमात्मा है। क्योंकि मनुष्य भी सच्चिदानन्दमय है। सत्-चित्-आनन्द, क्रिया-ज्ञान और आनन्द, ये मनुष्यमें मौजूद हैं। भेद इतना ही है कि मनुष्यके सत्-चित्-आनन्द प्राकृत हैं और परमात्माके सत्-चित् और आनन्द अप्राकृत और अलौकिक हैं। मनुष्यका सत् मलिन है, अन्यनियम्य है, परिच्छिन्न है और नियतकार्य है किन्तु परमात्माका सत् पवित्र है, निरंकुश है, सहस्र समुद्रवत् अपरिच्छिन्न है और हर तरह हर एक कार्य कर सकता है। यही बात ज्ञान (चित्) और आनन्दमें भी समझ ली जाय। यही कारण है कि जीव परमात्माका अंश कहलाता है। अंशको पूर्णताकी प्राप्तिका हक है। जीव अंश है, परब्रह्म पूर्ण अंशी है, अतएव जीवको परब्रह्मकी प्राप्ति करनेका अधिकार है। अधिकार ही नहीं यह उसका अवश्य कर्तव्य है। मनुष्य परब्रह्मकी प्राप्ति कर ले यही उसका मोक्ष है।

इस परब्रह्मप्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें उसके अनुरूप तीन साधन कहे हैं। उपायको साधन कहते हैं। कर्म ज्ञान और भक्ति। क्रियाको ही कर्म कहते हैं, चित्को ही ज्ञान कहा है और आनन्दका ही रूपान्तर प्रेम या भक्ति है। प्राप्ता, प्राप्य और उपाय तीनों एकरूप होनेसे ही सिद्धि होती है। प्राप्य परब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है। प्राप्ता मनुष्य भी क्रिया-ज्ञान-आनन्दयुक्त है तो उसको परब्रह्म पर्यन्त ले जानेवाला उपाय कर्म-ज्ञान-भक्ति भी सत्-चित्-आनन्द हैं। सत्का ही रूपान्तर क्रिया या कर्म है, चित्का ही रूपान्तर ज्ञान है और आनन्दका ही रूपान्तर भक्ति या प्रेम है।

उपाय, उपेय, उपेता तीनोंके एक रहते भी कुछ-कुछ भेद है। उपेय परब्रह्म शुद्ध है, तीनोंका ऐक्यरूप है। और उपेता तथा उपाय मिश्ररूप है और भेदयुक्त है। परब्रह्मके सत्-चित्-आनन्द एकरूप हैं और शुद्ध हैं तो उपेता और उपायके क्रिया-ज्ञान और प्रेम मिश्र हैं एवं भेदयुक्त हैं। उपेता मनुष्यमें क्रिया, ज्ञान और आनन्द हैं किन्तु भेदयुक्त हैं और मिश्र हैं। इसके संदेशमें भेद और मिश्रण है, ज्ञानमें भी भेद और मिश्रण हैं, इस तरह प्रेममें भी भेद और मिश्रण हैं। क्रिया, ज्ञान और प्रेम जो उपाय कहे जाते हैं उनकी तरफ दृष्टि डाली जाय तो भी कहना पड़ेगा कि वे भी भिन्न-भिन्न हैं और परस्पर मिश्रित हैं। क्रिया, ज्ञान और प्रेम जब अमिश्र (शुद्ध) और अपरिच्छिन्न रूपमें रहते हैं या आ जाते हैं तब परब्रह्मरूप हैं। किन्तु जब वे उपेता मनुष्यके द्वारा परिच्छिन्नरूपमें और मिश्रितरूपमें प्रकट होते हैं तब वे मार्ग या उपाय कहे जाते हैं। क्रिया जब अपरिच्छिन्न अमिश्ररूपमें होती है या आ जाती है तब ब्रह्म है और वही जब मनुष्यके द्वारा परिच्छिन्नरूप और मिश्ररूपमें प्रकट होती है तब कर्ममार्ग कर्मउपाय कहा जाता है। क्रिया, ज्ञान और प्रेमका मूलरूप आनन्द ये तीनों ब्रह्मरूप हैं अतएव सर्व विश्वमें व्याप्त हैं। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जहाँ ये तीनों न हों। किन्तु जब ये मनुष्यके द्वारा परिच्छिन्नरूपमें प्रकट होते हैं तब मनुष्यकी क्रिया, मनुष्यका ज्ञान और मनुष्यका आनन्द या मनुष्यका प्रेम कहा जाता है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके पास क्रिया, ज्ञान और प्रेम न हो। किन्तु इनका मुख अन्यत्र है, इनकी गतिका उद्देश्य अन्यत्र है। मनुष्यकी क्रिया, मनुष्यका ज्ञान और मनुष्यका प्रेम परमात्मासे भिन्न प्राकृत पदार्थोंमें है इसलिये वह अपने स्वरूपमें रहते भी मार्ग या उपाय नहीं कहा जा सकता। जिस मनुष्यके कर्म, ज्ञान और प्रेम अपने रूपमें रहकर परमात्माके अभिमुख होंगे उसी समय वे मार्ग या उपाय कहे जायँगे।

यहाँतक मैंने प्रसंगोपात्त बातें कहीं, मेरा वक्तव्य भक्तिमार्गपर है। भक्तिमार्ग शब्दमें भक्ति और मार्ग दो शब्द हैं। भक्तिका अर्थ हम आगे करेंगे, प्रथम मार्ग शब्दका विचार कर लेते हैं। मृज् धातुसे मार्ग शब्द तैयार हुआ है। मार्गका अर्थ है शोधन अर्थात् किसी वस्तुके

ढूँढ़नेका या प्राप्त होनेका साधन । परमात्माके ढूँढ़नेका या प्राप्त होनेका जो उपाय है उसे मार्ग कहते हैं । कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनोंसे परमात्मा ढूँढ़ा जा सकता है या प्राप्त किया जा सकता है इसलिये ये तीनों कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग कहे जाते हैं । प्रेममें जब माहात्म्यका मिश्रण होता है तब वह भक्ति कही जाती है । माहात्म्य (बड़प्पन) दुनियामें किंवा दुनियाका महत्त्व (बड़ापन) छै प्रकारसे होता है, ऐश्वर्य (हुकूमत) से, पराक्रमसे, यशसे, लक्ष्मीसे, ज्ञानसे और वैराग्यसे जो मनुष्य ऐश्वर्यवान् हो उसे बड़ा कहते है । जिसमें विशेष पराक्रम होता है वह बड़ा माना जाता है । जिसका यश हो रहा हो वह लोकमें बड़ा माना गया है । जिसमें ज्ञान बहुत हो वह मनुष्य महान् कहा जाता है और जो लक्ष्मीसम्पन्न हो वही बड़ा है यह सुप्रसिद्ध ही है और जिस महात्मामें वैराग्य अधिक हो उसका महत्त्व सब कोई स्वीकार करते हैं ।

ये छओं गुण मनुष्योंमें क्वचित्-क्वचित्, परिमितरूपमें और अपेक्षाकृत मिलते हैं किन्तु परमात्मामें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य छओं सब-के-सब और पूर्णरूपसे सदा विद्यमान रहते हैं इसीलिये परमात्माको भगवान् कहते हैं । शास्त्रोंमें ऐश्वर्यादि छः गुणोंका नाम भग है । यह भग जिसमें रहता हो वह भगवान् कहा जाता है । और इसीलिये परमात्माके बराबर किसीका महत्त्व या माहात्म्य नहीं है । सबसे श्रेष्ठ महत्त्व परमात्माका ही है ।

'मत्तः परतरं नान्यत्' (गीता ७ । ७)

सर्वश्रेष्ठ माहात्म्ययुक्त परमात्मामें जब प्रेम होता है तब उसे भक्ति कहते हैं और भक्तिरूप जो मार्ग—उपाय है उसे भक्तिमार्ग कहते हैं । तो यह सिद्ध हुआ कि भक्तिका मूलरूप प्रेम या स्नेह है अर्थात् भगवान्में स्नेह होना ही भक्ति है ।

कर्म, ज्ञान, भक्ति ये तीनों जब स्वतन्त्र, शुद्ध और अपरिच्छिन्नरूपमें रहते हैं तब उपेयरूप परब्रह्मके धर्म हैं और जब मनुष्यके द्वारा परस्पर मिश्ररूपमें परिच्छिन्नरूपसे प्रकट होते हैं तब मनुष्यधर्म हो जाते हैं । कर्म करना मनुष्यका धर्म है । ज्ञान करना या होना मनुष्यका धर्म है और भक्ति करना मनुष्यका धर्म है ।

कर्ममें ज्ञान और भक्ति जब मिलती है तब वह उत्तम कर्ममार्ग कहा जाता है या जीवनिष्ठ भगवद्धर्म कहा जाता है । ज्ञानमें जब कर्म और भक्तिका मिश्रण होता है तब ज्ञानमार्ग कहा जाता है और जब भक्तिमें कर्म, ज्ञानका सहयोग होता है तब वह भक्तिमार्ग कहा जाता है । मार्ग, उपाय और योग तीनों शब्द एकार्थक हैं । भगवद्गीतामें योग शब्दका बहुत उपयोग किया गया है । गीताके कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग तीनोंका परस्पर मिश्रण ही अर्थ है ।

आज मैं कर्मयोग या ज्ञानयोगका विचार करने नहीं बैठा, समयपर देखा जायगा किन्तु आज तो मैं भक्तियोग या भक्तिमार्गका ही विचार करूँगा । पूर्वोक्त कथनसे यह तो सिद्ध हो चुका कि सर्वश्रेष्ठ महत्त्ववाले भगवान्में क्रिया-ज्ञानसहित जो प्रेम या स्नेह है उसका नाम शास्त्रीय भक्ति या भक्तिमार्ग है ।

भक्तिमें दो विभाग हैं एक प्रकृतिका और दूसरा प्रत्ययका । 'भज्' प्रकृति है और 'ति' प्रत्यय है । 'भज्' का अर्थ है सेवा अर्थात् परिचर्यारूप क्रिया । और 'ति' का अर्थ है भाव । भाव-प्रेम या रति एकार्थक हैं । अर्थात् प्रेमोत्तर सेवा वह भक्ति, या यों कहिये कि भगवत्-प्रेम होनेके लिये जो सेवा की जाय उसे भक्ति कहना उचित है । जैसे प्रकृति और प्रत्ययमें सेवा और प्रेम समाया हुआ है इसी प्रकार भजति शब्दमें ज्ञान भी समाया हुआ है । 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो शब्दके साथ नहीं रहता । अर्थात् शब्दमात्रमें ज्ञान समाया हुआ है । सेवासम्बन्धी, आत्मसम्बन्धी और ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविध प्रकारकी सेवा या कृति है उसे भक्ति कहते हैं । यह भक्ति शब्दका निज अर्थ है । यद्यपि सेवा किंवा भक्तिमार्गसम्बन्धिनी जितनी भी कुछ कृतियाँ स्वरूपतः क्रिया ही हैं तथापि प्रेमफलका उद्देश्य रखकर करनेमें आती हैं इसलिये क्रिया नहीं कही जातीं किन्तु भक्ति ही कही जाती हैं । जैसे ज्ञानके लिये की जानेवाली नौ प्रकारकी कृतियाँ ज्ञानमार्ग कहा जाता है इसी प्रकार भक्तिके या प्रेमके लिये की जानेवाली नौ कृतियाँ भक्ति कही जाती हैं ।

यह प्रेमका साधनरूप भक्तिमार्ग संक्षेपमें नौ प्रकारका है और विस्तारसे अनन्त प्रकारका है । श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सख्य और आत्मनिवेदन ।

यह नौ प्रकारकी भक्ति या भक्तिमार्ग कहा जाता है। जिस तरह यह नौ प्रकारकी भक्ति साधनरूपा है इसी प्रकार एक प्रेमरूपा फलात्मिका भी भक्ति है। इस तरह साधन-साध्यरूपा भक्तिको एक करें तो दस प्रकारकी भक्ति होती है।

यह दश प्रकारकी भक्ति फिर दो प्रकारकी है—एक वैधी और दूसरी रागानुगा या रागतः प्राप्त। किसी भी प्रमाणसे प्राप्त जो भक्ति है वह वैधी भक्ति है और जो वस्तुके प्रेमसे प्राप्त है वह रागतः प्राप्त भक्ति कही जाती है।

श्रुति, स्मृति और सदाचार यह तीन प्रमाण भक्तिके निरूपणकर्ता हैं। वेदमें अनेक स्थलोंमें इस दस प्रकारकी भक्तिका निरूपण है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' बृह० २।४।५।'सुष्टुतिमीरयामि'ऋ० मं०२। 'स्तवामस्त्वा साध्या' ऋ० मं० १। 'अभिनो नुमः' 'भर्गो देवस्य धीमहि' ऋ० मं० १ 'स नः पितेव सूनवे' ऋ० मं० १। 'अस्य प्रियासः सख्ये स्याम' ऋ० मं० ४। 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेता० ६।१८)।

भक्तिको प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियाँ भी बहुत हैं। उनमें श्रीगीता और श्रीभागवत दो मुख्य हैं।

ये दोनों स्मृतियाँ निर्णायक स्मृतियाँ हैं। वेदके सन्देहोंका जो निर्णय करे, वह निर्णायक स्मृति कही जाती है। श्रीमद्भागवत वास्तवमें पुराण है किन्तु ऋषिका स्मरण-रूप है इसलिये स्मृति भी समझें तो कोई हानि नहीं और इसीलिये श्रीमधुसूदन सरस्वती प्रभृति विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें इसे स्मृति लिखा है।

वेदोक्त नवधा भक्ति त्रिवर्णाधिकारिणी है किन्तु पुराणोक्त नवधा या दशधा भक्ति मनुष्यमात्राधिकारिणी है। इसीलिये भा० सप्तम स्कन्धमें 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' इस श्लोकमें 'पुंसा' शब्द देकर भक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार ठहराया गया है। भागवतके द्वितीय स्कन्ध अ० १ श्लो० ५ में भी श्रीशुकदेवजीने कहा है कि—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

इस श्लोकमें प्रायः फल, साधन, अधिकारी और विषय चारोंका स्पष्ट निर्णय कर दिया है।

अभयके चाहनेवाले जो कोई हों वे सब भगवान्का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें। यदि अभयको यथार्थतः समझ जायँ तो मनुष्यमात्रको अभय चाहिये और जब अभयकी चाह मनुष्यमात्रको होती है तो अवश्य ही मनुष्यमात्र भगवान्के श्रवण, कीर्तन और स्मरणके अधिकारी हैं। यह बात इस श्लोकके 'इच्छताभयम्' पदोंसे स्पष्ट होती है।

जैसे 'इच्छताभयम्' पदोंसे भक्तिके अधिकारीका निर्णय है। इसी तरह 'सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः' इन चार पदोंसे विषयका निर्णय किया है।

वेदमें 'आत्मा वा अरे' इस वाक्यमें दर्शन-श्रवण-मनन और निदिध्यासनका विषय आत्माको कहा है। अब विचार उपस्थित होता है कि यहाँ सर्वव्यापक एक आत्मा लेना कि भिन्न-भिन्न अपना-अपना आत्मा लेना चाहिये? इस विचार या सन्देहका निर्णय श्रीमद्भागवत करती है कि भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी आत्माका नहीं किन्तु सर्वात्मा, जो सबका एक आत्मा (परमात्मा) है उसकी ही श्रवणादि भक्ति करना उचित है क्योंकि अपने-अपने आत्माका यदि पृथक्-पृथक् उपदेश और श्रवण होने लगेगा तो आपाततः अनन्त होनेसे श्रवणका और बोधनका कभी अन्त ही नहीं आवेगा और सात जन्ममें भी आत्मज्ञान होनेका नहीं, इसलिये सर्वात्मा ही श्रवण करने लायक है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि वह सर्वात्मा अनेक प्रकारका है, एक तिरोभूत-सर्वधर्म और दूसरा विस्पष्ट-सर्वधर्म। सृष्टिके पूर्व परमात्माका एक स्वरूप होता है जिसके सर्व धर्म अव्यक्त या अस्पष्ट होते हैं और दूसरा परमात्माका वह भी रूप है कि जहाँ अलौकिक सर्वधर्म प्रकट रहते हों। इन दोनोंमें किसका श्रवण करना चाहिये? अव्यक्तका या व्यक्त प्रभुका?

इसके उत्तरमें श्लोकमें 'भगवान्' शब्द दिया गया है। अर्थात् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न जो सर्वात्मा है; उसका ही श्रवणादि करना उत्तम है। षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा ही फलरूप हो सकता है, अव्यक्त नहीं। फलके दो दल हैं। दुःखाभाव और आनन्द-प्राप्ति। पुरुषार्थके इन दोनों दलोंको दिखानेके लिये ही श्लोकमें 'हरिः और ईश्वरः' ये दो पद दिये गये हैं। हरिका अर्थ है सर्वदुःखहर्ता और ईश्वरका अर्थ है सर्वसुख देनेमें समर्थ, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न उस सर्वात्माका

सर्वदुःखहर्तारूपसे और सर्वसुखदातारूपसे श्रवण करना चाहिये अर्थात् उस परमात्माका इस प्रकार श्रवण करे कि जिसमें परमात्मा सर्वदुःखहर्ता है और वह सर्वसुखदाता है यह प्रतिपल सुस्पष्ट प्रतीत होता रहे ।

यहाँ 'सर्वात्मा भगवान् हरिः और ईश्वरः' ये चार पद उपलक्षक हैं । सर्वात्मा होनेमें जिन दिव्य गुणोंकी आवश्यकता है, भगवत्वमें जो धर्म अपेक्षित है हरित्वके समर्थन करनेमें जिन गुणोंकी आवश्यकता है और ईश्वरपनसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं वे सब स्वरूप गुण धर्म और चरित्र जिसमें सुस्पष्ट मालूम होते रहें इस तरह उस परमात्माका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये । उदाहरणके तौरपर यदि कोई मनुष्य निराकार या अव्यक्त शब्दका कीर्तन या श्रवण करे तो इस श्रवण-कीर्तनके श्रवणसे न परमात्माका सर्वात्मत्व प्रकट होता है, न भगवत्व, न हरित्व और न सर्वसुखदातृत्व । ऐसे अफलरूप परमात्माके श्रवण करनेसे भी क्या फायदा ? इसलिये सर्वात्मा भगवान् हरि ईश्वरके अलौकिक सर्व दिव्य गुणोंका स्वरूपोंका और चरित्रोंका जिसमें आनन्द आता रहे, उस प्रकारसे परमात्माका श्रवण कीर्तन स्मरण करना उचित है ।

'तस्मात् भारत' इस श्लोकमें श्रवण कीर्तन और स्मरण इन तीन भक्तियोंका वर्णन तो किया है किन्तु बाकी छै भक्तियोंका क्यों परित्याग कर दिया गया ? यह प्रश्न हो सकता है । इसका उत्तर इतना ही है कि श्रवण कीर्तन और स्मरण ये तीन भक्ति स्नेहके पूर्व अपेक्षित हैं । प्रभुके श्रवण बिना माहात्म्यज्ञान नहीं हो सकता, प्रभुके कीर्तन बिना श्रवण नहीं हो सकता और श्रवण कीर्तन बिना स्मरण नहीं हो सकता और इन तीनोंकी आवृत्ति बिना स्नेह नहीं हो सकता इसलिये स्नेह होनेके लिये स्नेहके पूर्व इनकी अपेक्षा है और इसीलिये इस श्लोकमें इन तीन भक्तियोंका ही मुख्य उपदेश है

एक बात और है कि पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन ये छै भक्ति स्नेहोत्पत्तिके अनन्तर होती हैं । इसलिये स्नेहके होनेपर वे स्वतः प्राप्त हैं इसलिये श्लोकमें उनका कथन नहीं किया । पादसेवन अर्थात् परिचर्या, अर्चन, वन्दन ये तीन यद्यपि थोड़े स्नेह होनेके बाद भी हो सकते हैं किन्तु दास्य सख्य और आत्मनिवेदन तो गहरा स्नेह होनेपर ही हो सकते हैं इसलिये स्नेह होनेके पूर्व तो परमात्मामें स्नेह हो, इसलिये श्रवण कीर्तन और स्मरणकी बड़ी आवश्यकता है और इसीलिये श्रुतिमें भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन (स्मरण) इन तीनका ही निर्देश है ।

यह तो ठीक, किन्तु इन नौ प्रकारकी भक्तियोंका स्वरूप क्या है ? इसका विचार करना भी आवश्यक है । प्रथम भक्ति श्रवण है अर्थात् परमात्माके सब गुण सब चरित्र और सब स्वरूपोंका यथावत् निश्चित ज्ञान होकर जो सुनना, उसको श्रवण-भक्ति कहते हैं और वह सर्वप्रथम अपेक्षित है । क्योंकि शास्त्रीय (वैध) भक्तिमें श्रवणके बिना प्रभुके माहात्म्यका और स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता और ज्ञान हुए बिना स्नेह होना कठिन है । स्नेह हुए बिना भगवदानन्दका आविर्भाव नहीं हो सकता, आनन्दाविर्भावके बिना सायुज्य (भगवत्-प्रवेश) नहीं हो सकता और सायुज्य बिना अभय (दुःखाभाव) रूप मोक्ष नहीं हो सकता । इसलिये अभयकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक साधकको भगवान्का श्रवण अवश्य करना चाहिये ।

यद्यपि एक श्रवण या कीर्तन किंवा स्मरणमात्रसे ही सब कार्य-सिद्धि हो सकती है, श्रीशुकदेवजीको तथा परीक्षित राजाको पृथक्-पृथक् कीर्तन श्रवणसे सिद्धि मिली है तथापि यहाँ हमारे लिये तीनों कर्तव्य हैं और वे प्रथम तो अगत्या कर्तव्य हैं क्योंकि तीनों ही तीनोंके निर्वाहक हैं ।

श्रवणके बिना कीर्तन नहीं हो सकता, कीर्तनके बिना श्रवण नहीं होता और कीर्तन-श्रवण बिना स्मरण भी नहीं हो सकता इसलिये तीनों अवश्य कर्तव्य हैं और इसीलिये श्लोकमें भी तीनों कहे गये हैं ।

अब यह विचार होता है कि श्रवण, कीर्तन और स्मरण नित्य करना चाहिये या जीवनभरमें एक बार करनेसे भी चल सकता है ? इसके उत्तरमें इतना कहना बस होगा कि यह उपदेश है और वेद-शास्त्रोंमें 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस न्यायानुसार उपदेशकी आवृत्ति होनी चाहिये, ऐसा कहा है । आरुणि ऋषिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको

नौ बार ब्रह्मोपदेश दिया है, उसने नौ बार ही साग्रह श्रवणकर स्मरण रक्खा है। इसलिये श्रवणादि जीवनपर्यन्त रात-दिन करना चाहिये।

एक बात और है कि विषयासक्ति जो भगवन्मार्गमें प्रतिबन्धक है वह मनुष्यके प्रतिक्षण सामने उपस्थित रहती है तो उस विषयासक्तिको दूर करनेवाले श्रवण कीर्तन स्मरण भी प्रतिक्षण ही चलते रहने चाहिये। थोड़े समय बन्द रहनेसे विषयासक्ति बढ़कर आसुरावेश होना संभव है इसलिये इनकी आवृत्ति तो प्रतिक्षण होती रहनी चाहिये। थोड़ी देर भी भगवत्कीर्तनादिके विस्मरण होनेपर भरतजीको दो जन्म निकालने पड़े थे। इसलिये कीर्तनादिकी आवृत्ति होनी उचित है। इसीलिये श्लोकमें दो 'चकार' कहे गये हैं। इन दो 'च' कारोंका यह अर्थ है कि श्रवण करना चाहिये और कीर्तन तथा स्मरण भी करना चाहिये। कीर्तन करना चाहिये और स्मरण तथा श्रवण भी करना चाहिये एवं स्मरण करना चाहिये और श्रवण-कीर्तन भी करना चाहिये। तब दोषपरिहार एवं फलकी प्राप्ति होती है।

दूसरी कीर्तन-भक्ति है। उस सर्वात्मा भगवान् हरिके सर्वस्वरूप सर्वगुण और सर्वलीलाओंकी जिस प्रकार सुस्पष्ट प्रतीति होती रहे इस प्रकारसे जो श्रद्धासे कथन हो उसे कीर्तन कहते हैं। एक पद्यात्मक और दूसरा गद्यात्मक। संस्कृत-भाषामय हो या हिन्दी आदि भाषामय हो, दोनों प्रकारसे कीर्तन होता है। पद्यात्मक कीर्तन गानात्मक होता है। यह बात वाल्मीकि ऋषिके चरित्रमें स्पष्ट है। 'सततं कीर्तयन्तो माम्' (श्रीगीता)

३-स्मरण-भक्ति तृतीय है। पूर्वोक्त प्रकारसे ही उस भगवान्के स्वरूप, स्वरूपाङ्ग, गुण और लीला तथा लीला-परिकरोंका श्रद्धासे चिन्तन करनेको स्मरण कहते हैं।

श्रवण, कीर्तन और स्मरण यह तीनों भक्ति स्नेहके पूर्व होती हैं इसलिये साधनरूपा कही जाती हैं।

४-पादसेवन-भक्ति चतुर्थी है। श्रद्धापूर्वक श्रवण-कीर्तन-स्मरणसे श्रद्धा ही कुछ उत्तमताको प्राप्त होकर रुचि कही जाती है। श्रद्धा प्रेमका बीज है और रुचि प्रेमका अङ्कुर है। रुचि होनेपर पादसेवन-भक्ति होती है। मूर्तिको साक्षात् परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम जानकर जो उनकी संपूर्ण परिचर्या अपने ही हाथोंसे की जाय, उसे पादसेवन-भक्ति कहते हैं। इस पादसेवन-भक्तिमें नवधा भक्तिका संक्षेप किया जा सकता है यह हम आगे कहेंगे।

५-अर्चन (पूजा) भक्ति पाँचवीं है। माहात्म्यबुद्धि रखकर लोकरीतिसे या स्नेहमर्यादासे कुछ जुदे प्रकारके जो उपचार किये जाते हैं उसे पूजा या अर्चन कहा जाता है। पञ्चामृतस्नान कराना, अन्नकूटभोग, देवोत्थापिनी एकादशीको मण्डपादिमें बैठाना, और नित्य या स्नानयात्रा (जलयात्रा) के दिन मंत्रोच्चारणपूर्वक स्नान कराना प्रभृति सर्व उपचार, पूजा या अर्चन कहे जाते हैं।

६-अपनी दीनता प्रकट करके श्रद्धापूर्वक प्रणाम आदि करनेको वन्दन-भक्ति कहते हैं। वन्दन-भक्ति छठी है। प्रेमाङ्कुर जब कुछ बढ़ता है तब दैन्य होता है।

७-दास्य-भक्ति सातवीं है। अन्याश्रयका सर्वथा परित्याग करके एकाश्रय होकर रहनेको दास्य-भक्ति कहते हैं। यह भक्ति प्रेमके कौमारमें होती है। प्रेम जब अङ्कुरताको छोड़ तरुभावमें आता है तब सेवक अपने प्रभुका अनन्य दास हो जाता है।

८-सख्य-भक्ति आठवीं है। शास्त्र आदिसे नहीं, किन्तु प्रेमसे ही प्रेरित होकर प्रभुके हितकर उपचारोंका करना सख्य कहा जाता है। प्रेमकी पूर्णतामें सख्य-भक्ति होती है। शास्त्रोंमें मित्रता (सख्य) का स्वरूप लिखा है कि—

करावि‌व शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अप्रेरितं प्रियं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

शरीरका हित जैसे हाथ करते हैं और नेत्रोंका हित जैसे पलक करते हैं इस तरह जो मित्र प्रेरणाके बिना स्वतः अपना हित करे, वह मित्र कहा जा सकता है।

९-आत्मनिवेदन-भक्ति नवमी है। परिकरसहित अपने आपको प्रभुके प्रति निवेदन कर देनेको आत्मनिवेदन-भक्ति कहते हैं। फलरूप और साधनरूप दो प्रकारका आत्मनिवेदन है। दोनों आत्मनिवेदन स्नेह होनेके बाद ही होते हैं किन्तु भेद इतना ही है कि साधनरूप आत्म-निवेदन एकान्तरित आविर्भूत परमात्मामें होता है और फलरूप आत्मनिवेदन अनन्तरित साक्षात् परमात्मामें होता

और इसलिये इन दोनोंकी फलता और साधनताकी प्रसिद्धि है।

आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण एक तरहसे स्वतन्त्र भक्ति भी है। भगवद्गीतामें भक्तिशास्त्रकी पूर्णता होनेपर आत्मसमर्पणको या आत्मनिवेदनको स्वतन्त्र भी कहा है। और वह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' सर्व-सिद्धान्तसार-रूप श्लोकसे प्रसिद्ध है।

भगवद्गीतामें वैध और रागानुगा दोनों प्रकारकी भक्तिका सुस्पष्ट वर्णन है किन्तु इस समय वह चर्चा छेड़नेसे विषयविस्तार होना सम्भव है इसलिये मैं उसे यहाँ छेड़ना उचित नहीं समझता।

इस शास्त्रीय भक्तिके चार स्थूल अङ्ग हैं, विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और फल। विषयका निरूपण हो चुका, अधिकारीका निर्देश आ चुका। फल भी कह दिया गया और सम्बन्ध भी उपेयोपायरूप समझा दिया गया।

इसी शास्त्रीय भक्तिको कहीं मर्यादाभक्ति कहा है, कहीं वैधी कहा है तो किसीने इसे साधनरूप कहा है। किसी सम्प्रदायमें इसे ही इकट्ठी करके तनुजा सेवा कहा है।

यही भक्ति यदि प्रेमको गौण रखकर और शास्त्रको प्राधान्य देकर मोक्षकी कामनासे की जाय तो पूजा या पूजामार्ग कही जायगी।

इसपर कोई ऐसा प्रश्न कर सकता है कि जब शास्त्रीय भक्तिका फल अभय (मोक्ष) ही है तो फिर उसकी कामना रखनेपर भक्ति, पूजा क्यों हो जायगी?

इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि फल होना एक बात है और उसकी कामना रखना दूसरी बात है। मनुष्यका अधिकार भक्ति या क्रिया करने मात्रका है फलपर उसका कोई अधिकार नहीं। भक्तिका फल है जरूर, पर उसकी कामना रखना मनुष्यकी भूल है। कृतिपर मनुष्यका अधिकार है किन्तु फलपर भगवान्का अधिकार है। 'यो यदंशः स तं भजेत्' इस श्रुतिकी आज्ञानुसार जीव भगवान्का अंश है और अंशका धर्म है कि वह निष्कारण ही अपने अंशीकी सेवा करे। पुत्रका स्वाभाविक धर्म है कि अपने पिताकी सेवा करे। पिताकी सेवाका फल पुत्रको अवश्य मिलता है किन्तु फलकी कामनासे पिताकी सेवा करना पुत्रका धर्म नहीं है। इसी तरह भक्तिका फल अवश्य है किन्तु उसकी कामना रखना मनुष्यका कर्तव्य नहीं है।

किसी प्रकारके फलकी चाहना न रखकर जो भक्ति करनेमें आती है उसे 'अर्पित भक्ति' कहते हैं, अर्पित भक्ति सर्वोत्तम गिनी गयी है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(भाग० ७। ५। २३, २४)

अर्थात् श्रवण-कीर्तनादि नौ प्रकारकी भक्ति यदि अर्पित की जाय तो उसे हम उत्तम अध्ययन (ज्ञान) मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो वस्तु किसीको दी जाय और उसका उससे किसी तरहका बदला न लिया जाय तो वह अर्पित कही जाती है। मान लो कि किसी व्यापारीने अपने देशके राजाको प्रत्यर्पणकी आशा न रखकर एक दुशाला दिया तो ऐसी हालतमें वह दुशाला अर्पित कहा जायगा, इसी तरह जो परमात्माकी भक्ति, प्रभुसे किसी तरहका बदला या फल न चाहकर की जाती है वह अर्पित भक्ति है और उसे ही उत्तम भक्ति कहते हैं।

इस नवधा भक्तिके फिर नौ भेद और हैं और फिर उन इक्यासी भेदोंके भी सूक्ष्म भेद और हैं। इस तरह ज्ञान और कर्मकी तरह भक्तिके भी अनन्त भेद हैं।

इस नवधा भक्तिका साक्षात् फल या अवान्तर फल है प्रेम, और मुख्य या परम फल है भगवत्प्राप्ति।

प्रेम होनेके अनन्तर भी स्वाभाविक रीतिसे नवधा भक्ति होती रहती है। किन्तु वह सब 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस न्यायसे प्रेमलक्षणा भक्ति कही जाती है। प्रेमलक्षणा भक्ति और इसके बाद रागानुगा इन दोनों भक्तियोंका स्वरूप मैं फिर कभी वर्णन करूँगा। यह लेख अति त्वरामें लिखा गया है। अतएव अभीतक भक्तिके विषयमें मैंने चौथाई बातें भी नहीं कही हैं। यदि समय मिला तो इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गसहित पुनर्बार इसका विचार प्रकट करूँगा।

गुरु-गौरव

(गोलोकवासिनी श्रीयुगलप्रियाजीका संक्षिप्त चरित)

वीरभूमि बुंदेलखंड धनि धन्य हमारी !
भये भक्त रणधीर वीर जहँ असि-व्रतधारी ॥
बिमल बेतवा-तीर बुँदेलनकी रजधानी ।
केशव-चित्रित चारु ओरछो बसतु प्रमानो ॥

तहँ नृप मधुकरशाह भक्ति-अंबुधि अवगाह्यौ ।
पूजि ब्यास हरिराम स्याम सँग नेह निबाह्यौ ॥
श्रीगनेसदे रानि जासु अति भाव-हठीली ।
भई भक्ति-प्रतिमूर्ति राम-रस-रंग-रँगीली ॥

वहीं भई रघुनाथ-भक्त बृषभानुकुमारी ।
नृप महेन्द्र परतापसिंहकी पतनी प्यारी ॥
जाने या कलि माहिं भक्ति-बरबेलि चढ़ाई ।
'कनकभौन' बनवाय अवधसों प्रीति बढ़ाई ॥

ता बृषभानुकुमारि-दुलारी कमलकुमारी ।
प्रेम-पद्म-मधुकरी कृष्ण-रस-सेवनहारी ॥
भाव-अमिय-रस-खानि, नेहनृपकी रजधानी ।
अतिसयोक्ति कछु नाहिं, कहौं जो भक्तिभवानी ॥

'युगलप्रिया' उपनाम धारि पद-रचना कीनी ।
मथि-मथि काढ़ी भक्ति-सिंधुते सुधा नवीनी ॥
वाहीकी कछु कीर्ति गायहौं कृष्ण-लगनकी ।
जासु पगनकी धूरि मूरि मो अंध दृगनकी ॥

सिसुपन ही तें भक्त-जननि तें भक्ति पढ़ाई ।
नेह-नीर निज सींचि भावकी बेलि बढ़ाई ॥
राम-नाम-रुचि-रंग कुँवरिपै सहज चढ़ायौ ।
बरस आठकी हुती तबहितें नेम दृढ़ायौ ॥

हरिवासर, श्रीकृष्ण-जयन्ती, राम-जयन्ती ।
लगी करन व्रत-नेम सहज हीं वह तपवन्ती ॥
सुनति सदा हरि-कथा, खेल खेलति हरिहीके ।
गूँथि-गूँथि नित माल कंठ मेलति हरिहीके ॥

सुन्यौ भागवत माहिं, 'धन्य व्रजभूमि सुहैया !
खेलति जाकी गोद अजहुँ नँद-नंद कन्हैया ॥'
ह्वै अधीर अधराति महलतें राजकुमारी ।
सबकी आँख बचाय करी कहुँ चलन-तयारी ॥

उठि औचक घबराय गह्यौ कर एक सहेली ।
'सनसनाति अधराति, जाति कित कुँवरि, अकेली?'
बोली हाथ छुड़ाय, 'अरी, मति गेरै फंदा ।
जैहौं, री ! तहँ आजु जहाँ खेलत व्रज-चंदा ॥'

रोय-रोय अकुलाय कहति, 'हा हा, सखि मेरी !
तू हूँ चलि व्रज-धाम, स्याम देखन दै, एरी !'
धन्य, प्रीतिकी रीति कृष्णप्रति नृपति-सुताकी !
धनि वह बिरहासक्ति, भक्ति धनि युगलप्रियाकी ॥

सुन्यो अवधमें जाय मंत्र श्रीराम-नामकौ ।
दलन दोष-दुख-द्रोह दहन वन कनक-कामकौ ॥
भव-नद-तरिबे तरनि बनाई राम-नामकी ।
पै हिय-थल रस-बेलि अंकुरित भई स्यामकी ॥

रही प्रकृति-स्वाधीन, जगतसों उदासीन-सी ।
छटपटाति-सी रही नीर बिनु बिकल मीन-सी ॥
सदा त्याग-अनुराग-हिंडोले पै झूलति-सी ।
छुटपन ही तें रही बावरी-सी भूलति-सी ॥

जदपि लोककी रीति छत्रपुर-नृप सँग ब्याही ।
तदपि कुँवरि व्रजराज-कुँवरसों प्रीति निबाही ॥
विषय-लालसा छाड़ि छनिक, सुख साँचो पायो ।
करि मीरा-अनुकरन लाल गिरिधरन रिझायो ॥

करि षोड़श उपचार अर्चना नित हरि-हरकी ।
ध्यावति मानसि-छटा भावसों राधावरकी ॥
भई भावना-रूप स्वयं वह किधौं धारणा ।
कै उपासना-मूर्त्ति किधौं सात्विक विचारणा ॥

'बिनयपत्रिका' पढ़ति हुलसि कबहुँ तुलसीकी ।
कृपा कोर अनुभवति कृपावारिधि सिय पीकी ॥
अष्टछाप-पद कबहुँ प्रेमसों गावति ठाढ़ी ।
नित नव हित-हरिवंस ब्यास-रचना-रुचि वाढ़ी ॥

कबहुँ गुनति कबीर सरन सतगुरुकी जावै ।
खाय सब्दकी चोट चूनरी-मैल छुड़ावै ॥
युगलप्रिया यों नित्य आतम-अनुभव दरसावै ।
ज्ञान-भक्ति वैराग्य-त्रिवेनी बिमल बहावै ॥

कबहुँ सांख्य-वेदान्त-योगकौ तत्व विचारति ।
कबहुँ बैठि एकान्त गूढ़ गीतार्थ लगावति ॥
कबहुँ भागवत बाँचि शुकामृत पियति पियावति ।
'भ्रमरगीत' प्रेमाश्रु ढारि ह्वै विह्वल गावति ॥

भक्ति, भक्त, भगवंत, गुरूमें भेद न मान्यो ।
वासुदेव प्रतिरूप विश्व-ब्रह्माण्डहि जान्यो ॥
हरि-नाते ही नेह और नाते सब लेखे ।
शिव विधिहूसे विमुख जीव जड़ मृत ज्यों देखे ॥

प्रेम-लक्षणा-भक्ति मुक्ति हू तें बड़ि मानी ।
सकल साधना सार संत संगति ही जानी ॥
अगम आत्म-अनुभूति प्रगट निज नैननि देखी ।
मानत माया जाहि ताहि हरि-लीला लेखी ॥

त्यागि राजसी वृत्ति शुद्ध स्वानन्द-बिलासिनि ।
कठिन तपस्या तपी तीरथनि तेज-प्रकासिनि ॥
प्रकृति-पुजारिन रही नित्य निरखति चित लोभा ।
स्वर्ग-विनिन्दित दिव्य देश भारत-वर-शोभा ॥

लखि बदरी-बन स्वच्छ सतोपथ, स्वर्गारोहन ।
हिम-मंडित गिरि-श्रृंग शुभ्र ब्रह्माण्ड-विमोहन ॥
भई उदित शिव-वृत्ति मुक्ति अनुभवमें आई ।
बन-बन विचरति फिरी,शान्ति सुषमा मुख छाई ॥

सिय-रघुबर-पद-चिह्न-सुचित्रित चित्रकूट-थल ।
अनसूया अरु अत्रि-निमज्जित मंदाकिनि-जल ॥
बर विराग अनुराग-भूमि लखि युगल पियारी ।
भरत-भाव अनुहरति राम-दरसन-मतवारी ॥

बिहरति मिथिला माहिं जनक-नृप सुता-भावसों ।
रसिक राम-मुख-चन्द-चकोरी बनति चावसों ॥
युगलप्रिया जल-केलि करति कमलामें नीकी ।
खेलति सहचरि कोइ मनों मिथिलेस-ललीकी ॥

करि वृन्दाबन-वास माधुरी ब्रजकी चाखति ।
परि कलिंदजा-कूल लोटिबोई अभिलाखति ॥
भरि कदंब-अँकवार 'कृष्ण हा कृष्ण !' पुकारति ।
स्याम-बिरहिनी मनों कोइ गोपी रस ढारति ॥

करति कबहुँ अभिलाख, 'होउँ मैं कदँब-कोकिला ।'
कहति कबहुँ,'गिरिधरन!कीजियो मोहि गिरि-सिला॥'
रटति कबहुँ,'वह स्याम ! बाँसुरी कबै सुनैहौ !'
'कबै मोहि, ब्रजचन्द ! बाँसकी पोर बनैहौ !'

अवधपुरीमें कबहुँ सुभग सरयू-तट घूमति ।
जनक-नन्दिनी-नाथ-रूप-रस पीवति झूमति ॥
कबहुँ रमति प्रयाग, सितासित लेति हिलोरें ।
निज तप प्रगट प्रकास प्रसारति तहँ चहुँ ओरें ॥

बिचरी बिनु पद-त्रान कठिन कंटकयुत भू पै ।
चढ़ति फिरी सहि भूख-प्यास दुर्गम गिरि हू पै ॥
लियौ जन्म सुकुमारि राज-कुल कमलकुमारी ।
बनि बनदेवी कियौ कठिन साधन तप भारी ॥

सतोपंथतें पुन्यभूमि कन्याकुमारि लौं ।
गंग सिन्धुतें गई द्वारका दिव्य द्वारि लौं ॥
गिन्यौ स्वर्गहू तुच्छ, देशकी भक्ति न चूकी ।
धूरि रमाई रोम-रोममें भारत-भूकी ॥

लै सेवा-व्रत कियौ जगत-उपकार चावसों ।
दियौ दान-सनमान दीनता-दया-भावसों ॥
कर्म ज्ञान अरु भक्ति त्रयीमें समता थापी ।
रिपु मोहादि पछारि उधारे केतिक पापी ॥

सान्ति-सरलता मूर्ति सील-समता-प्रकासिनी ।
जन-बत्सलता-रूप, प्रेम-कलिका-विकासिनी ॥
भक्ति-ध्वजा फहराय काल-कलि अघ विनासिनी ।
भई, हाय ! वह युगलप्रिया गोलोक-वासिनी ॥

जनमी जहँ वह, भाग्य धन्य धनि ता वसुधाके !
धन्य भूमि वह, परे जहाँ पग युगलप्रियाके।
धनि धनि,वह जल-धार,तासु दृग-धार मिली जहँ।
धनि मो मानस, तासु कृपाकी कली खिली जहँ ॥

धन्य धन्य मो हाथ, करी सेवा सुखदायनि।
धन्य धन्य मो माथ, रह्यो लोटत उन पायनि ॥
धनि धनि मेरो भाग्य, मिली जो सतगुरु-नैया।
धनि धनि रसना यहै, कहै जो 'मैया मैया !'

रटत न कबहूँ नाम ढीठ तुव हरी हठीलो।
घुमत रहत चित-चक्र, परत बंधन नहिं ढीलो ॥
राखि तदपि निज छाँह बाँह, बलि, थामि लेति तू।
जब-कब सपने अजहुँ, अंब ! अवलंब देति तू ॥

युगलप्रिया सतगुरू,मात पित युगलप्रिया ही।
युगलप्रिया सर्वस्व, परम हित युगलप्रिया ही ॥
युगलप्रिया ही साध्य, साधिका युगलप्रिया ही।
युगलप्रिया ही कृष्ण, राधिका युगलप्रिया ही ॥

अजहूँ रे मन मूढ़ ! सरन सतगुरुकी गहि लै।
कछुक काल तौ युगलप्रिया चरितावलि कहि लै ॥
मंगल-मोद-निधान नाम सुनि भाजत भव भय।
युगलप्रिया जय, युगलप्रिया जय, युगलप्रिया जय !

—वियोगी हरि

महाराज रन्तिदेव

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

(भाग० ९।२१।१२)

भारतवर्ष नररत्नोंकी खान है। किसी भी विषयमें लीजिये, इस देशके इतिहासमें उच्च-से-उच्च दृष्टान्त मिल सकते हैं। संकृति नामक राजाके दो पुत्र थे, एकका नाम था गुरु और दूसरेका रन्तिदेव। रन्तिदेव बड़े ही प्रतापी राजा हुए। इनकी न्यायशीलता, दयालुता, धर्मपरायणता और त्यागकी ख्याति तीनों लोकोंमें फैल गयी। रन्तिदेवने गरीबोंको दुःखी देखकर अपना सर्वस्व दान कर डाला, इसके बाद वे किसी तरह कठिनतासे अपना निर्वाह करने लगे पर उन्हें जो कुछ मिलता था उसे स्वयं भूखे रहनेपर भी वे गरीबोंको बाँट दिया करते थे। इस प्रकार राजा सर्वथा निर्धन होकर सपरिवार अत्यन्त कष्ट सहने लगे !

एक समय पूरे अड़तालीस दिनतक भोजनकी कौन कहे,जल भी पीनेको नहीं मिला। भूख-प्याससे बलहीन राजाका शरीर काँपने लगा। अन्तमें उनचासवें दिन प्रातःकाल राजाको घी, खीर, हलवा और जल मिला ! अड़तालीस दिनके लगातार अनशनसे राजा परिवारसहित बड़े ही दुर्बल हो गये थे। सबका शरीर काँप रहा था, रोटीकी कीमत भूखा मनुष्य ही जानता है, जिसके सामने मेवे-मिष्ठान्नोंके ढेर आगे-से-आगे लगे रहते हैं उन्हें गरीबोंके भूखे पेटकी ज्वालाका क्या पता ?

रन्तिदेव भोजन करना ही चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। करोड़ रुपयेमेंसे नामके लिये लाख रुपये दान करना बड़ा सहज है परन्तु भूखे पेटका अन्न दान करना बड़ा कठिन कार्य है ! पर सर्वत्र हरिको व्याप्त देखनेवाले भक्त रन्तिदेवने वह अन्न आदरसे श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणरूप अतिथि-नारायणको बाँट दिया, ब्राह्मण भोजन करके चला गया।

परदुःखकातर सपरिवार महाराजा रन्तिदेव
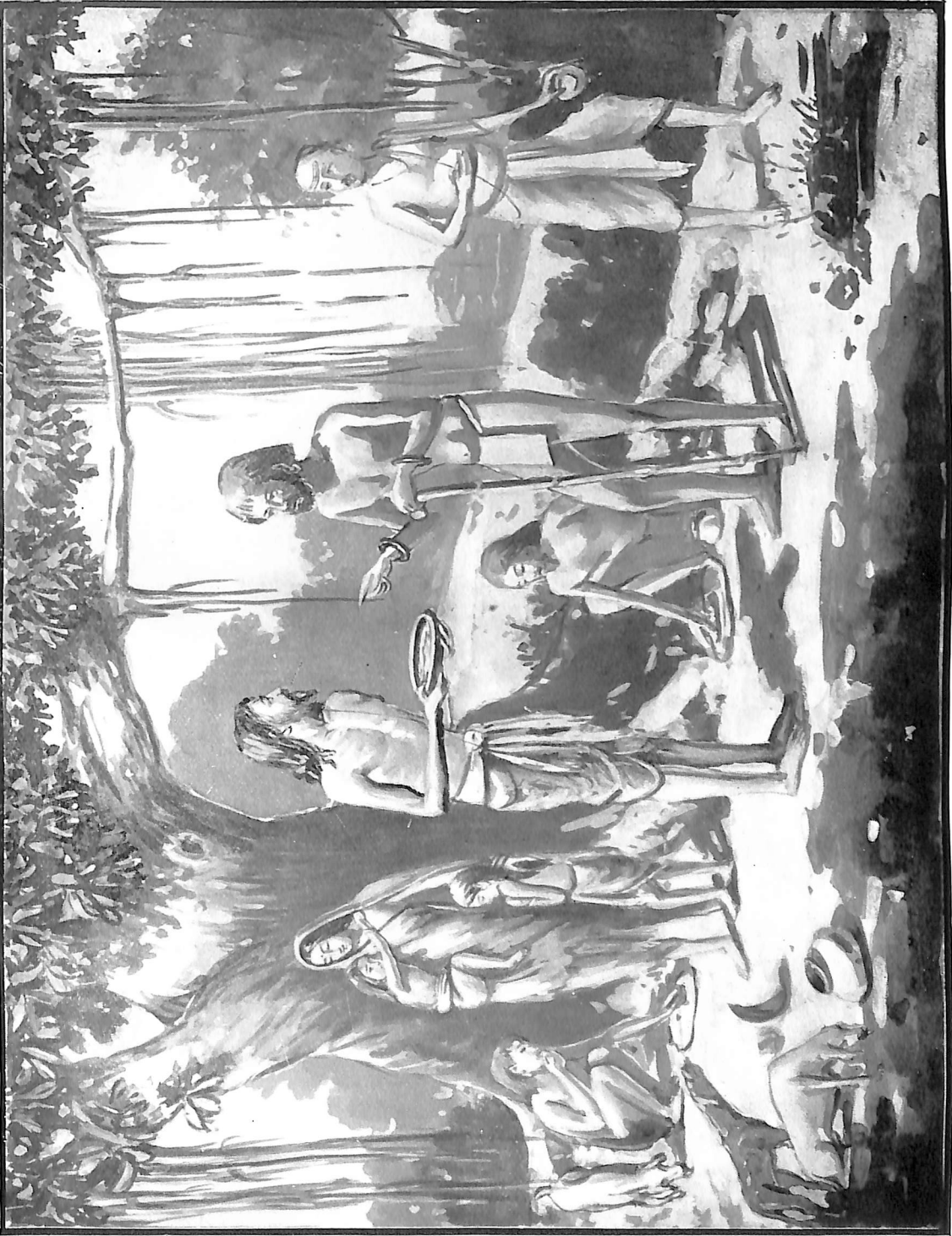
न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् । कामये दुःखतप्तानामार्त्तानां आर्तिनाशनम् ॥

उसके बाद बचा हुआ अन्न राजा परिवारको बाँटकर खाना ही चाहते थे कि एक शूद्र अतिथिने पदार्पण किया। राजाने भगवान् श्रीहरिका स्मरण करते हुए बचा हुआ अन्न उस दरिद्रनारायणकी भेंटमें दे दिया। इतनेमें ही कई कुत्ते साथ लिये एक और मनुष्य अतिथि होकर वहाँ आया और कहने लगा "राजन्! मेरे ये कुत्ते और मैं भूखा हूँ, भोजन दीजिये।"

हरिभक्त राजाने उसका भी सत्कार किया और आदरपूर्वक बचा हुआ सारा अन्न कुत्तोंसहित उस अतिथिभगवान्‌के समर्पणकर उसे प्रणाम किया!

अब, एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके—केवल इतना-सा जल बच रहा था, राजा उसको पीना ही चाहते थे कि अकस्मात् एक चाण्डालने आकर दीन स्वरसे कहा, 'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये!'

उस चाण्डालके दीन वचन सुनकर और उसे थका हुआ जानकर रन्तिदेवको बड़ी दया आयी और उन्होंने ये अमृतमय वचन कहे—

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता, मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ जिससे उन लोगोंका दुःख दूर हो जाय।'

'इस मनुष्यके प्राण जल बिना निकल रहे हैं, यह प्राणरक्षाके लिये मुझसे दीन होकर जल माँग रहा है, इसको यह जल देनेसे मेरी भूख, प्यास, थकावट, चक्कर, दीनता, क्लान्ति, शोक, विषाद और मोह आदि सब मिट जायँगे।'

इतना कहकर स्वाभाविक दयालु राजा रन्तिदेवने स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहनेपर भी उस चाण्डालको वह जल आदर और प्रसन्नतापूर्वक दे दिया। यह हैं भक्तके लक्षण!

फलकी कामना करनेवालोंको फल देनेवाले त्रिभुवननाथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही महाराज रन्तिदेवकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा क्रमशः ब्राह्मणादि रूप धरकर आये थे। अब राजाका धैर्य और उसकी भक्ति देखकर वे परम प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपना-अपना यथार्थ रूप धारणकर राजाको दर्शन दिया। राजाने तीनों देवोंका प्रत्यक्ष दर्शनकर उन्हें प्रणाम किया और उनके कहनेपर भी कोई वर नहीं माँगा। क्योंकि राजाने आसक्ति और कामना त्यागकर अपना मन केवल भगवान् वासुदेवमें लगा रक्खा था। यों परमात्माके अनन्य भक्त रन्तिदेवने अपना चित्त पूर्णरूपसे केवल ईश्वरमें लगा दिया और परमात्माके साथ तन्मय हो जानेके कारण त्रिगुणमयी माया उनके निकट स्वप्नके समान लीन हो गयी! रन्तिदेवके परिवारके सब लोग भी उनके संगके प्रभावसे नारायणपरायण होकर योगियोंकी परमगतिको प्राप्त हुए!

—रामदास गुप्त

गृहस्थमें भक्तिके साधन

(लेखक—श्रीहरिप्रपन्नजी अग्रवाल)

भक्तिके साधकोंके लिये यहाँ कुछ नियम लिखे जाते हैं, इनमेंसे जो साधक जितने अधिक नियमोंका पालन कर सकेंगे उन्हें उतना ही अधिक लाभ होगा।

१ असत्य, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण बिल्कुल छोड़ दे।

२ दम्भ कभी न करे, भक्त बननेकी चेष्टा करे, दिखलानेकी नहीं।

३ कामनाका सब तरह त्याग करे, भजनके बदलेमें भगवान्‌से कुछ भी माँगे नहीं।

४ अष्टमैथुनका त्याग करे, पुरुष अपनी विवाहिता पत्नीसे और स्त्री अपने विवाहित

पतिसे भी जहाँतक हो सके बहुत ही कम सहवास करे। दोनोंकी सम्मतिसे बिल्कुल छोड़ दें तो सबसे अच्छी बात है।

५ स्त्री परपुरुष और पुरुष परस्त्रीका बिल्कुल त्याग करे। जहाँतक हो एकान्तमें मिलना-बोलना कभी न करे।

६ मानकी इच्छा न करे, अपमानसे घबराये नहीं, दीनता और नम्रता रक्खे, कडुआ न बोले, किसीका भी बुरा न चाहे, परचर्चा-परनिन्दा न करे और किसीसे भी घृणा न करे।

७ रोगी, अपाहिज, अनाथकी तन-मन-धनसे स्वयं सेवा करे। अपनी किसी प्रकारकी सेवा भर-सक किसीसे न करावे।

८ भरसक सभा-समितियोंसे अलग रहे, समाचारपत्र अधिक न पढ़े, बिल्कुल न पढ़े तो और भी अच्छी बात है।

९ सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम करे, सबकी सेवाके लिये तैयार रहे।

१० तर्क न करे, वादविवाद या शास्त्रार्थ न करे।

११ भगवान्, भगवन्नाम, भक्त और भक्तिके शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास और परम श्रद्धा रक्खे।

१२ दूसरेके धर्म या उपासनाकी विधिका विरोध न करे।

१३ दूसरोंके दोष न देखे, अपने देखे और उन्हें प्रकाश कर दे।

१४ माता, पिता, स्वामी, गुरुजनोंकी सेवा करे।

१५ नित्य सुबह-शाम दोनों वक्त ध्यान या मानसिक पूजा करे और विनयके पद गावे।

१६ प्रतिदिन भगवान्‌के नामका कम-से-कम पचीस हजार जप जरूर करे। नाम वही ले, जिसमें रुचि हो। "हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥" की १६ मालामें इतना जप हो सकता है।

१७ कम-से-कम पन्द्रह मिनट रोज सब घरके लोग (स्त्री-पुरुष-बालक) मिलकर नियमित-रूपसे तन्मय होकर नाम-कीर्तन करें।

१८ भगवद्गीताके एक अध्यायका अर्थसहित नित्य पठन करे।

१९ भगवान्‌की मूर्तिके प्रतिदिन दर्शन करे, पास ही मन्दिर हो और उसमें जानेका अधिकार हो तो वहाँ जाकर दर्शन करे, नहीं तो घरमें मूर्ति या चित्रपट रखकर उसीका दर्शन करे।

२० जहाँतक हो सके मूर्तिपूजा करे, स्त्रियोंको मन्दिरोंमें जानेकी जरूरत नहीं, वे अपने घरमें ठाकुरजीकी मूर्ति रखकर सोलह उपचारोंसे रोज पूजा कर लिया करें।

२१ संसारके पदार्थोंमें भोग-दृष्टिसे वैराग्य और सबमें ईश्वर-दृष्टिसे प्रेम करनेका अभ्यास करे।

२२ ईश्वर, अवतार, संत-महात्माओंपर कभी शंका न करे।

२३ यथासाध्य और यथाधिकार, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत (कम-से-कम ११ वाँ स्कन्ध), महाभारत (कम-से-कम शान्ति और अनुशासनपर्व), वाल्मीकीय रामायण, तुलसी-दासजीका रामचरितमानस, सुन्दरदासजीका सुन्दरविलास, समर्थ रामदासजीका दासबोध, भक्तमाल, भक्तोंके जीवनचरित आदि ग्रन्थोंको पढ़ना, सुनना और विचार करना चाहिये।

२४ भगवान् राम, कृष्ण, नरसिंह आदि अवतारोंके समयनिर्णय, उनके जीवनपर विचार आदि न करके उनका भक्तिभावसे भजन करना चाहिये। पेड़ गिननेवालेकी अपेक्षा आम खाने-वाला लाभमें रहता है। थोड़े जीवनको असली काममें ही व्यय करना चाहिये।

भक्तिप्रियो माधवः

(व्याख्यानवाचस्पति पूज्य पण्डित श्रीदीनदयालुजी महाराजका उपदेश)

जरा-मरण आदि आधिव्याधियोंसे घिरा हुआ जीव सदा सुखकी खोजमें ही भटकता रहता है। वह अज्ञातावश संसारकी अस्थायी वस्तुओंमें ही आनन्द मानता है परन्तु स्थायी और परमसुख तभी प्राप्त हो सकता है जब आत्मतत्त्वको समझ लिया जाय। हिन्दुओंमें ज्ञानकी बड़ी उपासना है। जिसने जान लिया उसीका जन्म सार्थक हुआ। बिना ज्ञानके जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा नहीं होता 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' भगवान्‌ने कहा है, अनेक जन्मोंके बाद ज्ञानवान् मुझतक पहुँचता है 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' श्रुतिका भी यही डिंडिम घोष है कि 'तरति शोकमात्मवित्' जिसने अपने आपको पहचान लिया वही इस संसाररूपी दुःखसागरसे पार जाता है।

किन्तु आत्माका साक्षात्कार भगवान्‌की कृपा बिना सम्भव नहीं। पूर्वजन्मोंके शुद्ध संस्कारोंसे ही यह दशा प्राप्त होती है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' ज्ञानका मार्ग बड़ा दुरूह है। बड़े-बड़े योगियोंको भी उसमें कठिनता प्रतीत होती है, साधारण जीवोंकी तो बात ही दूर है।

परन्तु यही सिद्धि निश्छलभावसे भगवत्परायण होनेवाले जीवोंको बड़ी सुगमतासे प्राप्त हो जाती है, भगवत्-शरणागतिको छोड़कर भगवान्‌की प्राप्तिका कोमल और निष्कण्टक मार्ग दूसरा नहीं है। भगवान्‌की शरणमें अपने आपको निवेदन कर देनेसे—प्रभुमें परम और चरम अनुराग करनेसे जीवका परम कल्याण साधित होता है। पण्डितसे लेकर स्त्री, शूद्र और पामरतक भक्तिके मार्गसे भगवान्‌तक पहुँच सकते हैं। संसारका कल्याण करनेकी इच्छासे साधारण जीवोंका उद्धार करनेके हेतु प्राचीन आचार्योंने इसी मार्गके अवलम्बनका जनसाधारणको उपदेश दिया और इसी भक्तिमार्गके द्वारा कलिसन्तप्त जीवोंका असाधारण हित हुआ। पहुँचे हुए भक्तमें और ज्ञानीमें कुछ भी अन्तर नहीं रहता है। सच्चा भक्त दासत्वकी कोटिको छोड़कर भगवान्‌का ही रूप बन जाता है। 'दासोऽहम्' कहते-कहते 'सोऽहम्' कहने लगता है। एक कविने इस भावको कैसी सुन्दरतासे दरसाया है—

'दासोऽहमिति' या बुद्धिः पूर्वमासीज्जनार्दने।
'दा'कारोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा।

मैं देखता हूँ, आजकल देशमेंसे ये भाव नष्ट-प्राय हो गये हैं। न ज्ञानकी चर्चा है, न भक्तिकी। इन भावोंके फिरसे प्रचारकी बड़ी आवश्यकता है। भक्ति और प्रेम तो इस देशके निवासियोंके जीवन-आधार रहे हैं। भारतका अतीत भक्तिरसमें पगा हुआ है, भगवान्‌के भक्तोंके पवित्र चरित्रोंसे इस देशका इतिहास भरा पड़ा है। यथार्थ भक्तोंके चरित्रोंसे इस देशके अनेक नर-नारियोंके जीवन सुधरे हैं।

देशमें जब अहिन्दू राज्यका बोलबाला हुआ और धर्ममें भयानक ग्लानि उत्पन्न हुई तो चारों वैष्णवाचार्यों, चैतन्य महाप्रभु, गुरु नानक देव, भक्त कबीर और उनके पीछेके अनेक सम्प्रदाय-प्रवर्तकोंने भक्तिका ही आश्रय लेकर धर्म और समाजकी रक्षा की थी। अन्यथा कौन कह सकता है कि हिन्दू-धर्मके माननेवालोंकी आज क्या दशा होती?

आज भी हिन्दूजातिके सामने किसी-न-किसी रूपमें वैसी ही विकट समस्या उपस्थित है। इस विपत्तिसे पार पानेका भी एक ही मार्ग है—भगवान्‌की शरणागति। भगवान्‌की शरणमें जात-पाँत, ऊँच-नीचका कोई अन्तर नहीं है। जिसने शुद्ध हृदयसे अपने

प्रभुका स्मरण किया उसीने उसे पा लिया। भगवान्‌को अपने भक्त बहुत प्यारे हैं, उन्हें उनका अहित सह्य नहीं हो सकता, यह प्रभुकी ईशवाणी है कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति।' अर्जुनको सब कुछ बतलाकर भगवान्‌ने अन्तमें गीताके उपदेशका शरणागति ही सार बतलाया है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

आज साम्यवादकी जो हवा चली हुई है, उसका पर्यवसान भी हरिनामस्मरणमें ही है। भगवान्‌के नामका आश्रय लेनेमें छोटे-बड़े, छूत-अछूत सबको समान अधिकार है और सद्‌गति भी समानरूपसे ही होती है। भगवान् केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं। भगवान् न आचरणसे उतने प्रसन्न होते हैं न बड़ी आयुसे, न बहुत विद्यासे, न रूपसे, न धनसे, न बड़े कुलसे, न वीरतासे, जितने वे सच्ची भक्तिसे प्रसन्न होते हैं—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

* * * *

वर्तमान समयके भौतिक विज्ञानवादकी चकाचौंधमें फँसे हुए पण्डितम्मन्य जीवोंको भक्तिका अमृतरस पिलाकर उन्हें सत्यमार्गपर लानेकी जो चेष्टा की जाय मैं उसकी हृदयसे सफलता चाहता हूँ।

शरणागतवत्सल भक्तराज शिवि

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्॥ (शिवि)

उशीनरपुत्र हरिभक्त महाराज शिवि बड़े ही दयालु और शरणागतवत्सल थे! एक समय राजा एक महान् यज्ञ कर रहे थे, इतनेमें भयसे काँपता हुआ एक कबूतर राजाके पास आया और उनकी गोदमें छिप गया। इतनेमें ही उसके पीछे उड़ता हुआ एक विशाल बाज वहाँ आया और वह मनुष्यकी-सी भाषामें उदारहृदय राजासे बोला—

बाज—हे राजन्! पृथ्वीके धर्मात्मा राजाओंमें आप सर्वश्रेष्ठ हैं पर आज आप धर्मसे विरुद्ध कर्म करनेकी इच्छा कैसे कर रहे हैं? आपने कृतघ्नको धनसे, झूठको सत्यसे, निर्दयीको क्षमासे और असाधुको अपनी साधुतासे जीत लिया है। उपकार करनेवालेके साथ तो सभी उपकार करते हैं परन्तु आप बुराई करनेवालेका भी उपकार करते हैं। जो आपका अहित करता है आप उसका भी हित करना चाहते हैं, पापियोंपर भी आप दया करते हैं, और तो क्या, जो आपमें दोष ढूँढ़ते हैं उनमें भी आप गुण ही ढूँढ़ते हैं। ऐसे होकर भी आज आप यह क्या कर रहे हैं? मैं भूखसे व्याकुल हूँ। मुझे यह कबूतररूपी भोजन मिला है, आप इस कबूतरके लिये अपना धर्म क्यों छोड़ रहे हैं?

कबूतर—महाराज! मैं बाजसे डरकर प्राणरक्षाके लिये आपके शरण आया हूँ। आप मुझे बाजको कभी मत दीजिये!

राजा—(बाजसे) तुमसे डरकर यह कबूतर अपनी प्राणरक्षाके लिये मेरे समीप आया है। इस तरह शरण आये हुए कबूतरका त्याग मैं कैसे कर दूँ? जो मनुष्य

शरणागतकी रक्षा नहीं करते या लोभ, द्वेष अथवा भयसे उसे त्याग देते हैं उनकी सज्जन लोग निन्दा करते हैं और उनको ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। जिस तरह हमलोगोंको अपने प्राण प्यारे हैं, उसी तरह सबको प्यारे हैं, अच्छे लोगोंको चाहिये कि वे मृत्युभयसे व्याकुल जीवोंकी रक्षा करें। मैं मरूँगा, यह दुःख प्रत्येक पुरुषको होता है, इसी अनुमानसे दूसरेकी भी रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार तुमको अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार दूसरोंको भी अपना जीवन प्रिय है। जिस तरह तुम भूखसे मरना नहीं चाहकर अपना जीवन बचाना चाहते हो, उसी तरह तुम्हें दूसरोंके जीवनकी भी रक्षा करनी चाहिये। हे बाज! मैं यह भयभीत कबूतर तुम्हें नहीं दे सकता और किसी उपायसे तुम्हारा काम बन सकता हो तो मुझे शीघ्र बतलाओ, मैं करनेको तैयार हूँ!

बाज—महाराज! भोजनसे ही जीव उत्पन्न होते, बढ़ते और जीते हैं, बिना भोजन कोई नहीं रह सकता। मैं भूखके मारे मर जाऊँगा तो मेरे बालबच्चे भी मर जायँगे। एक कबूतरके बचानेमें बहुत-से जीवोंकी जान जायगी! हे परन्तप! उस धर्मको धर्म नहीं कहना चाहिये जो दूसरे धर्ममें बाधा पहुँचाता है। श्रेष्ठ पुरुष उसीको धर्म बतलाते हैं जिससे किसी भी धर्ममें बाधा नहीं पहुँचती! अतएव दो धर्मोंका विरोध होनेपर बुद्धिरूपी तराजूसे उन्हें तौलना चाहिये और जो अधिक महत्त्वका और भारी मालूम हो, उसे ही धर्म मानना चाहिये।

राजा—हे बाज! भयमें पड़े हुए जीवोंकी रक्षा करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जो मनुष्य दयासे द्रवित होकर जीवोंको अभयदान देता है वह इस देहके छूटनेपर सम्पूर्ण भयसे छूट जाता है। लोकमें बड़ाई या स्वर्गके लिये धन, वस्त्र और गौ देनेवाले बहुत हैं परन्तु सब जीवोंकी भलाई करनेवाले पुरुष दुर्लभ हैं। बड़े-बड़े यज्ञोंका फल समयपर क्षय हो जाता है पर भयभीत प्राणीको दिया हुआ अभयदान कभी क्षय नहीं होता—मैं राज्य या अपना दुस्त्यज शरीर त्याग सकता हूँ। पर इस दीन और भयसे त्रस्त कबूतरको नहीं छोड़ सकता!

यन्ममास्ति शुभं किञ्चित्तेन जन्मनि जन्मनि।
भवेयमहमार्त्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशकः॥
न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्॥

(महाभारत वन०)

अपने पहलेके जन्मोंमें मैंने जो कुछ भी पुण्य किया है उसका फल मैं केवल यही चाहता हूँ कि दुःख और क्लेशमें पड़े हुए प्राणियोंका मैं क्लेश नाश कर सकूँ। मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष चाहता हूँ, मैं चाहता हूँ केवल दुःखमें तपते हुए प्राणियोंके दुःखका नाश!

हे बाज! तुम्हारा यह काम केवल आहारके लिये है तुम आहार चाहते हो, मैं तुम्हारे दुःखका भी नाश चाहता हूँ अतएव तुम मुझसे कबूतरके बदलेमें चाहे जितना और आहार माँग लो!

बाज—हमलोगोंके लिये शास्त्रानुसार कबूतर ही आहार है अतएव आप इसे छोड़ दीजिये।

राजा—हे बाज! मैं भी शास्त्रसे विपरीत नहीं कहता। शास्त्रके अनुसार सत्य और दया सबसे बड़े धर्म हैं। बैठते, चलते या सोते-जागते हुए जो काम जीवोंके हितके लिये नहीं होता वह तो पशुचेष्टाके समान है। जो मनुष्य स्थावर और जंगम जीवोंकी आत्मवत् रक्षा करते हैं वे ही परम गतिको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य समर्थ होकर भी मारे जाते हुए जीवकी परवा नहीं करता वह घोर नरकमें गिरता है। मैं तुम्हें अपना समस्त राज्य दे देता हूँ या इस कबूतरके सिवा तुम जो कुछ भी चाहोगे सो देनेको तैयार हूँ, पर कबूतरको नहीं दे सकता!

बाज—हे राजन्! यदि इस कबूतरपर आपका इतना प्रेम है तो इस कबूतरके बराबर तौलकर आप अपना मांस दे दीजिये, मैं अधिक नहीं चाहता!

राजा—बाज ! तुमने बड़ी कृपा की ! तुम जितना चाहो उतना मांस मैं देनेको तैयार हूँ । इस क्षणभङ्गुर अनित्य शरीरको देकर भी जो नित्य धर्मका आचरण नहीं करता वह मूर्ख शोचनीय है ।

यदि प्राण्युपकाराय देहोऽयं नोपयुज्यते ।
ततः किमुपकारोऽस्य प्रत्यहं क्रियते वृथा ॥

यह शरीर यदि प्राणियोंके उपकारके लिये उपयोगमें न आवे तो प्रतिदिन इसका पालन-पोषण करना व्यर्थ है । हे बाज ! मैं तुम्हारे कथनानुसार ही करता हूँ !

यह कहकर राजाने एक तराजू मँगाया और उसके एक पलड़ेमें कबूतरको बैठाकर दूसरेमें अपना मांस काट-काटकर रखने लगे और उसे कबूतरके साथ तौलने लगे । अपने सुखभोगकी इच्छाको त्यागकर सबके सुखमें सुखी होनेवाले सज्जन ही दूसरोंके दुःखमें सदा दुखी हुआ करते हैं । कबूतरकी रक्षा हो और बाजके भी प्राण बचें, दोनोंका ही दुःख निवारण हो, इसीलिये आज महाराज शिवि अपने शरीरका मांस अपने हाथों प्रसन्नतासे काट-काट दे रहे हैं । भगवान् अन्तरिक्षसे अपने भक्तकी लीला देख-देखकर प्रसन्न हो रहे हैं । धन्य त्यागका आदर्श !

तराजूमें कबूतरका वजन मांससे बढ़ता गया, राजाने शरीरभरका मांस काटकर रख दिया परन्तु कबूतरका पलड़ा नीचा ही रहा तब राजा स्वयं तराजू-पर चढ़ गये । ठीक ही तो है—

परदुःखातुरा नित्यं सर्वभूतहिते रताः ।
नापेक्षन्ते महात्मानः स्वसुखानि महान्त्यपि ॥

दूसरेके दुःखसे आतुर, सदा समस्त प्राणियोंके हितमें रत महात्मा लोग अपने महान् सुखकी तनिक भी परवा नहीं करते । राजा शिविके तराजूमें चढ़ते ही आकाशमें बाजे बजने लगे और नभसे पुष्पवृष्टि होने लगी !

राजा मनमें सोच रहे थे कि यह मनुष्यकी-सी वाणी बोलनेवाले कबूतर और बाज कौन हैं तथा आकाशमें बाजे बजनेका क्या कारण है ? इतनेहीमें वह बाज और कबूतर अन्तर्धान हो गये और उनके बदलेमें दो दिव्य देवता प्रकट हो गये । दोनों देवता इन्द्र और अग्नि थे । इन्द्रने कहा—

'राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं इन्द्र हूँ, जो कबूतर बना था वह अग्नि है । हमलोग तुम्हारी परीक्षा करने आये थे । तुमने जैसा दुष्कर कार्य किया है ऐसा आजतक किसीने नहीं किया । यह सारा संसार कर्मपाशमें बँधा हुआ है परन्तु तुम जगत्के दुःखोंसे छूटनेके लिये करुणासे बँध गये हो । तुमने बड़ोंसे ईर्षा नहीं की, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया और बराबरवालोंके साथ कभी स्पर्द्धा नहीं की इससे तुम संसारमें सबसे श्रेष्ठ हो । विधाताने आकाशमें जलसे भरे बादलोंको और फलभरे वृक्षोंको परोपकारके लिये ही रचा है । जो मनुष्य अपने प्राणोंको त्यागकर भी दूसरेके प्राणोंकी रक्षा करता है वह उस परमधामको पाता है जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता । अपना पेट भरनेके लिये तो पशु भी जीते हैं, प्रशंसाके योग्य जीवन तो उन लोगोंका है जो दूसरोंके लिये जीते हैं । सत्य है, चन्दनके वृक्ष अपने ही शरीरको शीतल करनेके लिये नहीं उत्पन्न हुआ करते । संसारमें तुम्हारे सदृश अपने सुखकी इच्छासे रहित, एकमात्र परोपकारकी बुद्धिवाले साधु केवल जगत्के हितके लिये ही पृथ्वीपर जन्म लेते हैं । तुम दिव्यरूप धारण करके चिरकालतक पृथ्वीका पालन कर अन्तमें भगवान्के ब्रह्मलोकमें जाओगे ।

इतना कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्गको चले गये । राजा शिवि यज्ञके बाद बहुत दिनोंतक पृथ्वीका राज्य करके अन्तमें परमपदको प्राप्त हुए ।

—रामदास गुप्त

भुजाबिसाल गहि हृदय लगावा ।

असुरोंकी भगवद्भक्ति

(लेखक—श्रीरामनाथजी अग्रवाल, ग्वालियर)

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥ (भागवत ६ । ११ । २४)

'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंने देवताओं और मनुष्योंकी भगवद्भक्तिके विषयमें बहुत कुछ पढ़ा-सुना होगा, किन्तु आज हम कुछ असुरोंकी 'भक्ति' का हाल सुनाते हैं। राक्षसोंमें बहुत कम भगवद्भक्त हुए हैं, फिर भी जो हुए हैं उनमें कई तो बहुत ही उच्च कोटिके और सर्वमान्य हैं। प्राचीन भागवतोंमें दैत्य-राज प्रह्लादका नाम तो मुख्य है ही ! असुरेन्द्र बलि महाराज भी एक प्रख्यात भगवद्भक्त हुए हैं, जिन्होंने अपने भुजबलसे उपार्जित की हुई तीनों लोकोंकी सारी सम्पत्ति भगवान् विष्णुको उनका कपट जानते हुए भी क्षणभरमें दे दी और सत्यसे तनिक भी विचलित नहीं हुए, यद्यपि शुक्राचार्यने उन्हें बहुत मना किया था।

रावणके छोटे भाई विभीषणका नाम तो आप-लोगोंने सुना ही होगा, वे भी बड़े न्यायनिष्ठ और साधु पुरुष थे, किन्तु कुछ लोगोंने उनके चरित्रकी बड़ी भद्दी आलोचना की है। पर मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि जब एक भाई परायी स्त्री चुरा लाया हो और अपने दूसरे भाइयोंकी नेक सलाह न मानकर उनकी लात-घूँसोंसे खबर लेता हो, उस समय दूसरे भाईका क्या कर्तव्य है ? श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें गिरते हुए विभीषणने दीन वाणीसे कहा था—

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः ।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥
(वाल्मीकिरामा० ६ । १७)

श्रीरघुनाथजीने भी विभीषणका स्वागत करते हुए बड़ा भावपूर्ण उत्तर दिया—

कहु लंकेस सहित परिवारा ।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥
खल-मंडली बसहु दिन राती ।
सखा धर्म निबहै केहि भाँती ॥
मैं जानी तुम्हारि सब नीती ।
अति-नय-निपुण न भाव अनीती ॥
बरु भल बास नरककर ताता ।
दुष्ट संग जनि देहि बिधाता ॥

इस संवादसे भली प्रकार विदित हो जाता है कि विभीषण एक न्यायनिष्ठ भगवद्भक्त थे, केवल साधारण बुद्धिके असुर नहीं !

वृत्रासुरकी भगवद्भक्तिका भी उल्लेख श्रीमद्भागवतमें बड़ी सुन्दरतासे किया गया है। इस लेखके आरम्भमें जो श्लोक दिया गया है वह वृत्रासुरने ही युद्धके समय भगवान्‌की प्रार्थनामें कहा था, इसके सिवा और भी कई भक्त हुए हैं! परन्तु अभी मैं इस कथाका विस्तार न करते हुए वृत्रासुरकी कथाके अन्तिम श्लोक देकर इस निबन्धको समाप्त करता हूँ। मृत्युकालमें भक्त वृत्रासुरकी क्या ही सुन्दर अभिलाषा है—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥
(भागवत ६ । ११ । २५-२७)

'हे प्रभो ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद, पृथ्वीका सार्वभौम राज्य, पातालका राज्य और आठों सिद्धियोंकी तो बात ही क्या है, मोक्ष भी नहीं चाहता। जिनके पंख नहीं निकलते हैं वे पक्षियोंके बच्चे जैसे भूखसे घबराकर माताके आनेकी बाट देखते हैं, जैसे रस्सीमें बँधे भूखे बछड़े दूधके लिये आतुर होते हैं और जैसे कामपीड़िता स्त्री अपने परदेश गये हुए पतिको देखनेके लिये व्याकुल होती है,—हे कमलनयन ! मेरा मन भी वैसे ही आपके दर्शनके लिये उत्सुक है। मैं अपने कर्मोंसे संसारचक्रमें भ्रमण कर रहा हूँ, आप पवित्रकीर्ति हैं। आपकी मायावश मेरा मन इस समय पुत्र, स्त्री, घर आदिमें आसक्त हो रहा है, हे नाथ ! ऐसी दया कीजिये जिससे मेरा मन इनमें आसक्त न हो और आपके भक्तोंसे मेरी मित्रता हो।'

भक्तकी चाह

(लेखक—पं० श्रीनन्दकिशोरजी शुक्ल, वाणीभूषण)

(१)

यह सत्य है, हैं आप मुझमें और मैं हूँ आपमें ,
जलमें भरी ज्यों भाप है, वह भी भरा है भापमें ।
हम आप दोनों एक हैं, है भिन्नता कहिये कहाँ ,
जिसमें नहीं हैं आप ऐसा तत्त्व त्रिभुवनमें कहाँ ?

(२)

तो भी यही चित चाह है,सेवा करूँ नित आपकी ,
सच्ची लगन हो हे प्रभो ! तव नामके शुभ जापकी ।
देखा करूँ सुंदर तुम्हारी मूर्ति ही मनमोहनी ,
सुनता रहूँ सरसा कथा बस आपकी ही सोहनी ।

(३)

तन,मन,वचन,धनसे तुम्हारी नित्य पूजा मैं करूँ ,
शिर,नेत्र, मुखमें श्रद्धया सानन्द चरणोदक धरूँ ।
फिर प्रेमविह्वल मस्त होकर गान गाऊँ आपका ,
जो है विनाशक पापका, संतापका, त्रय तापका ।

(४)

लज्जादि पाशविमुक्त होकर प्रेममें पूरा पगूँ ,
श्रीमूर्तिके सम्मुख प्रमुदसे नाचने फिर मैं लगूँ ।
इससे अधिक सुख है नहीं,यदि हो न लूँगा मैं कभी,
भवदर्चनामें ही मुझे आनन्द मिलता है सभी ।

(५)

हे राम ! सेवक प्रार्थना यह पूर्ण कृपया कीजिये ,
दासानुदासोंमें दयाकर नाम मम लिख लीजिये ।
है जीवके कल्याणका यह मार्ग ही उत्तम बड़ा ,
अतएव भगवन् ! शरणमें मैं आपकी ही हूँ पड़ा ।

भगवत्-शरण

(लेखक—श्रीभोलेबाबाजी, अनूपशहर)

लीन्हीं जेहि भगवत्-शरण, सो नर सुकृती धन्य ।
जीते तीनों लोक तेहि, नहिं तासम कोउ अन्य ॥
नहिं तासम कोउ अन्य, धन्य जिहि माता जाया ।
धन्य पिता कुल धन्य, धन्य सो नगर सुहाया ॥
देश धन्य महि धन्य, चरण जहँ जहँ तिहि दीन्हीं ।
धन्य धन्य अति धन्य, शरण भगवत् जिहि लीन्हा ॥
भक्तन पदरज शीश धरि, भगवत् पद शिर नाय ।
लिख भोला ! भगवत्-शरण, भय-भ्रम-भेद नशाय ॥

मनकी शुद्धि

हे भगवत्-प्यारी ! ब्रह्मदुलारी ! ओंकारस्वरूपिणी ! वेदव्यापिनी ! भगवत्तत्त्वभासिनी ! भवभयनाशिनी ! श्रुति भगवती नामसे प्रसिद्ध शारदा देवी ! यदि मुझ गरज़के बावलेकी आपके चरणकमलोंमें सच्ची प्रीति हो तो हे माता ! ब्रह्मभुवनको छोड़कर इस पगलेकी लकड़ीकी लेखनीपर आ बैठिये और भगवद्भक्तिका रसामृत इतना बरसाइये कि सब पाठक और पाठिकाएँ पी-पीकर छक हो जायँ ! कलियुगकी कीर्ति पृथिवीलोकसे लेकर ब्रह्मलोक-तक फैल जाय और सब छोटे-बड़े एक स्वरसे आपकी जय-जय ध्वनि करते हुए पुकारने लगें कि कलियुगमें केवल भगवन्नामका जप करनेसे ही भगवद्भक्त भगवत्को प्राप्त होकर हमेशाके लिये जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त होकर अखण्ड सुख भोगते हैं, यह कलिसंतरणोपनिषद्का वाक्य निश्चय प्रमाण है ! तथास्तु !

पाठक ! पाठिकाएँ ! देखिये, कितनी चौड़ी सड़क है । एक-सी, सपाट, साफ-सुथरी पड़ी हुई है ! कूड़े-कर्कटका कहीं नामतक नहीं है ! एक साथ तीन गाड़ियाँ जा सकती हैं ! अति वेगसे दौड़नेपर भी गाड़ीमें बैठनेवालोंके पेटका पानीतक नहीं हिलता ! वायु कितना शुद्ध, मनको प्रसन्न करनेवाला और शरीरको आरोग्य रखनेवाला है ! अपने घर और कमरोंको इसी प्रकार शुद्ध रक्खा कीजिये ! शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी शुद्ध होना चाहिये ! शरीरादिको शुद्ध रखनेका नाम आसक्ति नहीं है ! आसक्ति दूसरी वस्तु है ? शरीरादिको शुद्ध न रखनेका नाम आलस्य है ! लापरवाही भी इसीको कहते हैं ! बहुत-से लोग लापरवाहीको वैराग्य समझते हैं ! लापरवाही और वैराग्यमें महान् अन्तर है ! लापरवाही तमोगुणसे उत्पन्न होती है, वैराग्य सत्त्वगुणका कार्य है ! लापरवाही संसारी सुखमें भी बाधक है, वैराग्यसे लोक-परलोक तथा पारमार्थिक सुख प्राप्त होता है ! लापरवाही जड़ताको पैदा करती है, वैराग्य बुद्धिका विकास करनेवाला है ! लापरवाही जीवको भगवत्से विमुख करती है, वैराग्य जीवको भगवत्के सम्मुख ले जाता है । लापरवाही अँधेरा है, वैराग्य प्रकाशरूप है ।

मकान बुहारी देने, लीपने-पोतनेसे शुद्ध होता है, शरीर नहाने-धोनेसे, मन सात्त्विकी भोजनसे और बुद्धि शुद्ध विचारोंसे पवित्र होती है । कान भगवत्-चरित्र सुननेसे, त्वचा भगवत्के स्पर्श करनेसे, आँख भगवत्-रूप देखनेसे, जिह्वा भगवन्नाम जपनेसे, नासिका भगवत्-गंध सूँघनेसे, हाथ दान करनेसे, पैर तीर्थ अथवा सत्संगमें जानेसे शुद्ध होते हैं । ब्रह्मचर्यसे सबकी शुद्धि होती है, त्याग उत्तम गुण है । मकान, शरीर, इन्द्रिय और मनका परस्पर सम्बन्ध है । एककी शुद्धिसे दूसरेकी शुद्धि होती है । शुद्ध मकानमें रहनेसे शरीर स्वस्थ रहता है, स्वस्थ शरीरमें इन्द्रियाँ व्याकुल नहीं होतीं, इन्द्रियोंके व्याकुल न होनेसे मन प्रसन्न रहता है और मन प्रसन्न रहनेसे बुद्धि स्थिर हो जाती है, स्थिर बुद्धिमें परमात्माका आविर्भाव होता है । जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो, तबतक शरीरादि प्रयत्नपूर्वक पवित्र और शुद्ध रखने चाहिये । परमात्माकी प्राप्तिके पश्चात् सब कार्य स्वाभाविक होने लगेंगे, प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही न रहेगी । परमात्मा परम पवित्र है इस-लिये पवित्र मनसे ही उसकी प्राप्ति होना सम्भव है । लोकमें जैसे जब कोई बड़े आदमीसे मिलने जाता है तो वह उसीका-सा ठाट बनाकर जाता है तभी मिल सकता

है । इसी प्रकार पवित्र मन ही परमात्मासे मिलनेमें समर्थ होता है । इसलिये मन और मनके सम्बन्धियोंको शुद्ध रखना मुमुक्षुका परम धर्म है । यही भगवत्-शरण है ।

इस सड़कका नाम ड्रूमंड रोड है, ठंडी सड़क भी इसीको कहते हैं । सामने दो जवान लड़के जा रहे हैं, दोनों ब्राह्मण हैं, सुन्दर रूपवाले हैं, सादे कपड़े पहिने हुए हैं, आगरा कालेजके उच्चकक्षाके विद्यार्थी-ग्रेजुएट हैं, एम०ए० की परीक्षा देनेवाले हैं । दोनोंमें स्वार्थरहित सच्ची मित्रता है । दोनों बुद्धिके शुद्ध और तीव्र हैं । एकका नाम पिंडीशंकर और दूसरेका मणिशंकर है ! पिंडीशंकरका पिता कलक्टर-के दफ्तरमें चीफ क्लर्क है और मणिशंकरका पिता शहर-भरमें प्रसिद्ध पण्डित वेद-वेदाङ्गका ज्ञाता और परम भगवद्भक्त है । जिस प्रश्नका शहरभरमें कोई निर्णय नहीं कर सकता, उस प्रश्नका समाधान इनसे कराया जाता है । दोनों मित्रोंकी उम्र कोई बाईस-तेईस वर्षके अनुमान है, अभी-तक विवाह एकका भी नहीं हुआ है । पिंडीशंकरने विज्ञान-विद्यामें और मणिशंकरने गणितविद्यामें बी० ए० पास किया है । युनिवरसिटीमें पिंडीशंकर द्वितीय और मणिशंकर प्रथम आया था । पिंडीशंकर संस्कृत कम जानता है, मणिशंकरने अपने पितासे संस्कृत पढ़ी है और अब भी पढ़ता रहता है । पिंडीशंकरका नाम डिप्टीकलक्टरीके लिये अंकित हो गया है, मणिशंकर पिताके समान भगवद्भक्तिमें प्रेम रखता है, इसका विचार नौकरी करनेका नहीं है । भगवत्-भक्तिका प्रचार करनेके लिये इसने अंग्रेजी पढ़ी है क्योंकि आजकलके लोग पाश्चात्य विद्याका बहुत मान करते हैं । उनके विषयासक्त मनपर अंग्रेजी पढ़े हुएका विशेष प्रभाव पड़ता है । स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्दके अमेरिका हो आनेसे और अमेरिकामें उनका मत फैलनेसे भारतवासियोंमें भी इस विद्याका मान होने लगा है ।

अच्छा ! प्रसंगको छोड़कर अब प्रकरणमें आ जाओ ! देखो यह कम्पनीबागकी तरफ जा रहे हैं, चलो, इनके पीछे, इनकी बातें सुनेंगे, इनकी बातोंसे कुछ-न-कुछ अपना मतलब अवश्य सिद्ध होगा । यद्यपि किसीके पीछे-पीछे फिरना अच्छा नहीं है परन्तु गरज बावली है । गरजवालेको सभी कुछ करना पड़ता है । गरज सब कुछ करा लेती है, ऊँचा भी गरजसे नीचा बन जाता है । गरजका नाम सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं । गरजके चरित्र देखकर बुद्धि चक्कर खा जाती है । औसान खता हो जाते हैं । गरजकी कथा अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं आता गरजकी नदी अथाह है, कोई थाह नहीं पा सकता । समुद्रके पार जाना सहज है, गरजके पार जाना अत्यन्त कठिन है, दिग्दर्शन मात्र गरजके कौतुक नीचे दिखाते हैं ।

गरजने बेगरजको भी गरजवाला बना दिया था । सृष्टिके कर्ता हिरण्यगर्भ भगवान् जिनका दूसरा नाम ब्रह्मा है, उनको इस गरजने अपने पुत्र विराटको खा जानेके लिये तत्पर कर दिया था । इस गरजके कारण ही विराट भगवान् एक होते हुए भी अनेकरूप हो गये हैं । गरजसे ही वे हजार आँख, हजार शिर, हजार भुजा आदि अङ्ग बना लिये हैं । गरज आकाशमें पोल दिखाती है । गरज वायुसे ब्रह्माण्डभरकी झाड़ू दिलवाती है । गरज अग्निसे जगत्भरकी रोटियाँ पकवाती है । गरजसे जल देवता बहे फिर रहे हैं । गरजसे ही पृथ्वी पर्वत, ओषधि, वनस्पति आदिको शिरपर लिये हुए बोझसे मर रही है । गरजसे शेषनाग पृथिवीको लिये खड़े हैं शिरतक नहीं हिलाते, गरजसे ब्राह्मण अन्य वर्णोंके सामने हाथ फैलाता है, गरज-से राजा प्रजाका गुलाम बनता है, गरजसे ही प्रजा राजा-को सिर झुकाती है, गरजसे वैश्य देश-विदेश घूमता-फिरता है, बैलकी पूँछ मरोड़ता है और गरजसे ही शूद्र सबकी सेवा करता है । गरजसे ब्रह्मचारी अष्टमैथुनका त्याग करता है, गरजसे गृहस्थ धर्मानुसार सन्तान उत्पन्न करता है, गरजसे वानप्रस्थ वनमें भूख-प्यास सहकर कंद-मूल खाकर तपस्या करता है और गरजसे ही संन्यासी परमहंस महात्मा होकर भी दर-दर टुकड़े माँगता फिरता है !

शंका-महात्माकी ऋद्धि-सिद्धि सब सेवा करनेको तैयार रहती हैं, फिर वह टुकड़े क्यों माँगता फिरता है ? संसारीको अनेक प्रकारकी इच्छाएँ होती हैं, वह माँगे तो माँगे, पर महात्मा तो पूर्ण सिद्ध होते हैं, उनके तो नजर दौलत होती है, जिसको चाहें निहाल कर दें, उनको क्यों माँगना चाहिये ?

समाधान-यदि तुम ऐसा मानते हो तो भाई ! तुम्हारे मुखमें मोदक ! पाँच चार तोलेका नहीं, पूरे पन्द्रह तोलेका ! भाई ! ऋद्धि-सिद्धि महात्माकी सेवा करनेको तैयार रहती हैं यह तो ठीक ही है, परन्तु ऋद्धि-सिद्धि

है कौन ? मायाहीकी तो बहू-बेटियाँ हैं । मायाका स्वभाव तुम जानते नहीं हो, इसलिये ऐसा प्रश्न करते हो ! जब माया जीवको स्वस्वरूपमें स्थित सावधान देखती है तो पैर दबाने लगती है, भीगी बिल्ली बन जाती है । जहाँ जीव उसकी दमपट्टीमें आ गया, वहीं सिंहके समान उसकी गरदनपर सवार हो जाती है और दाने-दानेको दर-दर भटकाती है इसलिये महात्मा उसको मुँह नहीं लगाकर टुकड़े माँगना ही अच्छा समझते हैं । अब तो दस-पाँच वर्ष माँगनेका काम है, यदि ऋद्धि-सिद्धिमें फँस जायँ तो जन्म-जन्मान्तरके लिये फिर पापड़ बेलने पड़ें । सिवा इसके महात्माका माँगना, माँगना है भी नहीं । दूसरेसे माँगनेका दोष है । महात्मा ब्रह्माण्डभरको अपना मानता है इसलिये सब घर उसीके हैं, चाहे जहाँ नारायण कर सकता है, जहाँ नारायणका नाम सुना वहीं लक्ष्मीजी रोटी लेकर दौड़ती हैं, महात्माका माँगना लक्ष्मीनारायणका पूजन है । स्वधर्मका आचरण करनेका नाम ही भगवत्-शरण है ।

अच्छा ! गरजकी थोड़ी-सी करतूत और सुन लीजिये ! गरजके कारण पिता पुत्रको सिखाता है, 'बेटा ! करिये सोई, जासों हँड़िया खदबद होई ।' यूरोपके बड़े-बड़े विद्वान् गरजसे ही बाल-बच्चोंको छोड़कर जानपर खेलकर, सात समुद्र फलाँगकर भारतको सोनेकी चिड़िया कहते हुए भागे चले आते हैं ! गरजने जहाज चलाये हैं, रेल दौड़ायी हैं, तार फैलाये हैं और हवाई जहाज उड़ाये हैं । गरजने वेद, पुराण, शास्त्र, इतिहास बनाये हैं । गरजने ही अनेक पंथ और मजहब चलाये हैं । कर्म, भक्ति, ज्ञान, अष्टांग-योग, जप, तप गरजसे ही होते हैं । गरजसे भगवान् व्यासके पुत्र शुकदेवजी जनककी ड्योढ़ियोंपर सात दिनतक खड़े रहे थे ! गरजसे पक्षियोंके राजा भगवान्के वाहन गरुड़को चाण्डाल पक्षी काकका शिष्य होना पड़ा था । गरजसे बालाकि ब्राह्मणको अजातशत्रु राजासे ब्रह्मविद्या दानमें माँगनी पड़ी थी । गरज यह है कि गरज बावली है और उसने ब्रह्माण्डभरको बावला बना रक्खा है !

एक नाजके दानेमें चौदह लोक !

शङ्का—आपने तो सभीको लताड़ डाला ! क्या आप गरजके बावले नहीं हैं ? क्या गरजमें सब दोष-ही-दोष है, कोई गुण नहीं है ? आप तो कहा करते हैं कि किसीमें दोष है ही नहीं ! फिर आप गरज और गरजवालोंको उलटी-सीधी क्यों सुना रहे हैं ।

समाधान—भाई ! हमने तो किसीको नहीं लताड़ा ! यदि हम लताड़ते तो अंग्रेजी राज्य है, मुखमेंसे जीभ निकलवा ली जाती ! भाई ! गरज ही गरजको लताड़ रही है । या यों कहो आप ही अपनेको लताड़ रहे हैं अथवा अन्नसे गरज शान्त होती है और फिर अन्नसे ही गरज पैदा हो जाती है, इसलिये अन्न सबका कारण होनेसे अन्न ही सबको लताड़ रहा है । यदि अन्न न हो तो चौदह लोक पट्ट हो जायँ ! इसीसे कहा है कि एक नाजके दानेमें चौदह लोक हैं । अन्नसे सब वेद-शास्त्र बने हैं । एक अन्नके दानेमें समस्त विज्ञान भरा हुआ है । जब सभी गरजके बावले हैं तो हम क्यों नहीं हैं ? हम सबसे पहले गरजवाले हैं । गरजवाले ही नहीं, पूरे खुदगरज हैं । ऐसा न होता तो खुदगरज कुटुम्बियोंसे छुटकारा कैसे होता ? जैसे बालिको बरदान था कि सामने होते ही शत्रुका आधा बल उसमें आ जाता था, ऐसे ही कुटुम्बियोंको बरदान है कि अपने सामनेवालेका आधा बल उनके सामने होते ही वे खैंच लेते हैं । फिर भला उनसे कोई कैसे जीत सकता है, वहाँ तो ओटमेंसे ही बाण चलाना होता है ! यह काम पूर्ण नीति-शास्त्रज्ञका है, पूर्ण नीतिशास्त्रज्ञ एक धनुषधारी भगवान ही हैं, उनके शरण जानेसे ही कुटुम्बियोंसे जीत सकते हैं । सब कुटुम्बियोंका सरदार और मिलकर चोट करनेवाला कामरूप कुटुम्बी गरजका भाई ही है । कामको धनुषधारी ही मारते हैं । जैसे गरज अन्नसे निवृत्त होकर फिर अन्नसे पैदा हो जाती है ऐसे धनुषधारी भगवान्के बाणसे मारा हुआ काम फिर उत्पन्न नहीं होता ! धनुषधारी भगवान् बेगरज होकर भी बालिको मारनेसे आजतक खुदगरज कहलाते हैं, वे ही हमारे उपास्य हैं । जब हमारा उपास्य खुदगरज है तो हम पहले खुदगरज हुए । इसलिये हमारे समान या हमसे बढ़कर गरजवाला कोई नहीं है । यद्यपि भगवान्के सभी चरित्रोंमें ईश्वरता झलक रही है, फिर भी सब चरित्रोंसे विशेष ईश्वरत्व हमको तो इस चरित्रमें ही दिखायी दिया है । गरजमें कोई दोष नहीं है ! न हमने कोई दोष बताया । गरजकी करतूत थोड़ी-सी सुनायी है । कोई बात झूठी हो तो दोनों कान पकड़ लीजिये ! उलटी हमने किसीको नहीं सुनायी, सीधी ही सुनायी है ! साँचको

आँच नहीं ! सुनिये, गरज इच्छाको कहते हैं। श्रुति भगवती इच्छाको ईक्षणा नामसे पुकारती है। ईक्षणासे सब संसारकी उत्पत्ति है। जबतक संसारकी ईक्षणा करते रहेंगे, संसारचक्र कभी भी न छूटेगा, जबतक संसार न छूटेगा, जन्म-मरण-दुःख नहीं मिटेगा, जबतक दुःख न मिटेगा, तबतक सुख कहाँ ? इसलिये सुखकी इच्छावालेको ईक्षण छोड़कर ईक्षण करनेवालेकी तरफ मुख मोड़ना चाहिये। क्योंकि वह ही सुखरूप है, इस मुख मोड़नेका नाम ही भगवत्-शरण है। मुख मोड़नेका उपाय यह है,—इच्छा दो प्रकारकी होती है एक शुभ और दूसरी अशुभ। अशुभेच्छा संसारकी तरफ ले जानेवाली है और शुभेच्छा भगवत्की तरफ ले जानेवाली है, यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है और सब प्रकारकी इच्छाओं–गरजोंसे मुक्त करनेवाली है, शुकदेवादिको यही इच्छा हुई थी और सब साधन इसी इच्छाके लिये हैं। भगवद्भक्त और मुमुक्षुओंको यही इच्छा होनी चाहिये। यह गरज सब गरजोंको मिटाकर बेगरज बना देती है! जहाँ मनुष्य बेगरज हुआ, वहीं सिंहके समान गरजने लगता है और निर्भय हो जाता है, बिना सत्संग यह रहस्य समझमें नहीं आता, रहस्य समझमें आये बिना भगवत्-प्राप्ति नहीं होती, भगवत्-प्राप्ति बिना जीव स्वतन्त्र और सुखी नहीं हो सकता इसलिये चलो, जल्दी-जल्दी पैर उठाकर इनके पीछे! ऐसोंका संग बार-बार नहीं मिलता ! आपके किसी महान् पुण्यके उदय होनेसे यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। समयपर चूकना न चाहिये। गया दिन लौटकर नहीं आता! उठी पैंठ आठवें दिन लगती है। कर ले सो काम, भज ले सो राम! देखो! हरी-हरी दूबका यह सुहावना तख्ता है, बेंच पड़ी हुई हैं, एक बेंचपर वे दोनों बैठ गये हैं, पासकी बेंचपर हम तुम बैठकर चुपचाप कान लगाकर एकाग्रचित्तसे उनकी बातचीत सुनें।

मित्रोंका संवाद

पिण्डीशङ्कर–पण्डितजी ! कोई साढ़े तीन वर्ष हुए तबसे आपका और मेरा संग है। जिस दिन प्रथम ही मैं आपसे मिला था उस दिनके और आजके मुझमें जमीन-आसमानका फरक है। पहले मैं यह समझता था कि ईश्वर कोई नहीं है, न कोई परलोक है, जो कुछ दिखायी दे रहा है, उतना ही है, इससे ज्यादा कुछ नहीं है। जीव शरीरके साथ पैदा होता है और शरीरके मरनेसे मर जाता है, या यों कह लो कि शरीर ही जीव है, चार भूतोंके मेलसे चेतन हो जाता है। खाने-पीनेके लिये मनुष्य पैदा हुआ है, विषय-भोगमें ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। खाना-पीना आदि भोगोंकी प्राप्ति हमारे पुरुषार्थके अधीन है। अब मुझे आपके संगसे निश्चय होता जाता है कि हम भोग भोगनेमात्रके लिये ही संसारमें नहीं आये हैं किन्तु हममें अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनका विकास हम मनुष्यदेहमें ही कर सकते हैं और अनेक प्रकारके सुख जिनका स्वप्नतकमें भी खयाल नहीं होता इस मनुष्यदेहमें ही प्राप्त होने सम्भव हैं। अन्तमें इस जन्म-मरणरूप संसारके चक्रसे छूटकर अखण्ड सुखस्वरूप परमात्माको प्राप्त होकर हमेशाके लिये स्वतन्त्र और सुखी हो सकते हैं। आपने युक्ति, प्रयुक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे सिद्ध करके मुझे निश्चय करा दिया है कि संसार मायामात्र है, केवल संसारका अधिष्ठान एक परमात्मा ही सत्य है। परमात्मा कभी घटता-बढ़ता नहीं, सदा एकरस रहता है और वही सबका आत्मा है। शास्त्रकारोंने लक्षण और प्रमाणद्वारा प्रकृति, परमाणु, कर्म आदिसे जगत्की उत्पत्ति सिद्ध की ही है परन्तु विचारसे देखा जाय तो संसारकी सिद्धि नहीं होती। जिन लक्षण-प्रमाणोंसे संसारकी सिद्धि की जाती है, वे लक्षण-प्रमाण ही सिद्ध नहीं होते तो उनसे सिद्ध किया हुआ जगत् कब सिद्ध हो सकता है ? जो किसी प्रमाणसे सिद्ध न हो वह मिथ्या दिखावामात्र ही है ! शास्त्र जगत्को सिद्ध नहीं कर सकते, हाँ ! वे हमारी बुद्धिका विकास करते हैं इसलिये हमको शास्त्रकारोंका उपकार अवश्य मानना चाहिये ! जगत् सत्य नहीं है। हाँ, जगत्का अधिष्ठान परमात्मा सत्य है क्योंकि बिना अधिष्ठानके कोई वस्तु दिखायी नहीं दे सकती। सत्य वस्तु बिना भ्रम नहीं हो सकता ! इसलिये मुझे निश्चय हो गया है कि ब्रह्म सत्य है परन्तु अभीतक यह निश्चय नहीं होता कि ब्रह्म ही आत्मा है। आप कृपा कर ऐसा उपाय बताइये कि ब्रह्म और आत्माकी एकताका निश्चय हो जाय। संसारसे मेरा चित्त बिल्कुल हट गया है।

मणिशङ्कर—(प्रसन्न होता हुआ) भाई ! आपकी-सी बुद्धि किसी बिरलेहीकी होती है। पूर्वके किसी महान् पुण्यसे ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है नहीं तो संसारमें अनेक कष्ट पाते हुए भी संसारसे मन नहीं हटता ! लोग

आत्म-समर्पण भक्ति

राजा बलि और भगवान् वामन

कष्ट पाते रहते हैं और उसीमें लिप्त रहते हैं ! ईश्वरकी खोज कोई नहीं करता ! जिसकी खोज ही नहीं, उसको कैसा है और कहाँ है यह कैसे जाने ? जिसको जानते ही नहीं, उसकी प्राप्ति हो ही कहाँसे ? एक दिन मैंने पिताजीसे पूछा था कि ईश्वरका स्वरूप कैसा है, ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय क्या है, मनुष्य सुखी और स्वतन्त्र कैसे हो सकता है और जीव ब्रह्म हो सकता है या नहीं ? इसके उत्तरमें जो कुछ उन्होंने कहा था, वह मैं आपको सुनाता हूँ । उन्होंने कहा—

'हे पुत्र ! ईश्वर सुखरूप है, ईश्वरकी प्राप्ति बिना कोई स्वतन्त्र और सुखी नहीं हो सकता । ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय ईश्वरकी भक्ति है । ईश्वरकी भक्ति सब देशों और सब मजहबोंमें पायी जाती है, यद्यपि सबके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं । ब्रह्म-ईश्वर-भगवत्-तत्त्वको मन और बुद्धि नहीं जान सकते, भगवत्-स्वरूपको जतानेवाली ब्रह्मविद्या है । शम, दम, तितिक्षा, अहिंसा, धृति, क्षमा, समता, सत्य, शौच, आर्जव-निष्कपटता, सन्तोष, स्वाध्याय आदि ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके साधन हैं इसलिये ये भी ब्रह्मविद्या कहलाते हैं, इनको दैवी सम्पत्ति भी कहते हैं । भगवत्-प्राप्तिके ये मुख्य साधन हैं । श्रुति भगवती परमात्मा—ईश्वरका स्वरूप इस प्रकार बताती है कि परमात्मा सत्य, तीनों कालमें एकरस रहनेवाला है, चित्—चैतन्य, ज्योतिरूप ज्ञान, बोधस्वरूप, बुद्धिका साक्षी है; आनन्द-प्रेमका भण्डार, सुखस्वरूप है और अनादि-अनन्त तथा असंग है । इन नामोंद्वारा परमात्मा लक्षणावृत्तिसे जाना जाता है । जो बुद्धिका साक्षी है, वही ब्रह्माण्डका साक्षी है, इस प्रकार ब्रह्म और आत्माकी एकता है । उपाधिसे ब्रह्म और जीवकी भिन्नता है, तत्त्वमें दोनोंकी एकता है । जीव ब्रह्म कभी नहीं हो सकता । हाँ, यदि जीव अपना जीवपन मिटा दे तो ब्रह्म ही है । जीवपन मनकी उपाधिसे भासता है, मन-भूत उतर जाय तो वस्तुस्वरूप ब्रह्म ही शेष रह जाय, इसीका नाम मोक्ष है 'मनः पिशाचमुत्सार्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव' यही वेदका सिद्धान्त है । पर मनपिशाचका उतर जाना सहज नहीं है । इसलिये श्रुति भगवती निम्नप्रकारसे भगवद्भक्तिका उपदेश करती है—

भगवत् प्रेमस्वरूप है, स्वजातीयसे ही स्वजातीयका ग्रहण हो सकता है इसलिये प्रेमसे भगवत्की प्राप्ति होती है । भगवद्भक्ति प्रेमका मार्ग है । जैसे दूध तृणमात्रमें व्यापक है परन्तु जिस तृणको गाय खाती है, उसीमें दूध निकलता है अन्यमेंसे नहीं निकलता । सब गायोंके घास खानेसे भी दूध नहीं निकलता किन्तु तुरन्त की ब्याई हुई गायमेंसे निकलता है, यद्यपि गायके शरीरभरमें दूध होता है परन्तु निकलता है थनोंसे ही । इसी प्रकार भगवत् प्रेमरूपसे सर्वत्र व्यापक है परन्तु प्रकट नहीं होते, बुद्धिमें ही प्रकट होते हैं । सब बुद्धियोंमें भी प्रकट नहीं होते, सात्त्विक श्रद्धावाली बुद्धिसे ही भगवत्के दर्शन होते हैं । जैसे अहीर बछड़ेद्वारा दूध निकालता है ऐसे ही मनरूप अहीर भावरूप बछड़ेद्वारा सात्त्विकी बुद्धिसे प्रेमरूप भगवत्का अनुभव करता है । भाव यह है कि दृढ़ निश्चयवाली बुद्धिसे अत्यन्त उत्कट प्रेम करनेपर भगवत्का दर्शन होता है । किसीने सच कहा है—

बिना प्रेम रीझे नहीं, नागर नन्दकिशोर ।

प्रेम भगवत्-प्राप्तिका मुख्य हेतु है, सूरदासजी कहते हैं 'मित्र बड़े पर कपटी बुरे हो !' भाव यह है कि भगवान् बुद्धिरूप कोठरीमें इतने गुप्त होकर बैठे हैं कि कोई बड़ा भारी प्रेमी भक्त ही उनको देख सकता है, इसलिये कपटी कहा है और मित्र इसलिये कहा है कि अपने भक्तसे वे क्षणभर भी अलग नहीं होते ! गोसाईंजी लिखते हैं कि 'भगवद्भक्ति करना बहुत कठिन है, जैसे रेतमें मिली हुई शक्करको कोई अलग नहीं कर सकता, अति रसज्ञ चींटी उसी रेतमेंसे शक्करको अलग करके तुरन्त ही निकाल लेती है, ऐसे ही भक्तिका पूर्ण रसिक ही शरीरमें मिले हुए भगवत्को शरीरसे भिन्न करके जान सकता है ! काम अवश्य करारा है, फिर भी प्रेमीके लिये कुछ कठिन नहीं है ! एक भक्त कहता है—

बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानिके मोय ।
हिरदयतें जब जाहुगे मर्द बदौंगो तोय ॥

सच है—'मलिन दर्पणमें मुख न दीखे, शुद्ध दर्पणमें प्रतिबिम्ब बिना पड़े नहीं रह सकता !' एक प्रेमी कहता है—'किसी अन्धेधुन्धेको भगवत् भले ही न दीखते हों, आँखवालेसे वे छिप नहीं सकते !' सत्य ही है—'गहराईमें ही रत्न मिलता है, आँख मींचकर, जानपर खेलकर, डुबकी लगानेवाला अवश्य रत्न निकाल लाता है !' 'सच्चे स्नेहीको भगवत् न मिलें, यह असम्भव है !' मतलब यह है कि भक्ति बहुत कठिन है, फिर भी सच्चे भक्तके लिये कुछ कठिन नहीं ! भक्त अपने इष्टदेवके सिवा दूसरेमें प्रेम नहीं करता ! अपने इष्टदेवके लिये सब कुछ करनेको तैयार रहता है ! सिंह, नाहर, ओले, बिजली आदि किसीसे वह नहीं डरता ! कितनी ही पीड़ा क्यों न

हो वह कभी घबराता नहीं ! अपने इष्टदेवसे मिलनेके सिवा भक्तको अन्य कोई आकांक्षा नहीं होती ! भगवद्भक्त भगवन्नाम-को भगवत्से भी श्रेष्ठ मानता है और है भी ऐसा ही, क्योंकि नाम और नामी कभी भिन्न नहीं होते, हमेशा साथ ही रहते हैं। कुल सृष्टि ईश्वरकी है, सब सृष्टिमें ईश्वर व्याप्त हो रहा है। यद्यपि देखनेमें स्थूल पदार्थ आते हैं, किन्तु उनमें ईश्वरकी सत्ता मिली हुई है। पर स्थूल पदार्थोंको सत्य बुद्धिसे देखनेसे ईश्वर नहीं जाननेमें आता ! ईश्वरको जानने-के लिये सच्ची और उत्कट इच्छा चाहिये । ईश्वरमें ऐसी लगन लगनी चाहिये जैसी लोभीकी धनमें, कामीकी कामिनी-में, अथवा भूखेकी रोटीमें होती है। तभी भगवत्-प्राप्ति होना सम्भव है। मनका यह स्वभाव है कि वह जिसका लगातार ध्यान करता रहता है वह उसीके स्वरूपका बन जाता है। नाममें यह शक्ति है कि नामका जप करनेसे मनमें एक प्रकारका सामर्थ्य उत्पन्न हो आता है, जो ईश्वरके साक्षात् करनेमें मदद देता है। इसलिये भगवद्भक्तको सर्वदा अत्यन्त उत्साह और सच्चे हार्दिक प्रेमसे भगवन्नाम स्मरण करना चाहिये। तीर्थयात्रा, पूजा, जप, दानादि भी मनको शुद्ध करनेके लिये सोपान–सीढ़ीका काम देते हैं। ईश्वरका वस्तुतः कोई स्वरूप नहीं है इसलिये कोई किसी ईश्वरावतार, देवता अथवा महान् पुरुषको अपना इष्टदेव मानकर, उसकी मूर्ति-का ध्यान करते हैं, उसीको सब कुछ समझते हैं, उसीके निमित्त कर्म करते हैं, उसीसे प्रार्थना करते हैं और तन-मन-धनसे उसीका आराधन करते हैं, कोई जड़-चेतनरूप सब जगत्-को भगवत्रूप देखते हैं क्योंकि ईश्वर ही सबमें व्यापक है। कोई यह निश्चय करते हैं कि हम चेतन हैं और नामरूप सब जगत् हमारा ही स्वरूप है यानी अनेकमें एकताका निश्चय करते हैं। इसका नाम अभेद भक्ति-उपासना है, ऐसा भक्त उत्तम समझा जाता है। ऐसा पुरुष सबमें समान दृष्टि रखता है, किसीसे वैर नहीं करता, न सुखमें सुखी होता है, न दुःखमें दुःखी होता है, शत्रु और मित्रको समान मानता है, न हर्ष करता है, न शोक करता है, निन्दा-स्तुति, मानापमानमें समान रहता है, अहङ्कारसे लेकर स्थूल देहपर्यन्त तथा बाहरके सब दृश्यको मिथ्या मानता है, चेतनस्वरूप केवल अपनेको ही सत्य मानता है, ॐकारका सदा जाप किया करता है।

ब्रह्मवेत्ता संक्षेपसे ॐकारका अर्थ इस प्रकार करते हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें जो चेतन सबका पालन-पोषण करनेवाला, सबका साक्षी, सबका आश्रय और अधिष्ठान है, वही ब्रह्म सबका आत्मा ॐकाररूप है। ऐसा ध्यान करनेसे एकाग्रता, अद्वितीयभाव और निर्भयता बढ़ती है। ऐसा पुरुष स्व-स्वरूपमें स्थित होकर धीरे-धीरे ईश्वरपदवीको प्राप्त हो जाता है और अन्तमें प्राण त्यागनेके बाद वह बृहत्स्वरूप कैवल्य निर्वाणको प्राप्त होकर अखण्ड सुख भोगता है और हमेशाके लिये जन्ममरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है। (छान्दोग्य० ८ । १२ । ३) एक ईश्वर-पदवीको प्राप्त हुए भक्तका दृष्टान्त सुन—

अवधूत दत्तात्रेय

प्राचीन कालमें सप्तसन्तति नामक एक साहूकार था, उसकी स्त्रीका नाम कुक्षवती था। वसिष्ठ गोत्रके विष्णुदत्त नामक सूर्यसिद्धान्तके ज्ञाता ज्योतिषविद्यामें निपुण पण्डित इस साहूकारके पुरोहित थे। साहूकारकी उम्र चालीस और उसकी स्त्रीकी उम्र तीस वर्षसे ऊपर हो गयी थी, अभीतक उनके कोई सन्तान नहीं हुई थी। दवादारू, ताबीज-गण्डे, मन्त्र-तन्त्र, झाड़ा-फूँकी, सीतला-बराईकी पूजा, लामना, गूलर, पीपर आदि अनेक उपाय हो चुके थे और पुत्रेष्टि-यज्ञ भी किया गया था। सब उपाय निष्फल होनेसे दम्पति अत्यन्त निराश हो गये थे। एक दिन साहूकारने पुरोहितजी-के पास जाकर कहा 'महाराज ! आपकी आज्ञानुसार पुत्रेष्टि-यज्ञ भी कर लिया गया, अन्य उपाय भी बहुत कर चुका, अभीतक सन्तान होनेकी कोई आशा नहीं है ! आपके पिता कहा करते थे कि इसके सात पुत्र होंगे, सो सात छोड़ एक भी तो नहीं हुआ, एक भी हो जाता तो मैं सन्तोष कर लेता कि मेरे पीछे काम सँभालनेवाला तो है। लोग मुझे छेड़ा करते हैं कि वही मसल है कि आँखोंके अन्धे और नाम नयनसुख ! नाम तो पण्डितजीने सप्तसन्तति रख दिया है और सन्तानके नामसे चूहेका बच्चा भी नहीं हुआ ! मेरी हँसी तो होती ही है, ज्योतिषविद्याकी भी हँसी होती है। जब अभी ज्योतिषविद्या झूठी हो जायगी तो कलियुगमें ज्योतिषको कौन मानेगा ? तब तो पुरोहित विद्याहीन और यजमान श्रद्धाहीन होंगे ही ! कोई ऐसा उपाय बताइये कि मेरा मनोरथ सिद्ध हो जाय और ज्योतिषविद्या-का भी मान बना रहे !'

पण्डितजी कुछ बोलने न पाये थे, इतनेमें नारदजी घूमते-घामते उधर आ निकले। पण्डितजीने

उनको आसनपर बैठाकर षोडशोपचारसे उनका पूजन किया और कहा 'महाराज ! इस साहूकारका नाम सप्तसन्तति है, अभीतक इसके कोई सन्तान नहीं हुई, आप जब कभी ब्रह्मलोकको जायँ तो यह पूछते आइये कि इसके सन्तान होगी या नहीं और होगी तो कबतक होगी ?' नारदजी 'अच्छा' कहकर चले गये और पाँच दिन पीछे आकर कहने लगे 'पण्डितजी ! मैंने ब्रह्मलोकमें जाकर 'बयमाता' से पूछा तो उसने उत्तर दिया कि 'इस वैश्यके तो सात जन्म-तक भी सन्तान होनेवाली नहीं है, ईश्वरकी गति निराली है, लिखा तो ऐसा ही है !' इतना सुनते ही पण्डितजीका मुख उतर गया, साहूकार भी वहीं था, सुनकर सुस्त हो गया ! नारदजी इतना कहकर चले गये । पण्डितजी बोले 'सेठजी ! अब तो आप जाइये, मैं फिर किसी दिन आपके घरपर आकर इस विषयमें बातचीत करूँगा ।' साहूकार चला गया, पण्डितजी एक एकान्त कोठरीमें अपने इष्टदेव शिवके मन्त्रका जाप करने लगे और तीन दिनतक बिना खाये-पीये जप करते रहे । चौथे दिन शिवजी प्रत्यक्ष होकर बोले 'हे ब्राह्मण ! तू जिस वैश्यकी सन्तानके लिये मेरा आराधन कर रहा है उसने पूर्वजन्ममें अवधूत दत्तात्रेयका अपमान किया था, इसलिये उनके शापसे उसके सन्तान नहीं होती, मैं तुझे दत्तात्रेयका मन्त्र बताये देता हूँ, तू साहूकारसे इक्कीस दिनतक इस मन्त्रका जाप करवा, कह देना कि ब्रह्मचर्यसे रहे, एक समय दूध अथवा फलाहार करता हुआ तीन घंटे सुबह और तीन घंटे शाम नियमसे जाप करता रहे, साहूकारनी भी नियमसे रहे और दत्तात्रेय नामका जाप करती रहे, यदि दत्तात्रेय प्रसन्न हो गये तो अवश्य सन्तान होगी ।' शिवजी यह कहकर अन्तर्धान हो गये और पण्डितजीके उपदेशके अनुसार दम्पति इक्कीस दिनतक नियम और उत्साहपूर्वक जाप करते रहे । बाईसवें दिन दत्तात्रेयजी शिवजीका रूप धारण करके साहूकारके पास आकर कहने लगे—'हे साहूकार ! दत्तात्रेय तो उन्मत्त-सा फिरा करता है, उससे तेरे कार्यकी सिद्धि होना कठिन है । मैं शिव हूँ, यदि तू तीन दिनतक मेरा आरा-धन करे तो मैं तुझे सात पुत्रका वरदान दूँगा !' साहूकार बोला 'महाराज ! अब तो हम पुरोहितजीके कहनेसे दत्तात्रेय-जीका आराधन कर रहे हैं, आप भी पूज्य हैं, परन्तु जब-तक दत्तात्रेयजी प्रसन्न न होंगे तबतक दूसरेका आराधन नहीं कर सकते ।' दत्तात्रेयजी साहूकारके वचनसे प्रसन्न होकर सात पुत्र होनेका वरदान देकर चले गये । नौ मास पीछे साहूकारके यहाँ पुत्रका जन्म हुआ, जन्मोत्सव बड़ी धूमधामसे मनाया गया, दशवें दिन दसोटन, छः मास पीछे अन्नप्राशन, फिर मुण्डन, फिर कर्णछेदन किया गया । सालभर पीछे दूसरा पुत्र, फिर तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा और फिर सातवाँ । इस प्रकार सात वर्षमें सात पुत्र हो गये । अब तो साहूकारके आँगनमें दिन-रात चहल-पहल रहने लगी और आये दिन भोजन, वस्त्र, धनादिसे पण्डितजीकी पूजा होने लगी ! खाते तो सब अपने-अपने भाग्यसे ही हैं, ईश्वरने निमित्त बना दिया है ।

एक दिन नारदजी कहींसे घूमते-घामते उधर आ निकले और साहूकारके आँगनमें सात लड़कोंको खेलता हुआ देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । ब्रह्मलोकमें जाकर बय-मातासे बोले 'देख ! उस साहूकारके प्रारब्धमें कितने पुत्र हैं; उस दिन तो तूने कहा था कि उसके सात जन्ममें भी सन्तान नहीं है, क्या देखनेमें भूल तो नहीं हो गयी थी ?' भावी बोली 'महाराज ! उसके भाग्यमें तो एक भी पुत्र नहीं है !' दोनों सोचते रहे, इसका रहस्य दोनोंमेंसे किसीकी समझमें नहीं आया ! दोनों ब्रह्माजीके पास गये, ब्रह्माजी भी निर्णय न कर सके ! तीनों मिलकर शिवजीके पास गये, शिवजी तो सब जानते ही थे । फिर भी भेद न देते हुए बोले 'भाई ! इसका निर्णय भगवान् ही करेंगे !' चारों विष्णुभगवान्‌के पास पहुँचे और सब वृत्तान्त सुनाया । भगवान् बोले 'नारद ! इस समय लक्ष्मीजीकी पसलीमें एक विलक्षण प्रकारकी पीड़ा हो रही है, यदि किसी मनुष्य या देवताका दिल पसलीपर मला जाय तो आराम हो जाय, तू जाकर मेरे किसी भक्तसे उसका दिल माँग ला ! जब लक्ष्मीजी स्वस्थ हो जायँगी तब मैं तेरे प्रश्नका उत्तर दूँगा ।' नारदजी चले गये और थोड़ी देरमें आकर बोले 'महाराज ! मैं चौदह लोकोंमें जाकर एक-एकसे पूछ आया, आपका कोई भक्त भी दिल देनेको तैयार नहीं है ।' भगवान् बोले 'नारद ! ऐसा नहीं हो सकता ! बिन्ध्या-चलकी गुफामें अवधूत दत्तात्रेय तप करते हैं, उनके पास जाकर यह सब वृत्तान्त सुना !' नारदजीने दत्तात्रेयजीके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा, दत्तात्रेयजी प्रसन्न होते हुए एक तीक्ष्ण कटार लेकर छातीमें घुसेड़ना ही चाहते थे कि

भक्तवत्सल, घटघटव्यापी, अन्तर्यामी, आँख-पलकके समान भक्तोंके रक्षक, भव-भय-भक्षक, भाव-प्रिय भगवान्ने लक्ष्मीजीको कराहते हुए छोड़कर गरुड़से भी अधिक वेगसे दौड़कर, (क्षणभर तो बहुत होता है, पलके मारनेमें भी देर लगती है, वैकुण्ठसे विन्ध्याचल आनेमें कुछ भी देर न लगी) तुरन्त ही आकर दत्तात्रेयका हाथ पकड़ लिया ! नारदजी देखते-के-देखते ही रह गये, उनको यह पतातक न चला कि भगवान् वैकुण्ठसे गरुड़पर चढ़कर आये हैं कि पैदल आये हैं, अथवा वहीं-के-वहीं नृसिंहभगवान्के समान पृथिवीसे निकल आये हैं ! वयमाता, ब्रह्मा और शिवजी भी उनके पीछे खिंचे चले आये, लक्ष्मीजी भी मौजूद हो गयीं, न मालूम पसलीका दर्द कहाँ चला गया ! पश्चात् शिवजीकी प्रेरणासे सबने मिलकर दत्तात्रेयजीकी इस प्रकार स्तुति की—

ॐ नमो भगवते दत्तात्रेयाय स्मरणमात्रसन्तुष्टाय महाभयनिवारणाय महाज्ञानप्रदाय चिदानन्दात्मने बालोन्मत्तपिशाचवेषायेति महायोगिनेऽवधूतायेति अनसूयानन्दवर्धनायात्रिपुत्रायेति सर्वकामफलप्रदाय ओमिति ।

(दत्तात्रेयोपनिषद्)

पश्चात् भगवान्ने यह वरदान दिया—हे दत्तात्रेय ! आजसे मेरे भक्त मेरे समान ही आपकी पूजा किया करेंगे, परमहंस संन्यासी आपकी गुरुभावसे उपासना किया करेंगे और जो कोई ऊपर कही हुई शिवकृत स्तुतिको सच्चे भावसे पढ़ा करेगा, उसको इस लोकमें सब प्रकारके भोगोंकी प्राप्ति होगी और अन्तमें वह ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँके दिव्य भोगोंको भोगेगा ! वरदान देनेके बाद भगवान् नारदसे बोले 'हे नारद ! तेरा समाधान हुआ या नहीं । देख ! ऐसे भक्तोंको मैं अपनेसे भी अधिक मानता हूँ, इनके मैं अधीन हूँ, इनके कहे हुएको मैं टाल नहीं सकता! तू भी तो मेरा भक्त है, जब मैंने दिल माँगा था, तब तुझे सोचना चाहिये था कि भगवान्को दिलकी आवश्यकता है, मेरा दिल भी भगवानहीका है, तब उनको दे देना चाहिये, तुझे इतना ध्यान न आया इससे सिद्ध होता है कि अभी तेरी बुद्धि इतनी शुद्ध नहीं है जितनी पूर्ण भक्तकी होनी चाहिये ! हे नारद ! जबतक अन्तःकरण पूर्ण शुद्ध नहीं होता तबतक मेरा रहस्य समझमें नहीं आता ! मेरे पूर्ण भक्त और शिवादि मुख्य देवता ही मेरे रहस्यको जानते हैं, नहीं तो मेरी मायासे सभी मोहित हो जाते हैं !'

हे पुत्र ! इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और उनके साथ-साथ और सब भी चले गये । दत्तात्रेयजी ही रह गये। ऐसी शङ्का कभी न करनी चाहिये कि भगवान् तो सबके मालिक हैं, उन्होंने भक्तकी स्तुति क्यों की ? यह शंका नास्तिकोंकी है ! जो मूढ़ भगवान्का स्वरूप और स्वभाव नहीं जानते वे ही ऐसी शंकाएँ किया करते हैं ! भगवान् अपने भक्तके लिये सब कुछ कर सकते हैं ! भला, जो भगवान् अर्जुनके गाड़ीवान बने, जिन्होंने गोपाल-बालकोंको चड्ढीपर चढ़ाया, जो यशोदाकी रस्सीमें बँध गये, जिनको अहीरिनियोंने अनेक नाच नचाये, कुबरीका जिन्होंने मान किया, तुलसीको सिरपर चढ़ाया, रीछ-बंदरोंको सखा बनाया, जो हिरनके पीछे दौड़े, जिन्होंने गीधका क्रियाकर्म हाथों किया, पक्षियोंको जिमाया, जो बृहत् होकर भी वामन बन गये, वे भगवान् अपने भक्तोंके लिये क्या नहीं कर सकते ? मत्स्य, कूर्म और शूकरतक भी तो भगवान् बने हैं ! इससे अधिक क्या होगा ? हे पुत्र ! मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि जैसे नाई यजमानके आगे-आगे मशाल लिये चलता है ऐसे ही भगवान् सब जीवोंके आगे-आगे सदा मशाल लिये चलते हैं ! परन्तु 'चिराग तले अँधेरा' वाली मसल है । इतनेपर भी यदि जीवको भगवान् न दीखें तो भगवान्का क्या दोष ? दिनमें उल्लू न देखे तो सूर्यभगवान्का क्या दोष ? परमात्मा सबको सुबुद्धि दे ! यह दृष्टान्त ईश्वरपदवीको प्राप्त हुए भक्तका है। अब ईश्वरपदवीको प्राप्त होनेवाले भक्तका दृष्टान्त सुन ।

सदाशिवेन्द्र

थोड़ा समय हुआ, सदाशिवेन्द्र सरस्वती नामके एक महात्मा दक्षिणमें हुए हैं । योगसूत्र और ब्रह्मसूत्रपर इन्होंने सुन्दर, सरल और संक्षिप्त वृत्ति लिखी है । एक बार एक मुसलमान सरदार सिंधेरी शहरके बाहर डेरा लगाकर ठहरा हुआ था, सरदारका जनाना भी साथ था । जब सरदार एकान्तमें अपने जनानेके साथ बैठा हुआ था, उपर्युक्त महात्मा दिगम्बर-वेष धारण किये सरदारके जनानखानेमें घुस गये । अपनी बेगमोंके सामने नग्न पुरुषको आते देखकर सरदार बहुत ही क्रोधित हुआ और अपने आदमियोंसे बोला—'इसको मार-पीटकर डेरेसे बाहर

निकाल दो !' सब नौकर लाठियाँ लेकर महात्माको मारने दौड़े ! परन्तु जब उन्होंने उनके मारनेको लाठियाँ उठायीं तो सबकी लाठियाँ उठी-की-उठी ही रह गयीं ! कोई भी लाठी चलानेमें समर्थ न हुआ ! जब सरदारको यह बात मालूम हुई तो वह स्वयं म्यानसे तलवार निकालकर संतको मारने दौड़ा परन्तु वह भी तलवार न चला सका ! उसका हाथ भी खड़ा-का-खड़ा ही रह गया ! जिन प्रणतारतिहर भगवान्ने स्वभक्त विभीषणको पीछे रखकर रावणकी फेंकी हुई अमोघशक्ति सेल अपनी छातीपर झेल ली थी, भला ऐसे भगवत्के भक्तपर किसका हाथ उठ सकता है ? फूँकसे पहाड़ नहीं उड़ सकता ! लक्ष्मणजीपर परशुरामका फरसा नहीं चल सकता ! अस्त्र-शस्त्र-सहित तैंतीस करोड़ देवता भगवद्भक्तके हरदम साथ रहते हैं ! यवन सरदार समझ गया कि यह कोई पहुँचा हुआ करामाती साधु है, उसको अपने किये हुए बर्तावका बहुत ही पश्चात्ताप हुआ ! वह संतके पैरोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगा ! संत कुछ न बोले और धीरे-धीरे जिस चालसे जिधरसे आये थे उसी चालसे उधरको ही चले गये । यह भी स्वस्वरूपावस्थित उत्तम भक्तका दृष्टान्त है । ये दोनों ज्ञानी भक्तोंके दृष्टान्त हैं, अब सगुण भक्तका दृष्टान्त सुन—

चेता भक्त

सुना करते हैं कि हमारे पड़ोसमें ही चेता नामका एक माली रहा करता था । फूलोंकी दूकान करता था, एक स्त्री थी, एक आप था, लड़का-बाला कोई न था । चार आनेसे ज्यादा धंधा नहीं करता था, कम चाहे भले हो, परन्तु ऐसा होता नहीं था क्योंकि सब उसके स्वभावको जान गये थे । जहाँ उसकी दूकान खुली, एकदम ग्राहक आ जाते थे और उसके फूल खरीद ले जाते थे । जहाँ फूलोंके दामोंसे चार आने अधिक प्राप्त हुए, वहीं दूकान बन्द करके वह बचे हुए फूल पासके दाऊजीके मन्दिरमें चढ़ा आता था । मन-कामेश्वरके पास एक छोटी-सी दूकान उसने ले रक्खी थी, एक माला रोज दूकानका किराया था । पूर्णिमा-की-पूर्णिमा दाऊजीको जाया करता था ! दाऊजी यहाँसे बारह कोस है, चौदशकी सुबहको जाता था, शामको दाऊजी पहुँच जाया करता, पूर्णिमाको वहाँ ठहरता और प्रतिपदाकी शामको घर लौट आया करता था ।

एक दिन पूर्णिमाकी शामको चेता भक्त दाऊजीके मन्दिरमें झाँकी करनेके बाद एक कोनेमें बैठकर दाऊजीका ध्यान करने लगा, थोड़ी देरमें उसकी चित्तवृत्ति ध्येयाकार हो गयी और उसे अपने शरीरका किञ्चित् भी भान न रहा ! दैवयोगसे ऊपरके आलयमें रक्खे हुए दीपककी बत्ती झड़कर उसके साफेपर आ पड़ी और साफा धुँधकने लगा । कोई दो घंटेतक साफा धुँधकता रहा, अन्तमें जब आग चमकने लगी तब एक मनुष्यको दिखायी पड़ी । उस आदमीने पुजारीसे कहा । पुजारीने पास जाकर एक लकड़ीसे साफा गिरा दिया । साफा लगभग जल ही गया था परन्तु चेताको कुछ खबर न थी और पुजारियोंने देखा तो उसके शिरका कोई बाल जला नहीं था ! सब आश्चर्य कर रहे थे, चेता दाऊजीके साथ एकमेक हो रहा था ! जब बहुत देर बाद चेताको चेत हुआ तो लोगोंने जला हुआ साफा दिखाया और पूछा कि क्या तुझे खबर नहीं है ? चेता बोला 'नहीं ! मुझे कुछ खबर नहीं है मैं तो आनन्दसे दाऊजीके दर्शन कर रहा था, वहाँ दाऊजी थे और मैं था, तीसरा कोई था नहीं, बड़ा ही आनन्द आ रहा था ! मुझे खबर नहीं है कि कब आग लगी और कब साफा उतारा गया !' यह सगुण भगवत्रूपके ध्यान करनेवाले भक्तका दृष्टान्त है ।

उपासकगति

इन तीन प्रकारके भक्तोंके दृष्टान्त मैंने तुझसे कहे, उनमेंसे प्रथम दोकी जो गति होती है, उसको देवता भी नहीं जान सकते, केवल श्रुति भगवती ही जानती है, कह वह भी नहीं सकती । तीसरे भक्तकी जो गति होती है, उसका वर्णन वेदवेत्ताओंने इस प्रकार किया है—पापी जीवके समान उपासकको मरते समय कष्ट नहीं होता । जैसे हाथीके गलेसे पुष्पमाला टूटकर गिर पड़े तो हाथीको खबर भी नहीं पड़ती, ऐसे ही सुषुम्ना नाड़ीद्वारा उपासकके प्राण शरीरसे निकल जाते हैं पश्चात् अर्चिषादि देवता उसको अपने-अपने लोकतक ले जाते हैं । ये देवता विद्युत्लोकतक ही जा सकते हैं । वहाँसे आगे अमानव पुरुष उपासकको ब्रह्मलोकमें ले जाता है । ब्रह्मलोककी हदपर आर नामका एक तालाब और विरजा नामकी एक नदी है । जब आर नामके तालाबपर उपासक पहुँचता है तो वहाँ ब्रह्माजीकी भेजी हुई पाँच सौ अप्सराएँ नाना प्रकारके दिव्य पदार्थ लेकर आती हैं । उनमेंसे प्रथम सौ अप्सराओंके पास दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ होती हैं, दूसरी सौ शरीरमें मलनेके लिये अनेक प्रकारके सुगंधित तैल लाती हैं, तीसरी सौ भोजनके लिये अनेक

प्रकारके दिव्य फल हाथोंमें लेकर आती हैं, चौथी सौ शरीर-पर उबटन करनेके लिये अनेक प्रकारके दिव्य चूर्ण लाती हैं और पाँचवीं सौ उपासकको पहनानेके लिये अनेक प्रकारके दिव्य वस्त्र और आभूषण हाथोंमें लिये होती हैं। जैसे ये अप्सराएँ प्रतिदिन अलंकारोंसे ब्रह्माका श्रृङ्गार करती हैं इसी प्रकार पुष्पादि अलंकारोंसे उपासकको शोभित करती हैं। इस प्रकार अलंकृत किया हुआ उपासक मनके संकल्पसे क्षणमात्रमें आर नाम तालाबसे विरजा नदीको पार करके इल्यवृक्षको देखता हुआ, शालज्य नामक स्थान-पर होता हुआ अपराजित नामक मन्दिरमें आता है। यहाँ उपासक पुरुषमें ब्रह्माका तेज प्रवेश करता है। अपराजित मन्दिरके द्वारपर इन्द्र और प्रजापति नामक दो द्वारपाल रहते हैं। ये दोनों द्वारपाल भयभीत हुए-से उपासकको मार्ग बताते हुए वहीं खड़े रहते हैं। वहाँसे उपासक विभु परिमित नामक एक सुन्दर सभामण्डपमें आता है, वहाँसे ब्रह्माकी बुद्धिमय वेदिकाके समीप जाता है, उसके पास जाते ही उपासक ब्रह्माकी-सी बुद्धिवाला बन जाता है। पश्चात् उपासक ब्रह्माके पर्यंकके पास जाता है। इस पर्यंकको अमित और औजस भी कहते हैं। ब्रह्माके विषयजन्य आनन्दसे अधिक आनन्द किसी लोकमें नहीं है। यहाँ सोम-स्रवन नामक अश्वत्थका वृक्ष है। इस वृक्षसे हमेशा अमृत झरता रहता है, इसलिये इसको सोमस्रवन कहते हैं। पश्चात् ब्रह्मा उपासकसे पूछते हैं 'हे पुत्र! तू कौन है और तेरे भोगका साधन क्या है।' उपासक उत्तर देता है 'भगवन्! जैसे आप हैं, वैसा ही मैं हूँ, जो आपके भोगका साधन है, वही मेरे भोगका साधन है।' पश्चात् ब्रह्माकी आज्ञासे उपासक ब्रह्माके समान भोग भोगता है और ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेपर ब्रह्माके साथ कैवल्य निर्वाणको प्राप्त होता है। ब्रह्मलोकमें एक यह गुण भी है कि वहाँके प्रत्येक उपासकको ब्रह्मलोक अपने इष्टदेवका लोक भासता है और सब इष्टके पार्षद भासते हैं।

हे पुत्र! ऊपरके दो दृष्टान्त ज्ञानियोंके और अन्तका दृष्टान्त उपासना करनेवाले मुमुक्षुका है, इनके सिवा आर्त और अर्थार्थी दो प्रकारके भक्त और हैं। उनके दृष्टान्त पुराणों-में बहुत मिलते हैं, जैसे इन्द्रके वर्षा करनेसे दुःखी हुए व्रजवासी, जरासन्धके कैदखानेमें पड़े हुए राजा, दुर्योधनकी सभामें वस्त्र उतारनेसे आर्त हुई द्रौपदी, ग्राहसे ग्रस्त हुआ गजेन्द्र इत्यादि आर्त भक्तोंके दृष्टान्त हैं। सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु आदि अर्थार्थी भक्तोंके दृष्टान्त हैं। यद्यपि आर्त और अर्थार्थी कामनावाले भक्त हैं तो भी भगवान्‌के भक्त होनेसे अन्य देवताओंके भक्तोंसे उत्तम हैं।

हे मित्र! इस प्रकार ब्रह्म और आत्माकी एकता, उसका उपाय भक्ति तथा भगवद्भक्तोंके दृष्टान्त पिताजीने मुझे सुनाये थे। भगवद्भक्तिसे ही मनुष्यजन्म सार्थक होता है। भगवत्-शरण भक्तिहीकी एक निष्ठा है और अन्तिम निष्ठा है। हे पिण्डीशंकर! आजकलके मनुष्य शास्त्रसंस्कारसे रहित होनेके कारण विषय-भोगोंको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। और उन्हींकी प्राप्तिके प्रयत्नमें अमूल्य मनुष्यजन्मको व्यर्थ खो देते हैं। ये लोग यह नहीं जानते कि विषयभोग पुरुष-प्रयत्नके अधीन नहीं है, पूर्वमें किये हुए पुण्यके अधीन हैं। विषयभोगसे पूर्वपुण्य बहुत शीघ्र क्षीण हो जाते हैं और अन्तमें आधि-व्याधि, जरा आदिको प्राप्त होनेसे विषया-सक्त पुरुषोंको बहुत कष्ट भोगना पड़ता है और पछताना पड़ता है परन्तु फिर क्या होता है? 'अब पछताये का बने जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत!' विषयरूप चिड़ियाँ जब पुण्यरूप खेतको चुग जाती हैं तब पछतानेसे क्या लाभ? ऐसा समझकर चतुर मनुष्य विषयभोगोंमें नहीं फँसता, यथाप्राप्त विषयोंको भोगता हुआ, परमेश्वरप्राप्तिके लिये प्रयत्न करता रहता है। उसके जितने कार्य होते हैं, सब परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये होते हैं अथवा स्वधर्म समझकर सब कर्म निष्काम होते हैं, इसका नाम भगवत्-शरण है। भगवत्-शरणागत पुरुषका खाना, पीना, सोना, बैठना, दान, पुण्य, जप, तप जो कुछ होता है निष्काम भगवद्-अर्पण-रूप होता है। ऐसे पुरुषका अन्तःकरण धीरे-धीरे शुद्ध होता जाता है। ऐसा होनेसे इसलोकमें वह सुखी रहता है, पीछे उत्तम योनिको प्राप्त होता है और वह तीन-चार जन्ममें अथवा इसी जन्ममें नित्य सुखरूप परमेश्वरको प्राप्त होकर हमेशाके लिये सुखी हो जाता है। ऐसा पुरुष धन्य है! अच्छा! चलो लौटनेका समय हो गया!

कल्याणके नवीन वर्षारम्भकी बधाईमें मुमुक्षुओंके कल्याणार्थ, ज्ञानियोंके विनोदार्थ, भगवत्-भक्तोंके हर्षार्थ, स्वचित्त-विक्षेप-निवारणार्थ शारदादेवीकी प्रेरणासे भगवत्-चरणोंमें समर्पण!

गीतामें भगवत्-प्राप्ति

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय, अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी)

भगवान्‌को प्राप्त करना होगा, इसीमें मनुष्य-जीवनका परम कल्याण है। प्रत्येक युग और प्रत्येक देशमें मनुष्य जानकर या अनजानमें भगवान्‌की ही खोज कर रहे हैं। भगवान् क्या हैं वह कैसे मिल सकते हैं, मिलनेपर क्या होता है, इस बातको बहुत कम लोग जानते हैं परन्तु उनके हृदयकी दुर्दमनीय प्रेरणा उनको भगवान्‌की ओर ही ले जा रही है! कोई किसी भी राहसे क्यों न जाय, सब जा रहे हैं उसी एक भगवान्‌की ओर!

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
(गीता ४। ११)

जगत्‌में बीच-बीचमें ऐसे युग भी आते हैं जब मनुष्य ईश्वरको अस्वीकार करता है। वह इस संसारके शरीर, प्राण और मनके प्राकृत भोगोंको ही परम कल्याण समझता है। जीवनके कल्याणके लिये भगवदुपासना या धर्माधर्मका कोई प्रयोजन नहीं देखता। अपनी बुद्धिके जोर और बाहुके बलसे ही अपनी और जातिकी उन्नति करना चाहता है। वर्तमान युगके पाश्चात्य जगत्‌में हम यही देख रहे हैं। सम्प्रति हमारे देशमें भी कुछ लोग पाश्चात्य देशका अनुकरण करते हुए धर्म और भगवान्‌को अपने जीवनसे निकाल देना चाहते हैं क्योंकि उनके मतसे देश, जाति और समाजकी दुर्गतिका मूल धर्म ही है। महामायाकी मायासे मनुष्य कभी-कभी ऐसा अन्धा बन जाता है कि जिस बातमें उसका परम कल्याण होता है उसीको वह परम दुर्गतिका कारण समझने लगता है परन्तु ऐसा भाव सदा टिक नहीं सकता। सत्यको इस तरह दबाया नहीं जा सकता। जो समझते हैं कि हम धर्म और भगवान्‌को उठा देंगे, निकाल देंगे, वे नितान्त मूर्ख और अज्ञान हैं।

भगवान् है, इससे बड़ा सत्य जगत्‌में और कुछ भी नहीं है। इस सत्यकी अवहेलना करने, भगवदुपासनाकी उपेक्षा करनेसे मनुष्यका यथार्थ कल्याण किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। पाश्चात्य देशोंके मनीषीगण भी क्रमशः इस तत्त्वकी उपलब्धि कर रहे हैं, जड़वादके अवसानसे सभी जगह पुनः कुछ धर्म और आध्यात्मिकताकी तरफ जगत्‌की प्रवृत्ति बढ़ रही है। खेद है कि हमारे देशहितैषी बन्धु इस आध्यात्मिकताकी जन्मभूमि धर्मक्षेत्र भारतवर्षसे धर्मको विदा करनेका संकल्प और आयोजन कर रहे हैं। परन्तु इन सब मूढ़ और भ्रान्त लोगोंकी चेष्टासे सनातन धर्मकी कुछ भी क्षति नहीं होगी बल्कि वह और भी उज्ज्वल—और भी तेजस्वी हो जायगा।

मनुष्यजातिकी इस निरन्तर प्रेरणाका, भगवत्-प्राप्तिकी वासनाका अर्थ क्या है? मनुष्य भगवान्‌को क्यों चाहता है? भगवान्‌को पानेपर क्या होता है? साधारण मनुष्य इन बातोंमें कुछ भी नहीं समझते, पर उनके प्राणोंमें एक प्रेरणा है, वे उसीके द्वारा अन्धभावसे चल रहे हैं। जब कोई आकर कहता है, 'मैं भगवान्‌को जान गया हूँ, तुम लोग इस तरह आचरण करो, यों उपासना करो, इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा—तुम्हें भगवान् मिलेंगे।' तब जिनको उसकी बातका विश्वास होता है वे उसके पीछे हो जाते हैं। इसी तरह, जगत्‌में बहुत-से धर्म पैदा हुए हैं, प्रत्येक धर्म यही कहता है, हम ही ठीक रास्तेपर हैं, सत्यको हमींने पाया है, बाकी सब भ्रममें हैं, हमारे बतलाये हुए मार्गसे ही भगवान् मिल सकते हैं, दूसरे

धर्मोंसे तो नरकोंकी प्राप्ति होगी।' परन्तु हिन्दुओंका जो सनातन आध्यात्मिक धर्म है वह यों नहीं कहता, यही हिन्दुओंके सनातन अध्यात्म-धर्मकी विशेषता है। वह कहता है—'कोई, किसी भी भावसे उपासना करे, भगवान्‌को किसी भी नामसे पुकारे, किसी भी मूर्त्तिकी पूजा करे, यदि वह श्रद्धासे करता है—उसमें मनका संयोग है तो भगवान् उसी भावसे उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं। इस श्रद्धासे ही वह अपनी योग्यतानुसार आध्यात्मिक फल प्राप्त करता है।'

पूजा, अर्चना, उपासना, यज्ञ, दान, तपस्या आदि लौकिक धर्माचरण यदि उचितरूपसे किये जायँ तो इनसे मनुष्यका इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण होता है, क्रमशः उनका चित्त शुद्ध और उदार बनता है परन्तु केवल इन्हींके द्वारा भगवान् नहीं मिलते! गीताने कहा है—'वेदत्रयविहित यज्ञादिद्वारा निष्पाप होकर जो स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे भी भगवान्‌को नहीं पाते, जबतक उनमें पुण्यका फल रहता है तबतक वे स्वर्गमें देव-भोग भोगते हैं परन्तु उन्हें इस मनुष्यलोकमें पुनः लौट आना पड़ता है। कारण, मनुष्यका परमकल्याण भगवत्प्राप्तिमें है, जबतक वह भगवान्‌को नहीं पा लेगा तबतक उसे बार-बार जन्म लेकर संसारके सुख-दुःखोंका भोग करना ही पड़ेगा। केवल सदाचार, पुण्य-कर्म यागयज्ञ या पूजाके द्वारा ही परमगति नहीं मिलती। इनका फल होता है पर वह स्थायी नहीं होता। कोई मनुष्य जब परिश्रम करके धन कमाता है तब कुछ दिन उस धनका भोग करता है पर भोग करते-करते जब वह धन चुक जाता है तब उसे फिर मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती है। परन्तु जिसने भगवान्‌को पा लिया है, उसे सब कुछ मिल गया, वह अनन्त ऐश्वर्यका अधिकारी हो गया है, अनन्तकाल भोग करनेपर भी उस धनका कभी नाश नहीं हो सकता। उस पुरुषको बार-बार कष्ट सहन करके पुण्यसञ्चय नहीं करना पड़ता, वह तो नित्य मुक्त, नित्य पवित्र और नित्य आनन्दमय है।'

अतएव जो यथार्थमें बुद्धिमान् हैं वे मामूली चीजोंके लिये चिन्ता नहीं करते, वे तो बस एकदम भगवान्‌को ही प्राप्त कर लेना चाहते हैं। जो कम बुद्धि—'अल्पमेधसाम्' हैं वे ही तुच्छ भोगोंके लिये दौड़-धूपकर हैरान होते हैं। भगवान् क्या हैं, वे कैसे मिल सकते हैं? इस सम्बन्धमें भारतके प्राचीन महर्षियोंने साधनाके बलसे दिव्यदृष्टि प्राप्त कर जिस दिव्यज्ञानकी उपलब्धि की थी, भारतके श्रेष्ठ आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें उसका वर्णन है। परन्तु केवल वेद आदि प्राचीन शास्त्रोंके अन्तर्गत है इसलिये वह सनातन सत्य नहीं है। जो भी कोई साधनद्वारा दिव्यदृष्टि लाभकर अपने हृदयमें देखता है उसे उसी सत्यके दर्शन होते हैं। इसीलिये वह सनातन सत्य है!

उसका साधन कैसे करना चाहिये, क्या उपाय है? 'ज्ञानदीपेन भास्वता' अन्दरसे ही ज्ञानदीप जलकर समस्त अन्धकारका नाश कर देता है। गीता आदि आध्यात्मिक शास्त्रोंमें उसीका वर्णन है, वह सत्य प्रत्यक्ष है, उस सत्यके अनुसरणमें परम आनन्द है, उस सत्यका अनुसरण करना ही सबका कर्तव्य है, प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।

वह सत्य क्या है? एक भगवान् ही सत्य हैं, उन्होंने अपनी प्रकृतिके द्वारा इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि की है, उनकी वह प्रकृति ही अंशरूपसे प्रत्येक जीव बन गयी है। प्रत्येक जीवके अन्दर भगवान्‌की सत्ता, गुप्त या बीजभावसे निहित है। उसी सत्ताको प्रकट करना होगा—उसीका प्रकाश करना पड़ेगा, यही विश्वलीला—जीवलीला है। भगवान्‌की प्रकृति ही इस लीलाको प्रकट कर रही है। प्रत्येक जीवके
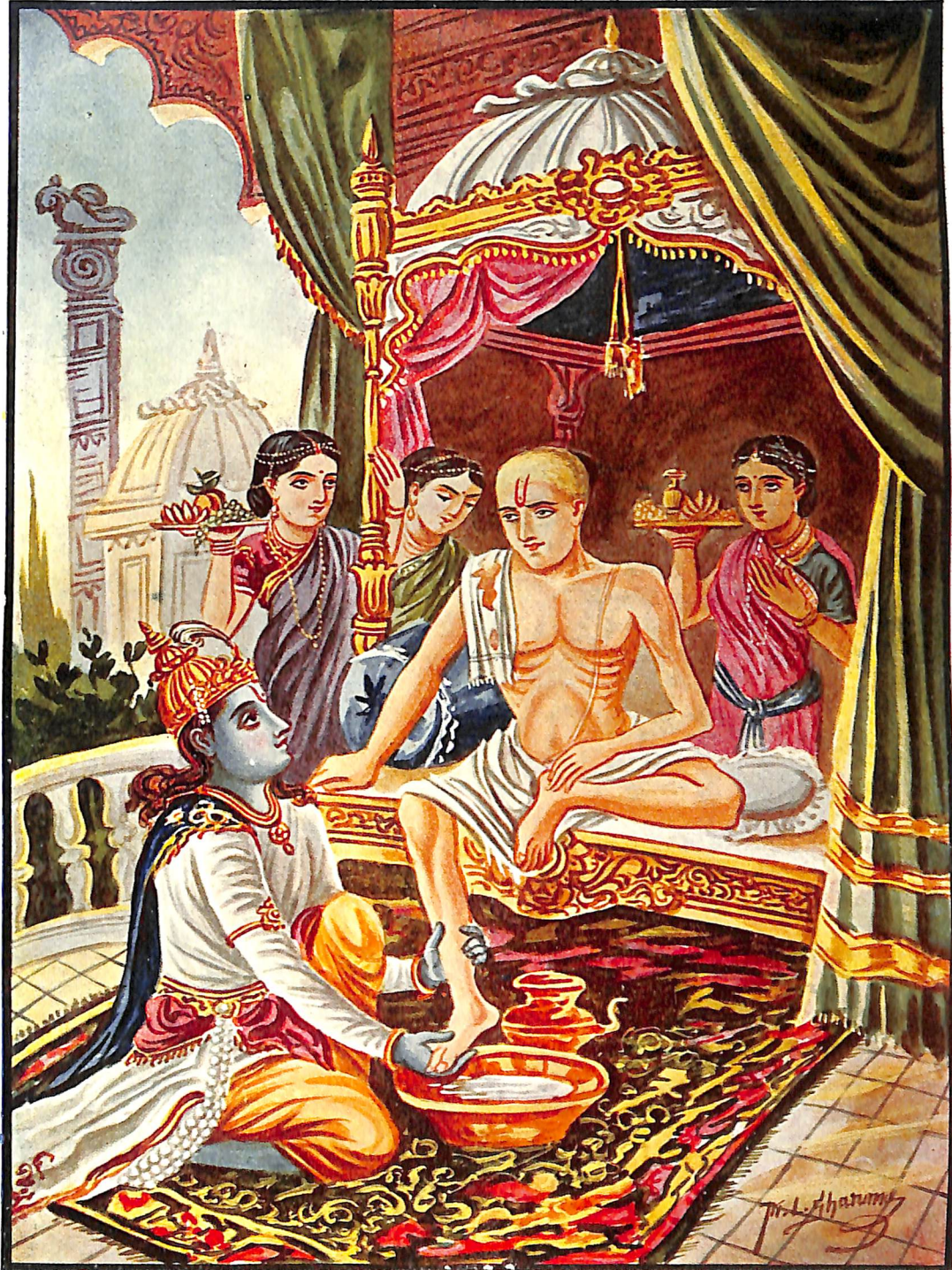
सख्य-भक्त—सुदामाजी और श्रीकृष्ण

हृदयमें स्थित होकर भगवान् स्वयं इस लीलाका परिचालन कर रहे हैं—आनन्द ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवके अन्दर उसकी सनातन भागवत सत्ता क्रमशः विकसित हो रही है—पूर्ण भागवत स्वरूप प्राप्त करनेके लिये आगे बढ़ रही है। सम्पूर्ण सुख-दुःख, जय-पराजय और जन्म-मृत्युमें होता हुआ जीव क्रमशः भगवान्‌की ओर ही अग्रसर हो रहा है।

तब भगवान्‌को प्राप्त करनेका अर्थ क्या है? सब भूतोंके हृदयमें भगवान् निवास करते हैं, भगवान्‌में ही सबकी सृष्टि, स्थिति और लय होता है, भगवान्‌के बिना इस संसारमें कोई भी पदार्थ क्षणभरके लिये भी नहीं रह सकता—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' तब फिर भगवान्‌को पानेमें नयी बात कौन-सी है? प्रत्येक जीव ही भगवान्‌का अंश है, आत्मरूपसे सभी भगवान्‌के साथ एक हैं, आत्मा एक ही है, फिर भगवान्‌को पानेके लिये हमें कहाँ जाना होगा? मूलमें सभी तो भगवान् है (तत्त्वमसि)? इसका उत्तर यह है कि आत्मरूपसे सभी भगवान्‌से अभिन्न हैं परन्तु प्रकृतिसे भिन्न है। प्रत्येक जीवमें जो प्रकृति—जो स्वभाव है, भगवत्-प्रकृतिका अंश होनेपर भी वह विकृत, अविकसित और अपरिणत अवस्थामें है।

इसीसे वह इच्छा-द्वेष, द्वन्द्व-मोह, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु या यों कहिये कि अज्ञान-अविद्या मायाका क्रीड़ास्थल हो रहा है। साधारण मनुष्यका यही जीवन है, इसीको गीतामें तीनों गुणोंका खेल बताया है और अर्जुनको पहले ही इस खेलसे ऊपर उठनेके लिये कहा गया है 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् सबके हृदयमें विराजमान हैं परन्तु इस मायाके खेलके कारण सभी उनको देख नहीं पाते, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।' यह मायाका पर्दा हटाना होगा। हमारे अन्दर जो श्रीकृष्ण निवास कर रहे हैं, उन्हें प्रत्यक्ष देखना होगा। हमारे हृदय-रथके यह चिर सारथी साक्षात् गुरुरूपसे, सखारूपसे या सुहृद्रूपसे हमारे सम्मुख प्रकट होकर हमें राह बतावेंगे, ज्ञान और प्रेमदान करेंगे—यही परमगति है, यही भगवत्-प्राप्ति है।

भगवान् हमारे अति समीप रहकर भी अति दूर हैं। सो केवल मायाके कारण! इस मायाके आवरणका भेद करना बहुत कठिन है—'दुरत्यया'। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे इस मायाका आच्छादन बना है, इसीसे यह गुणमयी है, इन तीनों गुणोंका अतिक्रम किये बिना भगवान् नहीं मिल सकते। जिनमें रज और तमकी खूब प्रधानता है, उनसे भगवान् बहुत दूर हैं। राजसिकतासे तामसिकता नष्ट होती है, काम-क्रोधके द्वारा परिचालित होनेपर मनुष्यकी जड़ता और अप्रवृत्ति मिटती है, मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है। जो आलस्य, निरुद्यम, भय और संशयके वश होकर अचेत पड़े हैं वह बहुत ही नीचे दरजेमें हैं। भोग-ऐश्वर्यके लिये जो दिन-रात दौड़-धूप कर रहे हैं, वे उनसे कुछ ऊपर हैं। वर्तमान युगमें पाश्चात्य देशोंमें इसी श्रेणीके मनुष्य अधिक हैं और हमारे देशमें तो बहुत-से लोग तामसिकताकी श्रेणीमें ही पड़े हुए हैं। सत्य-का प्रकाश खोकर, जीवनीशक्तिको भुलाकर कुछ अर्थहीन आचार-व्यवहारोंको जोरसे पकड़कर वे गतानुगतिकरूपसे किसी तरह जीवनके दिन काटना चाहते हैं। बँधी चालसे तनिक भी बाहर जानेके लिये उनमें न साहस है, न शक्ति है और न उद्योग है। पद-पदपर व्यर्थके पाप, विपत्ति और मृत्युका भय लगा हुआ है। इस तरह तामसिकताके वश हुए जो लोग जीवनयुद्धसे विमुख होकर अपनेको परम धार्मिक और परम आध्यात्मिक समझते हैं, वे पूरे भ्रान्त हैं। कुरुक्षेत्रमें अर्जुन सहसा इसी प्रकारकी तामसिकताके वश हो गये थे। धर्म और शास्त्रोंकी दुहाई देकर भगवत्-निर्दिष्ट जगत्-हितकर धर्मयुद्धसे

अलग हटना चाहते थे इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने तीव्र भाषामें उनका तिरस्कार करते हुए कहा था, 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ।'

परन्तु उच्च जीवनकी प्राप्तिके लिये, भगवान्को पानेके लिये तामसिकताको लाँघकर ऊपर उठनेकी भाँति राजसिकतासे भी ऊपर उठना होगा । तमोगुणका लक्षण है अज्ञान, अप्रवृत्ति और रजोगुणका लक्षण है काम । यह काम या कामना ही सारे पापकी जड़ है । संसारमें मनुष्य जितने पाप करता है उन सबकी जड़में यह कामना या वासना रहती है । पाप करनेवाले भगवान्को पा नहीं सकते ।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

(गीता ७ । १५)

इसलिये गीतामें सबसे पहले ही यह कहा गया है कि इस 'काम' को ही परम शत्रु समझो और —'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।'

सत्त्वगुणसे इस कामका दमन करना होगा, जो काम-क्रोधके वशमें होकर चलते हैं वे आसुरभावापन्न पुरुष भगवान्को नहीं चाहते । पर जो बुद्धि-विचारसे काम-क्रोधको संयत करते हैं, वासना-वैरीके वश न होकर कर्तव्याकर्तव्य सोचकर काम करते हैं, वे ही सात्त्विक 'सुकृतिनः' हैं, इस प्रकृतिके लोगोंका मन ही भगवान्की ओर आकर्षित होता है ।

केवल सुकृति या पुण्यकर्मके द्वारा ही भगवान् नहीं मिलते, सत्त्वका पर्दा भी, है तो पर्दा ही—यद्यपि वह अत्यन्त सूक्ष्म है । अर्जुनमें खूब सात्त्विकता थी । वे बुद्धिमान्, संयमी, शुद्धचरित्र, उदार और स्वधर्मपरायण आदर्श क्षत्रिय वीर थे, तथापि वह श्रीकृष्णको पहचानकर भी पूरा नहीं पहचान सके—घोर सन्देहमें पड़कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, और सात्त्विक प्रकृतिके पुरुष होनेपर भी सहसा घोर तमोगुणके वश हो गये । अतएव केवल सात्त्विकतासे ही मुक्ति नहीं है, उससे भी ऊपर उठना होगा, मायाके आवरणको सम्पूर्णरूपसे भेद करना होगा, भगवान्के साक्षात् संस्पर्शसे हमारी त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिको शुद्ध-बुद्ध और रूपान्तरित करके परा प्रकृतिका दिव्य स्वरूप प्राप्त करना होगा । यही दिव्य जीवन है, यही भगवत्-प्राप्तिकी महिमा है । फिर हमारे पतनकी कोई आशंका नहीं रहेगी, फिर मानसिक युक्ति-तर्कोंसे हमें ज्ञान-लाभ नहीं करना पड़ेगा, दिव्य ज्ञानका सूर्य हमारे भीतर उदित होकर समस्त अज्ञान-अन्धकारको मिटा देगा, फिर हमें कष्ट सहकर काम-क्रोधको जीतना नहीं पड़ेगा, हम भागवत प्रकृतिकी स्वतः स्फुरित परम अक्षुण्ण पवित्रता प्राप्त करेंगे, फिर चेष्टा करके—पाप-पुण्य या कर्तव्याकर्तव्यका विचार करके हमें कोई कर्म नहीं करना पड़ेगा । भगवान्की इच्छाशक्ति ही हमारी प्रकृतिको—हमारे स्वभावको केवल यन्त्ररूपसे—निमित्तरूपसे काममें लाकर जगत्में भगवत्-उद्देश्यको सिद्ध करेगी । फिर क्षणिक सुखके लिये हमें तुच्छ भोगोंके पीछे भटकना नहीं पड़ेगा । भगवान्की विश्वलीलाका जो दिव्य आनन्द है, फिर, सभी बातोंमें—सभी घटनाओंमें हम उस आनन्दका रसास्वादन करेंगे । हृदयमें सर्वदा भगवान्को देख पावेंगे । सर्वभूतस्थित भगवान्से प्रेम करेंगे, सर्वत्र भगवान्को ही देखेंगे 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' यही भगवत्-प्राप्ति है ।

परन्तु जबतक हम तीनों गुणोंके उस पार नहीं जाते—मायाका आवरण पूरी तरह भेद नहीं कर पाते, तबतक ऐसी भगवत्-प्राप्ति सम्भव नहीं ! उपाय तो भगवान्ने अपने श्रीमुखसे ही बतला दिया है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।

(७ । १४)

यही गीताकी शिक्षाका सार है । मायाके आवरणको भेद करना पड़ेगा और उसका एकमात्र उपाय है, केवल हृदयस्थित भगवान्की शरण होना । केवल

मुखसे 'मैं' तेरे शरण हूँ 'त्वाम् प्रपन्नम्' कह देनेमात्रसे काम नहीं चलेगा। देह, मन, प्राण, प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक भाव, प्रत्येक इच्छा और प्रत्येक कर्म सब भगवान्के अर्पण कर देने होंगे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

यह सीधी-सी बात नहीं है, हमारे मन-प्राण, हमारी इन्द्रियाँ सदा ही बाहरकी तरफ दौड़ती हैं। हम सदा ही कर्म और भोगके लिये लालायित हैं। भगवान् कौन है और कहाँ है? इस बातको नहीं जानते और न यह समझते हैं कि उनके मिलनेपर क्या होता है? परन्तु हमें तो बाह्य जगत्में भोग-सुख और तृप्तिकी असंख्य वस्तुएँ दिखलायी पड़ती हैं। ऐसी स्थितिमें इन सबको छोड़कर भगवान्की ओर मन लगाना क्या सहज बात है? इसीसे—

पुकारते तुम्हें हैं, पर मन विषयमें रखते।

परन्तु तुम बनावटी बातोंमें क्यों फँसने लगे? मन तो सोलहों आने संसारकी ओर झुका हुआ है, और लोगदिखाऊ मुँहसे दो-चार बार 'हरि-हरि' बोल देते हैं या कुछ दान-ध्यान कर लेते हैं। इससे भगवान् कभी नहीं मिल सकते। जो भगवान्के लिये सब कुछ नहीं त्याग सकता वह भगवान्को नहीं पाता। पर जो भगवान्को पा लेता है उसके लिये और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। वह सभी कुछ पा चुकता है, भगवान् स्वयं उसके योगक्षेमका वहन करते हैं।

भगवान्के लिये सब कुछ छोड़ना पड़ेगा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' पर स्मरण रखना चाहिये, गीताने यह सर्वगुह्यतम रहस्य शुरूमें नहीं कह दिया। सबके अन्तमें कहा है। कारण, कर्मके द्वारा जिसके देह, मन और प्राणोंका विकास नहीं हुआ, ज्ञानद्वारा जिसका अन्तःकरण प्रकाशित नहीं हुआ, उसके लिये इस प्रकार पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करना सहज नहीं है। इसीसे गीताने भगवत्प्राप्तिके सहज साधन दिखलाये हैं। मनुष्य स्वभावसे कर्म, ज्ञान और प्रेम चाहता है। गीताने कहा—'कर्म छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं, संसारके सभी आवश्यक कर्म करो, परन्तु करो सब कुछ यज्ञार्थ—भगवान्के लिये, भगवान्की सेवा समझकर, उनके दास बनकर और उनके यन्त्र बनकर! ज्ञानकी चर्चासे भगवान्को समझो। तुम कौन हो? भगवान् क्या हैं? जगत् क्या है? जगत्की लीला क्या है? भगवान्के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? इस तत्त्वको जानो। फिर, भगवान् सर्व भूतोंमें हैं यह जानकर सबसे प्रेम करो, प्राणीमात्रका हितसाधन करो। इस तरह अपने मन-प्राणको क्रमशः समग्रभावसे भगवान्के अर्पण करो तभी भगवान्को पा सकोगे।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९। ३४)

यही गीतोक्त साधना है। कर्म और ज्ञानद्वारा हृदय-मनको तैयार करके सम्पूर्णरूपसे भगवान्को आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। गीताने अर्जुनको यही मार्ग दिखलाया है। अर्जुन क्षत्रिय थे, कर्मवीर थे, इसलिये उन्हें कर्मोंमेंसे होकर ही अग्रसर होनेको कहा गया है परन्तु गीताका चरम उपदेश यह कर्मयोग नहीं है वह है भक्ति या आत्मसमर्पण। कर्मके द्वारा ज्ञान मिलता है, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।' फिर जिसने पूर्णज्ञान प्राप्त किया है, जो भगवान्को भलीभाँति समझ गया है उसमें भक्ति अपने आप उत्पन्न हो जाती है 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।' सबका मर्म है आत्मसमर्पण। भगवान्को जो अनन्यभावसे भजन करेगा वह कर्मी हो या अकर्मी, ज्ञानी हो या अज्ञानी, वही भगवान्को पा सकेगा।

भगवान् हमारे हृदयमें ही हैं परन्तु हम मायाके

आवरणसे आच्छादित हैं । जो व्यक्ति आन्तरिक श्रद्धा और विश्वासके साथ अनन्यचित्त होकर भगवान्से कृपाकी भीख चाहता है, सारी इच्छाशक्तिका प्रयोग करके इस मायाके आवरणको भेदन करना चाहता है, भगवत्-शक्ति ऊपरसे उतरकर उसकी मायाका भेदन कर देती है, उस भक्तके पाप-ताप, उसकी अपूर्णता-अक्षमता मिटाकर उसे दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द या एक शब्दमें दिव्य जीवन प्रदान कर देती है । भगवान्ने अर्जुनके सामने श्रीमुखसे यह प्रतिज्ञा की है—'तुम समस्त धर्माधर्म परित्यागकर केवल मेरी शरण ग्रहण करो, मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा ।' तुम्हें कोई चिन्ता नहीं—'अहं त्वा मोक्षयिष्यामि ।' हम अविश्वासी हैं—क्षुद्रबुद्धि हैं, सांसारिक जीवनमें पद-पदपर ठोकर खाकर, पद-पदपर व्यर्थमनोरथ होकर हमारा मन संशय–सन्देहसे भर गया है । इसीसे भगवान्की इस महान् प्रतिज्ञा-वाणीपर विश्वासकर अनन्य भावसे उनकी शरण नहीं लेते । पर विविध कष्टसाध्य धर्माचरण, पुण्यकर्म, साधन-भजन आदि करके उनको पानेके लिये भारी प्रयास करते हैं !

भगवान्ने अर्जुनसे कर्म करनेके लिये कहा था, परन्तु सभीको कर्मयोगकी साधना करनी होगी यह बात गीतामें कहीं नहीं कही गयी ।

कर्मत्यागके द्वारा भी परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है, गीताने इस बातको स्पष्ट स्वीकार किया है । जिसका जैसा स्वभाव है, जैसी प्रकृति है, जैसी योग्यता है उसीके अनुसार साधन करना उसके लिये उपयोगी है,—उसका स्वधर्म है । वर्तमान युगमें हमने देखा है कि स्वामी रामकृष्णने कर्म या ज्ञानका मार्ग न पकड़कर केवल भक्ति या आत्मसमर्पणके द्वारा ही साधना की थी, वे कहते—'ज्ञानयोग या कर्मयोग तथा अन्यान्य पथोंसे भी ईश्वरके पास पहुँचा जा सकता है पर वह सब बड़े कठिन हैं ।' श्रीरामकृष्णने अपने वर्णोचित यजन-याजन आदि धर्मके पालनद्वारा भगवान्की उपासना नहीं की, वेद-वेदान्तादि ज्ञान-शास्त्रोंकी चर्चासे भगवान्का पता नहीं लगाया, उन्होंने तो एकान्तभावसे आत्मसमर्पण कर दिया था, अपने साधनके सम्बन्धमें वे कहते—'मैंने माँसे केवल भक्ति माँगी थी, हाथमें फूल लेकर माँके चरणकमलोंपर रखते हुए मैंने कहा था—'माँ ! यह लो तुम्हारे पाप, यह लो तुम्हारे पुण्य, मुझे केवल भक्ति दो ! यह लो तुम्हारा ज्ञान, यह लो तुम्हारा अज्ञान, मुझे केवल भक्ति दो । यह लो तुम्हारी शुचि, यह लो तुम्हारी अशुचि, मुझे केवल भक्ति दो । यह लो तुम्हारा धर्म, यह लो तुम्हारा अधर्म, मुझे शुद्ध भक्ति दो !'

लोग कहेंगे कि श्रीरामकृष्ण तो पुण्यवंशजात ब्राह्मण थे, उनके पूर्वके बड़े पुण्य थे, इस जन्ममें भी वे सदासे सदाचारी थे इसीसे केवल आत्मसमर्पणसे ही वे भगवान्का साक्षात्कार कर सके । पर गीता कहती है, केवल पुण्यवान्, सद्वंशजात या सदाचारी पुरुष ही भक्तिद्वारा भगवान्को पा सकते हैं, यह बात नहीं है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(गीता ९ । ३०)

ब्राह्मणकी पवित्रता और उसके ज्ञानका तथा क्षत्रियके त्याग और लोकहितकर कर्मोंका मूल्य जरूर है, इनसे मनुष्यको भगवान्के प्रति पूर्णरूपसे आत्म-समर्पण करनेमें सहायता मिलती है, परन्तु इन सबके न रहनेपर भी जो व्यक्ति इच्छाशक्तिको जगाकर भगवान्के प्रति अपनेको सम्पूर्णरूपसे उत्सर्ग कर सकता है 'मेरा मायाका आवरण हट जाय, मैं भगवान्-को पाऊँ ।' सदा इस संकल्पको जगाये रख सकता है तो भगवान् उसकी सब अपूर्णता दूर कर देते हैं ! कठोर समाजबन्धनमें निवास करनेवाली असंख्य विधिनिषेधोंसे लदी हुई स्त्रियोंकी आत्माका विकास नहीं होता, सर्वथा धनकी चिन्तामें लगे हुए वैश्य

संकीर्णचेता बन जाते हैं, चिरकालसे दूसरोंका दासत्व करनेवाले शूद्रोंका मन क्षुद्र हो जाता है और पूर्व-जन्मके पापोंसे जिन्होंने चाण्डालादि नीच कुलोंमें जन्म लिया है वे तो उच्च जीवन प्राप्त करनेका कोई सुयोग और सुभीता भी नहीं पाते। ऐसे लोगोंको भगवत्‌की प्राप्ति कैसे हो? गीता कहती है——

यह सब क्षुद्रमति अशुद्ध मनुष्य यदि भगवान्‌के शरणापन्न हों तो इनकी भी परमगति हो सकती है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९।३२)

कोई कितना ही हीन, शूद्र, पापी और अशुचि क्यों न हो, भगवान्‌के लिये सभी समान हैं, भगवान्‌के दरबारका दरवाजा किसीके लिये बन्द नहीं है, भगवान्‌को जो भक्तिसे चाहेगा, वही उन्हें पावेगा, भगवान्‌से जो जिस तरह प्रेम करेगा, भगवान् भी उसके साथ ठीक वैसा ही प्रेम करेंगे। **'तांस्तथैव भजाम्यहम्'**

भगवान्‌के प्रति सम्पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करनेमें जो संकल्प या इच्छा होती है उसीके बलसे आत्माका द्वार खुल जाता है, भगवान्‌की शक्ति पूर्णरूपसे मनुष्यमें अवतीर्ण हो जाती है, और वही शक्ति उसके देह-मन-प्राणके समस्त दोषों—सारी ग्लानियोंको—अपूर्णता-को मिटाकर उसकी प्रकृतिको शुद्ध-बुद्ध और रूपान्तरितकर उसे दिव्य आध्यात्मिक जीवन प्रदान करती है। भगवान् और मनुष्यके बीच जो मायाका पर्दा पड़ा हुआ है, आत्मसमर्पणकी इच्छाके बलसे वह दूर हो जाता है, सब बाधाएँ, समस्त भ्रम नष्ट हो जाते हैं। जो अपनी मानवीय शक्तिके बलसे, ज्ञान-पुण्यकर्म या कठोर तपस्याके बलसे दिव्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं उनको संशययुक्त होकर अति कष्टसे उस अनन्तकी ओर अग्रसर होना पड़ता है पर हम जब अपने 'अहम्' को और 'अहम्' की समस्त क्रियाओंको भगवान्‌के प्रति अर्पण कर देते हैं, अपने लिये कुछ भी नहीं रखते, कुछ भी नहीं चाहते—कुछ भी नहीं सोचते तब भगवान् स्वयं हमारे पास आते हैं और हमारा सारा भार ग्रहण कर लेते हैं! अज्ञानीको वह दिव्यज्ञानका प्रकाश देते हैं, दुर्बलको भगवदीय इच्छा-शक्तिके दिव्य बलसे बलवान् बना देते हैं और दीन-दुःखीको वह अध्यात्म-जीवनका अनन्त असीम आनन्द प्रदान करते हैं। मनुष्यकी अपनी दुर्बलता—उसकी मानवी शक्तिकी व्यर्थतासे कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। भगवान्‌ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके यही कहा है—'मेरे भक्तका नाश नहीं होता'

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

मुसलमान साध्वी रबिया

'नाथ! तुम्हीं मेरे सब कुछ हो, मैं और कुछ भी नहीं चाहती, यदि मैं नरकके भयसे तुम्हारी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकके दावानलमें दग्ध कर दो; यदि स्वर्गकी कामनासे तुम्हें पूजती हूँ तो मेरे लिये स्वर्गका द्वार बन्द कर दो और यदि तुम्हारे लिये ही तुम्हें पूजती हूँ तो तुरन्त आकर मुझे अपना लो।' (रबिया)

रबियाका जन्म बसरामें एक गरीब मुसलमानके घर हुआ था। रबियाके माँ-बाप उसे बहुत छोटी उम्रमें ही अनाथ छोड़कर चल बसे थे। एक बार दुर्भिक्षके समय किसी दुष्टने रबियाको फुसलाकर एक धनीके हाथ बेच दिया। गुलाम रबियापर भाँति-भाँतिके अत्याचार होने लगे। रबिया कष्टसे पीड़ित होकर चुपचाप अकेलेमें ईश्वरके सामने रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाया करती। जगत्‌में एक ईश्वरके सिवा उसे सान्त्वना देनेवाला और कोई नहीं था, गरीब अनाथके और होता भी कौन है?

धनी मालिकके जुल्मसे घबराकर रबिया उससे पिण्ड छुड़ानेको एक दिन छिपकर भाग निकली पर थोड़ी दूर जाते ही ठोकर खाकर गिर पड़ी, उसका दाहिना हाथ टूट गया। विपत्तिपर नयी विपत्ति आयी!

अमावस्याकी घोर निशाके बाद ही शुक्लपक्षका आरम्भ होता है, विपत्तिकी हद होनेपर ही सुखके दिन लौटा करते हैं। रबिया इस नयी विपत्तिसे विचलित होकर रो पड़ी और उसने ईश्वरकी शरण लेकर कहा—'ऐ मिहरबान मालिक ! मैं माँ-बाप बिनाकी यतीम गुलाम पैदाइशके वक्तसे ही परेशानीमें पड़ी हुई हूँ, दिन-रात यहाँ क़ैदीकी तरह मरती-पचती किसी तरह जिन्दगी बसर करती थी, रहा-सहा हाथ भी टूट गया ! क्या तुम मुझपर खुश नहीं होगे? कहो, मेरे मालिक ! क्यों तुम मुझसे नाराज हो?'

रबियाकी कातरवाणी गगनमण्डलको भेदकर दिव्य लोकमें पहुँच तुरन्त भगवान्के कानोंमें प्रवेश कर गयी,—रबियाने दिव्य वाणीसे सुना, मानो स्वयं भगवान् कह रहे हैं—'बेटी ! चिन्ता न कर ! तेरे सारे संकट शीघ्र ही दूर हो जायँगे, तेरी महिमा पृथ्वी-भरमें छा जायगी, देवता भी तेरा आदर करेंगे।' सच्ची करुण-प्रार्थनाका उत्तर तत्काल ही मिला करता है।

रबियाको आशा और हिम्मत हो गयी। वह प्रसन्नचित्तसे मालिकके घर लौट आयी। पर उसका जीवन पलट गया—कामकाज करते समय भी उसका ध्यान प्रभुके चरणोंमें रहने लगा ! वह रातों जगकर प्रार्थना करने लगी। भजनके प्रभावसे उसका तेज बढ़ गया। एक दिन आधी रातको रबिया अपनी कोठरीमें घुटने टेके बैठी करुण स्वरसे प्रार्थना कर रही थी। दैवगतिसे उसी समय उसका मालिक जागा। उसने बड़ी मीठी करुणोत्पादक आवाज सुनी और वह अन्दाज लगाकर तुरन्त रबियाकी कोठरीके दरवाजेपर आया, पर्देकी ओटसे उसने देखा—'कोठरीमें अलौकिक प्रकाश छाया हुआ है, रबिया अनिमेष नेत्रोंसे बैठी विनय कर रही है। उसने रबियाके ये शब्द सुने—'मेरे मालिक ! मैं अब सिर्फ तुम्हारा ही हुक्म उठाना चाहती हूँ लेकिन क्या करूँ, जितना चाहती हूँ उतना हो नहीं पाता, मैं खरीदी हुई गुलाम हूँ, मुझे गुलामीसे फुरसत ही कहाँ मिलती है !'

दीनदुनियाके मालिकने रबियाकी प्रार्थना सुन ली और उसीकी प्रेरणासे उसके मालिकका मन पलट गया, वह रबियाकी तेजपुञ्जमयी मञ्जुल मूरति देख और उसकी भक्ति-करुणापूर्ण प्रार्थना सुनकर चकित हो गया। उसने रबियाको उसी समय दासत्वसे मुक्त कर दिया ! रबिया गुलामीसे छूटकर अपना सारा समय केवल भजन-ध्यानमें बिताने लगी। उसके हृदयमें प्रेमसिन्धु छलकने लगा। रबियाने अपना जीवन सम्पूर्णरूपसे उस प्रेममय परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया। एक दिन रबियाने कातरकण्ठसे प्रार्थना की—

'ऐ मेरे मालिक ! तुम्हीं मेरे सब कुछ हो, मैं और कुछ भी नहीं चाहती, अगर मैं दोज़ख (नरक) के डरसे तुम्हारी बन्दगी करती हूँ तो मुझे दोज़खकी धधकती हुई आगमें डाल दो। अगर बहिश्तकी लालचसे बन्दगी करती हूँ तो मेरेलिये बहिश्तका दरवाजा बन्द कर दो और अगर सिर्फ तुम्हारे लिये ही बन्दगी करती हूँ तो फौरन आकर मुझे अपना लो।' कैसी निष्काम प्रेमपूर्ण प्रार्थना है !

एक दिन रातको चन्द्रमाकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी पर रबिया अपनी कुटियाके अन्दर किसी दूसरी ही दिव्य सृष्टिकी ज्योत्स्नाका आनन्द ले रही थी। इतनेमें एक स्त्रीने आकर ध्यानमग्ना रबियाको बाहरसे पुकारकर कहा—'रबिया ! बाहर आकर देख, कैसी खूबसूरत रात है।' रबियाके हृदयमें इस समय जगत्का समस्त सौन्दर्य जिसकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है वही सुन्दरताका सागर उमड़ रहा था। उसने कहा, 'तुम एक बार मेरे दिलके अन्दर घुसकर देखो, कैसी दुनियासे परेकी अनोखी खूबसूरती है।

हिजरी सन् १३५ में रबियाने भगवान्में मन लगाकर अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

अन्तमें कैथेरिनके प्रेमसे एण्ड्रियाका मन भी पलटा। पश्चात्तापकी आगसे तपकर उसका पाषाण हृदय गल गया। वह रोकर कैथेरिनके चरणोंमें गिर पड़ी और पुकारकर बोली-'बहिन! तू मनुष्य नहीं है, देवी है। मैं अभागिनी हूँ, अनुतापकी यन्त्रणासे अस्थिर होकर तेरे शरण आयी हूँ, मुझे क्षमा कर। बहिन! मुझ अभागिनीके अपराध क्षमा कर!' उसने अपना यह दोष आश्रममें भी सबके सामने प्रकट कर दिया!

सन् १३८० में कैथेरिनका देहान्त हुआ, इस समय उसकी अवस्था केवल तैंतीस सालकी थी। उसके अन्तिम शब्द यह हैं—'हे प्रभो! मैं इस अपनी आत्माको तुम्हारे हाथों अर्पण करती हूँ।'

—रामदास गुप्त

सत्संगतिकी महिमा

(गुरुभक्त कार्पासाराम वरद)

(लेखक—पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी, प्रयाग)

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः॥

(चाणक्यनीतिः)

(१)

'साधुओंका दर्शन पुण्यदायी है, क्योंकि साधु-लोग तीर्थरूपी हैं। तीर्थोंका दर्शन-स्पर्शन तो कालान्तरमें फलप्रद होता है, पर साधुओंका दर्शन तुरन्त फलदायी है।' यह उक्ति पूर्णतः सत्य एवं अनेक बारकी अनुभूत है। साधुसंगति बड़े-बड़े पापाचारियोंको पापाचारसे बचानेवाली, अचिन्त्य कल्याणप्रदायिनी और सत्पथपर चलानेवाली है। कवियोंने साधुसंगतिकी महिमा प्रदर्शित करते हुए कहा है सुमनके सत्संगसे क्षुद्रातिक्षुद्र कीट भी बड़े लोगोंके सिरपर जा विराजता है और महात्माओंसे सुप्रतिष्ठित होनेके कारण पत्थर भी देवत्वको प्राप्त हो जाता है। एक मनचले विद्वान्ने तो साधुकी पहचान ही यह रक्खी है कि जिससे असाधु साधु हो जाय वही साधु है। महात्मा भर्तृहरिने साधु-माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुमूल्य सोने-चाँदीको तुच्छ बतलाया है, और चन्दनकी प्रशंसा की है। कारण, सोने-चाँदीके पर्वतोंपर उगनेवाले वृक्षादि काठ-के-काठ ही बने रहते हैं, किन्तु चन्दनके समीप उगनेवाले नीम आदि वृक्ष चन्दनके सत्संगसे चन्दनकी तरह सुवासित हो जाते हैं अतएव सत्संग अथवा साधुसमागमकी महिमा सर्वोपरि है।

(२)

जगद्गुरु भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य एक बार श्रीशैलकी यात्राके लिये, अपनी अनुरक्ता शिष्यमण्डली-सहित चले। मार्गमें एक गाँव पड़ता था, जिसका नाम था अष्टसहस्र। इस ग्राममें उनका एक 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' शिष्य रहता था। यद्यपि वह भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करता था, तथापि उसकी गुरुनिष्ठा और धर्मनिष्ठा बड़े-बड़े धनवानोंसे भी बहुत चढ़ी-बढ़ी थी। धनहीन होनेपर भी उसका गार्हस्थ्य जीवन बड़ा सुखमय था। कारण, उसकी धर्मपत्नी बड़ी सती-साध्वी और पतिव्रता थी। वह जैसी सुन्दरी थी, वैसे ही सद्गुण-सम्पन्ना थी। पतिकी आर्थिक दशा शोच्य होनेपर भी वह स्त्री अपने पतिको घृणाकी दृष्टिसे कभी नहीं देखती थी और न धनिकोंके प्रति उसका अनुराग ही था। उस श्रीवैष्णव भक्तके घर सोना-चाँदी न होनेपर भी उसकी स्त्री उसका

परम धन थी । नाम भी उस स्त्रीका लक्ष्मी ही था । इस भक्तके मकानके आसपास कपासके कई पेड़ थे । अतः उस गाँवके लोगोंने इसका नाम कार्पासाराम वरद रख छोड़ा था ।

जिस समय जगद्गुरु भगवान् श्रीरामानुजाचार्य कार्पासारामके द्वारपर पहुँचे, उस समय उस घरकी गृहिणी लक्ष्मीदेवी स्नान करके कमरेमें एक चिथड़ा लपेटे अपनी धोती सुखा रही थी । गुरुदेवके आगमनकी सूचना पाकर लक्ष्मीदेवी उस दशामें उनके सामने न तो जा ही सकती थी और न बोल ही सकती थी । अतः उसने ताली बजाकर अपनी दशा गुरुदेवको जनायी । भगवान् श्रीरामानुजाचार्यको जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने अपने पासका एक वस्त्र घरके द्वारसे भीतर फेंक दिया । उस वस्त्रसे अपना अंग ढाँककर लक्ष्मीदेवीने गुरुदेवके सामने जा उनको प्रणाम किया और अर्घ्यपाद्यादिके निमित्त जल अर्पण किया । तदनन्तर बोली—'गुरुदेव ! पतिदेव तो भिक्षाके लिये गाँवमें गये हैं । सामने ही सरोवर है । उसके तटपर विश्रामकर मार्गकी थकावट मिटावें ! इतनेमें मैं तदीयाराधनके लिये आयोजन करती हूँ ।' गुरुकी अनुमति ले लक्ष्मीदेवी घरके भीतर गयी । किन्तु घरमें तो अन्नका एक कण भी न था । अतः लक्ष्मीको बड़ी चिन्ता हुई ।

(२)

लक्ष्मीदेवीके घरके निकट एक धनिक वैश्यका घर था । वैश्य धनी था और धनके मदमें चूर था । वह समझता था धनीको कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकता । धनीके लिये कार्य-अकार्यका कोई बन्धन नहीं । उचित हो अथवा अनुचित, धनीकी अभिलाषाएँ अवश्य पूर्ण होनी ही चाहिये । इस अपने मनमाने सिद्धान्तानुसार वह धनी धनवर्जिता किन्तु अत्यन्त रूपवती पड़ोसिन लक्ष्मीदेवीके रूपमाधुर्यपर मुग्ध हो गया था । अपनी पापमयी कामना चरितार्थ करनेके लिये उसने बड़े-बड़े प्रयत्न किये थे । उसने लक्ष्मीके पास कुटनियाँ भेज कई बार गहने-कपड़े और धन-दौलतका लोभ प्रदर्शित किया था । किन्तु पतिव्रता लक्ष्मीदेवीकी दृढ़ताके सामने उस धनी वैश्यको सदा नीचा देखना पड़ा था । पर आज रंगमंचका दृश्य सहसा परिवर्तित हो गया । जो लक्ष्मीदेवी उस धनिक वैश्यके प्रलोभनोंको लातोंसे ठुकरा चुकी थीं, वही आज अपने मनमें सोचने लगी—अस्थिमांसमय इस शरीरके बदले गुरुसेवा करके मैं कृतार्थ क्यों न हो जाऊँ ? कलिघ्न नामक एक भगवद्भक्तने चोरी करके अपने इष्टदेवकी आराधना की थी । उसपर प्रसन्न होकर भगवान्ने कहा था—

यन्निमित्तं कृतं पापं मयि पुण्याय कल्पते ।
यामनादृत्य तु कृतं पुण्यं पापाय कल्पते ॥

अतएव इसी समय मैं इस सेठके पास जाकर मनोरथ पूर्ण करूँगी । इस प्रकार अपने मनमें ठान, लक्ष्मीदेवी अपने गुरुदेवका उपयुक्त अतिथि-सत्कार करनेको अपेक्षित सामग्री लानेके लिये उस लम्पट धनिक सेठके घर पहुँची । जिस लक्ष्मीदेवीको पानेके लिये सेठ सब प्रकारके प्रयत्नकर हार चुका था, उसी लक्ष्मीदेवीको अपने सामने देख, उसके आश्चर्यमिश्रित आनन्दकी सीमा न रही । जिस समय लक्ष्मीदेवीने संकोच त्याग उस सेठसे कहा—'सेठजी ! आज मैं आपकी बहुत दिनोंकी साध पूरी करने आयी हूँ । मेरे गुरुदेव अपनी शिष्यमण्डलीसहित पधारे हैं । उनके आतिथ्योपयोगी सामग्री आप भिजवा दें । मैं आपकी साध पूरी करूँगी ।' लक्ष्मीदेवीके मुखसे इन वचनोंको सुन आश्चर्यचकित वह धनिक वैश्य मन-ही-मन कहने लगा—आश्चर्य ! महान् आश्चर्य ! तदनन्तर तुरन्त ही सेठने आतिथ्योपयोगी समस्त सामान अपने सेवकोंद्वारा लक्ष्मीदेवीके साथ उसके घर भिजवा दिया । लक्ष्मीदेवी तदीयाराधनके लिये रसोई बनानेके काममें

संलग्न हुई। रसोई बन गयी और भगवान्‌को निवेदनकर गुरुदेव और उनकी शिष्यमण्डली पूर्णरूपसे तृप्त हुई।

(४)

इतनेमें लक्ष्मीदेवीका पति कार्पासाराम वरद भिक्षान्न लिये हुए अपने घर पहुँचा और गुरुदेवको शिष्य-मण्डलीसहित अपने घरपर देख आनन्दमग्न हो, गुरु देवको बारंबार साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगा। पीछे जब उसे यह बात मालूम हुई कि उसकी स्त्रीने अमृतोपम नाना व्यञ्जनोंसे गुरुदेवका आतिथ्य किया है तो उसके आनन्दकी सीमा न रही। किन्तु कुछ ही क्षणों पीछे उसके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि वह तो बड़ा दरिद्र है, उसके घरमें तो अन्नका एक कण भी नहीं रहने पाता। तब ऐसे बढ़िया व्यञ्जनकी सामग्री लक्ष्मीदेवीको कहाँसे मिली। ऐसे ही अनेक विचारोंकी उधेड़बुनमें पड़, जब वरदने घर-के भीतर जाकर अपनी स्त्रीसे पूछा, तब लक्ष्मीदेवीने सब बातें ज्यों-की-त्यों अपने पतिसे कह दी और हाथ जोड़कर अपने पतिके सामने खड़ी हो गयी।

क्रोध करना तो दूर रहा, इस वृत्तान्तको सुन, कार्पासाराम वरद आनन्दमें निमग्न हो 'धन्योऽहम्, कृतकृत्योऽहम्' कहकर नाचने लगा। उसने लक्ष्मीदेवीसे कहा—'देवी! तुमने आज अपने सतीत्वका यथार्थ परिचय दिया है। नारायण ही एकमात्र पुरुष हैं। वे समस्त प्रकृतिकुलके पति हैं। अस्थिमांसमय शरीरके विनिमयमें तुम जो आज परमपुरुषकी सेवा करनेमें समर्थ हुई हो, इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात और क्या होगी? कौन कहता है कि मैं दरिद्र हूँ। तुम्हारे समान जिसकी परम भक्तिमती सहधर्मिणी हो, उसके भाग्यका कहना ही क्या है?' यह कहकर वह अपनी स्त्रीका हाथ पकड़, भगवान् भाष्यकारके निकट गया और उनके सामने साष्टाङ्गकर बड़ी देरतक वैसे ही पड़ा रहा। कुछ समय बाद वरदके ही मुखसे उसकी पत्नीका वृत्तान्त सुन यतिराज भी चकित हुए।

(५)

गुरुकी आज्ञासे दम्पतिने प्रसाद ग्रहण किया। फिर बचा हुआ प्रसाद ले वे दोनों स्त्री-पुरुष उस पड़ोसी धनिक सेठके घर गये। वरद घरके द्वारपर रहे। लक्ष्मीदेवी घरके भीतर गयी और सेठसे प्रसाद ग्रहण करनेका अनुरोध किया। सेठके पूर्वजन्मके किसी सुकृतका फल उदय होनेवाला था। अतः उसने बड़े चावसे प्रसाद लिया। आहा! सच्चे साधु-संतोंके प्रसादकी महिमा भी कैसी अचिन्त्य है। देखिये न! उस प्रसादको खाते ही उस सेठकी मनोवृत्तियाँ सहसा बदल गयीं। उसकी कामवृत्ति न जाने कहाँ चली गयी। लक्ष्मीदेवीको कुदृष्टिसे देखना तो एक ओर रहा, उसने लक्ष्मीदेवीको माता कहकर सम्बोधन किया और बोला—

'माँ! मैं कैसा महापातक करनेको उद्यत था! निषाद जिस प्रकार दमयन्तीको स्पर्श करनेकी इच्छा करके भस्म हुआ था, मेरे कपालमें भी वैसा ही लिखा था। किन्तु माता! तुमने मुझे बचा लिया। मैं केवल तुम्हारी कृपाहीसे बचा हूँ। माता! मेरा अपराध क्षमा करो और यह नरपशु जिस प्रकार शुद्ध होकर मनुष्य बने, वैसा उपाय करो। अपने गुरुदेवका सत्संग करा मुझे कृतार्थ करो।'

लक्ष्मीदेवी उस बनियेकी इन बातोंको सुन चकित हो रही थी और मन-ही-मन यतिराजकी असीम शक्ति-का प्रत्यक्ष परिचय पाकर, गुरुदेवके चरणोंमें उसकी भक्ति द्विगुण हो गयी थी। लक्ष्मीदेवी और वरदसहित वह सेठ भगवान् भाष्यकारके सम्मुख उपस्थित हुए। भगवान् श्रीरामानुजाचार्य स्वामीने अपने पवित्र करस्पर्श-से उस ब्राह्मणदम्पति एवं सेठके त्रिताप नष्टकर उनको भगवद्भक्त बना दिया। तभी तो कहा है कि साधु-समागम तुरन्त ही फलप्रद है!

('प्रपन्नामृत'के आधारपर)

निष्कामभक्त युधिष्ठिर

सदानधर्माः सजनाः सदाराः सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः। (युधिष्ठिर)

धर्मराज युधिष्ठिर पाण्डवोंमें सबसे बड़े भाई थे। युधिष्ठिर सत्यवादी, धर्ममूर्ति, सरल, विनयी, मद-मान-मोहवर्जित, दम्भ-काम-क्रोधरहित, दयालु, गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालक, महान् विद्वान्, ज्ञानी, धैर्यसम्पन्न, क्षमाशील, तपस्वी, प्रजावत्सल, मातृ-पितृ-गुरु-भक्त और श्रीकृष्ण भगवान्के परमभक्त थे। धर्मके अंशसे उत्पन्न होनेके कारण वे धर्मके गूढ़ तत्त्वको खूब समझते थे। धर्म और सत्यकी सूक्ष्मतर भावनाओंका यदि पाण्डवोंमें किसीके अन्दर पूरा विकास था तो धर्मराज युधिष्ठिरमें ही था। सत्य और क्षमा तो इनके सहजात सद्गुण थे। बड़े-से-बड़े विकट प्रसंगोंमें इन्होंने सत्य और क्षमाको खूब निबाहा। द्रौपदीका वस्त्र उतर रहा है। भीम-अर्जुन-सरीखे योद्धा भाई इशारा पाते ही सारे कुरुकुलका नाश करनेको तैयार हैं। भीम वाक्यप्रहार करते हुए भी बड़े भाईके अदबसे मन मसोस रहे हैं परन्तु धर्मराज धर्मके लिये चुपचाप सब सुन और सह रहे हैं!

नित्य शत्रु दुर्योधन अपना ऐश्वर्य दिखलाकर दिल जलानेके लिये द्वैत-वनमें जाता है। अर्जुनका मित्र चित्रसेन गन्धर्व कौरवोंकी बुरी नीयत जानकर उन सबको जीतकर स्त्रियोंसहित कैद कर लेता है। युद्धसे भागे हुए कौरवोंके अमात्य युधिष्ठिरकी शरण आते हैं और दुर्योधन तथा कुरु-कुलकामिनियोंको छुड़ानेके लिये अनुरोध करते हैं। भीम प्रसन्न होकर कहते हैं—'अच्छा हुआ, हमारे करनेका काम दूसरोंने ही कर डाला!' परन्तु धर्मराज दूसरी ही धुनमें हैं, उन्हें भीमके वचन नहीं सुहाते, वे कहते हैं—'भाई! यह समय कठोर वचन कहनेका नहीं है, प्रथम तो ये लोग हमारी शरण आये हैं, भयभीत आश्रितोंकी रक्षा करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है, दूसरे अपनी जातिमें आपसमें चाहे जितना कलह हो जब कोई बाहरका दूसरा आकर सतावे या अपमान करे तब उसका हम सबको अवश्य प्रतिकार करना चाहिये। हमारे भाइयों और पवित्र कुरुकुलकी स्त्रियोंको गन्धर्व कैद करें और हम बैठे रहें, यह सर्वथा अनुचित है।'

ते शतं हि वयं पञ्च परस्परविवादने।
परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पञ्चाधिकं शतम्॥

'आपसमें विवाद होनेपर वे सौ भाई और हम पाँच भाई हैं परन्तु दूसरोंका सामना करनेके लिये तो हमें मिलकर एक सौ पाँच होना चाहिये।' युधिष्ठिरने फिर कहा, 'भाइयो! पुरुषसिंहो! उठो! जाओ! शरणागतकी रक्षा और कुलके उद्धारके लिये चारों भाई जाओ और शीघ्र कुलकामिनियोंसहित दुर्योधनको छुड़ाकर लाओ।' कैसी अजातशत्रुता, धर्मप्रियता और नीतिज्ञता है! धन्य!

अजातशत्रु धर्मराजके वचन सुनकर अर्जुन प्रतिज्ञा करते हैं कि 'यदि दुर्योधनको उन लोगोंने शान्ति और प्रेमसे नहीं छोड़ा तो—

अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम्।
(महा० वन० २४३। २१)

आज गन्धर्वराजके तप्तरुधिरसे पृथ्वीकी प्यास बुझायी जायगी।' परस्पर लड़कर दूसरोंकी शक्ति बढ़ानेवाले भारतवासियो! इस चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करो!

वनमें द्रौपदी और भीम युद्धके लिये धर्मराजको बेतरह उत्तेजित करते हैं और मुँह आयी सुनाते हैं, पर धर्मराज सत्यपर अटल हैं। वे कहते हैं बारह वर्ष

वन और एक सालके अज्ञातवासकी मैंने जो शर्त स्वीकार की है उसे मैं नहीं तोड़ सकता ।

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥

मैं अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करूँगा, मेरी समझसे सत्यके सामने अमरत्व, जीवन, राज्य, पुत्र, यश और धन आदिका कोई मूल्य नहीं है ।

एक बार युद्धके समय द्रोणाचार्यवधके लिये असत्य बोलनेका काम पड़ा पर धर्मराज शेषतक पूरा असत्य न रख सके, सत्य शब्द 'कुञ्जर' का उच्चारण हो ही तो गया । कैसी सत्यप्रियता है ?

युधिष्ठिर महाराज निष्काम धर्मात्मा थे, एक बार उन्होंने अपने भाइयों और द्रौपदीसे कहा—'सुनो ! मैं धर्मका पालन इसलिये नहीं करता कि मुझे उसका फल मिले, शास्त्रोंकी आज्ञा है इसलिये वैसा आचरण करता हूँ, फलके लिये धर्माचरण करनेवाले सच्चे धार्मिक नहीं हैं परन्तु धर्म और उसके फलका लेन-देन करनेवाले व्यापारी हैं ।'

वनमें जब यक्षरूप धर्मके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेपर धर्म युधिष्ठिरसे कहने लगे कि 'तुम्हारे इन भाइयोंमेंसे तुम कहो उस एकको जीवित कर दूँ ।' युधिष्ठिरने कहा—'नकुलको जीवित कर दीजिये !' यक्षने कहा—'तुम्हें कौरवोंसे लड़ना है, भीम और अर्जुन अत्यन्त बलवान् हैं तुम उनमेंसे एकको न जिलाकर नकुलके लिये क्यों प्रार्थना करते हो ?' युधिष्ठिरने कहा—'मेरे दो माताएँ थीं—कुन्ती और माद्री, कुन्तीका तो मैं एक पुत्र जीवित हूँ, माद्रीका भी एक रहना चाहिये । मुझे राज्यकी परवा नहीं है ।' युधिष्ठिरकी समबुद्धि देखकर धर्मने अपना असली स्वरूप प्रकटकर सब भाइयोंको जीवित कर दिया ।

भगवान् कृष्णने जब वनमें उपदेश दिया तब हाथ जोड़कर वे बोले—'हे केशव ! निस्सन्देह पाण्डवोंकी आप ही गति हैं । हम सब आपकी ही शरण हैं, हमारे जीवनका अवलम्बन आप ही हैं ।' कैसी अनन्यता है ?

द्रौपदीसहित पाँचों पाण्डव हिमालय जाते हैं । एक कुत्ता साथ है । द्रौपदी और चारों भाई फिर पड़े, इन्द्र रथ लेकर आते हैं और कहते हैं 'महाराज ! रथपर सवार होकर सदेह स्वर्ग पधारिये ।' धर्मराज कहते हैं 'यह कुत्ता मेरे साथ आ रहा है, इसको भी साथ ले चलनेकी आज्ञा दें ।' देवराज इन्द्रने कहा—'धर्मराज ! यह मोह कैसा ? आप सिद्धि और अमरत्वको प्राप्त हो चुके हैं, कुत्तेको छोड़िये ।' धर्मराजने कहा—'देवराज ! ऐसा करना आर्योंका धर्म नहीं है, जिस ऐश्वर्यके लिये अपने भक्तका त्याग करना पड़ता हो वह मुझे नहीं चाहिये, स्वर्ग चाहे न मिले पर इस भक्त कुत्तेको मैं नहीं त्याग सकता ।' इतनेमें कुत्ता अदृश्य हो गया, साक्षात् धर्म प्रकट होकर बोले—'राजन् ! मैंने तुम्हारे सत्य और कर्तव्यकी निष्ठा देखनेके लिये ऐसा किया था । तुम परीक्षामें उत्तीर्ण हुए ।'

इसके बाद धर्मराज साक्षात् धर्म और इन्द्रके साथ रथमें बैठकर स्वर्गमें जाते हैं वहाँ अपने भाइयों और द्रौपदीको न देखकर अकेले स्वर्गमें रहना पसन्द नहीं करते, एक बार मिथ्याभाषणके कारण धर्मराजको मिथ्या नरक दिखलाया जाता है उसमें वे सब भाइयों-सहित द्रौपदीका कल्पित आर्तनाद सुनते हैं और वहीं नरकके दुःखोंमें रहना चाहते हैं, कहते हैं—'जहाँ मेरे भाई रहते हैं मैं वहीं रहूँगा' इतनेमें प्रकाश छा जाता है, मायानिर्मित नरकयन्त्रणा अदृश्य हो जाती है, समस्त देवता प्रकट होते हैं और महाराज युधिष्ठिर अपने भ्राताओंसहित भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं । धन्य धर्मराज !

—रामदास गुप्त

भक्तोंके भगवान्

(१) राजा अम्बरीष
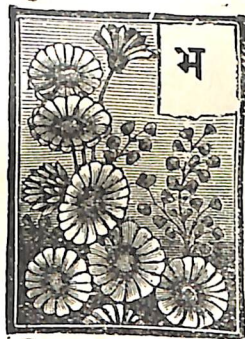
भगवान्के चरणारविन्दमें सर्वस्व अर्पण कर चुकनेवाले राजा अम्बरीषपर क्रोध करके दुर्वासा मुनिने कृत्या राक्षसी उत्पन्न की, भक्तवत्सल भगवान्के सुदर्शन-चक्रने कृत्याको मारकर भक्तद्रोही दुर्वासाकी खबर लेनी चाही, दुर्वासाजी दौड़े, कहीं ठहरनेको ठौर नहीं मिली, वैकुण्ठमें जाकर भगवान् विष्णुके निकट पुकारे तब—भगवान् कहने लगे—

'हे ब्राह्मण ! मुझे अपने भक्त बहुत ही प्रिय हैं, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ—भक्तोंके अधीन हूँ । मेरे हृदयपर उनका पूरा अधिकार है । जिन मेरे भक्तोंने मुझको ही अपनी परमगति मानकर सब कुछ त्याग दिया है उन परम भक्तोंकी तुलनामें मैं अपने आपको और प्रियतमा लक्ष्मीको भी तुच्छ समझता हूँ । जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब, प्राण और धनको छोड़कर मेरी शरण आ गये हैं, मैं भला उनको कैसे छोड़ दूँ ? मुझमें मन लगानेवाले समदर्शी संत अपनी शुद्ध भक्तिसे मुझको वैसे ही वश कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने भले पतिको कर लेती है । मेरे भक्त स्वर्ग तो एक ओर रहा, चार तरहकी मुक्तिका भी तिरस्कार-कर केवल मेरी सेवा ही चाहते हैं, वे सेवासे ही सन्तुष्ट रहते हैं, ऐसे भक्त मेरा हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा अन्य किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता । तुम बचना चाहते हो तो अम्बरीषके पास जाकर ही अपना अपराध क्षमा कराओ । साधुओंपर अपना तेज दिखानेवाले आप अपनी बुराई करते हैं, उससे साधुओंका कुछ भी नहीं बिगड़ता । तुम्हारा कल्याण हो, तुम भाग्यवान् राजाके पास जाओ, तुम्हें शान्ति मिलेगी ।'

दुर्वासाजी दौड़े अम्बरीषके पास आये, उन्होंने राजाकी स्तुति की, भक्त राजा पहले ही दुर्वासाके दुःखसे दुखी थे, उन्होंने सुदर्शनको शान्त किया, दुर्वासाजीका प्राणसंकट टला ! भक्तोंके भगवान्ने अपनेको सच्चे भक्तके अधीन बतलाकर भक्तिका महत्त्व घोषित किया ।

* * * *

(२) राक्षसराज विभीषण

परस्त्री-अपहरणकारी,—संत-महात्माओंको पीड़ा देनेवाले प्रबल प्रतापी भाई रावणको सदुपदेश देनेके कारण अपमानित और निर्वासित भक्त विभीषण 'शरणागतभयहारी भगवान् रामके शरणमें आते हुए रास्तेमें मनोरथ करते हैं—

देखिहौं जाय चरण-जल-जाता ।
अरुण मृदुल सेवक सुखदाता ॥
जे पद परसि तरी ऋषिनारी ।
दण्डक कानन पावनकारी ॥
जे पद जनकसुता उर लाये ।
कपट कुरंग संग धरि धाये ॥
हर-उर-सर-सरोज पद जोई ।
अहोभाग्य मैं देख सोई ॥

जिन पायँनकी पादुका, भरत रहे मन लाय ।
ते पद आज बिलोकिहौं, इन नयनन अब जाय ॥

विभीषण श्रीरामके शिविर द्वारपर पहुँचे, बन्दरोंने रोक लिया, सुग्रीवजीने भगवान्को समाचार दिया । भगवान्ने सुग्रीवसे सम्मति माँगी, सुग्रीव बोले, 'महाराज ! राक्षसी माया समझनेमें नहीं आती, मालूम नहीं यह

क्यों आया है ! शायद भेद लेने आया हो, अतः इसे बाँध रखना चाहिये ।'

श्रीरघुनाथजी बोले—

सखा नीति तुम नीकि बिचारी ।
मम प्रन सरणागत-भयहारी ॥

❀ ❀ ❀ ❀

सुनि प्रभु बचन हरषि हनुमाना ।
सरणागत-वत्सल भगवाना ॥

❀ ❀ ❀ ❀

जो पै दुष्ट हृदय सो होई ।
मोरे सन्मुख आव कि सोई ॥
भेद लेन पठवा दससीसा ।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥
जग महँ सखा निसाचर जेते ।
लक्ष्मण हनहिं निमिष महँ तेते ॥
जो सभीत आवा सरणाई ।
रखिहौं ताहि प्राणकी नाँई ॥
उभय भाँति लै आवहु, हँसि कह कृपानिधान ।
जय कृपालु कहि कपि चले, अंगदादि हनुमान ॥

वानर बड़े सम्मानसे विभीषणको अन्दर लिवा लाये । विभीषण तो भगवान् रामकी 'प्रणतभयमोचनी, अमित-मदन-छबि-मोहनी' रूपमाधुरीको देखकर मुग्ध हो गया, उसके नेत्रोंसे जल बहने लगा और वह त्राहि-त्राहि पुकारकर रामके चरणोंमें गिर पड़ा । भगवान्ने उसे सान्त्वना देकर उसी समय लङ्काका राज्य दे दिया, भक्ति तो पहले ही दे चुके थे—

रावण क्रोधानल सरिस, श्वास समीर प्रचंड ।
जरत विभीषण राखेऊ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
जो सम्पति शिव रावणहिं, दीन्ह दिये दस माथ ।
सो सम्पदा विभीषणहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

(३) पक्षीराज जटायु !

पक्षीराज जटायुने बिलखती हुई भगवान् श्रीराम-पत्नी श्रीजानकीको दुर्वृत्त रावणके हाथसे बचानेके लिये रणयज्ञमें अपने जीवनकी आहुति दे डाली ! रावण जटायुके दोनों पक्ष काटकर उसे घायलकर सीताजीको ले गया ! सीताको खोजते-खोजते श्रीराम-लक्ष्मण वहाँ पहुँचे । जटायुसे सारी घटना सुनकर और अपने लिये प्राण न्योछावर कर दिये, यह जानकर भगवान् श्रीरामने गद्गद होकर आँसू बहाते हुए अपना हाथ उसके मस्तकपर रखकर उसकी सब पीड़ा दूर कर दी, फिर गोदमें उठाकर अपनी जटासे उसकी धूल झाड़ने लगे—

दीन मलीन अधीन है अंग,
बिहंग पर्यो छिति छिन्न दुखारी ।
'राघव' दीन दयालु कृपालुको,
देखि दुखी करुना भइ भारी ।
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि,
नैन सरोजनमें भरि बारी ।
बारहिं बार सुधारत पंख
जटायुकी धूर जटानसों झारी ।

गिद्धराजने भगवान्‌के चरणोंमें प्राण त्यागकर दिव्यरूप धारणकर वैकुण्ठको प्रयाण किया ।

गीध देह तजि धरि हरि रूपा,
भूषण बहु पटपीत अनूपा ।
अविरल भक्ति माँगि वर, गीध गयउ हरिधाम ।
तेहिकी क्रिया यथोचित, निज कर कीन्हीं राम ॥

❀ ❀ ❀ ❀

(४) सती द्रौपदी

एक बार शीघ्रकोपी दुर्वासा मुनि कौरवराज दुर्योधनके यहाँ हस्तिनापुरमें गये, दुर्योधनने उनका बड़ा सत्कार किया, मुनि प्रसन्न हो गये । दुर्योधनने उनसे वरदान माँगा, 'मुनिवर ! काम्यक वनमें मेरे भाई धर्मराज युधिष्ठिर रहते हैं, आप उनके यहाँ अपने दस हजार शिष्योंको साथ लेकर द्रौपदीके भोजन कर चुकनेके बाद रातके समय जाकर उनसे भोजन माँगिये । मैं धर्मराजके धर्मकी परीक्षाके लिये

श्रीकृष्ण-कृष्णा

स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः।
उपयुज्याब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक्॥

आपसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ।' दुर्वासाने दुर्योधनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

राजा युधिष्ठिरने सूर्यकी उपासना करके उनसे एक पात्र पाया था। सूर्यदेवने कह दिया था कि 'जबतक द्रौपदी भोजन न कर लेगी तबतक इस पात्रसे चाहे जितने लोगोंको यथेच्छ भोजन कराया जा सकेगा।' गृहस्थधर्मको भलीभाँति समझनेवाली, अतिथि-सेवामें तत्पर पतिव्रता द्रौपदी उस पात्रसे नित्य सहस्रों ब्राह्मणअतिथियोंको भोजन देकर अन्तमें अपने पतियोंको जिमाती, तदनन्तर आस-पासके पशु-पक्षियोंको खिला-पिलाकर एक पहर रात बीतनेपर जब किसी अतिथिके आनेकी संभावना नहीं रहती तब स्वयं भोजन किया करती।

दुर्योधन इस बातको जानता था, इसीसे उसने बुरी नीयतसे दुर्वासाको द्रौपदीके भोजन कर चुकनेके बाद वहाँ जानेके लिये कहा, उसने सोचा कि 'दुर्वासाजी शीघ्रक्रोधी हैं ही, द्रौपदी भोजन कर लेगी तब युधिष्ठिर दस हजार शिष्योंसहित दुर्वासाजीको भोजन नहीं दे सकेंगे, दुर्वासाजी उन्हें शाप देकर भस्म कर देंगे- यों बिना ही युद्ध सारा कंटक दूर हो जायगा।'

भगवान् भास्कर अस्ताचलको जा चुके हैं, कृष्णपक्षकी अँधियारी रात है, द्रौपदी, मनुष्योंकी तो बात ही क्या, निशाचरी पशु-पक्षियोंतकको तृप्तकर अभी भोजन करके उठी है, सूर्यका दिया हुआ पात्र माँज-धोकर रख दिया है। धर्मराज भाइयोंके साथ धर्मचर्चा कर रहे हैं। इतनेमें ही दश सहस्र विद्यार्थियोंका चलता-फिरता विश्वविद्यालय साथ लिये तेजस्वी तपोधन दुर्वासा पधारे। युधिष्ठिरने भ्राताओंसहित उठकर उनका सत्कार और पूजन किया। दुर्वासाजीने आशीर्वाद देते हुए कहा—'राजन्! हमें भोजन करना है, हम नदीमें नहाकर आते हैं, तुम भोजनकी तैयारी करो।'

पाण्डव चिन्तामें पड़ गये, उन्होंने समझा कि आज सर्वनाश होनेमें कुछ कसर नहीं रही, द्रौपदीने कहा— 'आपलोग चिन्ता न करें, मेरे सखा कृष्ण अवश्य सहायता करेंगे।' इतना कहकर द्रौपदी मन-ही-मन कृष्णका स्मरणकर बोली—'हे भक्तवत्सल! हे अनाथनाथ! हे शरणागतभयहारी! आज आपके पाण्डवोंपर बड़ी भारी विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है, आपने कौरवोंकी राजसभामें मेरा वस्त्र बढ़ाकर दुष्ट दुःशासनके हाथसे मेरी रक्षा की थी, आज इस मुनिके दारुण शापसे बचाइये। आपके सिवा पाण्डवोंकी गति और कौन है?'

भगवान्‌को पुकारनेमें ही देर लगती है, उनके आनेमें देर नहीं होती, जहाँ व्याकुलतापूर्ण पुकार सुनी कि तत्काल दौड़े! द्रौपदीकी कातर प्रार्थना सुनते ही अकस्मात् श्रीकृष्ण वहाँ प्रकट हो गये। पाण्डवोंके आश्चर्य और आनन्दका पार नहीं रहा।

भगवान्‌ने आते ही द्रौपदीसे कहा—'बहिन! बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको दो।' द्रौपदीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। वह बोली—'भगवन्! खानेको होता तो आपको क्यों पुकारती, मैं जीम चुकी। अब खानेको कहाँ है?' भगवान् हँसकर बोले— 'मुझे वह बरतन तो दिखलाओ।' द्रौपदीने पात्र सामने रख दिया, भगवान्‌ने ढूँढ़कर उसमेंसे एक शाकका पत्ता निकाला और उसे खाकर एक लंबी डकार ली। विश्वात्माका पेट भर जानेसे अखिल विश्वके सारे प्राणियोंकी भूख जाती रही।' भगवान्‌ने कहा— 'सहदेव! जाओ, दुर्वासाको बुला लाओ।'

इधर शिष्योंसहित स्नान करके दुर्वासाजी ज्यों ही नदीसे बाहर निकले कि सबको डकार-पर-डकार आने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि गलेतक पेट भरा हुआ है और अब किसी तरह भी कुछ खाया नहीं

जा सकता। दुर्वासाजीने सोचा कि, 'जान पड़ता है महाराज धर्मराज भी अम्बरीषकी तरह ही भगवद्भक्त हैं, हमने उनके साथ छल करके अच्छा नहीं किया। उस बार तो अम्बरीषकी कृपासे किसी तरह प्राण बच गये थे, अबकी बार न मालूम क्या होगा। उचित है कि यहींसे भाग चलें।' यह सोचकर दुर्वासाजी शिष्योंसहित नदीसे ही भाग गये।

सहदेव नदीपर आकर देखते हैं तो वहाँ कोई भी ऋषि नहीं है, सहदेवने लौटकर यह संवाद धर्मराज और भगवान् श्रीकृष्णको सुनाया। भक्तोंके भगवान्‌ने द्रौपदीकी पुकारपर पाण्डवोंकी रक्षा की!

* * *

(५) केवटकी पार उतराई

माँगी नाव न केवट आना।
कहै तुम्हार मर्म मैं जाना॥
चरन-कमल-रज कहँ सब कहई।
मानुस करनि मूरि कछु अहई॥
छुवत सिला भइ नारि सुहाई।
पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनि घरनी होइ जाई।
बाट परै मोरि नाव उड़ाई॥
यहि प्रतिपालउँ सब परिवारू।
नहि जानउँ कछु और कबारू॥
जो प्रभु अवसि पार गा चहहू।
तौ पदपद्म पखारन कहहू॥

पदपद्म धोइ चढ़ाय नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहिं राम राउर आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहिं लषन पै जब लगि न पाँव पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

सुनि केवटके बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुणा-ऐन, चितै जानकी लषन तन॥

कृपासिन्धु बोले मुसुकाई।
सोइ करहु जेहि नाव न जाई॥
बेग आनि जल पाँव पखारू।
होत बिलम्ब उतारहु पारू॥
जासु नाम सुमिरत इक बारा।
उतरहिं नर भवसिन्धु अपारा॥
सो कृपालु केवटहिं निहोरा।
जेहि किय जग तिहुँ पग ते थोरा॥
पद-नख निरखि देवसरि हरषी।
सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी॥
केवट राम रजायसु पावा।
पानि कठवता भरि लै आवा॥
अति आनंद उमँगि अनुरागा।
चरन-सरोज पखारन लागा॥
बरसि सुमन सुर सकल सिहाहीं।
इहि सम पुण्यपुञ्ज कोउ नाहीं॥

पद पखारि जल पान करि, आपुसहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहिं पुनि, मुदित गयउ लै पार॥
(रामचरितमानस)

* * *

(६) गुह-निषाद और भरत

करत दण्डवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाय।
मनहुँ लषन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाय॥

भेंटे भरत ताहि अति प्रीती।
लोग सिहाहिं प्रेमकी रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला।
सुर सराहिं तेहिं बर्षहिं फूला॥
लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा।
जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता।
मिलत पुलक परिपूरित गाता॥
राम राम कहि जे जमुहाँहीं।
तिनहिं न पापपुंज समुहाँहीं॥
यहि तौ राम लाय उर लीन्हा।
कुल समेत जग पावन कीन्हा॥
कर्मनास जल सुरसरि परई।
तेहिको कहहु सीस नहिं धरई॥

B·K·Mitra

अति आनन्द उमगि अनुरागा । चरण-सरोज पखारन लागा ॥

भरत-गुह-मिलाप

करत दण्डवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ ॥
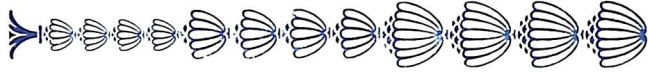
उलटा नाम जपत जग जाना।
बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥

स्वपच सबर खल यवन जड़, पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥

नहिं अचरज जुग जुग चलि आई।
केहि न दीन रघुबीर बड़ाई॥
राम नाम महिमा सुर कहहीं।
सुनि सुनि अवध लोग सुख लहहीं॥
राम सखहिं मिलि भरत सप्रेमा।
पूछहिं कुसल सुमङ्गल छेमा॥
देखि भरतकर सील सनेहू।
भा निषाद तेहि समय विदेहू॥
सकुच सनेह मोद मन बाढ़ा।
भरतहिं चितवत इकटक ठाढ़ा॥
धरि धीरज पद बन्दि बहोरी।
बिनय सप्रेम करत कर जोरी॥
कुसल मूल पदपङ्कज देखी।
मैं तिहुँ काल कुसल निजलेखी॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे।
सहित कोटि कुल मङ्गल मोरे॥

समुझि मोरि करतूति कुल, प्रभु महिमा जिय जोइ।
जो न भजै रघुबीर पद, जग विधि बंचित सोइ॥
(रामचरितमानस)

❀ ❀ ❀ ❀

(७) भक्त विदुरजी और उनकी धर्मपत्नी

ये दोनों ही स्त्री-पुरुष भगवान्‌के परम भक्त थे। विदुर बड़े ही साधु और स्पष्टवादी पुरुष थे। दुर्योधन इनकी स्पष्टवादितापर सदा ही नाराज रहता। विदुरजीका धृतराष्ट्रपर बहुत प्रेम था इसीसे वे समय-समयपर दुर्योधनके द्वारा अपमान सहकर भी वहाँ रहते थे। इनके लिये कौरव-पाण्डव दोनों ही समान थे पर धर्मके मार्गपर स्थित होनेके कारण पाण्डव इनको विशेष प्रिय थे, ये सदा पाण्डवोंकी मंगलकामना किया करते। श्रीकृष्णके तो ये परम भक्त थे, जब भगवान् दूत बनकर हस्तिनापुर गये तब दुर्योधनके प्रेमरहित महान् स्वागत-सत्कारका परित्यागकर उन्होंने इन्हींके घर ठहरकर इनके घरकी रूखी-सूखी शाकभाजी खायी थी। कहा जाता है कि जिस समय भगवान् दुर्योधनके यहाँसे भूखे लौटकर विदुरके घर पहुँचे, उस समय विदुरपत्नी घरके अन्दर नहा रही थी, विदुर घरपर थे नहीं, परिग्रहके अभावसे या कंगालीसे विदुरके घर वस्त्रोंका अभाव था, अतएव वह नंगी नहा रही थी, दरवाजेपरसे भगवान्‌की आवाज सुनकर सुध-बुध भूल गयी और नंगी ही किवाड़ खोलनेको दौड़ी आयी। भगवान्‌ने उसकी प्रेमोन्मत्त अवस्था समझकर अपना पीताम्बर उसके शरीरपर डाल दिया, जिसको उसने शरीरपर लपेट लिया। तदनन्तर वह भगवान्‌को खिलानेके लिये केले लेकर उनके पास बैठ गयी। प्रेम और प्रसन्नतामें मतवाली हुई विदुरपत्नी केले छील-छीलकर उसका सार तो फेंकने लगी और छिलके भगवान्‌को देने लगी भगवान्‌की तो प्रतिज्ञा ही ठहरी—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

भगवान् बड़े प्रेमसे छिलके खाने लगे। इतनेमें विदुरजी आ गये। उन्होंने यह व्यवस्था देखकर पत्नीको डाँटा तब उसे चेत हुआ और वह पश्चात्ताप करनेके साथ ही अपने मनकी सरलतासे कृष्णको उलाहना देने लगी—

छिलका दीन्हें श्याम कहँ, भूली तन-मन-ज्ञान।
खायेपै क्यों आपने, भूलि गये क्यों भान॥

भगवान् इस सरल वाणीपर हँस दिये। अब विदुरजी भगवान्‌को केलेका सार खिलाने लगे। भगवान्‌ने कहा—'विदुरजी! आपने केले तो मुझे

बड़ी सावधानीसे खिलाये पर न मालूम क्यों इनमें छिलके-जैसा स्वाद नहीं आया ?'

महाभारत समाप्त होनेके कुछ वर्ष बाद विदुरजी धृतराष्ट्र और गान्धारीको तपके लिये वनमें ले गये थे। कुन्ती भी इन्हींके साथ गयी थी। अन्तमें विदुरजीने भगवान्‌में अनन्य भावसे चित्त लगाकर वनमें योगबलसे अपनी इन्द्रियाँ और प्राणोंको शरीरसे निकालकर धर्ममें मिला दिया और उनका शरीर मृतवत् पृथ्वीपर गिर पड़ा।

—घनश्यामदास

अनल-हक

भक्त मन्सूरको सूली

(लेखक—श्रीहीरालाल अग्रवाल, बेगूसराय)

चढ़िकै मैन तुरंगपर, चलिबो पावक माँहि। प्रेम पन्थ ऐसो कठिन, सब कोउ चालत नाँहि॥

मन्सूर वेदान्तके माननेवाले एक धर्मप्रेमी आस्तिक पुरुष थे। लोग इन्हें सूफी (वेदान्ती) मन्सूरके नामसे पुकारते थे। इनकी बहिनका नाम था अनल! वह पवित्रात्मा, आत्मशोधनमें तत्पर थी। इससे वह दिन-रात धर्मचर्चा करने और आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अवलोकनमें अपना समय बिताने लगी। एक समय दैवगतिसे उसे ऐसा वचन लिखा हुआ मिला कि 'यदि तू मुझे चाहती है तो मेरे बन्दों (भक्तों) का संग कर।' कहना नहीं होगा कि अनल उसी घड़ीसे खुदाके बन्देकी खोजमें लग गयी!

सच्चे जिज्ञासुको मार्गदर्शक महात्मा मिल ही जाते हैं, 'जहाँ चाह है वहीं राह है' इसीके अनुसार कुछ दिनों बाद वहाँ एक 'हक' नामक तत्त्वज्ञानी महात्मा पधारे। इस खुदाके बन्देकी खबर पाते ही अनल उनके पास पहुँची और उनसे आत्मज्ञानका उपदेश और तत्त्व प्राप्त कर 'अनलहक' (अहं ब्रह्मास्मि) का नारा बुलन्द करने लगी। वह उठते-बैठते, चलते-फिरते, हरदम 'अनलहक' की रटन करने लगी। लोग उसे पागल समझते थे। परमात्माके प्रेमियोंको सदा ही जगत्‌की दृष्टिमें पागल बनना पड़ता है पर वे इस बातकी कोई परवा नहीं किया करते। इसीके अनुसार परमात्माके स्वरूपमें मस्त अनल भी इन बातोंपर कुछ ध्यान नहीं देती। कभी-कभी लोगोंके अज्ञानपर हँस जरूर देती थी।

मुसलमानी धर्ममें अपनेको खुदा कहना भारी गुनाह समझा जाता है और ऐसे काफिरोंको कठोर-से-कठोर प्राणदण्ड देनेकी आज्ञा है। धीरे-धीरे यह बात बादशाहके कानोंतक पहुँची, लोगोंने शिकायत की कि सूफी मन्सूरकी बहन काफिर हो गयी है और 'अनल-हक' की पुकारसे शहरमें गन्दी हवा फैला रही है।' बादशाहको बड़ा क्रोध हुआ और उसने मन्सूरको बुलाकर खूब डाँटा तथा यह आज्ञा दी कि 'वह जाकर अपनी बहनको तुरन्त समझा दे, नहीं तो उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।' मन्सूर अपनी बहनके पास 'हक' के डेरेपर गया और उसे बादशाहकी आज्ञा सुना दी। मन्सूरने यह भी कहा कि बादशाह 'हक' को भी सजा देंगे। परन्तु इसमें अनल या हकके विचारोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, उलटा हकके उपदेशसे मन्सूर भी इस पन्थमें आ गये और वह भी अनलहक पुकारने लगे। यह समाचार जब बादशाहको मिला तो उसका क्रोध और बढ़ा, बादशाहकी आज्ञासे कई आदमी मन्सूरको पकड़नेके लिये गये,

पर यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ जो गया, उसी पर 'अनलहक' का भूत सवार हो गया। अब तो बादशाहके क्रोधका पार न रहा और अन्तमें उसने किसी तरह मन्सूरको पकड़ मँगवाया।

बादशाहने लोगोंसे कहा कि 'सब कोई मन्सूरके एक एक जूता लगावे।' हुक्मकी देर थी, मन्सूरपर जूते बरसने लगे। जगत्के लोग भक्तोंके प्रति उनके जीवनकालमें इसी प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट किया करते हैं। जूते बरसनेपर भी मन्सूरका मुखमण्डल विषादहीन मन्द मन्द हँसीसे शोभित हो रहा था। ज्यों-ज्यों जूते पड़ने लगे त्यों-ही-त्यों मन्सूरका आनन्द बढ़ने लगा और वह नाचने लगे। लोग मन्सूरकी इस बेहयाई और बेवकूफीपर हँसते थे, उन लोगोंको पता नहीं था, यह बेहयाई--बेवकूफी नहीं पर एक अनोखी मस्ती है। इसी अवसर पर किसीने मन्सूरपर फूल बरसाये, फूलोंकी मारसे मन्सूरकी मस्ती टूट गयी और वे रोने लगे। सच्चे भक्त अपमानमें खुश और मानमें नाराज हुआ ही करते हैं। इस बातको देखकर बादशाह और दर्शकोंको बड़ा अचम्भा हुआ। बादशाहने इसका कारण पूछा तब मन्सूरने बड़ी मस्तीसे गाया—

अगर है शौक मिलनेका तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाईको भसम तन पर रमाता जा॥
पकड़कर इश्कका झाड़ू सफ़ा कर हिज्रए दिलको।
दुईकी धूलको लेकर मुसल्ले पर उड़ाता जा॥
मुसल्ला फाड़ तसबी तोड़ किताबें डाल पानीमें।
पकड़ दस्त तू फिरश्तोंका गुलाम उनका कहाता जा॥
न मर भूखा न रख रोज़ा न जा मस्जिद न कर सिजदा।
वज़ूका तोड़ दे कूजा शराबे शौक पीता जा॥
न हो मुल्ला न बन बम्हन दुईकी छोड़ कर पूजा।
हुक्म है शाह कलन्दरका "अनलहक" तू कहाता जा॥
हमेशा खा हमेशा पी न गफलतसे रहो इक दम।
नशेमें सैर कर अपनी खुदीको तू जलाता जा॥
कहे मन्सूर मस्ताना हक मैंने दिलमें पहचाना।
वही मस्तोंका मयखाना उसीके बीच आता जा॥

इस गजलने उस दुनियाँदार बादशाहकी क्रोधाग्निमें घी की आहुतिका काम किया। उसने हुक्म दिया कि "अभी सबके सामने काफिर मन्सूर सूली पर चढ़ाया जाय।" जल्लादोंने तुरन्त हुक्म अदा किया—सूफी मन्सूरका शव पृथ्वीपर गिरते ही उसने दर्शकोंके अन्दर बिजलीकी सी सनसनी पैदा कर दी!

लोगोंने सुना कि मन्सूरके रोम रोमसे 'अनलहक' की आवाज आ रही है, बादशाह तो इससे आग-बबूला हो गया, उसने हुक्म दिया कि मन्सूरकी लाश जलाकर तुरन्त उसकी खाक मिट्टीमें मिला दो। मन्सूरके मृत शरीरपर लकड़ियाँ रखकर आग लगा दी गयी। बात-की-बातमें वहाँ राखका ढेर हो गया, पर जब उस राखमेंसे भी 'अनलहक' की ध्वनि सुनायी दी तब तो बादशाह तथा लोगोंके आश्चर्यका कोई पार नहीं रहा।

अन्तमें राख इकट्ठी करके समुद्रमें फेंक दी गयी किन्तु लोगोंको चकित, स्तंभित और भयभीत करती हुई समुद्रकी प्रत्येक तरंगमेंसे भी ध्वनि सुनायी दी 'अनलहक' अनलहक! जिस ध्वनिका अनादि कालसे अबतक कभी विराम नहीं हुआ और जो कभी होगा भी नहीं, जो ध्रुव सत्य है, उसका अभाव कोई कैसे कर सकता है?

अब बादशाहकी आखें खुलीं, उसके अज्ञानका पर्दा हट गया और वह नतमस्तक हो अनल तथा हकके चरणोंपर गिरकर मन्सूरके प्रति किये गये अमानुषिक अत्याचारके लिये उनसे बारम्बार क्षमा प्रार्थना करने लगा! और अन्तमें हकका शिष्यत्व स्वीकारकर वह भी 'अनलहक' की ध्वनिमें मत्त हो गया।

प्रेम और कल्याणका मार्ग

(लेखक—पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, मैनेजिंग-एडीटर 'माधुरी')

'अंजुम' तुम्हें उल्फ़त अभी करना नहीं आता ;
हर एक पै मरते हो, पै मरना नहीं आता । 'अंजुम'

श्रद्धा, त्याग, स्थिरता और सहनशीलतासे रहित प्रेमको आवेश, क्षणिक मोह, अन्धापन और स्वार्थपरताका ही नाम देना चाहिये । वह तो शराबकी उस मादकताकी भाँति है जिसके उठानमें कुछ जोश-खरोश और जिसके उतारमें शिथिलता एवं घृणाका संमिश्रण है । फलतः प्रेमकी दुहाई देनेपर भी वास्तविक प्रेमके एक अणुमात्रका भी आनन्द नहीं मिलता । मृगतृष्णा जैसा लोभ दिखायी देता है । प्रेम (इश्क़) का नाम बेकारमें ही बदनाम होता है । उन्मादको प्रेम कहा जाता है । उसीके आवेशमें अनिश्चित पथपर द्रुतगतिसे दौड़ लग रही है । ठोकरों-पर-ठोकरें लगती हैं, लेकिन क्या मजाल कि आँख खोलकर चलें । अपने रक्तसे अपनी पिपासा शान्त की जाती है परन्तु, बुद्धिका क्या साहस कि उनके पासतक फटक सके । शिक्षाओंका कोड़े-पर-कोड़ा लग रहा है किन्तु, चित्त अभी कोरा-का-कोरा ही बना है । प्रेम (इश्क़) का ऐसा दुरुपयोग हुआ है कि, लोग 'इश्क़' शब्द तकको पापमय समझने लगे हैं । प्रेममय ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ विभूतिकी यह क़द्रदानी की गयी है और उसपर भी मनुष्य अपना कल्याण चाहता है ! शोक !

* * * *

दर्दे-उल्फ़त आदमीके वास्ते अकसीर है ;
ख़ाकके पुतले इसी जौहरसे इंसाँ होगये ।
'चकबस्त'

प्रेमके प्रभावसे संसारका आविर्भाव हुआ है । पृथ्वीका प्रत्येक ज़र्रा प्रेमसे परिपूर्ण है । प्रेममें इतना आकर्षण, इतनी पवित्र मादकता है कि, स्वयं प्रेमके उत्पन्न करनेवाले—ईश्वर भी—उसके बेदामके गुलाम हैं । प्रेमको यदि ऐसी उच्च प्रतिष्ठा मिली तो सर्वथा उपयुक्त ही है । दयामय भगवान्‌ने अपनी सर्वोत्तम कारीगरीकी वस्तु मनुष्यको प्रेमकी पर्याप्त मात्रा देनेकी कृपा की । उसके सदुपयोगका मार्ग बतला दिया और यहाँतक ज्ञान करा दिया कि—प्रेमके द्वारा यह स्वयं ब्रह्म हो सकता है । संसारमें प्रत्येक धर्मके माननीय ग्रन्थ इस बातकी पुष्टि करते हैं । मानव-शरीर द्वारा ही यह साधना हो सकती है । ऐसा सुयोग पाकर भी जो लाभ नहीं उठाते उन्हें क्या कहा जावे ? समझमें नहीं आता !

* * * *

बुतपरस्तीमें है 'नासत' हक़्क़-परस्तीका ख़याल ;
देखते हैं हर सनममें हम ख़ुदाके नूरको ।
'नासत'

'क़लक़' मिलता है लुत्फ़े हक़-परस्ती बुत-परस्तीमें ;
नहीं इश्क़े-मजाज़ी काम हरएक बे-हक़ीक़तका ।
'क़लक़'

संसारसे प्रेम करना बुरा नहीं है । लेकिन, उसमें एक शर्त है कि दृष्टिकोण एक सिद्धान्तपर स्थिर करके निःस्वार्थ बना लिया जावे । अपनी भावना और अपने विचार प्रकृतिके कल्याण एवं नियम-पालनमें अन्तर्हित कर दिये जावें । लक्ष्य तो यही रहे जो ऊँचेसे ऊँचा है, परन्तु एक दम सतमंजिलेपर ही पहुँच जावें—ऐसा साधन न करना चाहिये । क्योंकि, यह खतरनाक और दुर्गम है । क़दम-क़दम बढ़ते चलिये, स्त्रीसे भी स्नेह कीजिये, पुत्रोंको भी प्यार कीजिये । किन्तु उनमें आसक्ति न आने दीजिये । पार्थिव सौन्दर्यको देखकर उसके रचयिताकी सुन्दरताकी कल्पना

कीजिये। मूर्तिपूजन करते-करते चित्तको समाधिस्थ कीजिये और उसके बाद निराकारकी कल्पनाका आनन्द उठाइये। मूर्तिपूजन (बुतपरस्ती) को ही जो आदि और अन्त समझ बैठते हैं उन्हें परमानन्द-प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। अन्तरात्मा आपको इस कार्यमें सहायता देगी, शर्त यह कि, उसकी आज्ञा पालन की जावे, उसे तिरस्कृत न किया जावे, फिर देखिये इस सांसारिक प्रेमसे ईश्वरप्रेमकी प्राप्ति कैसे नहीं होती ? प्रेम वही है जिसमें सदा आनन्द-ही-आनन्द मिले। मन, आत्मा, देह और प्रत्येक अंगमें स्फूर्ति पैदा हो। प्रेममें घटनेकी गुंजाइश नहीं। आज एक बूँद है, कल दरिया बन जावे और परसों अथाह महासागरके रूपमें परिणत हो सकता है।

इश्क़में तासीर है, पर जज़्बए-दिल चाहिये।

*　　*　　*　　*

हर आनमें, हर बातमें, हर ढंगमें पहचान,
आशिक़ है तो दिलबरको हरएक रंगमें पहचान।

' नज़ीर '

प्रेम स्वाभाविक है। प्रेम न होता तो दुनियाँ भी न होती। प्रेम और सुन्दरताका चोली-दामनका साथ है। संसारके पुष्प, पेड़, नदियाँ और पहाड़ अपने रूप और गुणको दूसरोंकी हित-कामनाके लिये अर्पण करते हैं। चन्द्र, सूर्य तथा तारागण अपनी ज्योति देकर दूसरोंकी प्रेम-साधनामें भाग लेते हैं, परन्तु प्रतिदानमें कुछ नहीं चाहते। भगवान् ही जाने वे कितने सुन्दर, कितने प्रेममय होंगे, जिनकी रचना-की प्रत्येक वस्तु देखते-देखते लालची लोचन थकते नहीं। मनुष्य तो सबसे सुन्दर वस्तुसे प्रेम करना चाहता है, लासानी हसीनपर ही न्योछावर होना चाहता है। फिर भला उनसे अधिक सुन्दर और कौन होगा ? जब यह बात है, तो उसी सौन्दर्य और प्रेमसे लगन क्यों न लगायी जावे, जिसमें न नष्ट होनेकी आशंका, न कम होनेकी गुंजाइश, न मौतका डर, न दुःखोंकी सम्भावना और न क्षणभङ्गुरताका प्रवेश ! स्वार्थमय लिप्साकी तृप्तिद्वारा अपनी दीन-दुनियाँ क्यों मिटायी जावे ?

*　　*　　*　　*

जाता है आँखें बन्द किए ज़ौक़ तू कहाँ ?
यह राह-कुए-पार है, राहे-अदम नहीं।

' ज़ौक़ '

जब उनके प्रेममें हानि और कष्टकी गुंजाइश ही नहीं है तब दुनियावी जंजालोंमें फँसना सबसे बड़ी मूर्खता और नादानी होगी। यद्यपि यह रास्ता कठिन ज़रूर है, परन्तु साहसी और समझदारके लिये क्रमशः सरल होता जाता है। जिसकी हियेकी फूट गयी हों उसकी तो बात ही दूसरी, अन्यथा इस मार्गमें पैर रखते ही उस आनन्दकी प्राप्ति होने लगती है कि जिसमें दुनियाँके दूसरे सुख हेय प्रतीत होने लगते हैं। अन्तर्चक्षुओंके खुल जानेपर सच्चे मार्गका ज्ञान होने लगता है और यह भूलभुलैयावाले मार्ग भ्रामक और निस्सार प्रतीत होते हैं। विद्या-बुद्धिका सहारा सच्चा पथ-प्रदर्शक है। यहाँकी असलियत जान लेनेपर विरक्त भावका उदय होने लगता है। हृदय कहने लगता है कि 'अबतक जिस मार्गपर तू अग्रसर हो रहा था वह गलत है।'

हमेशा क्यों तेरी आँखोंसे अश्क जारी हैं ;
ज़फ़र हमें भी ज़रा थे तो माजरा समझा।
मेरे दमतक है तेरा ऐ दिले-बीमार इलाज ;
कोई करनेका नहीं तेरी दवा मेरे बाद।

' ज़फ़र '

विरक्तिका भाव अधिकतर संसारी चोटें पड़नेपर उत्पन्न होता है। मनुष्य सुख-शान्ति और प्रेमके लिये दौड़ता तो ज़रूर है, परन्तु सच्चे मार्गका ज्ञान न होनेसे उसे अशान्ति, क्लेश और दारुण वेदनाएँ ही मिलती हैं। इन दुःखोंसे आहत होकर मानव हृदय रुदनका सहारा लेता है। किन्तु, अरण्यरोदनसे क्या

लाभ ? रोनेसे हृदयाग्नि वास्तवमें शान्त नहीं होती। ये आँसू घृताहुतिका काम देते हैं। लगी हुईको और भड़का देते हैं। चिनगारीको शोला, राईको पर्वत एवं तिलको ताड़ बना देते हैं। इसलिये, अश्रुबिन्दुओंको रोककर जले हुए दिलकी दवा करना चाहिये। अनुभवी सद्वैद्य विवेकका मरहम देकर उस घावको शिफ़ा दे सकता है। बेख़बर होकर अस्तित्व मिटा-देनेमें कुछ हाथ नहीं लगता। क्योंकि, यह शरीर ही सारी साधनाओंकी जड़ है। जब इसीका पता नहीं रहेगा तो—'किसीसे मिलना और प्रेम करना कैसा ?'

* * * *

औव्वले इश्क़हीमें 'मीर'जी तुम रोने लगे ;
ख़ाक अभी मुँहको मलो, नालओ-फ़रियाद करो।

'मीर'

संसारी प्रेम लिप्सामें तो रोने और हाथ मलनेके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु हाथ नहीं लगती। इतना ही क्यों, इससे भी अधिक दारुण वेदना मिलती है—अपने स्वरूप और अस्तित्वके मिट जानेमें। रोना पहली अवस्था और वेसूद मिट जाना अन्तिम अवस्था है। इस रोने-धोनेसे कुछ हासिल नहीं होता। हाँ, इस रोनेके कारणोंपर विचार करनेसे अवश्य लाभ होता है। इन वेदनाओंकी तहमें एक सुख छिपा हुआ है, इस वियोगमें मिलनकी एक आशा अन्तर्हित है। इस बेक़रारीमें शान्तिकी एक शीतल किरण संमिश्रित है। धैर्यके साथ सोचो, खोज करो, 'कुछ-न-कुछ सहारा हाथ लग ही जावेगा।'

* * * *

बेरंग, बहर रंग, हर एक शानमें आया ;
जब चश्म खुली दिलकी तो पहचानमें आया।
अपने ही तमाशेको गुलिस्तानमें आया ;
मज़कूर यही आयते-क़ुरआनमें आया।
जिस वक्त कि वह सूरते-इंसानमें आया ;
हर रागमें बोला वो हरएक तानमें आया।

'नज़ीर'

दुनियाँसे विरक्तिप्राप्तिके लिये आत्मज्ञानकी आवश्यकता है। घोर दुःखोंमें बहते हुए मानवजीवनको यही सहारा देता है। इसीके अन्वेषण और विचारका प्रयत्न सच्चा प्रयत्न है। माया और मायारूप संसारमें कोई अन्तर नहीं। मोह और उससे उत्पन्न आवेशमें कोई फ़र्क़ नहीं। मौतका अर्थ है कि संसार मिथ्या है। मनुष्य ईश्वरका अंश है। वह अपनी शक्तिको उन्नत करके अखण्ड प्रेमका रूप धारण कर सकता है। वह इतना सुन्दर हो सकता है कि, दुनियाँ और दुनियाँका निर्माता दोनों उसपर रीझ जावें। आत्माने कहा 'साहसी होकर प्रयत्न करो।'

* * * *

खाई है क़सम हमने कि परहेज़ करेंगे ;
गर दर्दसे भर जाए तबीअत तो मज़ा है।
'मोमिन' न सही बोसा, पासिज्दह करेंगे ;
वो बुत है जो औरोंका तो अपना भी ख़ुदा है।

'मोमिन'

आत्मज्ञान और विरागका प्रादुर्भाव पूर्वजन्मके सञ्चित सत्कर्मोंका सुफल है। उसमें विशुद्ध प्रेम, क्षमा, दया, सरलता और ख़ुदमस्तीका संमिश्रण होता है। झूठे घरकी जगह प्रार्थना हृदयमें घर करने लगती है। दिलमें एक मीठा दर्द पैदा हो जाता है। किसी अज्ञात शक्तिका आकर्षण अपनी ओरको खींचने लगता है। इन्द्रियजनित सुख विषतुल्य प्रतीत होते हैं। उनकी ओरसे एक घृणाका सञ्चार रक्तकी प्रत्येक नाड़ीमें उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार एक तात्त्विक-मार्गका निर्धारण होकर मनुष्य साहसी बन जाता है। आत्मा कहने लगती है—'इसी मार्गपर अग्रसर होनेमें मानवजीवनकी सार्थकता है।'

* * * *

आँख है वो आंख जो महवे बहारे-हुस्न हो ;
दिल है वो दिल जो किसीके ग़ममें दीवाना रहे।

'अख़्तर'

उपरोक्त वर्णित आकर्षणशक्तिको धीरे-धीरे अपनी ओर बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इन्द्रियोंको संयमके सूत्रमें बाँध देना चाहिये। दिलका रुझान इधरसे हटाकर उधर कर देना चाहिये। मायाके रंगीन चश्मेको उतारकर फेंक देना पड़ेगा। बेवफ़ाओंसे वफ़ाकी उम्मीद छोड़ देनी पड़ेगी। आँख और दिलपर ईश्वरीय प्रेमका कड़ा पहरा बिठा देना होगा। इतना होनेपर यह दिखायी देगा कि--'तुम्हारे दर्दे-दिलका इलाज तुम्हारे पास ही मौजूद है।'

*   *   *   *

अपने ऐबोंपर नज़र कर अपने दिलको पाक कर,
क्या हुआ गर ख़ल्क़में तू पारसा मशहूर है।

'रंगी'

उस अलौकिक प्रेम और कल्याणमार्गकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधनाएँ दी गयी हैं। उनका वर्णन करनेके लिये योग्यता, अनुभवकी आवश्यकता है। अपनेमें इनकी कमी देखकर, केवल दैनिक और चलतू साधनोंका ही दिग्दर्शन कराया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी दिनचर्याको नियमित तथा सुसंस्कृत कर लेनेपर इस मार्गमें अग्रसर होनेके हेतुमें बड़ी भारी सहायता मिलती है। अपने दुर्गुणोंको दूर करनेकी चेष्टा, हृदयकी पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थयात्रा है। 'दुनियाँके दिखावेके वास्ते किसी भी कामको करना निरर्थक है।'

*   *   *   *

अपनेको इतना मिटा कि तू न रहे;
और तुझमें दुईकी बू न रहे।

हाफ़िज़ा गर वस्ल ख़्वाही, सुलहकुन बा-ख़ासोआम;
बा-मुसल्माँ अल्ला अल्ला, बा-बरहमन राम राम।

'अज्ञात'

हृदयके विचारोंका परिवर्तन, आँखोंकी चितवनका परिवर्तन—दोनोंने हृदयके असली रंगको दुबाला कर दिया। कोई भेद-भाव, घृणा या तिरस्कार जीमें नहीं रहे। अन्दाज़े इश्ककी रवानीने एक नया रास्ता इख़्तियार कर लिया। अपने-बेगानेकी भावना मिटने लगी। एक धुँधली सफलता-रेखाका दिग्दर्शन होने लगा। उत्सुकता उसके देखनेके लिये जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाने लगी। 'दुनियाँमें सब अपने हैं—न कोई अपना है, न बेगाना है।'

*   *   *   *

न कुछ हम हँसके सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं;
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं, किसीके होके सीखे हैं।

'अज़ीज़'

यारसे छेड़ चली जाए असद;
गर नहीं वस्ल, अदावत ही सही।

'गालिब'

चारों ओरसे चित्तवृत्तियोंको हटाकर एक ओर लगा देना चाहिये। एकके हो जाना चाहिये। एकहीसे प्रेम करना चाहिये। क्योंकि दिल एक ही है, एक ही प्रेमीको दिया जा सकता है! देकर फिर वापस लेनेकी इच्छा करना विश्वासघात है। उसी एकसे लगन और उसीका चिन्तवन। रोकर, रीझकर, हँसकर, खीझकर, किसी तरह भी याद करो। दोस्तीसे या दुश्मनीसे कैसे भी प्रेम करो। उसका फल मीठा ही मिलेगा।

तुलसी अपने रामको रीझ भजौ या खीज,
उल्टो-सीधो जामिहै खेत परेपै बीज।

उनको भूलो नहीं, लगनमें कमी न आने दो, अविश्वासको पास न फटकने दो। सफलता-असफलतापर विचार न करो।

कमाल इश्क है ऐ दाग़, महव हो जाना;
हमें ख़बर नहीं नफ़ा क्या ज़रर कैसा!

'दाग़'

उस समय दुनियवी समालोचनाओंको परवा न होगी। आकाश-तारे उसके साक्षी होंगे, रात्रिका अन्धकार उसका गवाह होगा और पृथ्वीका प्रत्येक कण उस प्रगतिका बयान देगा। 'उस समय तुम उनके होगे, वे तुम्हारे होंगे।'

मिटा दर्मियाँसे ख़ुदीका जो पर्दा,
हम उनके हुए, वो हमारे हुए हैं।

'अज्ञात'

* * * *

हम तुझसे किस हविसकी फ़लक जूस्तजू करें,
दिल ही नहीं रहा है, जो कुछ आरज़ू करें।

'अज्ञात'

ऐ सनम, पैदा करे जो तेरी दिलमें आरज़ू;
फिर न उसके लबसे हर्फ़े आरज़ू निकला करे।

'ज़ौक़'

हृदयसे इच्छाओंको निकालकर फेंक देनेसे सारी मुश्किलें आसान हो जाती हैं। जबतक वासनाओंके बवंडर उठते रहेंगे, तबतक शान्तिका प्राप्त होना असम्भव है। शान्ति बिना सुख कहाँ, स्थिरता कहाँ? इसलिये, इच्छाओंको तिलाञ्जलि देना भी मुख्य कार्य है। ईश्वरसे निःस्वार्थ प्रेम करना चाहिये। आकांक्षा लेकर नहीं। 'अन्यथा आवागमन, जन्म-मरणका महान् दुःख कभी तेरा पिंड न छोड़ेगा।'

* * * *

दुनियाँसे मैं अगर दिले-मुज़तरको तोड़ दूँ,
सारे तिलिस्म, वहम-मुक़द्दरको तोड़ दूँ।
अहसान नाख़ुदाके उठाए मेरी बला;
किश्ती ख़ुदा पै छोड़ दूँ, लंगरको तोड़ दूँ।

'ज़ौक़'

केवल अपने उसी महान् प्रेमीका भरोसा करते हुए, संसारकी सहायताका आसरा छोड़ देना चाहिये। जो अपनी सहायता आप नहीं कर सकता, उसकी सहायता परमेश्वर भी करनेके लिये तैयार नहीं। मन बड़ा प्रबल है, इसकी गति और वेग वायुकी भाँति है। अगर इसका नाता दुनियाँसे टूट जाय तो आधी जीत हो गयी। जगत्‌से हटाकर इस मनको उनके चरणारविन्दोंमें लगा दो। फिर उनके प्रेमका मज़ा देखो। उनके प्रेममें अजीब मज़ा, अनोखी मस्ती है। संसारकी विभूति चरणोंपर लोटती है। जितना दुतकारो उतनी ही पास दौड़ती है। ऋद्धि-सिद्धि हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। 'लेकिन उनमें फँसनेकी इच्छा भी न करना।'

भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम,
अब जो नफ़रत हमने की तो बेकरार आनेको है।

'अज्ञात'

* * * *

आशिक़ जहाँ में दौलतो अक़बाल क्या करे?
मुल्को, मकान, तेग़, तबर, ढाल क्या करे?
जिसका लगा हो दिल वो ज़रोमाल क्या करे?
दीवाना चाहे हशमतो अजलाल क्या करे?
बेहाल हो रहा हो सो वो हाल क्या करे?
गाहक ही कुछ न लेवे तो दल्लाल क्या करे?

'नज़ीर'

उस प्रेमके कल्याणमार्गमें अग्रसर होनेके लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। उनके प्रसन्न करनेके लिये किसी नज़र-निमाज़की ज़रूरत नहीं। न शानशौक़त उनको खुश कर सकती है और न कोई चालबाज़ी कामयाब हो सकती है। उनकी प्रीति-प्राप्तिके हेतु केवल निश्चल, आकांक्षारहित प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है।

रीझत राम सनेह निसोते-'तुलसीदास महाराज'

'इसलिये, विशुद्ध प्रेम करना सीखो। तभी उनतक पहुँच हो सकेगी।'

* * * *

बंदगी और हक़-परस्ती कुछ न होना है नियाज़,
कुछ न होनेके सिवा और हक़-परस्ती कुछ नहीं।
यह जो कुछ होना हवाना जिसको कहते हैं मियाँ,
फ़क़्र म पस्ती यही है और पस्ती कुछ नहीं।

'नियाज़'

विशुद्ध प्रेमके उत्पन्न होनेपर मनुष्य अपना आपा भूल जाता है। वह एक ऐसे स्थानपर पहुँच जाता है जहाँ सुख-दुःख कुछ भी नहीं है। उस

अवस्थाके वर्णन करनेके लिये शब्दोंमें शक्ति नहीं। ज़ुबानमें ताक़त नहीं। उसका मज़ा तो दिल ही जानता है। कहा नहीं जा सकता—क्योंकि—

गिरा अनयन, नयन बिनु बानी। 'तुलसीदास महाराज'

उस अवस्थामें अपनेहीमें सब कुछ देखता, सब कुछ पाता है। अपनेसे परे कुछ भी नहीं रहता, 'इसीका नाम मोक्ष है। इसीको परमपदकी प्राप्ति कहते हैं। इसीको कल्याणका मार्ग कहते हैं। यही सच्चे प्रेमीकी पहचान है।'

* * * *

क़ासिद नहीं ये काम तेरा, अपनी राह ले,
उसका पयाम दिलके सिवा कौन ला सके। 'अज्ञात'

नीरव रजनीके घनघोर अन्धकारमें चपलाकी एक उज्ज्वल रेखा! वायुके शीतल झकोरोंमें हृदय उत्फुल्लित करनेका एक मीठा आलिंगन! सन्तप्त मानसमें आशाकी एक नवीन झलक! वियोगी दावानलको शान्त करनेके लिये अज्ञान सम्मिलनकी एक स्फूर्ति! अन्तस्तलके मुकुरमें अज्ञात प्रेमीकी एक महिमामयी बाँकी झाँकी! पागलका प्रलाप! वहशीकी कामना! बेदिलका दर्द! बेपहलूकी हसरत! ईश्वरकी माया ईश्वर ही जाने! लौह लेखनीमें शक्ति नहीं!! अस्तु!!!

गर उम्र भर मैं इसको लिखूँ तो भी क्या लिखूँ?
बेइंतिहा है वो तो ग़रज़ ता कुजा लिखूँ? 'नज़ीर'

रुद्रावतार भगवान् मारुति

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०)

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥
मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥

बन्दउँ पवनकुमार खल-बन-पावक ग्यान-घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धरि॥

मंगल-मूर्ति भगवान् मारुतिका सुयश उसी तरह अपार है जिस तरह उनके परमाराध्य देव भगवान् रामचन्द्रजीका। फिर न तो किसी मासिक पत्रमें इतनी समाई हो सकती है और न लेखनीमें इतनी शक्ति कि अपार-सागरके एक सीकराणुकी भी अभिव्यक्ति कर सके।

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

(शिवमहिम्नःस्तोत्र ३२)

फिर भी—

बुध बरनहिं हरि* जस अस जानी।
करन† पुनीत सफल निज बानी॥

इसीलिये—

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे।
तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरे॥

साकेतलोकीय नित्य चतुर्व्यूहमें अनन्त अखिल ब्रह्माण्डकी रचना रक्षा और संहाररूपी लीलात्रयीके खेलाड़ी जब-जब, जहाँ-जहाँ रचनाविभूतिमें ब्रह्मा होते हैं, तब-तब वहाँ ही विनाश-विभूति भगवान् रुद्रके रूपमें ब्रह्माके पुत्ररूपसे अवतरित होते हैं। भगवान्‌की हँसी मायाका विस्तार और सृष्टिका प्रसार है। भगवान्‌की रुलाई मायाका निस्तार और सर्गका संहार है। दोनों क्रियाओंके बीच शुचिस्मितरूप सर्गकी रक्षा है। सर्गादिमें तीनोंका साम्य-संघात आवश्यक है। जब ब्रह्माके मानसपुत्र जो केवल सृष्टिके लिये उत्पन्न हुए थे, सर्ग-कर्ममें सक्षम नहीं होते, तब क्रुद्ध हो भगवान् विरञ्चि रुद्रकी उत्पत्ति करते हैं। भगवान् रुद्र रोते हुए प्रकट होते हैं। इसीलिये उनका नाम रुद्र पड़ता है। विनाशकी नींव पड़ जाती है। वह एक-से ग्यारह विग्रह हो जाते हैं। यद्यपि दिव्यरूप और दिव्यशरीर ग्यारह हैं, तथापि एक ही हैं। यह मायानाथकी माया है, कल्पना-

* हरि=(१) भगवान् रामचन्द्रजी (२) भगवान् मारुतिजी। † करन=(१) करना (२) कान।

तीत है, परन्तु नित्य सत्य है। रुद्र भगवान् विधाताकी आज्ञासे अपने गण प्रमथादि अमर प्रेतोंको उत्पन्न करते हैं और गणों तथा पार्षदोंसे शिवलोक बसाते हैं। विवाह-आदिका वर्णन पुराणोंमें विस्तारसे है, यहाँ उनकी चर्चा अनावश्यक है।

त्रेतायुगमें रावणके अत्याचारोंसे चराचर सृष्टि अकुला उठती है। सब देवताओंके संग गोरूपधारिणी पृथ्वीदेवी ब्रह्माके पास जाती हैं। उनका भी वश नहीं चलता तब शिवलोकमें बैठकर सब-के-सब विचार करते हैं। ब्रह्माजीकी स्तुतिपर वहीं आकाशवाणी होती है कि रामावतार होगा। इसपर ब्रह्माजी सबको आदेश देते हैं कि समस्त देवतागण वानरादि शरीर धारण करके भगवान्‌की सहायक सेना बनानेकी तैयारी करें।

तदनुसार ब्रह्माजी जाम्बवान् होते हैं। पवन देवता केसरी नामक वानरका शरीर धरते हैं। भगवान् रुद्र स्वयं उन्हींके पुत्र होकर उत्पन्न होते हैं। प्रातःकाल बालार्कके रक्तवर्ण-पर मुग्ध हो लाल फल जान उनको लेनेको दौड़ते हैं, डरकर इन्द्र वज्र प्रहार करता है तो ठोढ़ी जरा-सी मुड़ जाती है। इन्द्रका वैर पुराना है। गर्भमें ही पवनको काटकर सात, फिर उन्चास टुकड़े किये थे। रोनेपर भेद खुलनेके डरसे बारंबार शक्रने 'न रोओ' जो कहा तभीसे नाम हुआ 'मरुत्'। प्रतापशाली मरुत्‌ने देखा कि पुराने वैरीने वार किया तो देवताओंकी हवा रोक दी। सब बहुत घबराये। सबने वायुकी खुशामदें कीं। बालकको अपनी-अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुकूल अच्छे-अच्छे आशीर्वाद दिये, तब पवन देवता फिर बहने लगे। इस बहाने भारी लाभ हो गया। पुत्रका स्थूल शरीर समस्त देवताओंसे बल पा गया। सूक्ष्म शरीर और आत्मा तो भगवान् शंकर ही था। वानरोचित चाञ्चल्य बलप्रतापके साथ ही कभी-कभी भीषण अनाचार करा देता था। किसी समझदार ऋषिने शाप दिया कि अपना बल-पराक्रम भूले रहोगे। याद दिलानेपर ही काममें ला सकोगे। यह भी खूब ही हुआ। वानरोचित उपद्रव शान्त हो गये। सौम्य, बलशाली, प्रतापवान्, वीर्यवान्, महावीर हुए। मुड़ी हुई ठोढ़ीके कारण हनुमान् कहलाये।

भगवान् वायुको बालककी शिक्षाकी चिन्ता हुई। साधारण शिक्षा तो वानरराज केसरीने अपने प्रबन्धसे करा दी थी, परन्तु असाधारण पण्डित होना था। भगवान् सूर्यसे सांगोपांग वेद पढ़ा। फिर भगवान् शंकरसे चौंसठों महाविद्याएँ सीखीं। सूर्यसे पढ़ते थे तो बराबर उनकी ओर मुख किये उलटे उसी वेगसे चले जाते थे जिस वेगसे उनका रथ चलता था। अग्निसे न जलने, जलसे न डूबने आदिका वर ही पा चुके थे। अतः तेज सँभालना कोई बात न थी।

यह पढ़-लिखकर भारी पण्डित हो गये। गानविद्याके ऐसे बड़े आचार्य हुए कि भगवान् शंकरकी रीतियोंकी अपेक्षा अत्यन्त सरल गायनकी रीति बनायी। नाट्यकलामें अत्यन्त प्रवीण हुए। काव्यकलामें अपरिमित कुशलता प्राप्त की। वह वह साधन भगवान् शंकरसे सीखे कि जादू-टोने, मन्त्र-यन्त्र सबके रहस्यके स्वामी हुए और सबको भस्म करनेकी क्षमता हो गयी। योगसाधन वह जबर्दस्त किया कि आठों सिद्धियाँ चेरी हो गयीं। राजनीतिमें एक ही कुशल राजपुरुष हो गये। सुग्रीवके राज्य पानेपर यही मन्त्री हुए और जब बालिने फिरसे राज्य छीन लिया तब बालिके नाशमें यही सहायक हुए। मन्त्री होनेके पहले ही देवताओंके हितार्थ इन्होंने देवावतार वानरोंकी असंख्य सेनाओंका चुपके-चुपके संगठन किया। संगठनकार्य जब यह कर चुके थे, तब भगवान् रामचन्द्रजीका अवतार हुआ। भगवान् ज्यों ही पाँच बरसके हुए, भगवान् शंकर मदारी बनकर आये और एक बन्दरका बच्चा राजकुमारोंके साथ खेलनेको दे गये। यह हनुमान्‌जी थे। इन्होंने जो कुछ काम हो चुका था प्रभुसे निवेदन कर दिया। संग-संग भगवान्‌की बाललीलाका आनन्द दस बरसतक लूटते रहे। जब विश्वामित्रके साथ दोनों भाई यज्ञरक्षार्थ चले, वानरका बच्चा गायब हो गया। सुग्रीवके यहाँ भगवान्‌की बाट देखने लगा।

देखते-देखते पचीस बरस बीत गये। एक दिन जब सुग्रीव, हनुमदादि वानर ऋष्यमूकपर बैठे कुछ विचार कर रहे थे, उसी समय आकाशमार्गसे रोनेका शब्द आया। सबकी निगाहें उधर फिर गयीं। देखते क्या हैं कि दिव्य रथपर रावण एक स्त्रीको लिये जा रहा है। स्त्री विलपती जाती है। उसने इन वानरोंको देखकर अपने कुछ आभूषण और एक कपड़ा गिरा दिया, दौड़कर हनुमान्‌जीने उठा लिया और उसे थातीकी तरह रख छोड़ा। इस मामिलेको इनके सिवा मण्डलीके किसी वानरने न समझा।

थोड़े ही दिनों पीछे एक दिन सुग्रीवने दूरसे देखा कि

मारुति-प्रभाव

कह मारुति न नाम जेहि माहीं । सो तो काहु कामकी नाहीं ॥
अस कहि कपि निज हृदय विदारा । रोम रोम प्रभु नाम उदारा ॥

दो सुन्दर बलवान् धनुर्वाणधारी पुरुष पर्वतकी ओर चले आ रहे हैं। उसे शुबहा हुआ कि कहीं मुझे मारनेको बालिने इन्हें न भेजा हो। जासूसी करनेको हनुमान्‌जीको भेजा, हनुमान्‌जी तो पटभूषण मिलते ही बातकी तहतक पहुँच चुके थे। इन महापुरुषोंको देखकर ताड़ गये। तभी तो ब्रह्मचारीवेषमें छिपे केसरीकुमार तीन ही बात पूछते हैं। (१) क्या आप लोग त्रिमूर्तिमें कोई हैं, (२) क्या आप नर-नारायण हैं, और (३) क्या आप धरतीका भार उतारनेवाले नररूप अखिल भुवनेश्वर परतम पुरुष हैं? बस, इसमें तो सन्देह नहीं कि आप कोई मनुष्य नहीं हैं!

माया-निर्मित रंगभूमिके परमपटु सूत्रधारसे एक नटके यह प्रश्न हैं! सूत्रधार ही भला उखड़ सकता है! भगवान् रघुवंशकुमार बोले 'हम तो ब्रह्माकी रेखाओंके अधीन मनुष्यशरीरधारी हैं। ईश्वर होते तो ब्रह्मरेखाको मिटा न देते! (तीनों मूर्तियोंमें नहीं हैं।) हम तो दोनों भाई राम-लक्ष्मण कोशलेश्वर दशरथके पुत्र हैं। (नर-नारायण नहीं हैं।) हम पिताकी आज्ञा सिर-आँखोंपर धर वनको आये हैं। (धरतीभार उतारने आये, इसकी खबर नहीं है।) यहाँ वनमें किसी निशाचर (चोर) ने मेरी पत्नी (की छाया)* चुरा ली है। हम उसीको खोजते फिरते हैं। महाराज! आप अपनी तो कहिये!'

बस इतनी बात सुनते ही निश्चय हो गया कि वही प्रभु हैं जिनकी बाललीला देखनेका सौभाग्य मुझे दस बरसतक मिल चुका है। आज कारणविशेषसे राजचिह्न छोड़ तपसियोंका वेष धारण किया है।

प्रभु पहिचानि परें गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥
मैं अजान हुइ पूछा साईं। तुम कस पूछहु नरकी नाईं॥

यहींसे भगवान् मारुतिका सर्वोत्तम और राजनीतिदक्ष राजपुरुषका, और सर्व गुणागार चर वा जासूसका† काम शुरू होता है। रूप बदलकर भेद ले लिया फिर होनहार मित्रोंको मिलाकर किष्किन्धाके भावी राज्यका नकशा उधर बदला और इधर लङ्काके राज्यमें परिवर्तनकी बुनियाद डाली। सब कुछ कर डाला, पर सदा अजान ही (मल्लू ही) बने रहते हैं।

भगवान् प्रवर्षणाचलपर चौमासा काटते हैं और सुग्रीव नया ऐश्वर्य पाकर उसमें मग्न हो जाता है, परन्तु पवनकुमार चुपचाप बैठे नहीं रह सकते। अब तो मौका आ गया था। संसारमें फैली हुई अपार वानरी सेनाका संगठन हो चुका है। उसके नायकोंको एकत्र करना है। सबको खबर दे दी गयी। चौमासा बीतते ही किष्किन्धामें सबको एकत्र होना था। बात असली कुछ और थी परन्तु प्रकाशमें सीताकी खोज ही उद्देश्य था। इस उद्देश्यके विरुद्ध दारापहारी रावण क्या करता? देवताओंके इस गुप्त संगठनका उसे पता कहाँ था? फिर होता भी तो वह वानरोंको समझता क्या था? उसके आसुरी चर वानर और मनुष्यको नाचीज समझते थे। यही देवमाया थी। निदान सारी सेनाके एकत्र होनेका आदेश मिल चुका था। प्रतिज्ञा थी सुग्रीवकी, परन्तु पूरा कर रहे थे चरराज हनुमान्‌जी।

जब लखनलाल प्रभुके आदेशसे क्रोध प्रकट करने सुग्रीवकी पुरीमें आये, तब वह तो अपनी सुस्तीसे लजित था, परन्तु हनुमान्‌जीने इतना काम कर रक्खा था कि क्रोध शान्त हो गया। यह तो प्रभुको पता था ही कि सीताजी कहाँ हैं, परन्तु समस्त वानरोंको आदेश मिलता है कि चारों दिशामें जाकर खोजें। वह जाकर कोने-कोने, चप्पे-चप्पेसे सेना बटोर लाते हैं। दक्खिन जानेवाली टोलीमें हनुमान्‌जी हैं। उन्हें ही प्रभु मुद्रिका सौंपते हैं। यह मुद्रिका चरका पास है, चिह्न है, वह अधिकार है, वह प्रमाण है जो अपने सबसे अधिक विश्वासपात्रको भगवान् अपने हाथसे देते हैं। यह श्रेय, यह सौभाग्य किस भक्तका हो सकता है? जगत्पिता और जगजननीको कौन सबसे प्रिय है?

हनुमान्‌जीवाली टोली सीधे दक्षिणकी ओर चली। प्यासले सब तड़पने लगते हैं, वहाँ हनुमान्‌जी ही रक्षक होते हैं। समुद्रतटपर जानेपर जब सम्पातीसे पता लगता

* 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही' यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजीने बैदेही शब्द साभिप्राय रक्खा है। विदेह अर्थात् देह-रहितकी कन्या वा देह-रहिताको हर लिया है। प्रतिबिम्ब देहरहित होता है। उसीका हरण हुआ था। —लेखक

† आजकल स्कौटिंगकी धूम है। लड़कोंको चरकार्य सिखाये जाते हैं। उनके आचार्य बैडेन पावेल हैं! परन्तु चरकार्य क्या है, कोई रामायणमें देखे और चरोंके परमाचार्य भगवान् मारुतिकी जीवनीका अनुशीलन करे। —लेखक

है कि सीताजी लङ्कामें हैं, तब सब लोग चिन्तित होते हैं कि सौ योजन सागर कौन पार करेगा ? बूढ़े जामवन्त हनुमान्‌जीको उनके अपार बलकी याद दिलाते हैं ।

पवनतनय बल पवन समाना । बुधि बिबेक बिग्यान निधाना ॥
कवन सो काजु कठिन जग माहीं । जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥
राम काज लगि तव अवतारा ।

* * *

बस, इतना कहना काफ़ी था । फूलकर पर्वताकार हो गये । भुजदंड फड़क उठे । तुरन्त उठ खड़े हुए, सिंहनाद करके बोले—

सहित सहाय रावनहिं मारी । आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ?

जामवन्तने कहा, नहीं महाराज ! यह आपका काम नहीं है । यह तो प्रभु स्वयं करेंगे । तुमने ही सब काम निबटा दिया तो फिर सरकारकी लीला ही क्या होगी ?

एतना करहु तात तुम्ह जाई । सीतहिं देखि कहउ सुधि आई ॥

बस यहाँसे हनुमान्‌जीका ऐश्वर्य, योगसिद्धि, अमरता और ब्रह्मचर्यका अद्भुत बल देखनेमें आता है । आश्चर्य-जनक अलौकिक पराक्रम, साथ ही आत्यन्तिक नम्रता, शालीनता, विनय, स्वामीके लिये सर्वस्वोत्सर्ग यह हनुमान्‌जीकी विशेषताएँ हैं ।

सबको आश्वासन दे, सबको माथा नवाकर, भगवान्‌को स्मरण करके चले । बारंबार भगवान्‌का स्मरण करके अपने भारी बलका स्मरण किया, फिर जिस पहाड़पर पाँव देकर हुमचकर उछले वह तुरन्त पातालमें धँस गया । इतना तो भार था ! परन्तु उछलते ही अपने शरीरको इतना हलका कर लिया कि उड़ चले । वह गरिमा और यह लघिमा ! योगीजन प्राणायामके साधनसे हवामें उठ जाते हैं । भगवान् मारुति साधारण योगी नहीं हैं । ऊर्ध्वरेता, महायोगीश्वर महेश्वर और फिर वायुके पुत्र, गुर्वी धरती माताकी पुत्रीका पता लगाने जा रहे हैं । वह सीधे भगवान्‌के तीरकी तरह चले ।* समुद्रने आतिथ्य करना चाहा, परन्तु यहाँ तो धुन ही और है । 'राम काज कीन्हें बिना मोहिं कहाँ बिश्राम ।' प्रभुका सेवक ऐसा ही होना चाहिये । काम पूरा करनेके पहले विश्राम कैसा ?

देवताओंको परीक्षा लेनेकी सूझी । सर्पोंकी माता सुरसाको भेजा । उसने आकर मार्ग रोका । बोली 'मैं तुम्हें खाऊँगी । मुझे वरदान है कि जो मेरे सामने पड़े वह मेरे मुखमें जाय ।' हनुमान्‌जीकी विनय न सुनी तो, वह बोले 'अच्छा, फिर निगल जा मुझे ।' और महिमासिद्धिसे अपना शरीर बढ़ाने लगे । सुरसा अपना मुख बढ़ाने लगी ।

जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दुगुन कपि रूप दिखावा ॥

जब उसने सौ योजनका मुँह कर लिया तो भगवान् आञ्जनेयने अणिमा साधी । इतने छोटे हो गये कि मुँहमें पैठकर फिर निकल आये । सौ योजन विस्तारके जबड़ेको वह इतनी जल्दी बन्द न कर सकी । उसका वरदान पूरा करके भगवान् मारुति बल-बुद्धि दोनोंका परिचय दे आशीर्वाद पा फिर लघिमासे उड़ चले । आगे तीसरी बाधा मिली । इनकी महाकाया समुद्रमें विशाल छाया डालती थी । सिंहिका नामकी राक्षसी समुद्रमें रहती थी । उसमें अपनी ओर खींच लेनेकी प्रबल शक्ति थी । छायासे वह ऊपर उड़नेवाले जन्तुओंका पता और निशाना ले लेती थी और फिर खींच लेती थी । हनुमान्‌जीको उसने बड़े जोरसे खींचा । इनकी गति रुक गयी । यह खिंचे जाने लगे तो इन्होंने राक्षसीकी माया समझकर महिमा-सिद्धिसे अपने रूपका भारी विस्तार कर लिया । राक्षसीने जब अपने दोनों ओठ आकाशसे समुद्रतलतक फैला दिये तो भगवान् मारुतिने तुरन्त छोटे होकर उसके शरीरमें प्रवेश किया और उसके हृदयको फाड़कर उसे मार डाला और फिर उड़कर आगे चले । लङ्काके तटपर एक पर्वतशृङ्गपर

* जहाँ पृथ्वीकी आकर्षणशक्तिके विरुद्ध गति होती है वहाँ वह गति परवलय रेखाके रूपमें होती है । परन्तु यहाँ आकर्षण-शक्ति शून्य हो गयी है, इसीलिये गति ऋजुरेखा वा सरल रेखामें है । वाल्मीकिने लिखा है कि प्राणको हृदयमें खींचकर प्राणायाम करके चले ।

चढ़कर सारी लङ्काका निरीक्षण किया। फिर जब रात हो गयी, उन्होंने अत्यन्त छोटा रूप धरा, जो मच्छरके बराबर था। तब भी राक्षसी लङ्किनीने उनको पहचान ही लिया। उसी अणुरूपसे उन्होंने एक घूसा ऐसा मारा कि उसका काम तमाम हो गया।

उन्होंने रातमें ही बड़े वेगसे लङ्कापुरी छान डाली। कोना-कोना, चप्पा-चप्पा देख डाला। कहीं सीताजीको न पाया। यह तो सम्पातीने ही बताया था कि वह अशोकके नीचे रावणके बागमें हैं। हनुमान्‌जीको तो आगेके कामके लिये लङ्का देखनी थी। सीताजीकी खोज तो बहाना था। विभीषण वैष्णव था। भक्त था। उसका हाल पहलेसे भगवान् मारुतिको मालूम है। घूमते-घामते एक मकानके सामने पहुँचे जहाँके रामायुध और तुलसीके पौधोंसे उन्होंने विभीषणका घर पहचाना। वहाँ झट् ब्राह्मण-वेष बनाकर द्वारपर 'सीताराम' 'सीताराम' बोले। विभीषणजीने उन्हें आकर प्रणाम किया, कुशल-समाचार पूछा। हनुमान्‌जीने सब बातें बतायीं। विभीषणको मिला लिया। फिर उन्हींसे सब युक्ति पूछकर अशोकवाटिकामें पहुँचे। ठीक उसी पेड़पर जा बैठे जिसके नीचे सीताजीका प्रतिबिम्ब था।

रावणका आना, उसकी बातचीत, फिर राक्षसियोंका त्रास दिखाना सब कुछ देख लिया। दुःखी हो जब जलने-के लिये जगज्जननी अग्निकी इच्छा कर रही थीं, ठीक उसी समय मुद्रिका गिरा दी। और इस ढंगसे बातचीत की कि किसी पहरेवालेको पता न लगा। दुःखसे कहते हैं—

अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई।
प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥
निसिचर मारि तोहिं लेइ जइहहिं।
तिहुँपुर नारदादि जस गइहहिं॥

माताकी दुर्दशा सही नहीं जाती। सामर्थ्य होते भी मालिककी मरजीका इतना खयाल है कि कुछ कर नहीं सकते। वानरोंके साथ आकर विजय करेंगे, इस बातपर जब माताको सन्देह होता है कि इतने नन्हें वानर क्या करेंगे, तो अपना असली रूप प्रकट करके उन्हें पूरा आश्वासन देते हैं। आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य होते हैं। काम तो हो गया। परन्तु चरका काम पूरा नहीं हुआ। रावणका पूर्ण बल, वैभव, नीति, चातुर्य देखना था। सभा देखनी थी। युक्ति तो विभीषणकी सलाहसे ठहर चुकी थी। मातासे आज्ञा ली कि 'भूख लगी है। बागमें फल खाऊँगा। रखवालोंकी परवा क्या है? देख लूँगा।' बाग-विध्वंस आरम्भ हो गया। रखवालोंने चीं-चपड़ की और मारे गये। रावण सुनकर अक्षयकुमारको दलसमेत भेजा। उसे भी दलमलकर अक्षयकुमारका क्षय कर डाला। पुत्रवध सुनकर रावणके क्रोधका पारा बहुत ऊँचा चढ़ा। मेघनादको आज्ञा दी कि 'बाँध लाना' मैं जरा देखूँ तो कि कैसा वानर है, मेघनादकी भी वही दशा होती परन्तु इसे तो लक्ष्मणजीके हाथों मरना था। हनुमान्‌जीने रथ तोड़ डाला और इसे एक घूँसा मारकर पेड़पर चढ़ गये। मेघ-नादकी मूर्च्छा टूटी तो ब्रह्मवाण मारा। भगवान् मारुतिने ब्रह्मवाणकी मर्यादा रक्खी और मूर्च्छित हो गिरे। नाग-पाशमें बाँधकर मेघनाद इन्हें दरबारमें ले गया। बस यही तो आप चाहते थे। इन्हें देख रावणने तिरस्कारपूर्वक पूछा कि 'तू कहाँका वानर है, जो इतना उपद्रव कर रहा है? रखवालोंको और अक्षयकुमारतकको मार डाला। बता, तुझे अभयदान देता हूँ।'

इस घमंडपर मारुति मन-ही-मन हँसे। अपना पूरा परिचय देकर रावणको चरकी हैसियतसे उत्तम उपदेश दिया। रावण भगवान् शङ्करका भारी भक्त था। इसीलिये कपि-रूपमें आकर उन्होंने एक बार उपदेश दे देना अच्छा समझा। परन्तु घमंडी रावण अपना हठ क्यों छोड़ने लगा। उसे इस उपदेशपर क्रोध आया। उसने मार डालनेकी आज्ञा दी। विभीषणने हाथ जोड़कर कहा 'दूतको मारना नीति नहीं है।' मन्त्रियोंने भी समर्थन किया। रावण बोला 'अच्छा! अङ्ग-भङ्ग कर दो। इसकी पूँछ जलाकर इसे बुण्डा करके भेजो। भगवान् मारुति मनमें हँसे। भगवती सरस्वतीने रावणके मुखसे यह कहला दिया था। इस समय तो कपिका विशाल रूप था। पूँछ काफी बड़ी थी। जब उसमें तेलसे भिगोकर कपड़ा लपेटा जाने लगा, इन्होंने पूँछ बढ़ानी शुरू की। सारी लङ्काके चीथड़े और तेलको समाप्त करा दिया। फिर शहरमें इन्हें घुमाया। जब लौटाकर फिर

दरबारमें लाये तब पूँछमें आज्ञानुसार आग लगायी, अभी-तक विशालमूर्ति नागपाशमें बँधी थी। अब जो उन्होंने एकाएकी अपना रूप छोटा कर लिया तब बन्धनसे सहज ही निकल बाहर हो गये और छोटी पूँछमें लम्बी कपड़ेकी जलती पूँछ घसीटते सोनेके महलोंपर चढ़ गये और एकसे दूसरे, दूसरेसे तीसरे घरपर कूदते-उछलते सारी लङ्कापुरीको एक ज्वालामुखी पर्वत-सा बना दिया। हाहाकार मच गया। वहाँ जैसे सरस्वती सहायक हुई यहाँ उन्चासों पवन सहायक हुए। भगवान् शङ्कर ही हनुमान् हैं, वही अग्नि भी हैं। इसलिये हनुमान्‌जीका अग्निको इस तरह फैलाना कोई बात ही न थी। मेघोंको जल बरसानेकी आज्ञा हुई परन्तु फल उलटा हुआ। जलके संयोगसे महाप्रचण्ड विस्फोटन हुआ।* लाखों राक्षस एक क्षणमें जलकर उड़ गये। सिवा विभीषणके घर और अशोकवाटिकाके और सारी लङ्का जल गयी। अन्तमें समुद्रमें पूँछ बुझाकर सीताजीसे चूड़ा-मणि चिह्नस्वरूप लेकर, समुद्र फाँदकर दूसरे तटपर आये।

हनुमान्‌जीने सारी लङ्का छान डाली। रावणके किलेके सब दुर्बल स्थान देख लिये। निशाचरोंकी कमजोरियाँ समझ लीं। विभीषणको, और विभीषणद्वारा कई औरको फोड़ लिया। भारी-भारी योद्धाओंके बलकी भी अटकल लगा ली। सेनासहित प्रभुके आनेपर ठहरनेके स्थानकी तजवीज कर ली। यदि सीताजीकी छायाका हरण न हुआ होता तो हनुमान्‌जीका इस तरह पता लगाना किस बहानेसे सधता? श्रीरामजीको वनवास न होता और सीताहरण न हुआ होता तो अयोध्यानरेशके लिये कोई न्याय कारण न था कि वह पाँच सौ योजन दूर जाकर यों ही हिरण्यद्वीपपर चढ़ाई करते। यह सब देवमाया थी। देवोंके देव महादेव, हनुमान्‌जी, इसमें अग्रणी थे।

हनुमान्‌जीने अत्यन्त योग्य सेवकका काम किया। तो भी हनुमान्‌जीमें इस बातकी गभीर कृतज्ञता है कि भगवान्‌ने मुझे एक भारी सेवा सौंपकर वह सम्मान दिया जो त्रैलोक्यमें किसीके भाग्यमें न था। उधर भगवान्‌की कृतज्ञताकी सीमा नहीं।

कहेउ, पवनसुत आउ,
'देबेको न कछू रीनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ।'

सुनु कपि तोहिं समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करउँ का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुन सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।
देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता।
लोचन नीर पुलक अति गाता॥

भगवान् और भक्तका यह सम्बन्ध नमूना है। भक्त तो सेवाका सम्मान पाकर कृतज्ञतामें चूर है और भगवान् स्वयं इतने उसके कृतज्ञ हैं कि 'मन सम्मुख नहीं हो सकता'!!

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः॥
(श्रीयामुनमुनिआलवन्दारस्तोत्रात्)

हनुमान्‌जीके ही भरोसे, उन्हींकी सिफारिशके जोर-पर, विभीषण रावणका दरबार छोड़कर आये। सुग्रीवको तो कुछ पता न था। वह भगवान्‌से कहते हैं 'यह भेद लेने आया है। बाँध रखना चाहिये।' परन्तु प्रणतपाल भगवान् कहते हैं 'शरणमें आया है' तो—

कोटि बिप्र बध लागइ जाहू।
आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥

'और जो भेद लेने आया तो क्या डर है। लक्ष्मणजी सभी निशाचरोंको क्षणभरमें मार डालनेका सामर्थ्य रखते हैं।'

हनुमान्‌जीने विभीषणकी कोई सिफारिश कर न पायी थी कि बात पेश हो गयी। परन्तु भक्तवत्सलकी इस आज्ञापर वे फूले न समाये।

लड़ाईकी कथा बड़ी विस्तृत है जिसमें हनुमान्‌जीके बल-पराक्रमकी कथा इस तरहपर गुँथी हुई है कि सारा युद्धकाण्ड लिखना भी पर्याप्त न होगा। यहाँ प्रसंगवश

* अत्यन्त प्रचण्ड तापसे जल टूटकर ओषजन और उज्जनमें परिणत हो जाता है, फिर यह दोनों मिलते हैं तब भी जोरका धड़ाका होता है।

दो महत्त्वकी घटनाएँ दी जाती हैं। एक तो मेघनादकी शक्तिके प्रहारसे जब लक्ष्मणजी मूर्च्छित हुए तब वह लङ्कापुरीके भीतरसे सुषेण वैद्यको हर ले आये और उनकी बतायी संजीवनी बूटीको लेनेको बाणवेगसे हिमालयकी ओर चले। मार्गमें रावणद्वारा प्रेरित कालनेमि नामक राक्षसने माया कर रक्खी थी। बाग, मन्दिर, तालाब सब कुछ था। मुनि बना आप बैठा था। हनुमान्‌जीको प्यास लगी। तालाबमें पानी पीने गये तो एक मगरीने पकड़ा। उन्होंने उसे मार डाला। वह अप्सरा हो प्रगटी। उसने कपटी मुनिका भेद बताया। भगवान् मारुतिने कालनेमि-को भी मार डाला और फिर सीधे हिमालयपर पहुँचे। ओषधि पहचान न सके। तुरन्त ही रातोंरात पहुँचानी थी। पहाड़के उस भागको उखाड़कर उड़ चले। अवधपुरीके ऊपर जा रहे थे कि राक्षस अनुमान करके भरतजीने बिना गाँसीका तीर मारा। वह नन्दिग्राममें पहाड़ लिये गिरे। राम नाम लेते गिरे, इससे भरतजी तुरन्त उनके पास आये। हनुमान्‌जीने सीताहरणसे लेकर लक्ष्मणजीकी शक्तितकका समाचार संक्षेपसे कह दिया और फिर पर्वतको लेकर उड़े। लङ्कामें दो घंटा रात रहते ही पहुँच गये। उपाय किया गया। लक्ष्मणजी उठ बैठे। मानों हनुमान्‌जीने ही जिलाया। यह श्रीरामजीके साथ दूसरा भारी उपकार था।

दूसरी घटना यह हुई कि रावणका सहकारी एक राक्षस जिसका नाम अहिरावण था, शक्तिका उपासक था। रावणकी मायासे श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीको मूर्च्छा आ गयी। उस समय बड़े-बड़े योद्धा और तरफ भिड़ रहे थे। रातकी लड़ाई थी। रावणका भेजा अहिरावण उसी समय आकर दोनों भाइयोंको मूर्च्छित अवस्थामें अपने देश ले गया। यहाँ जब दोनों भाई लापता हो गये तो खोजनेको योद्धा चर छूटे। हनुमान्‌जी अति-लघुरूप धरे हुए अहिरावणके मन्दिरमें ठीक उस समय पहुँचे जब कि दोनों भाइयोंकी मूर्छा जगी थी और अहिरावण उनसे कह रहा था कि तुम 'दोनों अपने इष्ट-देवका स्मरण करो। अब मैं तुम्हें देवीकी बलि चढ़ाऊँगा।' हनुमान्‌जीने देवीको हटा दिया और आप मूर्तिमें आविष्ट हो गये। जब वह मारनेको तलवार लेकर खड़ा हुआ। देवीके स्थानमें हनुमान्‌जी प्रकट हो गये और अहिरावणको मारकर दोनों भाइयोंको ले आये। यह भगवान् रामचन्द्रजीके साथ मारुतिका तीसरा भारी उपकार था।

हनुमान्‌जी अपने बलपराक्रमकी याद भले ही रक्खें परन्तु वह तो अपने किये हुए उपकारको जानते भी नहीं। वह सबको 'रामकाज' कहते हैं। जाम्बवान्‌ने उनसे जो बात कही थी।

'रामकाज लगि तव अवतारा।'

इसे उन्होंने अपना परमोद्देश्य बना लिया। अहर्निश सेवा करके ही वह अपनेको कृतार्थ समझते हैं, चाहे वह सेवा रणभूमिमें शत्रुओंका विमर्दन हो, चाहे वह चरण चापना ही क्यों न हो, छोटीसे लेकर बड़ीतक सारी सेवा उन्हींका कर्तव्य—उन्हींकी चीज है।

जगज्जननीका पता लगाकर जिस तरह उन्हें आश्वासन दिया था उसी तरह अब रावणवध और विभीषणके राज्य पानेपर उन्हें सुसमाचार सुनाया। फिर अंगद और विभीषणको साथ लेकर गये और उन्हें आदरपूर्वक ले आये।

भगवान् अग्नि भी शङ्करके ही अवतार हैं। प्रकृत सीताजीको अग्निको सौंप दिया था। इस छायाको अग्निमें प्रवेश कराकर वास्तविक सीताको प्रकट करना था। रुद्रका हनुमान्‌रूप छायाको लाया और रुद्रके अग्निरूपने वास्तविक सीताको प्रकटाया। इस समस्त चरित्रमें रावण-वधके परम कारण होकर भगवान् शङ्करने राक्षस रावणको वर देनेका प्रायश्चित्त कर लिया!

विभीषणने श्रीरामचन्द्रकी कृपासे और बानरी सेनाके बलसे लङ्काका राज्य पाया था। इसके आनन्दमें भगवान्‌की आज्ञासे पटभूषण बरस दिये। रावणने अत्यन्त अनमोल मणियोंका संग्रह किया था। उन्हींकी एक अनुपम माला बनवाकर विभीषणने लाकर भगवान्‌के चरणोंपर रख दी। उस मणिमालाको देखकर सुग्रीवादि बड़े-बड़े सरदारोंको लालच हुआ। भगवान्‌ने देखा कि हमारे भक्त परमार्थको भूल साधारण पार्थिव पदार्थोंपर लट्टू हो रहे हैं, विभीषणको आज्ञा दी कि हनुमान्‌जीके गलेमें डाल दो। विभीषणने आज्ञाका पालन किया। हनुमान्‌जीने माला गलेसे उतारकर हाथमें ले ली और एक-एक मणिका तोड़कर और देखकर फेंकने लगे। विभीषणसे सहा न गया। पूछा—'महाराज!

यह क्या ?' बोले, 'देखता हूँ कि रामनाम इसमें है या नहीं ? बिना इसके कैसे धारण करूँगा' विभीषण बोले, 'जो देह धारण किया है, क्या उसमें रामनाम लिखा है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें हाथोंके कठोर नखोंसे छातीकी ऊपरकी खाल चीर डाली। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! रोम-रोममें राम राम लिखा था। हृदयपर सीतारामकी मूर्ति थी। हनुमान्‌जीके इस रूपपर त्रैलोक्यसे 'धन्य हो, धन्य हो' के शब्द गूँज उठे। मणिमालाका लोभ भक्तोंके मनसे मिट गया। रामनाममणिका प्रकाश फैल गया !

जेपउ पवनसुत पावन नामू।
अपने बस करि राखेउ रामू॥

भगवान् मारुतिने राम-राम रटकर भगवान्‌को बसमें कर लिया। 'सीआराम' मन्त्र उन्हें इतना प्रिय है कि इसका जाप करके हनुमान्‌जीको अर्पण करनेवाला हनुमान्‌जीको ही अपने बसमें कर लेता है।

रणके सभी साथी रामराज्यके कुछ दिन पीछे विदा कर दिये गये। परन्तु हनुमान्‌जी तो व्यूही हैं। वह कहाँ जायँगे ? जब भगवान् साकेतलोकको जाते हैं, हनुमान्‌जी भी साथ ही जाते हैं और नित्यरूपमें रहते हैं।

कृष्णावतारके समय पाण्डवोंके वनवास-कालमें, जब एक बार भीम वर्जित मार्गसे जाना चाहते हैं, देखते हैं कि राहमें एक बूढ़ा वानर अपनी लम्बी पूँछ इस तरह फैलाये बैठा है कि बिना कचरे जाना असम्भव है। भीम बोले—'बूढ़े वानर ! अपनी दुम समेट ले।' हनुमान्‌जी बोले—'इतना बल नहीं है कि समेट सकूँ। बूढ़ा हूँ। तुम्हीं जरा हटाके चले जाओ।' भीमसेन बल लगाकर थक जाते हैं। पूँछ नहीं उठती ! हैरान होकर बोले—'महाराज ! आप कौन हैं ? मैं तो थक गया। पूँछ नहीं उठती !' भगवान् मारुति प्रसन्न हो उठे—गले मिले। बतलाया कि मैं भी वायुपुत्र हनुमान् तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। भीमने उन्हें प्रसन्न करके बर ले लिया कि लड़ाईमें मदद करूँगा। आप अर्जुनकी ध्वजापर विराजे। एक बार जोशमें आकर किलकिलाये। भगवान्‌ने रोका। कहा, इस युद्धमें आप केवल तमाशा देखें। आपके शामिल होनेसे लड़ाई एक ही दिनमें समाप्त हो जायगी।

अर्जुन अपनी वाणविद्यापर मुग्ध थे। वह प्रहार करते थे तो कर्णका रथ मीलों पीछे हट जाता था परन्तु इनका रथ कर्णके प्रहारसे कुछ थोड़ा ही खसकता था। एक दिन अभिमानवश सखा कृष्णसे यह बात कही। भगवान् बोले 'इस भरोसे न रहना। तुम्हारी ध्वजापर भगवान् मारुति हैं, उनका भार न होता तो तुम्हारे रथका तो पता न लगता।'

अर्जुन एक दिन गर्ववाक्य बोले कि 'मैं होता तो वाणके पुल बाँध देता। भगवान् रामचन्द्रजी तो नल-नीलके मुहताज थे।' गरुड़जीको अपने वेगका गर्व था। दोनोंका मानमर्दन मंजूर था। भगवान् बोले 'अच्छा, अर्जुन ! वाणसेतुकी परीक्षा की जायगी।' गरुड़जीको आज्ञा हुई कि हनुमान्‌जीको आनेके लिये कहकर तुरन्त लौट आओ। गरुड़जीने हनुमान्‌जीसे सन्देश कहा। वह बोले 'अच्छा, आप चलिये, मैं आता हूँ।' गरुड़जी बड़े वेगसे भगवान्‌के पास लौटे तो देखते क्या हैं कि हनुमान्‌जी बैठे भगवान्‌से बातें कर रहे हैं। वे अपने गर्वपर लज्जित हुए। अर्जुनका वाणसेतु हनुमान्‌जीके चरण रखते ही जवाब दे गया। काम हो गया। भगवान् बोले 'इस तरहके असंख्य वानरोंको पार उतरना था। कैसे पार लगता ?'

हनुमान्‌जी अमर हैं। नित्य हैं। साकेतलोकीय चतुर्व्यूहमें हैं। भगवान् जब महाविष्णु होते हैं, यह महाशिव होते हैं। विष्णुरूपसे जब ब्रह्माण्डका पालन करते हैं, हनुमान्‌जी शिवरूपसे संहार करते हैं। जब विष्णुका अवतार रामरूपमें होता है, रुद्रका हनुमान्‌रूपमें। अद्वैतसिद्धिके साथ ही दास्यभाववाली भक्तिका आदर्श भक्तभावन भगवान्‌ने हनुमान्‌रूप धारण करके दिखाया है। इसीलिये भगवान् शङ्करकी वन्दना हनुमान् और रामेश्वररूपमें तुलसीदासजीने यों किया है—

सेवक स्वामि सखा सियपीके।
हित निरवधि सब बिधि तुलसीके॥

विभु-विधान

अरे, डराते हो क्यों मुझको
कहकर उसका अटल विधान ?।
'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं'
है समर्थ मेरा भगवान ॥
उत्तर उसे आप लेना है,
नहीं दूसरेको देना है।
मेरी नाव किसे खेना है ?
दीनबन्धु जो दयानिधान ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

उपदेश

यह मोहमयी तमसा रजनीमहँ,
'विह्वल' ह्वै भरमैयो नहीं।
जिसने यह जीवन दान दियो,
उसके जपको अलसैयो नहीं॥
अब हीं छिनमें मुँदिहैं अँखियाँ,
पलहू हरिको बिसरैयो नहीं।
मनसों, वचसों अरु कर्महुँसों, कहुँ
काहूको चित्त दुखैयो नहीं॥

'विह्वल'

आत्मसमर्पण

हरिको करो समर्पण भाई—
अपने गुण अवगुण सुख दुख सब।
द्वेष करोगे द्वेष बढ़ेगा, प्रीति करोगे प्रीति।
जैसा मुख वैसा दीखेगा, जग दर्पणकी रीति॥ हरिको०
जगका कौन भरोसा जिसका निश्चित नहीं स्वरूप।
शरण गहो जब एक रूपकी तब छूटे भवकूप॥ हरिको०
अहंकारके दो सुत जिनके रागद्वेष हैं नाम।
अहंकार ही जहाँ नहीं फिर बेटोंका क्या काम॥हरिको०
शरणागत है वही, न जिसमें रहे कामना शेष।
उसे समान देख पड़ते हैं निर्धन और नरेश॥ हरिको०

—रामनरेश त्रिपाठी

कामना !

बना दो बुद्धिहीन भगवान।
तर्क-शक्ति सारी ही हर लो, हरो ज्ञान-विज्ञान।
हरो सभ्यता-शिक्षा-संस्कृति-नव्य-जगत्की शान॥
विद्या-धन-मद हरो, हरो हे हरे! सभी अभिमान।
नीति-भीतिसे पिण्ड छुड़ाकर करो सरलता-दान॥
नहीं चाहिये भोग योग कुछ नहीं मान-सम्मान।
ग्राम्य-गँवार बना दो, तृणसम दीन निपट-निर्मान॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे करो प्रेमका दान।
प्रेमसिन्धु! निज मध्य डुबोकर मेटो नाम निशान॥

'तर्कत्रस्त'

प्रेम और प्रेमके पुजारियोंका कुछ परिचय

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

प्रेम-प्रसंग

प्रेम ! प्रेम !! ओहो, कितने कर्णप्रिय श्रुतमधुर शब्द हैं । इन दो शब्दोंपर संसारकी सभी वस्तुएँ वारी जा सकती हैं । वन-वृक्ष, लता-पता, कुंज-निकुंज सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम भरा है । जिस प्रकार दुग्धकी रग-रगमें घृत व्याप्त है उसी प्रकार संसारके अणु-परमाणुमें सर्वत्र प्रेम रम रहा है । जिस प्रकार युक्तिद्वारा मथकर दुग्धमेंसे घृत निकाला जाता है, उसी प्रकार भावुकता, सहृदयता और अनुभूतिके द्वारा इस प्रेमकी उपलब्धि होती है ।

प्रेम एक बड़ी ही मीठी, मादक, मनोज्ञ और मधुर मदिरा है । जिसने इस आशवका एक भी प्याला चढ़ा लिया, वह निहाल हो गया, धन्य हो गया, मस्त हो गया । उस मतवालेकी भला कौन बराबरी कर सकता है ? संसारके शाहंशाह उसके गुलाम हैं ! त्रिलोकीका राज्य उसके लिये तृणके समान है । उसे किसीकी चिन्ता नहीं, हर्ष, शोक उसके पासतक नहीं फटकते । वह सदा मस्त रहता है । आनन्द ही उसका घर है, वह सदा उसीमें विहार करता रहता है । वह पागल है, सिड़ी है, मतवाला है, बावला है और है फँकिमस्त । ऐसे फँकिमस्तोंके दर्शन बड़े भाग्यसे होते हैं !

प्रेमकी समता किससे की जाय ? जब उसकी बराबरीकी कोई दूसरी वस्तु हो, तभी तो तुलना की जा सकती है । वह अद्वितीय, अनिर्वचनीय और अनुपमेय है, उसके समान संसारमें आजतक कोई वस्तु न हुई, न है और न आगे होगी ही । वह अनादि, अनन्त, अजर और अमर है । आप कहेंगे कि ये सब विशेषण तो हरि भगवान्के ही हो सकते हैं ? हम कहेंगे 'हाँ, यह ठीक है, आप बिल्कुल ठीक कहते हैं । किन्तु प्रेमके प्रचण्ड पागल रसिक रसखानसे भी तो पूछिये । देखिये वे हरिमें और प्रेममें क्या भेद बतलाते हैं—

> प्रेम हरीको रूप है, वे हरि प्रेम स्वरूप ।
> एक होय दोमें लखैं, ज्यों सूरज अरु धूप ॥

प्रेमका अलग अस्तित्व ही नहीं । प्रेम प्रभुकी परछाईं मात्र है । परछाईं यथार्थ वस्तुकी ही तो होती है, प्रेम और हरि दो नहीं हो सकते !

प्रेमके पागल बड़े ही निर्भीक और निडर होते हैं । उन्हें प्रेमके सिवा और कुछ अच्छा ही नहीं लगता । लोग कहते हैं, जान-बूझकर आगमें कौन कूदे ? किन्तु ये पागल लोग पतंगको ही अपना गुरु मानते हैं । यह जानते हुए भी कि 'यह प्रेमको पन्थ निरालो महा, तरवारिकी धार पै धावनो है ।' उस धारकी कुछ भी परवा न करके उसके ऊपर चलने लगते हैं । जो जानकी कुछ भी परवा नहीं करेगा वही तो प्रेमवाटिकाकी ओर अग्रसर हो सकेगा ।

महाशय ! टेढ़ी खीर है, दुर्गम पथ है, बिना डाँड़की नाव है, मदोन्मत्त हाथीसे बाज़ी लगानी है, विषधर भुजंगके दाँत निकालने हैं, मोमके तुरंगपर चढ़कर अनलकी सुरंगमें जाना है, कँकरीली-पथरीली वन-वीथियोंमें होकर चलना है, पाथेय ले जानेकी मनाही है । धूप और छाँहकी परवा न करनी होगी । भूख और नींदको जलाञ्जलि देनी होगी, कलेजेकी कसक किसीसे कहनी भी न होगी, न मरना ही होगा, न भलीभाँति जीना ही होगा । जो प्रेमकी फाँसमें फँसना चाहता हो, उसे इन सब बातोंपर पहले भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये । खाली 'प्रेम' कह देनेभरसे ही काम न चलेगा । जबतक तू अपने पुराने मित्रका साथ नहीं छोड़ता तबतक यह तेरा नवीन मित्र तेरी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखेगा । और बेचारा देखकर करेगा भी क्या ? तेरे हृदयकी कोठरी तो इतनी छोटी-सी है कि उसमें दो की गुंजाइश ही नहीं । उसमें तो एक ही रह सकता है । एक प्रेमीका निजी अनुभव सुन ले—

> चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान ।
> एक म्यानमें दो खड़ग, देखी सुनी न कान ॥

है हिम्मत ? यदि हाँ, तो आ जा मैदानमें । देर करनेसे काम नहीं चलेगा, यह बाजार दो ही दिनका है,

परम भक्तिमती मीराबाई
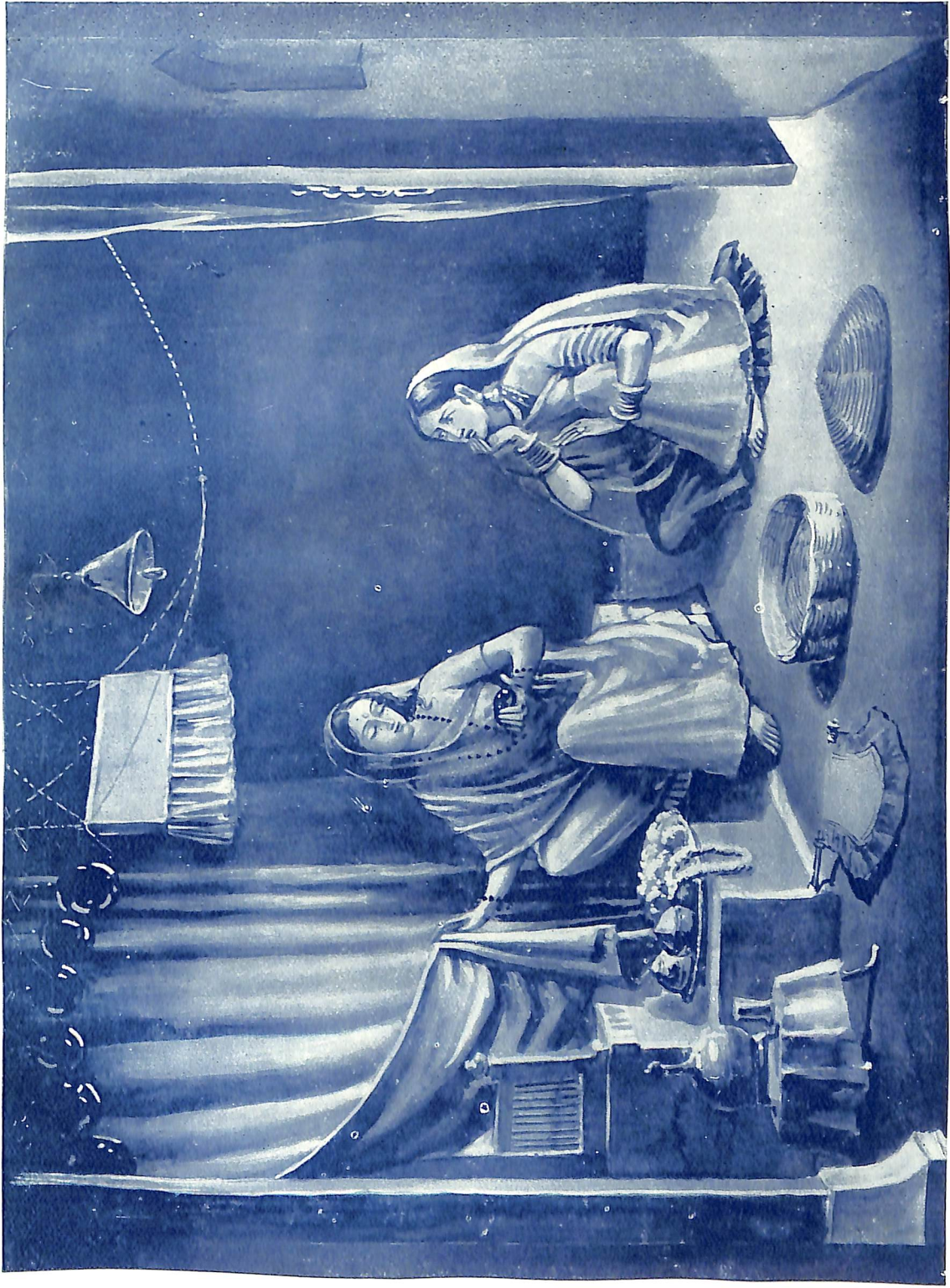
"राणा साँप पिटारीमें भेज्यो सालिगराम भयौ"।

अवसर चूकनेपर फिर कुछ भी हाथ नहीं आनेका, देख ये प्रेमके पागल हैं, इनकी गति निराली है, इनकी ओर खूब ध्यानपूर्वक देखना । अहा ! कैसी बेकली है, शरीरकी सुध-बुधतक नहीं, नशेमें चूर हैं—

> कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगामिगात सब देह ।
> 'दया' मगन हरिरूपमें, दिन दिन अधिक सनेह ॥
> हँसि,गावत, रोवत, उठत, गिरि गिरि परत अधीर ।
> पै हरि रस चसको 'दया' सहै कठिन तन पीर ॥

इतना ये सब क्यों सहते हैं ? इन्हें उस अद्भुत रसका चस्का लग गया है । पुत्रप्राप्तिके लिये पतिव्रताको भी पीर सहनी पड़ती है और वह उस पीरको प्रेमपूर्वक सहती है, फिर इनके आनन्दका तो पूछना ही क्या है । भगवान् जाने इसमें इन्हें क्या आनन्द मिलता है ? न खाते ही हैं, न सोते ही हैं, संसारके सभी कष्टोंको प्रेम-पूर्वक सहते हैं, परन्तु अपने प्रणको नहीं छोड़ते । ये दुखिया सदा रोया ही करते हैं । इनसे तो संसारी लोग ही अच्छे । वे मौजसे खा-पीकर तान दुपट्टा सोते तो हैं ।

> सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे ।
> दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे ॥

कबीरदासजी, तुम क्या रोते हो ? हम तो इस मार्गमें जिसे भी देखते हैं, रोता ही हुआ देखते हैं । सभीको झींखते ही पाया, सभी छटपटाते ही नज़र आये, सभी खीज-कर अपने प्रेमीसे कहते हैं—

> कै विरहिनिको मीचु दे, कै आपा दिखलाय ।
> आठ पहरको दाझनो, मो पै सहो न जाय ॥

नहीं सहा जाता है, तो उसकी बलासे । तुमसे कहा किसने था कि तुम आठो पहर दहा करो ? तुम्हें ही पागलपन सवार हुआ था, अब जब आ बनी है तब रोते क्यों हो ? तुम्हें तो मीराबाईने पहले ही सचेत कर दिया था, वह भी इस चक्करमें फँस गयी थी । भेद मालूम पड़नेपर उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया था—

> जो मैं ऐसा जानती, प्रीति करैं दुख होय ।
> नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करो मति कोय ॥

संसारमें सैकड़ों उदाहरण हैं । रोज ही तो देखते हैं कि प्रीति करके आजतक किसीने भी सुख नहीं पाया । सभी दुःखी ही देखे गये हैं । इसका भेद सूरदासजीसे तो पूछिये ! ये भी बड़े चावमें घूमते फिरते थे । प्रेमके ही चक्करमें फँसकर तो ये आँखोंसे हाथ धो बैठे । अन्तमें अक्ल आयी तो सही परन्तु 'अब पछिताये होत का जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत' इस चक्करमें जो फँस गये सो फँस गये, इसके पास आकर फिर कोई लौटकर थोड़ा ही जाता है ? 'जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखानि' बस, उम्रभरका झींखना ही हाथ रह जाता है । सो झींखा करो, उसे इससे कुछ भी सरोकार नहीं । अन्य प्रेमियोंकी भाँति सूरदासजी भी कुढ़कर कह रहे हैं—

> प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।
> प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो ।
> अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों सम्पति हाथ गह्यो ॥
> सारंग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो ॥
> हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो ।
> सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो, नैनन नीर बह्यो ॥

यदि नैनन नीर बह्यो है, तो बहाते रहो, खूब बहाओ, तुम्हारे नैनोंमें नीर बढ़ भी बहुत गया था, जिसे भी देखते हैं उसे ही नीर बहाते ही देखते हैं । भगवान् जाने इन प्रेमियोंके नैनोंमें इतना नीर आ कहाँसे जाता है ? इनके यहाँ जाड़ा-गरमीका तो नाम ही नहीं । बारहों महीने वर्षा—निरन्तर पावसकी-सी झड़ियाँ लगी रहती हैं । एक बात और भी अचरजकी है । जहाँ पानी होता है, वहाँ अग्नि नहीं रहती । यह संसारका नियम है । किन्तु इनके यहाँ विचित्र ही दशा देखी । वर्षा होनेपर भी ये लोग सदा जलते ही रहते हैं । और ऐसे जलते हैं कि इनकी आँचसे आसपासके पेड़-पत्तेतक स्वाहा हो जाते हैं । बेचारे पेड़की छाँहतकमें भी तो नहीं बैठ सकते । इसी जलनमें जलती हुई एक विरहिनि कहती है—

> विरह जलन्दी मैं फिरूँ, मो बिरहिनिको दुक्ख ।
> छाँह न बैठों डरपती, मति जलि उट्ठै रुक्ख ॥

रूख तो जरूर ही जल उठेगा, उस बेचारेको क्यों बरबाद करती हो ? तुम तो जल ही रही हो, तिसपर भी दूसरेकी इतनी चिन्ता ? अहा, तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा !

कलेजा काँप उठता है। कबीरदासजीने तुम्हें ही लक्ष्य करके सम्भवतः यह कहा है—

जो जन बिरही नामके, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदड़ी, अंग न जामे मासु॥

अङ्गमें मांस जमे कहाँसे? पापी विरहा साथ लगा हुआ है न? रक्त-मांसको तो यही चट्ट कर जाता है। यह पिंजर बना हुआ है, इसे ही गनीमत समझो। हाड़ तो शेष हैं? परन्तु अब हाड़ भी शेष नहीं रहेंगे। अबके इनकी भी बारी है। वैरी विरहा इन्हें भी न छोड़ेगा—

रक्त मांस सब भखि गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड़ चबान॥

इस कूकरको पहले पाला ही क्यों था? जब इसे खानेको कुछ भी न मिलेगा, तो क्या यह भूखा रहेगा? बेचारे बड़ी विपत्तिमें पड़े। एक पल भी चैन नहीं। दयाबाई भी इस चक्करमें फँस गयी थी। उसे भी चैन नहीं मिलता था। उसकी भी करुण-कहानी सुनिये—

प्रेम-पीर अति ही विकल, कल न परत दिन रैन।
सुन्दर श्याम सरूप बिन, 'दया' लहत नहिं चैन॥

किस-किसकी सुनें। एक हो तो उसकी बातपर कुछ विचार भी किया जाय। यहाँ तो जिसे भी देखा उसे ऐसा ही देखा। जिसे पाया उसे रोता ही पाया। इससे तो हमीं अच्छे हैं कि इस झंझटसे बरी तो हैं। जब इस मार्गमें इतना दुःख है, तो बैठे ठालेकी कौन मुसीबत मोल ले? परन्तु कबीरदासजी कुछ और ही अपना तानाबाना पूर रहे हैं। वे कहते हैं—'जिस घटमें प्रेम नहीं वह तो श्मशानके तुल्य है।' क्या खूब? यह भी कोई बात हुई? भला श्मशानकी और हमारी क्या तुलना? श्मशान एक जड़ पदार्थ ठहरा और हम हैं चैतन्य। श्मशानको तो हमने कहीं साँस लेते नहीं देखा और हम तो सोते-जागते सदा साँस लेते रहते हैं। उस निर्जीवसे हमारी बराबरी कैसी? लीजिये इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहारकी, साँस लेत बिन प्रान॥

भाई! बात तो बड़े पतेकी कही। किन्तु प्रेम मिलेगा कहाँ और कितनेमें मिलेगा? इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय॥

बस एक दाम! जिस दिन तुम इसके दरवाजेपर जाओगे, उसी दिन यह पोस्टर चिपका हुआ पाओगे। मतलब समझ गये? सीधे-सादे शब्दोंमें सुनना चाहते हो तो इसका मतलब यों है—'यहाँ उधारका व्यवहार नहीं, तुरन्त दान महाकल्यान' हिसाब चुकता करो और सौदा लेकर चलते बनो। क्या यहाँ भी तुमने और बाजारोंकी-सी बात समझ रक्खी है? इतनी बात याद रक्खो—

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

हाँ, इतनी हिम्मत हो तभी आगे बढ़ना। आवेशमें आकर दूसरोंसे उस मादक द्रव्यकी प्रशंसा सुनकर वैसे ही मत कूद पड़ना। एक प्यालेकी कीमत क्या है, जानते हो? ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, मूर्ख-पण्डित, पाधा-पुरोहित यहाँ किसी-का भी भेद-भाव नहीं। खरी मजूरी चोखा काम। अंटीमेंसे टके निकालो, और छककर पीओ! जो भी दक्षिणा दे सके वही प्यालेका अधिकारी है। यह देखो सामने दक्षिणाका नोटिस चिपका है। जरा खड़े होकर इसे पढ़ तो लो, तब आगे बढ़ना—

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेमका लेय॥

अहा! वे मनस्वी, तपस्वी और अलौकिक महापुरुष धन्य हैं। जिन्होंने इस प्रेमपियूषका पान करके अपनेको कृतकृत्य बना लिया है। जिन्होंने प्रेम-सरोवरमें गोते मार-मारकर स्नान किया है। जिन्होंने प्रेमवाटिकामें भ्रमण किया है। जिन्होंने प्रेमको ही अपना आराध्य देव मानकर उसीकी अर्चा-पूजामें अपना समय बिताया है। जो निरन्तर प्रेमसखाके ही साथ हास-विलास किया करते हैं, उनकी पदधूरिसे पापी-से-पापी प्राणी भी परम पावन हो सकता है। उनकी सुधामयी वाणीसे कठोर-से-कठोर हृदयमें भी कसक पैदा हो सकती है। क्यों न हो? जिन्होंने इतनी बहुमूल्य चीज देकर—अपनी सबसे प्यारी जान देकर उसके बदलेमें जो चीज प्राप्त की है, वह क्या कोई साधारण चीज हो सकती है?

हे प्रेमदेवके पुजारियो ! संसारमें तुम धन्य हो । हे त्यागी महानुभावो ! प्रेमके ऊपर जान लड़ा देना तुम्हारा ही काम है । हे प्रियदर्शन ! संसारको त्याग और प्रेमका पाठ तुम्हीं पढ़ा सकते हो । तुम्हारी अनन्य भक्ति, अनुपम त्याग, अद्भुत लगन, सच्ची सहनशीलता, नैसर्गिक नम्रता श्लाघनीय ही नहीं किन्तु अनुकरणीय भी है ।

हे त्रिविध तापोंसे तपे हुए संसारी प्राणियो ! यदि तुम्हें लोभने आ घेरा है, यदि तुम जानकी बाजी नहीं लगा सकते हो, यदि तुममें शीश उतारनेकी शक्ति नहीं है, यदि तुम्हें अपनी जान अत्यन्त ही प्यारी लगती है और फिर भी तुम उस ओर जानेके इच्छुक हो, तो उन प्रेमके पुनीत पुजारियोंकी दो-चार बातें ही सुनते जाओ । इन प्रेमियोंके जीवन-सम्बन्धी बातोंमें भी वह रस भरा हुआ है कि सदाके लिये नहीं तो एक क्षणके लिये तो वे तुम्हें मस्त कर ही देंगे । आओ ! तुम्हें प्रेम-हाटकी सैर करा दें !

अहा ! देखो न, इस हाटमें चारों ओर कैसी बहार है ! धीमी-धीमी सुगन्ध मस्तिष्कको मस्त बनाये देती है । अब देर न करो, मेरे पीछे चले ही आओ ।

प्रेम-हाट

प्रेमके हाटकी सैर करना चाहते हो ? किस चक्करमें पड़ गये ? अरे, इसे तुम कहाँतक देखोगे ? इसका अन्त थोड़े ही है । चलते-चलते थक जाओगे । जिसके आदि-अन्तका ही पता नहीं उसके पीछे व्यर्थमें मगज खपाना पागलपन नहीं तो और क्या है ? ओहो ! तुम यहाँतक तैयार हो ? लोकलाजकी कुछ भी परवा नहीं ? हैं ! इतनी निर्भीकता ? बस, तब तो ठीक है । अच्छा तो चलो जितना देख सकें उतना ही सही । आदि-अन्तसे हमें क्या प्रयोजन ? अच्छा तो जहाँ खड़े हो, वहींसे आरम्भ कर दो । लो, पहले पूर्वसे ही प्रारम्भ हो । पूर्व दिशाको शास्त्रकारोंने भी शुभ कहा है । अहाहा ! कैसी मनोहर करतल-ध्वनि है ? कोमल कण्ठ तो कोकिलाकी कुहू-कुहूको भी लज्जित कर रहा है । जरा क्षणभर ठहरकर इस सुमधुर रागको सुनते तो चलो ! सुनो, देखो कैसा कमनीय कण्ठ है ! अहा !

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम् ॥

अहा ! धन्य ! धन्य !! महाशय ! ये रतिपतिके अवतार कमनीय कान्तिवाले युवक संन्यासी गायक हैं कौन ? ये तो बड़े ही उदार दयालु और समदर्शी मालूम पड़ते हैं । हरे राम रे राम ! इतना जबर्दस्त त्याग ! इतनी उदारता !! किसीसे कुछ मूल्य ही नहीं लेते । बिना किसी भेद-भावके ये तो सबको भर भर प्याला पिला रहे हैं । न जाने क्यों, हमारे मनको ये हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं ? तुम मुझे जल्दीसे इनका परिचय दो । हैं, क्या कहा ? ये ही महाप्रभु गौराङ्ग देव* हैं । अहोभाग्य ! इनकी दूकानपर तो बड़ी भीड़-भाड़ है । मालूम पड़ता है इन्होंने कोई नूतन मादक आसव तैयार किया है । तभी तो गरीब, अमीर, पठित, मूर्ख, ब्राह्मण, चांडाल, आर्य, यवन सभी-के-सभी एक ही पंक्तिमें बैठकर पान कर रहे हैं । कोई किसीका लिहाज ही नहीं करता । अरे ! इनके पास यह मतवालेकी तरह कौन नाच रहा है ? कोई विद्वान् पुरुष-सा ही मालूम होता है । नहीं यार ! क्या न्याय-वेदान्त-सांख्य-मीमांसाके दिग्गज विद्वान् आचार्य वासुदेव सार्वभौम इस बेहूदेपनसे नृत्य कर सकते हैं ? अरे ! हाँ, मालूम तो वे ही पड़ते हैं, परन्तु ये बड़बड़ा क्या रहे हैं ! जरा कान लगाकर सुनें भी तो—

परिवदतु जनो यथातथायं
ननु मुखरो न ततो विचारयामः ।
हरिरसमदिरामदेन मत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः ॥

हाँ, इस हरि-रसमें इतनी मादकता है ? अरे ! इस मधुर मादक मदिराके वितरण करनेवाले महापुरुष तू धन्य है । भैया, मैं इसका एक बूँद भी पान करनेका अधिकारी नहीं हूँ । जब इतने बड़े-बड़े पण्डित अपने पाण्डित्यके अभिमानको त्यागकर—अमानी होकर पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगते हैं, तो न-जाने मुझ अधमकी तो क्या दशा होगी ? भैया, मुझसे तो इस प्रकार खुलकर नहीं नाचा जायगा । तुम जल्दीसे आगे बढ़ो, हमें तो अभी बहुत

* श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका विस्तृत जीवनचरित्र 'श्रीश्रीचैतन्यचरितावली' नामसे पाँच भागोंमें गीताप्रेससे प्रकाशित हो चुका है ।
—सम्पादक

कुछ देखना है। बिना वासनाओंके क्षय हुए कोई भी मनुष्य इस अद्भुत आसवके पान करनेका अधिकारी नहीं हो सकता।

अरे यह क्या ? इतनी ही देरमें कायापलट ! ये हैं कौन ? तुम इन्हें अब नहीं पहचान सकते। इन्होंने च्यवन-प्राशका सेवन कर लिया है। तभी तो इनकी ऐसी कायापलट हो गयी है। तुमने इन्हें बहुत बड़ा देखा होगा ! पहले तुमने इन्हें हजारों आदमियोंपर हुकूमत करते पाया होगा, फिर भला अब तुम इन्हें कैसे पहचान सकते हो ? अब तो ये **'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना'** हो गये हैं। ये गौड़ेश्वरके भूतपूर्व मन्त्री और सहोदर भाई रूप और सनातन* हैं। देखते हो न, कैसे हो गये हैं ? इन्हें भी उस प्यालेका चस्का लगा। रूप तो महाप्रभुसे मिलते ही नौ दो ग्यारह हुए। सनातन कारागारसे छिपकर भागे और वनों-जंगलों और पर्वतोंको पार करते हुए 'आमाय गौराचांद डाकि छे' पुकारते हुए पैदल ही काशी आये और जबतक एक प्याला चढ़ा नहीं लिया तबतक इन्हें चैन नहीं पड़ा। बस, तभीसे ये वृन्दावनवासी हो गये।

ये इनकी बगलमें कौन हैं ? ये इनके भतीजे जीव गोसाईं हैं। पण्डित होनेपर भी ये भारी भक्त हैं। हैं तो इन लोगोंके भतीजे तथा शिष्य ही। इन दोनों भाइयोंके सदृश इनमें सादगी और सीधापन नहीं है। फिर भी इनके बाँके भक्त होनेमें सन्देह नहीं। इनके पास ही यह जुगल जोड़ी कैसी ? ये दोनों भट्ट महोदय हैं। एकका नाम है रघुनाथ भट्ट और दूसरेका गोपाल भट्ट। इनकी भागवतकी कथा बड़ी ही मनोहर होती है।

ठहरो जरा, ऐसी जल्दी क्यों करते हो ? वह देखो ढीली धोती पहने हाथमें जपकी थैली लटकाये ये कौन महोदय आ रहे हैं ? ये हैं कृष्णपुरके प्रसिद्ध ताल्लुकेदार श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके लाड़िले लड़ेते लड़के। इनका नाम है रघुनाथदास। घर-द्वार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद सबपर लात मारकर ये हरि-भजन करने चले आये हैं। ये जातिके कायस्थ हैं, फिर भी निरामिषभोजी हैं। यह तुमने कैसी बिना सिर-पैरकी बात कह डाली ? वैष्णव तो सभी ही निरामिषभोजी होते हैं। तुम समझे नहीं, इनके लिये यह कार्य बहुत ही प्रशंसनीय है। कहावत है कि 'गिलोय एक तो वैसे ही कड़वी थी तिसपर नीम चढ़ी।' एक तो बंगाली और तिसपर भी कायस्थ। खैर, छोड़ो इस नीरस प्रसंगको। हाँ, तो ये बड़े भागवत वैष्णव हैं। प्रेमके पीछे इन्होंने सभी संसारी सुखोंको तृणसमान समझकर उन्हें सदाके लिये त्याग दिया है। ऐसे ही हरि-रस-माते भगवत्-भक्तोंके सम्बन्धमें तो दयाबाईने कहा है—

> हरि रस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध।
> त्रिभुवनकी सम्पति 'दया' तृन सम जानत साध ॥

अहा ! देखो न, चारों ओर कैसी बहार है। चारों ओर भक्त-ही-भक्त दृष्टिगोचर हो रहे हैं। क्योंजी, ये इतने उत्कण्ठित-से क्यों हैं ? भाई ! ये सब 'सूर' के दर्शनोंको लालायित हो रहे हैं। चलो जल्दीसे चलें, नहीं हम लोग पिछड़ जायँगे। वह देखो, ये जो सामने अपने सुमधुर गायनसे श्रोताओंको चित्रवत् बनाये हुए हैं ये ही व्रज-साहित्य-गगनके सूर्य सूरदासजी हैं। हाथमें वीणा लिये प्रेममें पागल होकर कीर्तन कर रहे हैं। यही इनका रातदिनका काम है। 'इन्होंने आँखें क्यों बन्द कर ली हैं ?अरे भाई ! इस असार संसारकी ओरसे बिना आँखें बन्द किये कोई उस अमृतानन्दका पान नहीं कर सकता। आँखोंको मूँदकर ये उस अनिर्वचनीय आनन्दरूप अमृतत्वकी इच्छा कर रहे हैं। भगवती श्रुति इनके ही सम्बन्धमें तो कह रही हैं 'आवृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इन्हें जरा ध्यानपूर्वक देखो। इनकी परख करनेके लिये हृदय चाहिये हृदय। कैसा हृदय ? जलता हुआ, विरह-व्यथामें तड़पता हुआ, वात्सल्य प्रेममें सना हुआ। अहा, इनके वाक्यवाण प्रेमी हृदयोंमें कसक पैदा कर देते हैं। भावुक हृदयमें गुदगुदी होने लगती है। विद्वानोंका कथन है कि संस्कृत भाषाके दो एक कवियोंको छोड़कर संसारमें आजतक किसी भी भाषाके कविने शिशु-सौन्दर्य और स्वभावका ऐसा जीता-जागता बोलता हुआ वर्णन नहीं किया है। इस बातको तो विश्वसाहित्यके विद्यार्थी ही जानें। अपने राम तो इनकी कविता ही सुननेके इच्छुक हैं। सावधान, अब ये गानेहीवाले हैं। बालक कृष्णकी बाल्यावस्थाका कैसा सुन्दर वर्णन करते हैं—

* रूप-सनातनका जीवनचरित्र 'प्रेमी भक्त' नामक, गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें पढ़िये। —सम्पादक

सोभित कर नवनीत लिये ।
घुटुअन चलत रेनु तन मंडित मुखमें लेप किये ॥
चारु कपोल लोल लोचन छबि गौरोचनको तिलक दिये ।
लर लटकन मानो मत्त मधुपगन माधुरि मधुर पिये ॥
कँठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत हे सखि रुचिर हिये ।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये ॥

वाह रे, कन्हैयाके रूपके कत्थक । तैंने तो कलेजा काढ़के रख दिया । आँखें तो थी ही नहीं, ये सब लीला तुम कैसे देख रहे थे । बिना प्रत्यक्ष आँखोंसे देखे कोई ऐसा अद्भुत वर्णन कर सकता है ? हाँ, अब समझे । ये अलौकिक भाव हैं । अलौकिक भाव क्या इन लौकिक चर्मचक्षुओंसे देखे जा सकते हैं । तुमने दिव्य चक्षुओंसे इन सब लीलाओंका प्रत्यक्ष किया है ।

चलो भाई अब किधर चलना है ? सामने ही तो । यह देखो । ये हितजी हैं । अहा, क्या ही बहार है ! सिवा प्यारी-प्यारेके इन्हें और कुछ भाता ही नहीं । ये अनन्य राधावल्लभीय सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं । ये भक्त हैं, प्रेमी हैं, रसिक हैं, और कवि भी हैं । हाँ, सच्चे कवि हैं । सरस हैं, सहृदय हैं । पागल होकर गा रहे हैं ।

ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आजु बनी ।
नखसिख लौं अँग अंग माधुरी मोहे श्याम धनी ॥

बड़ी सुन्दर दुनियाँमें ले आये यार ! परन्तु इस दूकानमें तो कुछ भी ठाठबाट नहीं । यहाँ तो खाली टट्टी-ही-टट्टी गड़ रही है । परन्तु फिर भी यहाँ न जाने क्यों इतने ग्राहक खड़े हुए हैं ? यह बात भी नहीं कि सभी ग्राहक दरिद्री ही हों । इनमें तो राजे-महाराजेतक दिखायी पड़ते हैं ! अरे, इन्हें तुम नहीं जानते ! ये परम रसिक श्रीहरिदास-स्वामी हैं, जिनकी जूतियोंपर सम्राट् अकबर एक साधारण सेवककी पोशाकमें आकर बैठा था । जगत्-प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इन्हींके शिष्य थे । ये टट्टियोंमें ही निवास करते हैं । करुवेका ही पानी पीते हैं और गुदड़ी ही ओढ़कर सोते हैं । 'कर करुआ गुदरी गरे' यही इनका बाना है । आठों पहर इन्हें बिहारी-बिहारिनके साथ विहार करना ही भाता है । दुनियाँके परपञ्चोंसे इन्हें कोई भी सरोकार नहीं । टट्टीसम्प्रदायके ये ही आदि आचार्य और संस्थापक हैं । ये संसारमें किसीसे भी भय नहीं मानते, सब घटमें भगवान्‌को जानकर ये निर्भय होकर विचरते हैं । सुनिये ये स्वयं कह रहे हैं ।

अब हौं कासों बैर करौं ?
कहत पुकारत प्रभु निज मुखते, घट घट हौं बिहरौं ॥
आप समान सबै जग लेखौं, भक्तन अधिक डरौं ॥
श्रीहरिदास कृपा ते हरिकी नित निर्भय बिचरौं ॥

चलिये महाराज, यहाँ हमारी दाल नहीं गलनेकी । हम अभी इतने निर्वैरी नहीं हुए हैं । आगे बढ़ो ! अच्छा तो इधर मुँह फेरो !

अरे, क्या बंगालमें आ गये ! हाँ, यही तो मजा है, इसमें यह सब कुछ मालूम नहीं पड़ता कि कहाँ हैं । हमने तुमसे पहले ही कहा था न, कि यह अनादि-अनन्त हाट है । न इसके ओरका ठिकाना है न छोरका । ये भक्तप्रवर श्रीरामप्रसादजी हैं । कालीमाईके मानसपुत्र हैं । अहा, इनके प्रेमका क्या कहना है ! मानों कालीमाईका प्रेम साक्षात् शरीर धारण करके नृत्य कर रहा है । बंगदेशमें इतने ऊँचे भक्त और कवि विरले ही हुए हैं । ये मातासे सदा यही वरदान माँगा करते हैं 'आमाय पागल करे दे मा' ये सचमुच पागल हैं । हाथ कंगनको आरसी क्या ? इस बातको ये स्वयं ही स्वीकार करते हैं—

सुरा पान करिने आमि, सुधा खाइ जय काली बोले ।
मन मातालु मेते छे आमाय, मद मातालें मा ! मा ! बोले ॥

नहीं । चलो भाई, जल्दीसे आगे बढ़ो, ऐसा न हो कि इनके संसर्गमें पड़कर हम भी नृत्य करने लगें, तो सम्पूर्ण प्रतिष्ठा धूलिमें मिल जायगी । ये महाभाग कौन हैं ? अष्ट छापवाले नन्ददासजी ये ही हैं । धन्यभाग महाशय ! ये तो बड़े ही अमानी मालूम पड़ते हैं ! ठीक ही है भाई, बिना अमानी हुए कोई हरिकीर्तनका अधिकारी भी तो नहीं हो सकता । इन्होंने अपनी सम्पूर्ण अवस्था व्रजमें रहकर कृष्णकीर्तन करते हुए ही बितायी है । इन्हें प्रतिष्ठाकी तनिक भी इच्छा नहीं । ये प्रतिष्ठाको 'सूकरीविष्ठा' के सदृश समझते हैं । कामिनी-काञ्चन, कीर्ति कुछ भी नहीं चाहते । ये तो खाली प्रेमके भूखे हैं । इनके मतसे प्रेमके समान 'ग्यान जोग' कुछ भी नहीं है—

जो ऐसी मरजाद मेटि मोहनको ध्यावैं ।
काहि न परमानन्द प्रेम पद पीको पावैं ।।
ग्यान जोग सब करमते, प्रेम परे ही साँच ।
यों यहि पटतर देत हौं हीरा आगे काँच ॥
विषमता बुद्धिकी ।

सुना आपने ? अरे यार, सुना तो सब कुछ, परन्तु यह क्या ? यहाँ तो स्त्रियाँ भी हैं ! तो फिर इसमें आश्चर्यकी ही कौन बात है ? यहाँ स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, राजा-रंक, मूर्ख-पण्डित किसीका भी भेद-भाव नहीं है । यहाँ आनेको हिम्मत चाहिये । जिसमें हिम्मत हो वही आ सकता है । मालूम है कैसा बनके इस बाजारमें कोई आ सकता है ! अच्छा तो सुनो—

सीस उतारै भुइ धरै, तापर राखै पाँव ।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥

है तुममें सामर्थ्य ! भैया, मुझे नहीं चाहिये । तुम यहाँसे आगे चलो । 'भाई ! इतने क्यों घबड़ाते हो ? यदि तुम सीस नहीं दे सकते, तो जिन्होंने सीस समर्पित कर दिया है, उनके दर्शन तो कर ही सकते हो । देखो, ये चित्तौड़की महाराणी हैं । अपने प्यारे गिरधरलालके पीछे पगली बन गयी हैं । इनका नाम है, मीराबाई* इन्होंने कलियुगमें भी गोपियोंके प्रेमको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है । ये अपनी धुनिकी बड़ी पक्की हैं । अपने प्यारेके पीछे ये परिवारवालोंकी कुछ भी परवा न करके देश-परदेशों मारी-मारी फिरती हैं । इनके प्रेमके प्रभावसे जहर अमृत-तुल्य हो गया, पिटारीका साँप भी शालिग्राम बन गया ! तो भी ये बड़े कष्टमें हैं । इनके दुःख-दर्दको भला कौन जान सकता है ! सुनो इनकी मनोव्यथा, ये अपने आप ही अपना दुखड़ा रो रही हैं—

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाणै कोय ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिधि सोणा होय ।
गगन मँडल पै सेज पियाकी, किस बिधि मिलणा होय ॥
घायलकी गति घायल जाने की जिन लाई होय ।
जौहरीकी गति जौहरी जाने, की जिन जौहर होय ॥
दरदकी मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय ।
मीराकी प्रभु पीर मिटैगी जब, बैद साँवलिया होय ॥

भाई, बड़ा करुण-कंठ है । ऐसी करुण-कहानी तो मैंने आजतक नहीं सुनी । हृदयके अन्तस्तलके सजीव उद्गार हैं !

अहा, ये तो कोई गुजराती महाशय हैं ! हाँ, परम भागवत अनन्यवैष्णव स्वनामधन्य श्रीनरसी मेहताजी आप ही हैं । स्वयं श्रीहरि इनके सहायक हैं । इनके सभी काम वे अपने हाथोंहीसे करते हैं । ये परायी पीरको भी जानते हैं । इन्होंने वैष्णवकी परिभाषा ही यह की है—

बैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे ।

तुम परायी पीर जानते हो ? भाई, कैसा बेढंगा प्रश्न कर देते हो । चलो आगे बढ़ो । ये तो पगड़ी बाँधे हुए हैं, कोई महाराष्ट्रके महापुरुष जान पड़ते हैं । हाँ भाई, ये महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संत हैं । महाराष्ट्र देशमें कीर्तनके समय जिन सात महापुरुषोंका नाम लेकर कीर्तन आरम्भ किया जाता है, उनमें इनका भी नाम है । वे सात कौन-कौन हैं, जानते हो ? 'निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम' ये तुकारामजी महाराज ही हैं । इन्होंने विधिनिषेधका झंझट त्याग दिया है । वेदान्तियोंका तो कथन है कि सभी नाम-रूप मिथ्या हैं । उनके मतमें 'नाम' कोई सत् पदार्थ ही नहीं, किन्तु इनकी बात निराली ही है । ये नामके ही पीछे पागल हुए फिरते हैं । जिसे देते हैं उसे नामका ही उपदेश देते हैं । कुछ दुष्टोंने इन्हें गिरानेके लिये एक वेश्याको सिखा-पढ़ाकर इनके पास भेजा । गयी तो थी वह इन्हें रिझाने, वहाँ जाकर वह स्वयं ही रीझ गयी ! इन्हें न गिरा-कर स्वयं ही इनके चरणोंपर गिर पड़ी और फिर ऐसी गिरी कि उठकर फिर नगरमें नहीं आयी । नामके अनन्त सागरमें घुलमिलकर वह तद्रूप ही हो गयी !

देखें ये आखिर सब शास्त्रोंका निचोड़ गागरमें सागर भरनेकी तरह जरा-सेमें क्या बताते हैं ?

वेद अनंत बोलिला, अर्थ तुकाचि साधिला ।
विठोबाची शरण जावें, निज निष्ठे नाम गावें ॥

* मीराकी सुन्दर जीवनी 'भक्त नारी' नामक गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें पढ़िये । —सम्पादक
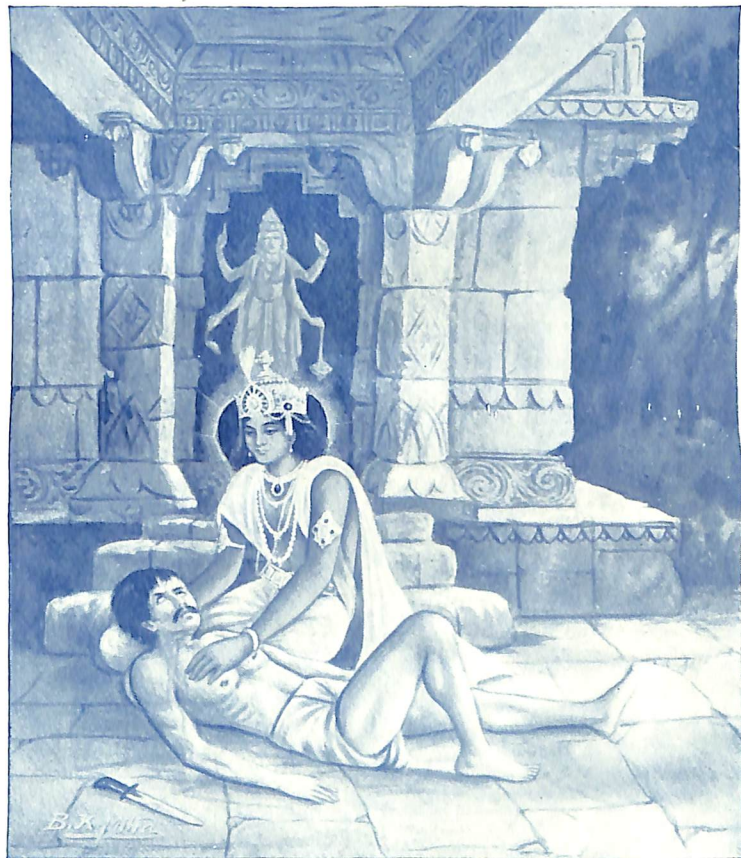
चाक्रिक भीलको भगवद्दर्शन

प्रेमी भक्त रसखान
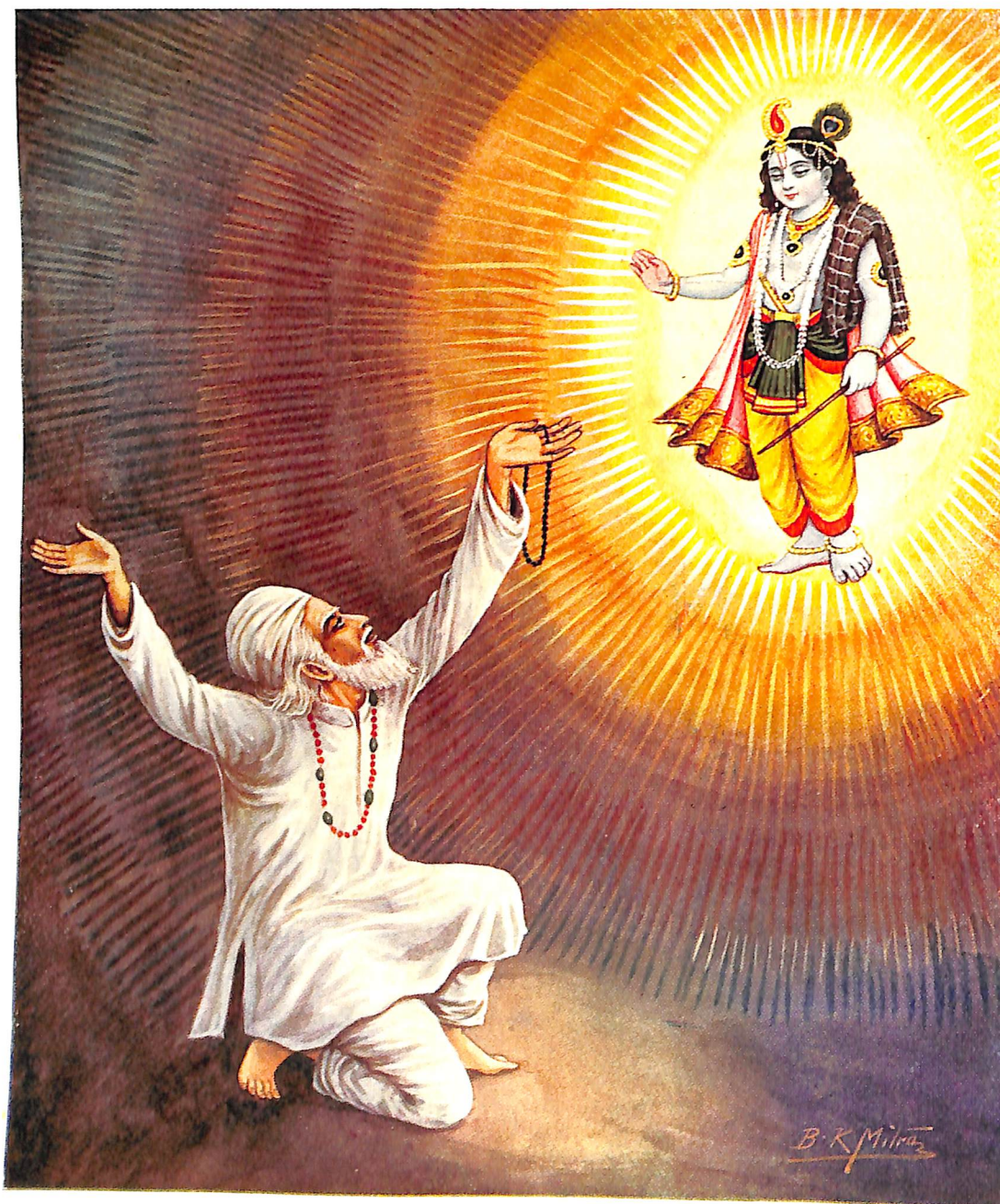
या लकुटी अरु कामरिया पै राज तिहूँ-पुरको तजि डारौं ।

बस, विठोबाकी शरण होकर नामगान करना सार है ? फिर यार ये पोथे-के-पोथे रचे क्यों गये हैं ? विश्वासके लिये । खाली 'राम' इन दो अक्षरोंके ऊपर बुद्धिवादियोंका सहसा विश्वास नहीं होता । इसलिये शास्त्रकार पहले बहुत-सी बातें बनाकर अन्तमें घुमा-फिराकर यही बात कह देते हैं 'विश्वास करो । भगवान्का नाम लो ।' परन्तु बिना उसका असली मर्म जाने कोई इस भेदको पा थोड़े ही सकता है ? तुकारामजीने इस मर्मको जाना था । कैसे ? शास्त्रज्ञानद्वारा ! अजी नहीं, अपने अनुभवज्ञानसे, राम-नामके प्रतापसे, तभी तो ये निर्भय होकर कह रहे हैं—

अनुभवसे कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बसमें ।
जो चाहे सो पिये प्रेमसे, अमृत भरा है इस रसमें ॥

भाई, इनकी बात तो कुछ-कुछ हमारी समझमें भी आती है । खाली मुखसे राम-राम ही तो कहना है, इसमें लगता ही क्या है ? हाँ, यह मत समझना । ये भी किसीसे कम नहीं हैं । नामसनेही संत जानके बदलेमें मिलते हैं । 'तुका म्हणें मिले जिवा चीये साटीं' लगा सकते हो जीकी बाजी ? चलो, चलो भाई, आगे चलो । यहाँ तो बिना जानके कोई बात ही नहीं करता । इन सबके मतसे मानो जानका कुछ मूल्य ही नहीं ! कुँजड़ेका गल्ला समझ रक्खा है !

अच्छा इन्हें जानते हो ! हाँ यार, इन्हें जानना भी कोई कठिन काम है, देखते नहीं हो ! गलेमें कितनी मालाएँ पड़ी हैं, ठाट-बाटका चन्दन लगा हुआ है, सम्पूर्ण शरीरमें व्रजरज लिपटी हुई है, कोई परम भागवत वैष्णव हैं । अरे, यह तो कोई भी बता सकता है, यह बताओ, ये कौन जाति हैं ? भाई ! वैष्णवोंकी भी कोई जाति होती है क्या ? 'हरिको भजे सो हरिका होय, जाति पाँति पूछे ना कोय' हरिजन ही इनकी जाति है; परन्तु देखनेमें तो ये कोई उच्च-कुलके पुरुष जान पड़ते हैं । तुमने अभी इन्हें पहचाना नहीं । ये जातिके सैयद हैं । ये दिल्लीके शाही खानदानी राजवंशावतंस श्रीरसखानजी हैं । ये साहिबीको व्यर्थ समझकर छिनभरमें ही बादशाही वंशकी ठसक छोड़ व्रजवासी बन गये और प्रेम-निकेतन श्रीकृष्णचन्द्रजीका पल्ला पकड़कर अन्ततक उन्हींके साथ हास-विलास करते रहे । ये उस ललाम रूपके देखते ही मियाँसे रसखान हो गये । देखते नहीं कैसे मस्त बैठे गुनगुना रहे हैं ? सुनें, तो क्या गाते हैं ?

मानुष हौं तो वही रसखानि,
बसौं व्रज गोकुल गाँवके ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरिको,
जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिंदी कूल कदंबकी डारन॥

यार, इनकी वाणीमें तो बड़ी माधुरी और प्रेम भरा है ! कुछ पूछो मत । प्रेमका जैसा अद्भुत वर्णन इन्होंने किया है, वैसा वर्णन व्रजभाषामें बहुत ही कम कवियोंने किया है । लो तुम तो अनेकों फूलोंका रस चखनेवाले भ्रमर हो न ! लो थोड़ा इनके प्रेमपीयूषका भी स्वाद चखते चलो । अहा, क्या ही सुन्दर शब्द-विन्यास है ! कैसा ऊँचा आदर्श है ! कितनी स्वाभाविकता, सरलता तथा सरसता है—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर सरिस बखान ।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नहीं रसखान ॥

भाई, मुझे यहाँसे जल्दीसे हटाओ । यदि मैं इसमें फँस गया, तब तो सभी गुड़ गोबर हो जायगा । मुझे तो अभी संसारमें बहुत-से काम करने हैं । यदि मैं इस चक्करमें फँस गया तो वे सब तो ज्यों-के-त्यों ही रह जायँगे । हे हरि, त्राहि माम् ! रक्ष माम् !!

अच्छा तो लो आगे चलते हैं । इन्हें पहचानते हो ? खूब, लो इन्हें भी न जानूँगा ? ये कृष्णगढ़ाधीश महाराजा जसवन्तसिंहजी हैं न ? अरे, चुप, चुप ! यहाँ भूलकर भी फिर इस नामको न लेना । लोग हँसी करेंगे । यहाँ इनका नाम है, महात्मा नागरीदास । राजा होकर भी ये प्रेमी हैं । और सच्चे प्रेमी हैं । अपने प्यारेके ऊपर इन्होंने सब कुछ वार दिया है । राजपाट, धन-दौलत, स्त्री-बच्चे सभीको छोड़-छाड़कर ये वृन्दावनवासी बन गये हैं । 'सर्वसुके मुख धूरि दे सर्वसु कै व्रज धूरि' बस, व्रजकी धूरि ही अब इनका सर्वस्व है । ये भक्त होनेके साथ ही कवि ही नहीं, सत् कवि भी हैं । वृन्दावन ही इनका सब कुछ है, कृष्ण ही इनका सखा है, उसके गुणगान करना ही इनका व्यापार है । 'नागरिया नन्दलाल सो निशिदिन गाइये' बस, यही

इनकी टेक है। यह टेक अब टारी नहीं टरती। एक बारकी लगी लगन फिर छुड़ायेसे भी नहीं छूटती। इन्हें लगन लग गयी है और सच्ची लग गयी है। तभी तो ये वार-पार हो गये हैं। कबीरदासजीने इन्हींके सम्बन्धमें तो यह कहा है—

लागी लागी सब कहैं, लागी बुरी बलाय।
लागी तबही जानिये, जब वार पार ह्वै जाय॥

इधर ये दो बाई कौन हैं? इन बाइयोंकी बात क्या पूछते हो? ये दोनों बहिनें हैं। ये दोनों ही महात्मा चरनदासजीकी चेली हैं। इनमेंसे एकका नाम तो है सहजोबाई और दूसरीका नाम है दयाबाई। इनकी उत्कट भक्ति और सच्ची लगनके सम्बन्धमें अब हम आपसे क्या कहें? सहजोबाई प्रेमीकी दशाका वर्णन करती हुई कहती है—

प्रेम दिवाने जो भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन॥

दयाबाईकी दीनता और विरह-वेदना बड़ी ही मर्मस्पर्शी है! सुनिये किस करुण-कण्ठसे प्रभुसे प्रार्थना कर रही है—

जनम जनमके बीछुरे, हरि अब रह्यो न जाय।
क्यों मनकूँ दुख देत हौ, बिरह तपाय तपाय॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवैं केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

अब यहीं अटके रहोगे कि आगे भी बढ़ोगे? अरे यहाँ कहाँ ले आये? 'ये गंगाजीकी गैलमें मदारके गीत कैसे!' यहाँ तो सर्वत्र कारखाने-ही-कारखाने दीखते हैं। बाबा! यहाँ मुझे क्यों ले आये? 'आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास' क्या भक्तोंकी हाट छोड़कर अब मीलोंमें पाट परखने चल रहे हो? भाई! जरा धैर्य धारण करो। जानते हो इस नगरका क्या नाम है? इसका नाम है कलकत्ता। यही पश्चिमी सभ्यताकी जीती जागती तसवीर है। परन्तु तुम इतने घबड़ा क्यों गये? कभी पहाड़की यात्रा की है या नहीं? जहाँ बिच्छूका पेड़ होता है, ठीक उसके नीचे ही उसकी दवा भी होती है। नगरसे निकल चलो तब तुम्हें पता चलेगा।

न जाने क्यों, इस स्थानमें मेरा मन स्वतः ही शान्त-सा हो रहा है? वृत्तियाँ अपने आप ही स्थिर हो रही हैं! अजी, यदि ऐसा हो रहा है, तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है? अभी थोड़े ही दिन हुए यहाँपर एक ऐसे महात्मा हो चुके हैं, जिनकी ख्याति भारतवर्षमें ही नहीं दूसरे-दूसरे देशोंतकमें फैल गयी है। इस स्थानका नाम है दक्षिणेश्वर। परमहंस रामकृष्णदेवने यहीं रहकर सिद्धि प्राप्त की थी और यहींपर रहते हुए अपनी वाक्सुधाद्वारा वे संसारी तापोंसे संतप्त प्राणियोंकी परम पिपासाको शान्त करते रहे। वे कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु तो भी अच्छे-अच्छे पण्डित उनके चरणोंमें बैठकर उनके मुख-निस्सृत स्वाभाविक ज्ञानका बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ पाठ पढ़ते थे। उन्होंने व्याख्यान-मञ्चपर खड़े होकर न तो कभी व्याख्यान ही दिया और न लेखनी लेकर ग्रन्थोंका ही प्रणयन किया, फिर भी उन्होंने सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंका मर्म कह डाला। कबीरदासजीने मानो इन्हें ही लक्ष्य करके यह बात कही थी—

मसि कागज तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहु युग माहात्म्य तेहि, कहिकै जनायौ नाथ॥

उन्होंने जबानी ही सब शास्त्रोंके उपदेश कह डाले। भाई, ये माताके प्रेममें सदा मग्न रहते थे, शरीरकी भी सुधि-बुधि नहीं! क्षण-क्षणमें समाधि! माताके साथ बातें करना ही इनका व्यापार था। इन्हें अपनी जननीके ऊपर दृढ़ विश्वास था। एक बार इन्होंने अपनी माताको लक्ष्य करके बड़ी ही दृढ़ताके साथ कहा था—

आमि दुर्गा दुर्गा बोले मा यदि मरि।
आखेरे से दिने ना तारे केमन जाना जाबेगो शङ्करी॥

ठीक है महाराज, मातामें भला इतनी हिम्मत कहाँ जो वह तुम्हारी चुनौती स्वीकार कर ले? उसे तो तारना ही होगा। परमहंसदेवके सदुपदेशोंसे पश्चिमीय सभ्यताका घटाटोप बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गया। लोग अज्ञान-अन्धकारकी ओरसे हटकर ज्ञानालोककी ओर अग्रसर हुए। पश्चिमीय सभ्यताके चकाचौंधमें सोते हुए युवकोंने प्रभात हुआ समझकर अंगड़ाई लेते हुए, अलसाती आँखोंसे एक बार अपने चारों ओर देखा। उन्हें अन्धकारमें आलोकका आभास होने लगा, वे उसी ओर बढ़नेको उत्सुक हुए।

अहा! ये तो बड़े सुन्दर युवक हैं, इस अवस्थामें इतनी सौम्यता! ऐसी सरसता! इतनी तन्मयता! शरीरका कुछ भान ही नहीं। मस्त हैं, मानो कहीं संसार है ही नहीं।

मुझे इनका पूरा परिचय दो। भाई, इनका नाम है जगत्-बन्धु। बन्धुभक्त इन्हें साक्षात् गौराङ्गदेवका अवतार बताते हैं। इन्होंने चिरकालतक जनसंसदिसे पृथक् रहकर विकट साधना की है। ये बालब्रह्मचारी हैं, स्त्रियोंके दर्शनतक नहीं करते। इन्होंने अपनी कीर्तनकी ध्वनिसे बंगालके एक प्रान्तमें फिर चैतन्यका समय लाकर उपस्थित कर दिया। देखते हो न ? सौन्दर्य इनके चेहरेसे फूट-फूटकर निकल रहा है। ये इस धराधामपर थोड़े ही दिन विराजे, परन्तु इतने ही दिनमें ये वह कार्य कर गये जिसे सैकड़ों मनुष्य चिर-कालमें भी न कर पाते। देखते हो न, इनके कण्ठमें कितनी करुणा है ? लो जल्दीसे भक्तिरसमें पगा हुआ इनके संकीर्तनका एक बंगलापद भी सुनते चलो !

एस हे ओहे वंशीधारी।
आमि भजन पूजन नाहि जानि हे,
हरि आमि अति पापाचारी॥
हरि अपार भव-जलधि हे,
ताहे तरङ्ग उठि छे भारी॥
हरि आमार अति जीर्ण तरी हे,
हरि त्वराय एसे हओ काण्डारी॥
एक बार जय राधा श्रीराधा बोल हे,
हरि बाजाओ मुरली तोमारी॥
जाग जाग राधा दामोदर हे,
जाग जाग हृदये आमारि॥

भाई, अब तो मैं थक गया। अब यहीं समाप्त करो। आगे नहीं चला जाता। पैरोंमें पीड़ा होती है। बहुत देखा, अब तो थकान आ गयी है। मुझे तो नींद आ रही है अब सोऊँगा। अच्छा भाई, तुम जाकर सोओ। मैं तो अब एकान्तमें बैठकर रोऊँगा ! तुम्हें भी पागलपन सवार हुआ क्या ? रोनेसे क्या होता है ? भाई, रोनेसे ही तो सब कुछ होता है। वह मीत बिना रोये मिलता भी तो नहीं। देखो, कबीरदासजी क्या कहते हैं—

कबीर हँसना दूर कर, रोनेसे कर प्रीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

रोनेसे ही तो सब कुछ होता है। अपनी-अपनी रुचि ही तो है, उसे रोना ही भाता है, जो उसके लिये जितना ही अधिक व्याकुल होकर रोता है, वह उससे उतना ही अधिक प्रसन्न होता है। आजतक जितने भी उसे चाहने-वाले हुए हैं सब रोते ही रहे हैं। सुनो—

हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिलैं, तो कौन दुहागिनि होय॥

'तुम्हारी इच्छा भाई ! जब तुम जान-बूझकर ही आगमें कूदते हो, तो हम क्या करें ? परन्तु देखना इतनी बात याद रखना। इस चक्करमें फँसे तो फिर उम्रभर रोना ही हाथमें रह जायगा ! तुम भी इन लोगोंकी भाँति सदा ताकते ही रहोगे। फिर संसारके सभी सुखोंसे हाथ धोना पड़ेगा।' 'भैया ! तुम्हारा मुँह घी-शक्करसे भरे। हा ! वह शुभ दिन कब होगा, जब मैं भी इन्हीं प्रेमके पुजारियोंकी भाँति इनके चरणोंमें बैठकर अपने प्यारेके लिये रोता रहूँगा। मेरी तो अभिलाषा ही यह है। मैं तो अपने प्यारेसे सदा यही भिक्षा माँगा करता हूँ। बताऊँ मैं उससे कैसा जीवन चाहता हूँ ?' लो अन्तमें मेरी अभिलाषा भी सुनते जाओ—

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्॥

(श्रीकुलशेखरस्य मुकुन्दमालायाम्)

हे कमलनयन ! हे सरसीरुहाक्ष ! मेरे दोनों कर बँधे हुए हों, मस्तक नत हो और सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो रहे हों, करुणकण्ठसे-गद्गद होकर तुम्हारी प्रार्थना करता होऊँ और आँखोंसे अश्रु-वर्षा हो रही हो। नित्य ही तुम्हारे चरणारविन्दोंके ध्यानामृतका पान करता होऊँ। बस, नाथ ! मेरी यही प्रार्थना है, इस प्रकारका जीवन मुझे निरन्तर प्रदान कीजिये !

भक्त

भक्त, भक्तिके आनन्दमय आवेशमें, अपने इष्टके सम्मुख मदोन्मत्तकी भाँति कभी नाचता है, कभी हँसता है, और कभी रो उठता है। सांसारिक मानव-मण्डलकी तर्कमयी दृष्टिमें वह पाखण्डी एवं पागल है, पर प्रेमके मतवाले उसे अपना आदर्श मानते हैं।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

ज्ञान और भक्ति

(लेखक—कृष्णभक्त श्रीरोनाल्ड निक्सन महोदय, अल्मोड़ा)

[ये एक अंग्रेज सज्जन हैं। कुछ दिन हुए, काशीमें हिन्दू-विश्वविद्यालयके प्रोफेसर प्रिय पं० जीवनशंकरजी याज्ञिक एम० ए० और पं० गंगाप्रसादजी मेहता एम० ए० की कृपासे आपसे मुलाकात हुई थी। आपका सुन्दर स्वभाव और वैष्णवोचित व्यवहार देखकर मन मुग्ध हो गया। आप लखनऊमें शायद ८००) पाते थे। वहाँ डॉ० चक्रवर्ती *Vice Chancellor* के साथ रहते थे। हिन्दू-विश्वविद्यालयमें ३००) पर आ गये। पहले आपकी बुद्धधर्मपर आस्था हुई पर अब पूरे वैष्णव हैं, श्रीराधाकृष्णके उपासक हैं, बड़े आनन्दी और मिलनसार पुरुष हैं, बनावटका नाम नहीं। भगवान्‌की शरणको ही प्रधान साधन मानते हैं। भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेमें विश्वास रखते हैं। लड़ाईपर भी गये थे और हवाई जहाजपर उड़ते थे। इस समय आप अल्मोड़ामें हैं। आपने हालमें लिखा है कि 'अब मैंने नौकरी छोड़ दी है। हिमालयमें छोटा-सा आश्रम बनाकर रहूँगा।' यह लेख आपकी ही भाषामें प्रायः अविकलरूपसे प्रकाशित किया जाता है। आपकी नागरी लिपि सुन्दर है। भाषा भी बुरी नहीं। आपने तो हमसे भाषा सुधारनेके लिये अनुरोध किया था परन्तु इस भाषामें जो मजा आता है वह सुधरी हुईमें नहीं आता! आशा है, पाठकगण एक विदेशी सज्जनका यह स्तुत्य प्रयत्न देखकर प्रसन्न होंगे। हमारे देशके उन अंग्रेजी शिक्षित सज्जनोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि सात समुद्र पार रहनेवाले अंग्रेज तो हिन्दी और हिन्दुत्वको इतना पसंद करते हैं और हम अपने घरमें भी अंग्रेजीमें बोलना-लिखना पसंद करते और हिन्दुत्वसे नफरत करते हैं। आपके देवमन्दिरके चित्रसहित विशेष विवरण अगले अंकमें प्रकाशित करनेका विचार है। —सम्पादक]

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। १, २, ५)

अर्जुनका प्रश्न यह था कि हे भगवन्! मनुष्योंमें कौन श्रेष्ठ है जो निराकार निश्चल अक्षर ब्रह्मको पूजते हैं या जो साकार मनुष्यरूपधारी तुमको पूजते हैं? श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया कि दोनोंके गति एक होता परन्तु अव्यक्त ब्रह्मको पूजनेवालोंका मार्ग अतिशय कठिन है। हमारे भक्तोंको हम शीघ्र ही त्राण करते हैं।

उपरोक्त श्लोकोंको प्रायः सब कोई जानते हैं, लेकिन अहंकारसे हम लोग मानते नहीं। अनेक उपायसे प्रकृतिको जीतनेवाले हम लोग अपने ज्ञानका आश्रय लेके दर्पहारी गोविन्दको भूल जा रहे हैं। जब कभी याद भी आती है तब हम सोचते हैं कि जिस शक्तिमान् मन और तीक्ष्ण बुद्धिसे हमने इतना अमानुषिक काम किये, जिस विज्ञानसे हमने हवाई जहाज, रेलगाड़ी और इतने अगण्य अद्भुत यन्त्रोंको बनाये, उस बुद्धिके लिये कठिनता क्या? हा! (हमलोगोंसे वे लोग अच्छे हैं, वे—) दुर्बल बुद्धिवाले स्त्री-लोग या अज्ञान गँवार लोगके लिये भक्तिमार्ग निस्सन्देह अति उत्तम है। किन्तु हमलोग बड़े मिज़ाजसे ज्ञानके राहपर चलनेको तैयार हैं। हम कहते हैं 'सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्मा क्या यह पत्थररूपी देवमूर्तिमें हो सकते हैं या कभी मनुष्यरूप लेके अवतार ले सकते हैं? मनुष्यकी सेवा करो, समाजकी सेवा करो, देशकी सेवा करो, 'ह्यूमानिति' Humanity की सेवा करो लेकिन इस मूर्तिकी सेवा छोड़ दो और अविश्वास्य पौराणिक किस्साएँको मत पढ़ो।' ऐसा उपदेश देके वेदान्तिक ग्रन्थ (उल्थामें) पढ़के आराम कुर्सीमें बैठके, 'शुद्धोऽहम् बुद्धोऽहम् सच्चिदानन्दोऽहम्' कहके, हमलोग ब्रह्मज्ञानी बन जा रहे

हैं। आजकल ब्रह्मज्ञान बड़े सस्तेमें जा रहा है। भागवतमें लिखा है—

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥

(श्रीमद्भागवत १०। २९। ४८)

'उस (गोपियों) के सौभाग्यके मद और अभिमानको देखकर उसे मिटाने और उनपर अनुग्रह करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये।' इसी तरह हमारा अहङ्कार देखके श्रीकृष्ण हमलोगसे भी अन्तर्धान हो गये हैं। इसी वास्ते आजकल हमारा मन सन्देहसे भरा रहते हैं, इसीलिये हमलोग शङ्का करते हैं कि भगवान् हैं या नहीं। इसी वास्ते ही हमलोग युद्धसे अर्थाभावसे और अनेक प्रकारके रोगोंसे इतना कष्ट भोग रहे हैं। परन्तु 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।' यह दुःखसे हमारा अहङ्कार चूर्ण हो जायगा और हमारी बुद्धि फिर साफ हो जायगी। अहङ्कार सब क्लेशका मूल है और ज्ञानमार्गपर चलनेसे अहङ्कारकी वृद्धिका बड़ा डर होता है। (यथार्थ) ज्ञानमें अहङ्कार कुछ भी नहीं है। जो असल ब्रह्मज्ञानी होते हैं वह 'सोऽहम्' कहते हि तिलभर अहङ्कार नहीं रखते हैं लेकिन शुरूमें हमलोगके लिये बड़ा कठिन होता। 'हमने इतना बड़ा त्याग किये, हमारा इतना ज्ञान हुआ, हमारे इस साधनसे पूरा ज्ञान उत्पन्न होगा' ऐसे अहङ्कारी विचार आप-हि-आप मनमें आ जाता है और सब ज्ञानको नष्ट कर देता है। इसलिये लौकिक ज्ञान और विद्याका अहङ्कार छोड़के भक्ति-मार्गको ग्रहण करना चाहिये। भगवत्-प्राप्तिके लिये भक्ति-मार्ग सबसे सहज उपाय है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५३-५४)

वेद, तप, दान और यज्ञ इन करके भी मेरा वैसे स्वरूप कोई नहीं देख सकता है कि जैसे तुमने देखा। परन्तु हे अर्जुन! अनन्य भक्तिसे मेरा इस रूपको देख सकते है तत्त्वसे जान सकते है एवं प्राप्त कर सकते है।

अष्टाङ्ग योग बड़ा कठिन है। निराकार ब्रह्मका ध्यान करना और भी कठिन है। आजकल बहुत लोग कोई आकाश-सा रूप मनमें धारण करके निराकार ब्रह्मका नकली ध्यान किया करते हैं!

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।

(गीता ९। २५)

भूत-प्रेतका पूजन करनेवाले प्रेत लोगको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले जन मुझको प्राप्त होते हैं।

एक समय एक बौद्ध भिक्षुने देखा कि एक यति कुत्ताके माफिक आचरन करके तपस्या कर रहा था। उसने बुद्धदेवसे पूछा कि 'उस यतिकी तपस्याका क्या फल होगा?' बुद्ध भगवान्‌ने उत्तर दिया कि 'यदि उस यतिका साधन सिद्ध नहीं होगा तो शायद उसको नरकवास करने पड़ेगा और यदि सिद्ध होगा तो निश्चय वह कुत्ताका जन्म पावेगा।'

जो आकाशका ध्यान किया करता है वह भी शायद आकाश हो जा सकता है किन्तु ब्रह्ममय कभी नहीं हो सकेगा। निराकार ब्रह्म क्या है हमलोग जब जानते नहीं तब उसका ध्यान करना असंभव है और वृथा कोशिश करना भी मूर्खका काम है। इस वास्ते भगवान्‌का कोई विशेष रूपका ध्यान करना उचित है। यदि कोई पूछे कि कौन रूप श्रेष्ठ है तो उसके उत्तर यह है कि सब रूप वही 'एकमेवाद्वितीयम्' परब्रह्म नारायणके हैं। मनुष्य लोगके पृथक्-पृथक् संस्कारानुसार वह अनेकरूपसे प्रकाशित होते हैं, उसने कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

जो जैसे मेरे पास आते हैं वैसे ही मैं उनको भजता हूँ। तथापि श्रीभागवतमें लिखा है कि—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

(१। ३। २८)

ये सब अंशावतार हैं किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है। उसका मन हरनेवाला रूप, जिसका ध्यान अगण्य भक्तोंने किये एवं अभीतक कर रहे हैं, उसका ध्यान करना अति सहज और आनन्ददायक है।

भक्तिशास्त्रमें पाँच प्रकारका भक्ति वर्णित हैं। जैसे शान्तभाव, दास्यभाव, सखाभाव, वात्सल्यभाव और माधुर्यभाव किन्तु असलमें भक्ति अगण्य प्रकारके हैं। जितने भाव मनुष्यके मनमें आ सकते हैं इतने ही भावोंसे श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो सकती है।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।

(भागवत १०। २९। १५)

कामभावसे, क्रोधसे, भयसे, स्नेहसे, अद्वैतभावसे या मित्रभावसे हरिमें जो नित्य ध्यान लगाते हैं वही उसमें तन्मय हो जाते हैं। कामभावसे गोपिकाएँ उसको पाये। क्रोधसे शिशुपाल, भयसे कंस, स्नेहसे वसुदेव, अद्वैतभावसे अनेक ज्ञानी मुनि लोग और मित्रतासे अर्जुन वही एक श्रीकृष्णको पाया। आवश्यक इतना ही है कि हम लोग किसी-न-किसी भावसे उसमें आसक्त रहें।

कोई-कोई कहते हैं कि श्रीकृष्णमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष था क्योंकि उन्होंने पाण्डवोंसे मित्रता और कौरवोंसे शत्रुता किये। गोपिकाएँके साथ रास किये और पूतना आदि राक्षसोंको मार डाले। लेकिन यह बड़े कच्चे सिद्धान्त हैं। श्रीकृष्ण समदर्शक है। कोई जीव चाहे जिस भावसे उनको भजते हैं भगवान् उसको मुक्ति दे देते हैं और यह भी है कि श्रीजनार्दनके हाथका मार दूसरे किसीके प्यारसे अधिक आनन्ददायक है।

श्रीकृष्ण सब कोईका चित्तको हर लेते। 'कर्षयतीति कृष्णः'। वह सब कोईको आकर्षण कर रहे हैं। संसारमें दिखायी पड़ता है कि जो उनका भक्त नहीं हैं वे लोग हमेशा उनके निन्दामें तत्पर होते हैं। उनका नाम सुननेसे या उनके चित्रको देखनेसे उन लोगोंके मनमें विरोध भक्ति आता है और वे राजा शिशुपालकी तरह उनको लम्पट आदि गालियों देना आरम्भ कर देते। उनको (भगवान्को) उपेक्षा दृष्टिसे कोई नहीं देख सकते हैं। चाहे प्रेमसे देखने पड़ता या तो द्वेष भावसे। जो द्वेष भावसे देखते हैं, उनको भी एक आनन्द होते हैं। देवविग्रह या देवमन्दिरको तोड़नेमें, भक्त और भगवान्की निन्दा करनेमें उनको बड़ा आनन्द उत्पन्न होता। अन्तमें सुदर्शन चक्रद्वारा उनका भी मुक्ति होता है। जब द्वेष रखनेमें इतना फल होता है तब प्रेम रखनेके फलका वर्णन कैसे हो सकता है? प्रेम रखनेसे मुक्ति होता है यह बात कभी कहना ही नहीं चाहिये क्योंकि जो श्रीकृष्णजीसे प्रेम रखते हैं वह मुक्त ही हैं। उनके वास्ते संसारमें कोई भय या बन्धन नहीं रहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि जो कुछ हो रहा है सो हमारा पति करवा रहे हैं। उनके इच्छा बिना मेरा एक बाल भी नहीं हिल सकता है।

बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित लोग कभी-कभी यह तर्क किया करते हैं कि क्या भक्तिमात्रसे मुक्ति होता या ज्ञान और कर्मका भी आवश्यक पड़ता? अगर मुक्ति हो भी जाता है तो कैसा मुक्ति (सालोक्य, सामीप्य आदि)? यह तर्क वृथा है। मोक्ष होएँ या न होएँ भक्त लोग सिर्फ भगवान्से प्रेम रखने माँगते। अपना सर्वस्व श्रीगोपिवल्लभके चरणोंपर अर्पण कर देने माँगते। 'क्या होगा क्या नहीं होगा? यह रास्ता कहाँ जाता है? क्या इससे बढ़के कोई और अच्छा रास्ता नहीं है?' ऐसे दुकानदारी विचार भक्तके मनमें कभी आता ही नहीं।

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यदि यह निश्चय है तो यह भी निश्चय है कि कृष्णभक्त कृष्णको पाता है। चीनीका स्वाद कैसे है यह उसीको मालूम होगा जिसने एक बार चाट लिया। वैसे ही कृष्णप्राप्तिका क्या आनन्द है, उसीको मालूम होगा जिसने एक बार उसका दर्शन पाया। जैसे शराबी लोग पानीमें कुछ स्वाद नहीं पाते वैसे ही कृष्णभक्त संसारी भोगमें कोई रस नहीं पाते। कृष्णभक्ति सबसे बड़ा नशा है। एक दफे पीनेसे जीवनभर भक्त मतवाला रह जाता है। श्रीकृष्णका चेहरा सबसे बड़ी विद्या है। एक बार देखनेसे पुस्तक या शास्त्रका आवश्यक नहीं पड़ता। जैसे शराबी लोग सिर्फ अन्य शराबियोंके साथ बातचीत करना पसन्द करते हैं और जैसे विद्वान् लोग अन्य विद्वानोंके सङ्ग रहने चाहते वैसे ही कृष्णभक्त सिर्फ अन्य कृष्णभक्तोंके संगमें आनन्द रखते। कृष्ण-चर्चाके सिवाय और कोई बातचीतमें उनका मन नहीं लगते।

स्मेरां भङ्गित्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं
वंशीन्यस्ताधरकिसलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः॥

हे सखे! यदि तुमको बन्धुसंगमें आनन्द होता तब उस धीरे-धीरे हँसते हुए, त्रिभङ्गरूपधारी तिर्छी आँखसे देखनेवाले, नया फूलके माफ़िक ओठसे बाँसुरी बजानेवाले, उज्ज्वल मयूरपङ्खको पहननेवाले, गोविन्द नामक हरिके शरीरके तरफ कभी मत ताकना। अर्थ यह है कि वह गोपवेशधारी हृदयचोरको एक बार देखनेसे दुनियामें तुम्हारा और कोई आनन्द नहीं रहेगा। उनको देखनेसे मनुष्य लोग धर्म, अधर्म, देश, काल, समाज, स्वजन सब कुछ भूलकर पागलकी तरह उनके पीछे-पीछे दौड़ा करते हैं। तमाम चराचर जगत्में वे लोग सिर्फ वही एक श्रीकृष्णको देखा करते हैं। साधुमें और पापीमें, राजामें और भिखमङ्गेमें, गायमें और शेरमें, जीवमें और जड़में, पुण्यमें और पापमें वही एक जगत्पति विराजमान होके अपना लीला प्रकट कर रहे हैं। वही निश्चल अक्षर परंब्रह्म हैं और वही गोपाल बनके वृन्दावनमें इधर-उधर विचरता है। वह मायातीत हैं लेकिन पीताम्बर धोती पहिनते है। योगेश्वर होके योगी लोगके हृदयमें स्थिर रहते है और सुन्दर किशोररूप धरके गोपिकाएँके मनको चञ्चल कर देते हैं। कालरूपसे सब प्राणियोंको डराते हैं लेकिन यशोदाके क्रोधसे स्वयम् डर जाते हैं। जगत्के आधार हैं किन्तु भीष्मका मान रखनेके लिये अपनी प्रतिज्ञाको तोड़ दिये। सर्वशक्तिमान् विश्वेश्वर होनेसे भी वह नित्य अपने भक्तोंके वशमें रहते हैं। उसीकी शरण जाना चाहिये।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

भीलका सरल प्रेम

हरेरभक्तो विप्रोऽपि विज्ञेयः श्वपचाधिकः।
हरेर्भक्तः श्वपाकोऽपि विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः॥ (पद्मपुराण)

द्वापरयुगमें चक्रिक नामक एक भील वनमें रहता था, भील होनेपर भी उसके आचरण बहुत ही उत्तम थे। वह मीठा बोलनेवाला, क्रोध जीतनेवाला, अहिंसापरायण, दयालु, दम्भहीन और माता-पिताकी सेवा करनेवाला था। यद्यपि उसने कभी शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया था तथापि उसके हृदयमें भगवान्की भक्तिका आविर्भाव हो गया था। वह सदा हरि, केशव, वासुदेव और जनार्दन आदि नामोंका स्मरण

किया करता था। वनमें एक भगवान् हरिकी मूर्ति थी। वह भील वनमें जब कोई सुन्दर फल देखता तो पहले उसे मुँहमें लेकर चखता, फल मीठा न होता तो उसे स्वयं खा लेता और यदि बहुत मधुर स्वादिष्ट होता तो उसको मुँहसे निकालकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता, वह प्रतिदिन इस तरह पहले चखकर स्वादिष्ट फलका भगवान्‌के श्रद्धासे भोग लगाया करता। उसको यह पता नहीं था कि जूँठा फल भगवान्‌के भोग नहीं लगाना चाहिये। अपनी जातिके संस्कारके अनुसार ही वह सरलतासे ऐसा आचरण किया करता।

एक दिन वनमें घूमते हुए भीलकुमार चक्रिकने एक पियाल वृक्षके एक पका हुआ फल देखा, उसने फल तोड़कर स्वाद जाननेके लिये उसको जीभपर रक्खा, फल बहुत ही स्वादिष्ट था परन्तु जीभपर रखते ही वह गलेमें उतर गया। चक्रिकको बड़ा विषाद हुआ। भगवान्‌के भोग लगाने लायक अत्यन्त स्वादिष्ट फल खानेका वह अपना अधिकार नहीं समझता था। 'सबसे अच्छी चीज ही भगवान्‌को अर्पण करनी चाहिये' उसकी सरल बुद्धिमें यही सत्य समाया हुआ था। उसने दहिने हाथसे अपना गला दबा लिया कि, जिससे फल पेटमें न चला जाय। वह चिन्ता करने लगा कि अहो! आज मैं भगवान्‌को मीठा फल न खिला सका, मेरे समान पापी और कौन होगा? मुँहमें अँगुली डालकर उसने वमन किया तब भी गलेमें अटका हुआ फल नहीं निकला। चक्रिक श्रीहरिका एकान्त सरल भक्त था, उसने भगवान्‌की मूर्तिके समीप आकर कुल्हाड़ीसे अपना गला एक तरफसे काटकर फल निकाला और भगवान्‌के अर्पण किया। गलेसे खून बह रहा था, पीड़ाके मारे व्याकुल हो चक्रिक बेहोश होकर गिर पड़ा। कृपामय भगवान् उस सरलहृदय शुद्धान्तःकरण प्रेमी भक्तकी महती भक्ति देखकर प्रसन्न हो गये और साक्षात् प्रकट होकर कहने लगे—

'इस चक्रिकके समान मेरा भक्त कोई नहीं क्योंकि इसने अपना कण्ठ काटकर मुझे फल प्रदान किया है—

यद्दत्त्वानृण्यमाप्नोति तथा वस्तु किमस्ति मे।

'मेरे पास ऐसी क्या वस्तु है जिसे देकर मैं इससे उऋण हो सकूँ, इस भीलपुत्रको धन्य है, मैं ब्रह्मत्व, शिवत्व या विष्णुत्व देकर भी इससे उऋण नहीं हो सकता।' इतना कहकर भगवान्‌ने उसके मस्तकपर हाथ रक्खा, कोमल करकमलका स्पर्श होते ही उसकी सारी व्यथा दूर हो गयी और वह उसी क्षण उठ बैठा! भगवान् उसे उठाकर अपने पीताम्बरसे जैसे पिता अपने प्यारे पुत्रके अंगकी धूल झाड़ता है, उसके अंगकी धूल झाड़ने लगे। चक्रिकने भगवान्‌को साक्षात् अपने सम्मुख देखकर हर्षसे गद्गद कण्ठ हो मधुर वाक्योंसे उनकी स्तुति की, भगवान् उसकी स्तुतिसे बड़े सन्तुष्ट हुए और उसे फिर आलिङ्गन करके वहाँसे अन्तर्धान हो गये।

तदनन्तर चक्रिक द्वारका चला गया और वहाँ भगवत्कृपासे ज्ञान लाभकर अन्तमें देवदुर्लभ मोक्षपदको प्राप्त हो गया। जो कोई भगवान्‌की सरल शुद्ध भक्ति करता है वही उन्हें पाता है।

ये यजन्ति दृढया खलु भक्त्या
वासुदेवचरणाम्बुजयुग्मम्।
वासवादिविबुधप्रवरेड्यं
ते व्रजन्ति मनुजाः किल मुक्तिम्॥

(पद्मपुराण)

जो मनुष्य दृढ़ भक्तिके द्वारा इन्द्रादिदेवपूजित वासुदेव भगवान्‌के चरणकमलयुगलकी पूजा करता है वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है!

—रामदास गुप्त

श्रीसद्गुरु रामयज्ञजी

(लेखक—कुमार श्रीकोशलेन्द्र प्रताप साहिजी, रायबहादुर दिअरा राज्य)

सद्गुरु स्वामी रामयज्ञजी महाराजका जन्म सं० १८५८ में, जिला जौनपुरमें, सुलतानपुरके सरहदपर, समोधपुर नामक ग्राममें हुआ था। जिस वक्त वह पैदा हुए थे, उनके माता-पिताके पास एक अत्यन्त प्रभावशाली गिरनारपर्वतवासी महात्मा आये। उन्होंने तत्काल सद्गुरु महाराजके बालरूपका दर्शन करना चाहा। गुरु महाराज राजकुमार क्षत्रिय थे। वहाँके ठाकुरोंके यहाँ रिवाज है कि सूतिकागृहमें बाहरी आदमीको नहीं जाने देते। अस्तु, माता-पिताने उन महात्मासे मजबूरी जाहिर की। इसपर तपस्वीने आग्रहपूर्वक कहा कि अच्छा, उनकी माता उन्हें गोदमें लेकर आँगनमें खड़ी हो जायँ, हम प्रदक्षिणा करके चले जायँगे। इसको लोगोंने स्वीकार किया। मुनिने प्रदक्षिणा कर ली और पिताके बहुत हठ करनेपर बतलाया कि भारतके प्राचीन नौ योगीश्वरोंमेंसे यह एक हैं और इनका अवतार कलियुगमें संत-सद्गुरुरूपमें हुआ है। यह बालब्रह्मचारी, पूर्ण भक्त और दीर्घजीवी होंगे।

गिरनारके साधु चन्द मिनिटमें आये और गाँवके बाहर चले गये। फिर उनका पता न चला।

पिताजीकी मृत्यु गुरु महाराजके बाल्यावस्थामें ही हो गयी थी। माताजी अर्सेतक जीवित रहीं। गुरु महाराज सातवें वर्षसे नियम और संयमसे रहने लग गये थे। दसवेंमें वह गृहको त्यागकर बाहर चले गये थे, उन्होंने कई बार भारतका भ्रमण किया। कुछ कालके बाद जब वह ग्राममें फिरकर आये तब युवावस्थामें थे और महात्मा दूलनदासके दलके साथ-साथ कई जगह भ्रमण करते रहे। गुरु महाराजके हाथमें एक ध्वजा रहती थी और वह मण्डलीके आगे-आगे चलते हुए निम्नलिखित वाक्य कहा करते थे—

'मुरली धुनि तड़कै पूरि कला'

संत गोविन्ददासजीका भी साथ उनका रहा। आधी उम्रके करीबसे वे अधिकतर अपने ग्राममें ही रहने लग गये थे और वहींपर सत्संग भी करते थे। बाहर बहुत ही कम किसीके बुलानेसे जाते थे। खासकर बड़े आदमीके यहाँ तो बिल्कुल नहीं जाते थे। मृत्युसे तीन वर्ष पहिले मेरा उनसे परिचय हुआ और उनके अन्तिम दमतक बढ़ता ही गया। मुझे बहुत दिनोंसे संत-सद्गुरुओंकी तलाश रहा करती थी। पर जिन-जिनसे मैं मिलता था, उनके बाहर-भीतरके रूपोंमें महान् अन्तर देखकर मेरा दिल उनसे उचट जाता था। पर सद्गुरु रामयज्ञजी महाराजके निकट पहुँचकर मैं स्थिर हो गया और तीन ही वर्षके सत्सङ्गमें मुझे इतनी शान्ति मिली जो मेरे इस जीवनके लिये और अगले जीवनके लिये भी पर्याप्त होगी!

महाकवि तुलसीने लिखा है—

तुलसी तहाँ न जाइये, जहाँ जन्मको ठाँउ।
गुन अवगुन बूझत नहीं, लेत पाछिलो नाँउ॥

ठीक यही बात गुरु महाराजके सम्बन्धमें घटित हुई थी। जब वे अपने जन्म-ग्राममें स्थायीरूपसे कुटी बनाकर रहने लगे थे, तब पहले पहल गाँववालोंने उनके साथ बड़ा विरोध किया था। उनकी दिनचर्या बहुत सादी थी। दूध वे कभी नहीं पीते थे। क्योंकि उसे वह ब्रह्मचर्यमें बाधक समझते थे। इसी तरह पका हुआ आम भी नहीं खाते थे। हाँ, कच्चा आम जरूर खाते थे और खटाईमें उनको कुछ विशेष रुचि थी। दिन-रातमें केवल एक बार शामको आहार करते थे।

आडम्बर उनको बिल्कुल पसन्द नहीं था। दिगम्बर साधुओंका रहन-सहन उनको अच्छा नहीं

लगता था । वे कहा करते थे, यह मनुष्यकी मर्यादाके बाहरका काम है । यद्यपि कभी-कभी भक्तिके आवेशमें उनको अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं रहती थी । उनका अधिकांश समय एकान्तमें बीतता था । प्रधान-प्रधान भक्त ही उनके निकटतक बिना किसी हिचकके जा सकते थे । संयमके ऐसे दृढ़ थे कि लगातार ४७ वर्षोंतक वे सप्ताहमें केवल एक रात सोया करते थे । बाकी सारा समय ईश्वर-चिन्तनमें बिताते थे ।

एक बार रातको उनके यहाँ कुछ भक्त एकत्र थे और बहुत देरतक सत्सङ्ग हो रहा था । उनमें एक लालाजी भी थे । महाराजने उनसे कहा कि आप घर जाइये बहुत देर हो रही है । लालाजीको सत्सङ्गका रस मिल रहा था । वे बीचमें उठकर जाना नहीं चाहते थे । थोड़ी देरके बाद महाराजने फिर कहा कि लालाजी ! आप जाइये । सेंध फूटनेमें थोड़ी ही देर है । आपका घर पास ही है, सेंध फूटते-फूटते पहुँच जाइयेगा । लालाजी उठकर दौड़े । घर आकर देखते हैं तो सचमुच उनके मकानमें चोर सेंध फोड़ रहे थे । लालाजीको देखते ही चोर भाग गये ।

दूसरी घटना यह है कि समोधपुरमें एक कोढ़ी कहार रहता था । वह प्रायः महाराजजीकी कुटीके सामने बैठा रहता था । एक दिन महाराजकी दृष्टि उसपर पड़ गयी । महाराजने उससे कहा—'क्यों, क्या हाल है ?' कोढ़ीने कहा कि 'मेरी इच्छा यह है कि मैं अपने हाथसे आटा गूँधकर आपके लिये पूरियाँ बनवा देता और आप उसे खाते ।' महाराजने इसपर कहा, 'तुम तो कोढ़ी हो ।' कोढ़ीने कहा—'इसीसे तो मैं चाहता हूँ कि यह हाथ किसी तरह आपकी सेवामें लग जाय तो मेरा कोढ़ छूट जाय ।' महाराजने हँसकर कहा कि 'अच्छा, ईश्वरकी यही इच्छा है तो यही सही । तुम आटा गूँधकर मेरे लिये पूरियाँ बना दो । मैं खा लूँगा ।' कोढ़ीके दोनों हाथोंमें गलित कुष्ठ हुआ था । हाथ सड़े जा रहे थे । उसी हाथकी बनायी पूरियाँ महाराजने खायीं और यह आँखों देखी बात है कि दूसरे दिनसे ही उसके दोनों हाथोंका कुष्ठ सूखने लगा और थोड़े ही दिनोंमें वह भला-चङ्गा हो गया ।

एक दिन एक पण्डितजी, जिनका नाम पण्डित रामेश्वरदत्तशुक्ल था, महाराजसे मिलने आये । सवेरेका वक्त था । महाराजने कहा—'कुछ बनाकर खा लीजिये ।' पण्डितजीने कहा—'इच्छा तो नहीं है ।' महाराजने कहा कि 'खिचड़ी ही बनाकर खा लीजिये ।' पण्डितजीने कहा कि 'अगर दही मिल जाय तो मैं खिचड़ी बना लूँ ।' महाराजने कहा कि 'बनाइये, दही आ ही जायगा ।' पण्डितजीने खिचड़ी बनाकर तैयार की और दही माँगा । महाराज कुछ सोचते हुए बैठे थे कि यकायक एक अहीर एक हाँड़ीमें बहुत बढ़िया दही ले आया । पूछनेपर उसने बतलाया कि मेरी भैंस ब्यायी थी । यह उसीका पहला दही है । मेरे मनमें यकायक यह बात पैदा हुई कि आजका दही महाराजको दूँ । इसीलिये लाया हूँ । पण्डितजी यह सिद्धता देखकर अवाक् रह गये !

जब महाराजजीकी मृत्युके छः महीने रह गये तभीसे वे कहने लगे थे कि बारात तैयार हो रही है । जब मृत्युके सात दिन बाकी रह गये, तब उन्होंने अयोध्याजी जानेकी इच्छा प्रकट की । हमलोग उनको अयोध्याजी ले गये । उनके सुभीतेका सब प्रबन्ध कराकर मैं यह कहकर लौट आया कि आवश्यकता पड़ते ही तार भेजकर मुझे बुला लिया जाय । मृत्युके तीन दिन बाकी रह गये, तब अयोध्याजीसे मेरे पास तार आया, जिसकी प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है—

Swamiji says time near probably friday come atonce.

अर्थात् 'स्वामीजी कहते हैं समय नजदीक है, शायद शुक्रवार, फौरन आवो !' यह तार अभीतक मेरे पास रक्खा हुआ है । मैं बृहस्पतिवारको अयोध्याजी पहुँचा । महाराजने अपनी

महात्मा श्रीअनन्तप्रभुजी

सद्गुरु श्रीरामयज्ञजी महाराज

भक्तिके चार प्रधान प्रचारक
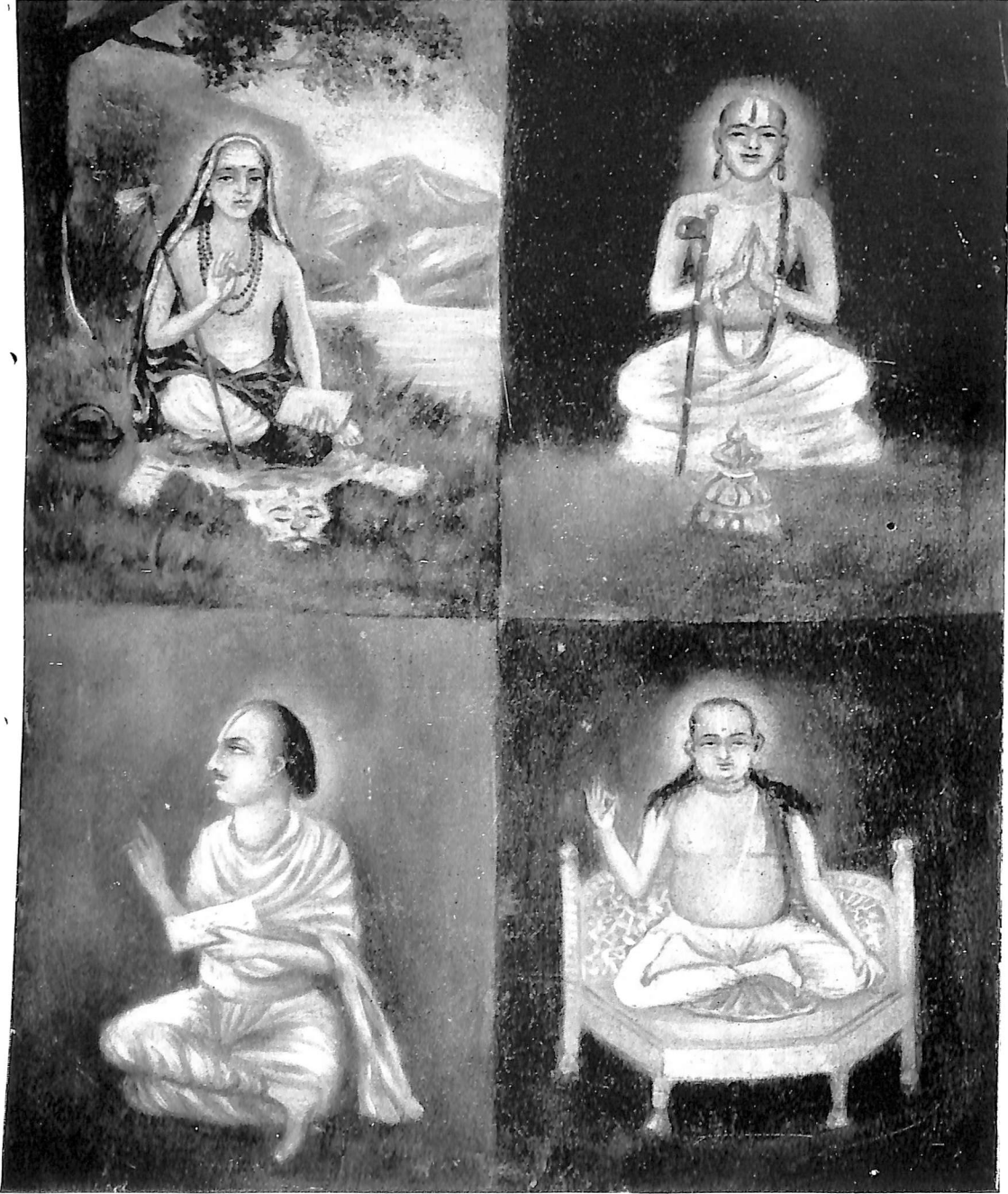
श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य

मृत्युकी अन्तिम घड़ी पहलेहीसे बता रक्खी थी। तदनुसार शुक्रवारकी रातको साढ़े दस बजेके बाद उन्होंने शरीर त्याग दिया ! शनिवारको जब चितापर शरीर रक्खा गया और चिता जला दी गयी, तब चितापर महाराजजीका शरीर पेटके बल रक्खा गया। थोड़ी ही सी आँच लगनेपर शरीरपरके रक्खे हुए कुंदे ढुलक गये और जिस आसनसे महाराज बहुधा बैठा करते थे, ठीक उसी तरहसे उनका शरीर चितापर भी उठ बैठा। वैसे ही बैठे-बैठे दो घंटा जलता भी रहा। नाक और आँखोंसे पतली-पतली लपकें निकल रही थीं। गलेमें तुलसीकी मालाकी राख ज्यों-की-त्यों बनी थी। अद्भुत दृश्य था।

इस जीवनीके साथ महाराजका चित्र भी दिया जा रहा है। जब वे भगवान्‌के ध्यानमें मग्न होते थे तब उनके चेहरेपर एक दिव्य प्रकाश निकल आता था।

मुझे खेद है कि महाराजजीके अन्तिम दिनोंमें ही मैं उनके पास पहुँच सका।

भक्तिप्रचारक चार प्रधान आचार्य

(१) श्रीश्रीशङ्कराचार्य*

अद्वैतमतके प्रवर्तक महान् आचार्य भगवान् श्रीशंकराचार्य केरलराज्यमें शिवगुरु नामक ब्राह्मणके औरस श्रीसुभद्रादेवीके गर्भसे अवतीर्ण हुए थे। आप साक्षात् शंकरके अवतार माने जाते हैं। पाँचवें वर्षमें आपका उपनयन संस्कार हो गया था और छठवें वर्षमें तो आप पढ़-लिखकर प्रकाण्ड पण्डित हो गये थे। आठ वर्षकी अवस्थामें मातासे संन्यास ग्रहण करनेके लिये आज्ञा माँगी पर माताने आज्ञा नहीं दी, एक दिन शंकर नदीमें डूबने लगे तब मातासे कहा कि यदि तुम मुझे संन्यासी होनेकी आज्ञा दे दो तो मैं बच सकता हूँ, माताने प्रत्यक्ष भय देख पुत्रका जीवन बचानेके लिये स्नेहवश तुरन्त आज्ञा दे दी। माताकी आज्ञा प्राप्तकर शंकर श्रीगोविन्दस्वामीके शिष्य हुए।

काशी मणिकर्णिका घाटपर साक्षात् भगवान् व्याससे आपका शास्त्रार्थ हुआ और अन्तमें पद्मपादाचार्य नामक शिष्यके बतानेसे शंकराचार्यने व्यासको प्रणाम करके उनसे 'ब्रह्मसूत्र'के आधारपर अद्वैतमतका प्रचार करनेके लिये वरदान और सोलह वर्षकी आयु-वृद्धिका आशीर्वाद प्राप्त किया और प्रचारकार्यमें लग गये। आपने भारतमें चारों ओर घूमकर अन्य मतावलम्बी बड़े-बड़े विद्वानोंसे शास्त्रार्थकर उन्हें पराजित किया और अद्वैतमतकी स्थापना की। वेदान्तसूत्र, दशोपनिषद् और गीतापर आपने विलक्षण भाष्य बनाये। और भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। शंकरके भाष्य न होते तो शायद अन्यान्य विद्वानोंको इन ग्रन्थोंपर टीका आदि निर्माण करनेके लिये सहारा मिलना कठिन हो जाता। कहा जाता है कि श्रीकेदारनाथ पर्वतके समीप श्रीशंकराचार्यका देहावसान हुआ।

(२) श्रीश्रीरामानुजाचार्य†

श्रीरामानुजाचार्यका जन्म मदरासके निकट भूतपुरी या पेरम्बधूरम् नामक ग्राममें केशव याज्ञिक नामक ब्राह्मणके घर हुआ था। सोलह वर्षकी अवस्थामें आपका विवाहसंस्कार हुआ। पिताका देहान्त होनेपर श्रीरामानुज स्वामी यादवप्रकाश नामक संन्यासीसे पढ़ने लगे। एक दिन वेदान्तकी एक व्याख्यापर

* भ० श्रीशङ्कराचार्यका बड़ा जीवनचरित 'कल्याण' के वर्ष १ संख्या ५ में प्रकाशित हो चुका है —सम्पादक

† भ० श्रीरामानुजाचार्यका बड़ा जीवनचरित 'कल्याण' के वर्ष १ संख्या ९-१० में प्रकाशित हो चुका है —सम्पादक

कुछ वादविवाद होनेके कारण यादवप्रकाश नाराज हो गया और उसने काञ्ची जाते समय रास्तेमें रामानुजको मरवाना चाहा पर भगवान्‌ने उनकी रक्षा की। भगवान् श्रीवरदराज और जगज्जननी लक्ष्मीजीने बहेलिया बहेलिनका रूप धरकर स्वामीको काञ्ची पहुँचा दिया। काञ्चीमें आपने काञ्चीपूर्णजीसे भेंट की, तदनन्तर श्रीयामुनाचार्यजी मिले। श्रीयामुनाचार्यजीके देहत्यागके समय उनके हाथकी तीन अँगुलियाँ आकुञ्चित हो गयीं। किसीने मतलब नहीं समझा। तब श्रीरामानुजने उनका अभिप्राय समझकर उच्च स्वरसे तीन प्रतिज्ञाएँ की कि, मैं श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें रहकर उसका प्रचार और रक्षा करूँगा, ब्रह्मसूत्रपर श्रीभाष्य रचूँगा और पुराणोंके गूढ़ार्थको समझानेके लिये अभिधान बनाऊँगा। यह कहते ही अँगुलियाँ पूर्ववत् हो गयीं।

श्रीरामानुजके संन्यास ग्रहण करनेपर उनका नाम 'यतिराज' पड़ा। एक समय गोष्ठीपूर्ण नामक एक श्रीवैष्णवसे आपने एक मन्त्र ग्रहण किया। मन्त्र देनेसे पूर्व गोष्ठीपूर्णने कह दिया था कि इस मन्त्रसे सबका उद्धार हो सकता है परन्तु यह बड़ा गोपनीय है, अधिकारीके सिवा अन्य किसीको कभी न बतलाना। परन्तु रामानुजने जीवोंपर दयाकर वह मन्त्र बहुत लोगोंको बतला दिया। गोष्ठीपूर्णके कारण पूछनेपर रामानुजने कहा कि, 'गुरुद्रोहके कारण मैं अकेला नरकमें भले ही पड़ूँ परन्तु आपकी कृपासे और सब तो परमपद पावेंगे।' इस उदारताको देखकर गोष्ठीपूर्ण स्वामीका क्रोध जाता रहा और उन्होंने प्रसन्न होकर यतिराजको गले लगा लिया।

श्रीरामानुज स्वामीने वेदान्तसूत्रपर श्रीभाष्य, वेदान्तप्रदीप, वेदान्तसार, वेदान्तसंग्रह, गीताभाष्य आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की।

(३) श्रीश्रीवल्लभाचार्य

श्रीवल्लभाचार्यजी पुष्टिमार्ग नामक वैष्णव सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य हैं। इस सम्प्रदायके आराध्य देव श्रीबालगोपालजी हैं। आचार्यजीका जन्म आम्बलि नामक गाँवमें सन् १५३५में हुआ था, इसका वर्तमान नाम अरैल है। इनके पिताजीका नाम लक्ष्मण भट्ट था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थामें ही भलीभाँति शिक्षा प्राप्तकर श्रीवल्लभाचार्यने विशेष पाण्डित्य प्रकट किया। ये मथुराके पास यमुनाके उस पार गोकुलमें रहते थे, इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। इन्होंने अनेक स्थानोंमें भ्रमणकर अपने मतकी स्थापना की। विजयनगरके राजा कृष्णरायकी सभामें इन्होंने शास्त्रार्थकर शास्त्रज्ञ पण्डितोंको परास्त किया, तभीसे इनकी गणना वैष्णव आचार्योंमें होने लगी। वहाँसे उज्जैन जाकर क्षिप्रा नदीके तटपर एक पीपलके पेड़के नीचे कुछ दिन ठहरे, वह स्थान अब भी महाप्रभुकी बैठकके नामसे प्रसिद्ध बताते हैं। महाप्रभुकी और भी अनेक बैठकें हैं। चुनारके किलेसे दो मील उत्तर आचार्यकुआँ नामक प्रसिद्ध स्थान है।

कहा जाता है कि वृन्दावनमें श्रीवल्लभाचार्यजीको भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार हुआ और उन्होंने बालगोपालकी उपासना और उसकी विधि बतलायी। वृद्धावस्थामें आचार्य काशीमें रहने लगे, वहीं आपका देहावसान हुआ। इनके परलोकगमनके सम्बन्धमें यह अद्भुत कथा प्रचलित है कि एक दिन वल्लभाचार्य काशी हनुमान् घाटपर स्नान करने गये थे। नहाते-नहाते वे अदृश्य हो गये, कुछ देर बाद जहाँ वे नहा रहे थे वहीं एक उज्ज्वल ज्योति उत्पन्न हुई और उसमें लोगोंने देखा कि आचार्य दिव्य देह धारणकर सशरीर आकाशकी ओर जा रहे हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजीने श्रीमद्भागवतपर सुबोधिनी टीका, व्याससूत्रपर भाष्य, गीतापर टीका तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थ रचे हैं। इनके सम्प्रदायका गुजरात, मारवाड़ और मथुरा-वृन्दावनमें अधिक प्रचार है।

(४) श्रीश्रीनिम्बार्काचार्य

वैष्णवोंके चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं। पहला श्रीरामानुज सम्प्रदाय, जिसका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत

है, दूसरा माध्व सम्प्रदाय है जिसके मतमें जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, तीसरा वल्लभ सम्प्रदाय श्रीबालगोपालजीका उपासक और शुद्धाद्वैती कहाता है। और चौथा द्वैताद्वैतवादका माननेवाला सम्प्रदाय श्रीनिम्बादित्य जी-द्वारा प्रवर्तित है । इनका पहला नाम भास्कराचार्य था । ये वृन्दावनमें निवास करते थे। एक समय किसी जैन साधुसे आपका शास्त्रार्थ हो रहा था। दिन बीत गया, सन्ध्या होनेको आयी। सन्ध्याके बाद जैन संन्यासी प्राणीनाशकी आशङ्कासे भोजन नहीं करते। आश्रममें अतिथि भूखा न रह जाय इसके लिये आचार्यने उक्त जैनी संन्यासीके भोजन करनेतक नीमके पेड़पर सूर्यकी गति रोक रक्खी। कहते हैं इसी कारण इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा। इनके रचे हुए ग्रन्थका नाम "धर्माब्धिबोध" है। मथुराके पास ध्रुवतीर्थमें आपकी गद्दी है।

सुआ पढ़ावत गणिका तारी !

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत्।
स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने ॥ (भगवान् वेदव्यासजी)

प्राचीन कालकी कथा है। एक नगरमें जीवन्ती नामक एक वेश्या रहती थी। लोक-परलोकके भयसे रहित होकर वह वेश्या व्यभिचारवृत्तिसे उदर-पोषण किया करती। एक दिन एक तोता बेचनेवालेसे उसने सुन्दर देखकर एक छोटा-सा सूएका बच्चा खरीद लिया। वेश्याके कोई सन्तान नहीं थी इसलिये वह उस पक्षीशावकका पुत्रवत् पालन करने लगी। प्रातःकाल उठते ही उसके पास बैठकर उसे 'राम राम' पढ़ाती। जब वह नहीं बोलता तो उसे अच्छे-अच्छे रसभरे फल खानेको देती। सूआ 'राम राम' सीख गया और अभ्यासवश बड़े सुन्दर स्वरोंसे वह रातदिन राम-राम बोलने लगा। वेश्या छुट्टी पाते ही उसके पास आकर बैठ जाती और उसीके साथ वह भी राम रामका उच्चारण किया करती। एक दिन एक ही समय दोनोंका मृत्युकाल आ गया। 'राम' उच्चारण करते-करते दोनोंने प्राण त्याग किये। सूआ भी पहलेका पापी था। अतएव दोनों पापियोंको लेनेके लिये चण्ड आदि यमराजके कई दूत हाथोंमें फाँसी और अनेक प्रकार-के शस्त्र लिये वहाँ पहुँचे। इधर विष्णुतुल्य पराक्रमी शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुके दूत भी आ उपस्थित हुए। उन्होंने यमदूतोंसे कहा "तुम लोग इन दोनों निष्पाप जीवोंको क्यों पाशबद्ध करते हो, तुम किसके दूत हो ?"

यमदूत—हम महाराज सूर्यपुत्र यमराजके किंकर हैं। इन दोनों पापात्माओंको यमपुरीमें ले जाते हैं।

विष्णुदूत—(क्रोधसे हँसकर) इन यमदूतोंकी बात तो सुनो ! क्या भगवन्नाम लेनेवाले हरिभक्त भी यमराजसे दण्ड पाने योग्य हैं ? दुष्टोंका चरित्र कभी उत्तम नहीं होता, वे सर्वदा ही साधुओंसे द्वेष रखते हैं। पापी मनुष्य अपने ही समान सबको पापी समझा करते हैं, पुण्यात्मा पुरुषोंको सारा जगत् निष्पाप दीखता है। धार्मिक पुरुष पुण्यात्माओंके पुण्य चरित सुनकर प्रसन्न होते हैं। और पापियोंको पापकथासे प्रसन्नता होती है। भगवान्की कैसी माया है ? पापसे महान् पीड़ा होती है यह समझते हुए भी लोग पाप करनेसे नहीं चूकते !

विष्णुदूतोंने इतना कहकर चक्रसे दोनोंके बन्धन काट दिये। इसपर यमदूतोंको बहुत क्रोध आया

और वे विष्णुदूतोंको ललकारकर बोले कि "तुम लोग पापियोंको लेने आये हो, यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है। यदि तुम लोग बलपूर्वक इन्हें ले जाना चाहते हो तो पहले हमसे युद्ध करो।"

दोनों पक्षके दूतोंमें घोर युद्ध होने लगा, अन्तमें विष्णुदूतोंसे पराजित होकर अपने मूर्च्छित सेनापति चण्डको उठाकर हाहाकार करते हुए यमदूत यमपुरीको भाग गये। इधर विष्णुदूतोंने हर्षके साथ जयध्वनि करके दोनोंको विमानमें बैठाया और विष्णुलोकको ले गये।

रक्ताक्तकलेवर यमदूत यमराजके सामने जाकर रोने लगे और बोले—

यमदूत—हे सूर्यपुत्र महाबाहो! हम आपके आज्ञाकारी सेवकोंकी विष्णुदूतोंने बहुत ही दुर्गति की है। आपका प्रभुत्व अब कौन मानेगा? यह पराभव हमारा नहीं, परन्तु आपका है।

यमराज-हे दूतो! यदि उन्होंने मरते समय 'राम' इन दो अक्षरोंका स्मरण किया है तो वे मुझसे कभी दण्डनीय नहीं हैं। उस 'राम' नामके प्रतापसे भगवान् नारायण उनके प्रभु हो गये!

दूता यदि स्मरन्तौ तौ रामनामाक्षरद्वयम्।
तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः॥

"संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है जो रामनाम-स्मरणसे नाश न हो जाय। हे किंकरगण! सुनो, जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक मधुसूदनका नाम लेते हैं, जो गोविन्द, केशव, हरे, जगदीश, विष्णो, नारायण, प्रणतवत्सल और माधव इन नामोंका भक्तिपूर्वक सतत उच्चारण करते हैं, जो सदा इस प्रकार कहते हैं कि हे लक्ष्मीपते, सकल पापविनाशकारी, श्रीकृष्ण, केशिनिषूदन! आप हम लोगोंको अपना दास बनावें, वे लोग मुझसे दण्ड पाने योग्य नहीं हैं। जिनकी जीभपर दामोदर, ईश्वर, अमरवृन्दसेव्य, श्रीवासुदेव, पुरुषोत्तम और यादव आदि नाम विराजमान रहते हैं, मैं उन लोगोंको प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ। जगत्‌के एकमात्र स्वामी नारायण मुरारीका माहात्म्य कीर्तन करनेमें जिन लोगोंका अनुराग है, हे वीरो, मैं उनके अधीन हूँ।"

"जो भक्त भगवान् विष्णुकी पूजामें लगे रहते हैं, जो कपटरहित हो एकादशीका व्रत करते हैं, जो विष्णुचरणामृतको मस्तकपर धारण करते हैं, जो भोग लगानेके बाद प्रसाद ग्रहण करते हैं, जो तुलसी-सेवी हैं, जो अपने माता-पिताके चरणोंको पूजनेवाले हैं, जो ब्राह्मणोंकी पूजा और गुरुकी सेवा करते हैं, जो दीन दुःखियोंके हृदयमें सुख पहुँचाते हैं, जो सत्यवादी, लोकप्रिय और शरणागत-पालक हैं, जो दूसरेके धनको विषके समान समझते हैं, जो अन्न, जल और भूमिका दान करते हैं, जो प्राणीमात्रके हितैषी हैं, जो बेकारोंको आजीविका देते हैं, जो शान्तचित्त हैं, जो अपनी जातिके सेवक हैं, जो दम्भ-क्रोध-मद-मत्सरसे रहित हैं, जो पापदृष्टिसे बचे हुए हैं और जो जितेन्द्रिय हैं उनको मैं प्रणाम करता हूँ, और मैं उनके अधीन हूँ, ऐसे लोगोंकी मैं कभी नरकके लिये चर्चा भी नहीं करता।'

भगवान् व्यासने कहा—यमदूत इस प्रकार यमराजके द्वारा समझाये जानेपर भगवान्‌का माहात्म्य जान गये। "भगवन्नाम, वेदसे भी अधिक है "सर्ववेदाधिकानि वै।" तत्त्वज्ञ पुरुष रामनामका स्मरण करते हैं। 'राम' मन्त्र सब मन्त्रोंसे अधिक महत्त्वका है। रामनामका पूरा प्रभाव भगवान् महादेव ही जानते हैं, अन्य कोई भी देवता नहीं जानते। रामनामके उच्चारणमें कोई श्रम नहीं होता, सुननेमें भी बड़ा सुन्दर है तो भी दुष्ट मनुष्य इसका स्मरण नहीं करते, जब अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति रामनामसे मिल सकती है तब रामनामको छोड़कर और करने योग्य काम ही कौन-सा है? जबतक

"सुआ पढ़ावत गणिका तारी"

रामनामका स्मरण चालू नहीं होता तभीतक पाप रहते हैं। अतएव सबको श्रीराम नामका जप करना चाहिये।"

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत्।
स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने॥

व्यासदेव फिर कहने लगे कि "जैमिने! मृत्यु-समय रामनाम स्मरण करनेसे पापात्मा भी मोक्षको प्राप्त होता है। रामनाम समस्त अमङ्गलका नाश करनेवाला, मनोरथ पूर्ण करनेवाला और मोक्ष देनेवाला है, इसलिये बुद्धिमानोंको सदा राम-नाम स्मरण करना चाहिये।"

रामेति नाम विप्रर्षे यस्मिन्न स्मर्यते क्षणे।
क्षणः स एव व्यर्थः स्यात् सत्यमेतन्मयोच्यते॥

रामनामामृतस्वादभेदज्ञा रसना च या।
तन्नाम रसनेत्याहुर्मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेतन्मयोच्यते।
स्मरन्तो रामनामानि नावसीदन्ति मानवाः॥

(पद्मपुराण)

जिस समयमें मनुष्य राम-नाम स्मरण नहीं करता वही समय व्यर्थ जाता है यह मैं सत्य कहता हूँ, जो रसना राम-नामके रस-भेदको जानती है तत्त्वदर्शी मुनिगण कहते हैं कि बस, वही रसना है। मैं सत्य, सत्य और फिर सत्य कहता हूँ कि राम-नाम स्मरण करनेवाले मनुष्य कभी विषादको प्राप्त नहीं हो सकते!

नवधा भक्ति और नौ भक्तोंके जीवनकी विशेषता

(लेखक—पण्डितवर श्रीराधाकृष्णजी मिश्र, भिवानी)

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो जातिर्गजेन्द्रस्य का
किं ज्ञानं विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः कमनीयरूपमपि किं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

बाह्य और आन्तर भेदसे जगत् दो प्रकारका है। बाह्य जगत्के ज्ञानका नाम जड़वाद, भूतवाद और स्थूलवाद है। अध्यात्मवादके सामने यह उतनी ही महत्ता रख सकता है कि जितनी हिमालयके सामने राई; किंवा हाथीके सामने मच्छर। आजकलकी पाश्चात्य चमक-दमक, कला-कौशल, सायंसकी उथल-पुथल, जल, स्थल, नभ और पातालके मार्गोंसे चंक्रमण आदि सब थोथे चमत्कार बाह्य जगत्पर ही निर्भर हैं। अतएव इनकी निस्सारता और क्षणिकताकी सत्ता भारतीयोंकी—प्राचीन ऋषियोंकी—दृष्टिमें कुछ भी मूल्य नहीं पा सकती। हम इस बातको मानते और जानते भी हैं कि बाह्य जगत्का ज्ञान अवगत करना भी प्रत्येक मनुष्यका परम कर्तव्य है किन्तु इस स्थूल ज्ञानको ही चरम ज्ञान मान बैठना नितान्त भूल और तापत्रयका मूल समझना चाहिये।

भारतीय प्राचीन ऋषियोंने बाह्य प्रपञ्चकी विवेचना कर आन्तर जगत् (सूक्ष्म जगत्) की इतनी टटोल कर डाली थी कि संसारकी कोई भी जाति उसके समक्ष सिर झुकाये बिना नहीं रह सकती। सूक्ष्म जगत्का बोध परिपक्व हुए बिना संसारमें शान्तिकी चिड़िया फुरफुराती ही फिरती रहेगी—उसका जमाव कहीं भी कालत्रयमें हो नहीं सकता। संसार शान्तिके स्वप्न देखा करे पर शान्ति भौतिक ज्ञानसे न कभी हुई थी, न है और न होगी।

सूक्ष्म ज्ञान—अध्यात्मज्ञान—ही शान्तिका केलिस्थल है और उसीमें परम कल्याण है। भारतीयोंके प्राचीन वाङ्मयमें सूक्ष्म ज्ञानका समुद्र जकड़ा पड़ा है। कुछ सदियोंसे तो उसकी दशा और भी विकट हो चली है, मानो वह समुद्र बर्फसे ढका जाकर जम गया है। किन्तु उसके प्रादुर्भाव होनेमें अब अधिक समयकी आवश्यकता नहीं। स्थूलवादी लोग भी शान्तिके भिखारी बने हुए उसकी ओर टकटकी बाँधने लगे हैं। भविष्यमें संसारका कल्याण होगा तो भारतीय संस्कृतिके इस प्रशस्त पथद्वारा ही होगा। सायंसकी भैंसें सब बाँझ निकलेंगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है!

सूक्ष्म जगत्के विवेचनकी भारतीयोंने कई पद्धतियाँ निकाल डाली थीं। उनका नाम 'दर्शनशास्त्र' पड़ा। ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञानकी त्रिपुटीका रूपपरिदर्शन प्रत्यक्ष

और परोक्ष मार्गके द्वारा पूर्वाचार्योंने ऐसा मथ निकाला है कि आजकलके भ्रान्तमस्तिष्क उसके सामने भौंचक्कर हो उठते हैं।

पातञ्जल दर्शनका अनुजन्मा भक्तिदर्शन एक अनूठा दर्शन है। भक्तिप्रस्थानका स्थान रसनिदान और स्थायी कल्याणका उर्वर परिसर है। नारद और शाण्डिल्यके सूत्र तो स्वर्णसूत्र हैं ही किन्तु अन्यान्य भक्तोंके द्वारा प्रणयन किया गया भक्तिमार्ग भी बड़ा ही निष्कण्टक निर्भय और निरापद है। भक्तिमार्गकी महनीय महिमा तो वर्णनातीत है, अथवा यों कहना चाहिये कि किसी परमभक्तकी कलमसे ही कुछ कही लिखी जा सकती है, किन्तु मोटी रीतिसे भक्ति नौ प्रकारकी है। भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, भावना और सेवा सरसरी तौरसे एक ही वस्तु प्रतीत होती हैं, पर इनमें अन्तर है आकाश-पातालका। इस लघु लेखमें इनके बालकी खाल निकाल डालना लोहेका चना चबाना है। यदि समय मिला तो इनके वैभिन्न्यका वर्णन फिर कभी किया जायगा।

भक्तिकी अनुरक्ति और शक्ति अनेक आराधनीयोंको वशमें कर लेती है। माता, पिता, गुरु, देव, धार्मिक राजा उसके आश्रय हैं। किन्तु भगवद्भक्तोंकी उद्भट छटाने इस शब्द (भक्ति) को ऐसा अपने अनुकूल बना लिया कि 'भक्ति' शब्दके कहते-सुनते ही भगवान्‌की भक्ति ही व्यक्त होगी। बहुत ठीक है। ठेठ पहुँचे बिना ठेठाऊ श्रेय भी तो प्राप्त नहीं हो सकता। भक्ति शब्दके भगवद्भक्तिपर रूढ़ होनेके अन्य भी कारण हैं। पर उनकी चर्चाके लिये भी आज हमारी लेखनी गूँगी ही रहेगी।

नवधा भक्तिके नाम १ श्रवण, २ कीर्तन, ३ स्मरण, ४ चरणसेवन, ५ अर्चन, ६ दास्य, ७ सख्य, ८ आत्मनिवेदन और ९ वन्दन हैं। जीवात्मा और परमात्माके द्वैताद्वैतकी सिद्धि और निषिद्धिकी ऋद्धि भी इसमें वृद्धिका नृत्य कर रही है। इस नवविध भक्तिके उत्कृष्टापकृष्टका तारतम्य भी नहीं किया जा सकता। भक्त लोग अपने आराध्य इष्टदेवमें तन्मय होकर अविच्छिन्न तैलधारानुसार उपासना करते हैं, उस समयकी मनोगत लगन जिस अनिर्वचनीय रसका अनुभव करती है उसी मानसिक उत्तरंग उमंगका नाम भक्ति है। भक्तिरसमें परिप्लुत भक्त इस बातकी चेष्टामें अपना समय नष्ट नहीं करता कि मैं भक्तिके नौ मार्गोंमेंसे किस मार्गका अवलम्बन करूँ।

भगवान् जीवात्मासे सन्निकृष्ट भी हैं और अपकृष्ट भी। वे भक्तोंके अधीन हैं, भक्तवत्सल हैं और भक्तोंके हाथकी कठपुतली भी हैं। अतएव दृढ़भक्त भक्तिकी शक्तिके द्वारा मुक्तिको भी तुच्छ समझते हैं।

भक्तिके नौ प्रकारोंमेंसे श्रवण, कीर्तन और वन्दन सन्निकृष्ट (समीप) में भी हो सकते हैं और अपकृष्ट (दूर) पर भी हो सकते हैं। स्मरण अपकृष्टमें ही किया जा सकता है। चरण-सेवन और दास्य सन्निकर्षमें ही हो सकते हैं। अर्चन सन्निकर्षस्थ प्रतिमा आदिमें किया जा सकता है। सख्यकी तो बात ही निराली है, यह भक्तिका बहुत ऊँचा सोपान है। वास्तवमें देखा जाय तो सख्यभाव भक्तोंको समानताकी सीढ़ीपर पहुँच जानेपर प्राप्त हो सकता है। आत्मनिवेदनका तो कहना ही क्या, वह तो अङ्गाङ्गीभावकी पराकाष्ठा है। स्थूल दृष्टिसे यह भाव दाम्पत्य भावका पड़ोसी है इसमें सन्देह नहीं। परम कारुणिक परमात्मामें लौ लग जानेपर वह भगवान्‌से भिन्न कुछ भी अनुभव नहीं रख सकता है। इस नवविध भक्तिसे बँधे हुए भक्त भगवान्‌से भी बढ़े हुए-से जान पड़ते हैं। यही भक्तोंकी अपार महिमा है। भक्तिमार्गमें भगवान्‌से बड़े भागवत इसी कारण माने गये हैं।

भक्तिके इन नौ मार्गोंमें तीन मार्ग भगवान्‌के नामसे समवेत हैं। जैसे कि १ श्रवण, २ कीर्तन और ३ स्मरण। और तीन ही मार्ग भगवान्‌के रूपसे सम्बद्ध हैं। जैसे कि १ अर्चन, २ वन्दन और ३ पादसेवन। इसी प्रकार शेष तीन मार्ग भगवान्‌के भाव-सम्बन्ध-से जुड़े हुए हैं जैसे कि १ दास्य, २ सख्य और ३ आत्मनिवेदन। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के नाम, रूप और सम्बन्धसे सम्बद्ध ही ये नौ मार्ग हैं। इन नौओं मार्गोंमें लवलीन हुए भक्तके लिये भगवान् प्रत्यक्ष हैं। नवधा भक्तिमें अनुरक्त भक्तकी मुट्ठीमें भगवान्‌का नाम-रूप और सम्बन्ध (भाव) आ गया तो भला अब बाकी रहा ही क्या ?

प्रत्येक भक्त भक्तिके नौओं ही अंगोंका पथिक रहा करता है परन्तु किसी भक्तमें किसी एक अंगकी, दूसरेमें किसी अन्य अंगकी प्रचुरता स्वतः आ जाया करती है। भक्त चाहे उसे अधिक आश्रय देनेकी चेष्टा न करे परन्तु अनायास ही नौमेंसे एक अंगका आधिक्य उसे आ घेरता है।

प्राचीन भक्तोंके जीवनचरित्रकी विशेषतामें भी भक्तिके नौ अंग सम्मिलित रहते हुए भी एक-एक अंगकी अधिकता पायी जाती है और वे भक्त उस-उस अंगके आचार्य माने

गये हैं। नवधा भक्तिके नौ आचार्योंका यहाँ हम स्मरणमात्र करा देते हैं। पाठक उनके जीवनचरित्रकी विशेषताओंपर स्वयं विचार कर सकेंगे। इन नौ आचार्योंकी जीवनलीलाका उल्लेख यहाँ किया जाना असम्भव है और सर्वश्रुत होनेके कारण यहाँ उनका उल्लेख करना पिष्टपेषण भी है। इन परमाचार्योंके परवर्ती भक्तोंमें भी भक्तिके किसी एक अंगकी अधिकता पायी जाती है किन्तु नवधा भक्तिके नौ आचार्यों-की पदवी पुण्यश्लोक प्रातःस्मरणीय नीचे लिखे हुए नौ ही भगवद्भक्तोंको प्राप्त है।

भक्तिके अंग और उसके आचार्य

(१) श्रवण–राजा परीक्षित। (२) कीर्तन–श्रीशुक। (३) स्मरण–प्रह्लाद। (४) पादसेवन–श्रीलक्ष्मीजी। (५) अर्चन–अम्बरीष। (६) दास्य–हनुमान्। (७) सख्य–अर्जुन। (८) आत्मनिवेदन–बलि। (९) वन्दन–अक्रूर।

इन नौओं आचार्योंके जीवनचरित्रकी विशेषतापर ध्यान देनेसे इनकी आचार्यता व्यक्त हो जाती है।

संसारजालसे लिपटे हुए जीवका परम निःश्रेयस भगवद्भक्तिसे ही हो सकता है अन्यथा नहीं। इस भटके हुए भारतको भगवान् अपनी भक्तिका उन्मेष करावें।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

(त्रिवेदोपाह्व श्रीभगवद्दासजी ब्रह्मचारी 'वेदरत्न')

सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥
मन्त्रराजमहाराजसाम्राज्यैकधुरन्धरम्।
रामानन्दयतीन्द्रस्य त्रिदण्डं सादरं नुमः॥

भगवान् श्रीरामजी चराचर निखिल ब्रह्माण्डके विधाता हैं। श्रीरामनाम और श्रीराममन्त्र उत्तम-से-उत्तम ब्राह्मणादि और नीच-से-नीच कीट-पतङ्गादि समस्त प्राणियोंका तारक है। काम, क्रोध आदि महाशत्रुओंके बीचमें, विपत्तिके अगाध सागरमें, अज्ञानके दुर्दमनीय आवर्तमें और समस्त असहाय अवस्थाओंमें यही श्रीरामनाम परम बन्धुके समान सहायक होता है। अतएव जगद्गुरुने गांगरौनगढ़में उपदेश करते हुए कहा था कि—

यस्मिन्महापत्तिसरित्पतौ च ब्रुडन्तमालोक्य जहत्यनन्ते।
मित्राण्यपि त्राणमिदं करोति श्रीरामनामात इदं भजध्वम्॥
आभीलमाभाव्य तवाल्पमेव त्वनल्पकल्पान्तदवाग्निदग्धः।
त्वत्प्रीतये यत्नमयन्नयंस्ते निरस्तसाम्यो विपदेकबन्धुः॥

(श्रीरामानन्ददिग्विजय १२ वां सर्ग, श्लोक ६२, ६३)

'जिस विपत्तिरूप सागरमें डूबते हुए देखकर मित्र भी छोड़ देते हैं वहाँ भी श्रीरामनाम रक्षा करता है अतः इसे ही भजो। तुम्हारे अत्यन्त अल्प दुःखको भी देखकर अनल्प–महान् कल्पान्तमें वनाग्निसे जले हुएके समान दुःखित होकर, तुम्हारे सुखके लिये यत्न करते हुए वह आपत्ति-बन्धु किसीकी समता नहीं रखते।'

यही समस्त वेदों, शास्त्रों और पुराणोंका हृदय है। यही सर्व ऋषियों और मुनियोंका सम्मत रहस्य है और यही पूर्वाचार्योंका अमर उपदेश है।

श्रियोंकी भी श्री जगदम्बा जानकीजीने आत्माओंपर परम कृपालु होकर, उनके कल्याणके लिये जो सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था उसका विश्वविदित नाम 'श्रीसम्प्रदाय' है। इस श्रीसम्प्रदायमें सृष्टिके आरम्भसे श्रीराममन्त्रका ही परमाप्त आचार्यचरणोंद्वारा उपदेश होता चला आ रहा है। महाराणीजीने अपने परम प्रिय शिष्य* मारुतिको जिस षडक्षर मन्त्रराजका उपदेश किया था वह चिरजीवी ब्रह्माजी-जैसे महर्षिके द्वारा सत्ययुगमें सुरक्षित रहा। त्रेतामें श्रीवशिष्ठजीने उसका प्रचार और संरक्षण किया। द्वापरमें पराशर, व्यास और शुकदेवजीने उसका संरक्षण और संवर्धन किया। कलियुगमें श्रीस्वामी पुरुषोत्तमाचार्यसे लेकर श्रीस्वामी राघवानन्दाचार्य पर्यन्त पूर्वाचार्योंने इस मन्त्र-राजाश्रित श्रीसम्प्रदायकी रक्षामें अपनी समस्त शक्तिका व्यय कर दिया।

---

* जानकी तु जगन्माता हनूमन्तं गुणाकरम्॥
श्रावयामास नूनं स ब्रह्माणं सुधियां वरम्।
तस्माल्लेभे वशिष्ठर्षिः क्रमादस्मादवातरत्॥
(वाल्मीकिसं०, अ०५ श्लो० ३४, ३५)

इममेव मनुं पूर्वं साकेतपतिर्मामवोचत्। अहं हनूमते मम प्रियाय प्रियतराय॥ स वेदवेदिने ब्रह्मणे। स वशिष्ठाय। स पराशराय। स व्यासाय। स शुकाय। इत्येषोपनिषत्। इत्येषा ब्रह्मविद्या। (मैथिलीमहोपनिषत्)

ईसाकी १३ वीं शताब्दिमें स्वामी श्रीराघवानन्दाचार्य-जी महाराज काशीमें इस चिन्तामें मग्न थे कि 'अब कलियुग वेगके साथ अपनी युवावस्थाकी ओर बढ़ता जा रहा है। हिन्दूशासनका भारतसे प्रायः अन्त होने लग गया है। यवनसाम्राज्य बद्धमूल होता जा रहा है। हमारे अनेक शिष्योंमेंसे ऐसा एक भी प्रतीत नहीं होता है कि जो इस विकट समयमें सम्प्रदायकी सर्वाङ्गीण रक्षा कर सके। पूर्वाचार्योंद्वारा प्रवर्तित और सुरक्षित सम्प्रदाय कालकी गतिसे आज मेरे आचार्यत्वमें दोलारूढ स्थितिको प्राप्त हो चुका है। इसकी रक्षाका भार अपनी इस वृद्ध ावस्थामें मैं किसे सौंपूँ ?'

जिस समय आचार्य श्रीराघवानन्दस्वामीजी इस चिन्तामें निमजन और उन्मजन कर रहे थे उसी समय तीर्थराज प्रयागमें पण्डितवर्य श्रीपुष्पसदनशर्माके गृहमें, माता सुशीलाकी भाग्यशालिनी गोदीमें शैशवावस्थाके मस्तकपर पदारोपण करके बालक रामानन्द विद्यारम्भकी योग्यताकी अवस्थामें पहुँच चुके थे। रामानन्दके पिता छः वर्षकी अवस्थामें उनका यज्ञोपवीत-संस्कार कराकर काशीमें श्रीराघवानन्दाचार्यके आश्रममें प्रविष्ट कराकर घर लौट आये।

ब्रह्मचारी श्रीरामानन्दने श्रीराघवानन्दस्वामीजीके पास साङ्गोपाङ्ग समस्त शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त करके, अपनी बुद्धिकी प्रतिभाके द्वारा संसारभरके विद्वानोंमें एक कुतूहल-सा उत्पन्न कर दिया। ब्रह्मचारी रामानन्दकी तेजस्विनी विद्या, अप्रतिम प्रतिभा, अविश्रान्त शान्ति और सूर्यप्रभ मुखमण्डलके अनन्त तेजने सर्वत्र चाक-चिक्य उत्पन्न कर दिया। संसारके समग्र विद्वानोंने समय-समयपर इनके सम्मेलनसे अपना मत निश्चित कर दिया कि आज भारत-वर्षमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इनके सामने अपना प्रभुत्व प्रकट कर सके। शास्त्रीय प्रसंगमें ब्रह्मचारी श्रीरामा-नन्दकी विकसित बुद्धिवैभवको देखकर आचार्य श्रीराघवा-नन्दजीका हृदय भर आया। उनके हृदयको कुछ आश्वासन मिला। आशा बँध गयी कि अब अवश्य हमारा धर्म सुरक्षित रह सकेगा। ब्रह्मचारी रामानन्दने विद्याकी समाप्तिके पश्चात् अपने पूज्य माता-पिताकी सहर्ष आज्ञा लेकर वैष्णव संन्यासी होना निश्चय किया। आचार्य श्रीराघवानन्दने अपने इस सुयोग्य शिष्यको संन्यासी बनाकर थोड़े ही समयमें आचार्य-पदका समस्त भार उन्हें अर्पित कर स्वयं साकेतवासी हुए।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने भारतवर्षके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक श्रीसम्प्रदाय-वैष्णवधर्मके नियमों और तत्त्वोंका सन्देश पहुँचानेका सफल प्रयास किया। उन्होंने अपने आचार्यत्वकालमें भारतवर्षके हृदयपटलपर अपनी विजयिनी शक्तिका प्रभुत्व स्थापन करनेमें जो सफलता प्राप्त की थी उसकी तुलना आज संसारमें नहीं है। श्रीस्वामीजीको अपने कार्यक्रमकी पूर्तिके लिये शारीरिक बलका प्रयोग नहीं करना पड़ा था, रक्तपातकी भी आवश्यकता नहीं हुई थी, राजशक्ति भी अपेक्षित नहीं थी। उन्होंने केवल अपने विद्या-बल, योग-बल और सबसे महत्त्वपूर्ण आत्मबलके द्वारा ही जगत्पर विजय प्राप्त किया था। इन्हीं शक्तियोंसे संसारके सभी सम्प्रदायके विद्वानोंपर उन्होंने अपना गौरव स्थापन किया था और इन्हींके द्वारा वस्तुतः वे जगद्गुरु बन सके थे।

जो दीनोंपर दया करे वही दीनबन्धु है। जो शरणा-गतकी रक्षा करे वही स्वामी है। जो संसारकी उन्नति और प्रजाके उद्बोधनके लिये सक्रिय चेष्टा करे वही महान् पुरुष है। जो संसारके कल्याणके मार्गका उपदेष्टा हो वही सच्चा जगद्गुरु है। स्वामीजीमें यह सब बातें स्वभावतः समासीन थीं। उन्होंने कबीरदास, रविदास और सेन-जैसोंपर अपनी अमृतमयी दृष्टि डालकर उन्हें सच्चा प्रभु-भक्त और संसारका पथप्रदर्शक बनाकर, अपनी उदारता और वैष्णवधर्मकी गम्भीरताका परिचय जिस समय संसारके सामने प्रथम-प्रथम रक्खा था उस समय संसार चकित था और भारत गौरवपूर्ण अनिमिष नयनसे अपने इस लाड़ले सुपुत्रकी ओर निहार रहा था। जिस समय संसारके एक ओरसे यह तूती बज रही थी कि स्त्रियोंको दीक्षा प्राप्त करनेका अधिकार नहीं है, पतिसेवाके अतिरिक्त देवसेवा और गुरुसेवा उनके लिये अविहित है उस समय श्रीस्वामी-जीने पद्मावतीजीको दीक्षित करके संसारको बता दिया कि प्रभुकी भक्ति और प्रभुकी शरणागति प्राणीमात्रके लिये विहित और प्राप्य वस्तु है। जिस प्रकार पुरुष प्रभुकी भक्ति और कृपाका अधिकारी है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी प्रभुकी कृपा और अनुपम भक्तिके पात्र हैं। स्वामीजीने

भक्तिके प्रधान आचार्य श्रीश्रीमध्वाचार्यजी
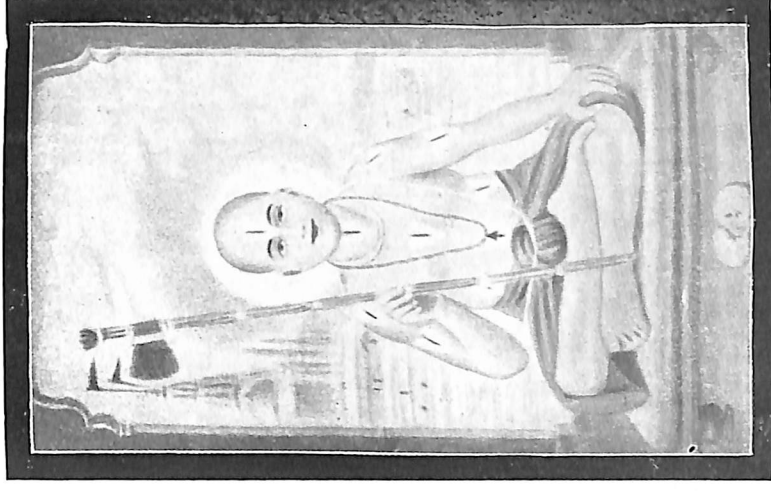
वैष्णवाचार्य श्रीश्रीरामानन्दाचार्यजी

वेदभाष्यकार श्रीश्रीविद्यारण्यमुनिजी

पद्मावती स्त्रीको तथा रविदास प्रभृति ब्राह्मणेतरोंको वैष्णवी दीक्षासे दीक्षित करके भगवन्मार्गके अद्वितीय पथिक बनाकर जो सर्वश्रेष्ठ कार्य किया है उसे देखकर यदि हम यह कहें कि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

गीताके इस श्लोकके भाष्यरूप ही पद्मावती और रविदास आदि थे तो इसमें कुछ भी अनौचित्य और अतिशयोक्ति नहीं कही जा सकती । आचार्यचरणोंने अपने इस सुवर्ण-कृत्यसे संसारकी उन्नतिका मार्ग विशद, निष्कण्टक और उदार बनाकर जो जगत्-कल्याण किया है वह अनिर्वचनीय है ।

यवनोंकी दैनन्दिन भारतमें अभिवृद्धि होते देखकर स्वामीजी इस सिद्धान्तपर पहुँचते हुए प्रतीत होते हैं कि 'ब्रह्मचर्य, शारीरिक बल, अनन्य भक्ति और त्यागके बिना भारतकी रक्षा, धर्मकी रक्षा तथा भारतीय ललनाओंके सतीत्वकी रक्षा नितान्त असम्भव है ।' इसीलिये उन्होंने एक विरक्त-दलका सङ्गठन किया जिसे आज 'वैरागी' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । आचार्यने अपने शिष्योंको संसारसे निःस्पृह बनाकर समरविजेता बनानेका सर्वथा स्तुत्य प्रयास किया था । बौद्धभिक्षुओंके पश्चात् भारतका इतिहास इस विषयमें चुप-सा दीख पड़ता है कि वैदिक धर्मावलम्बियोंने भी अपना व्यापक कोई विरक्तदल स्थापन किया हो । परन्तु ईसाकी १४ वीं शताब्दिका आरम्भ इस बातका साक्षी है कि यतिराज श्रीरामानन्दाचार्यने धर्मके लिये प्राणतक अर्पण करनेमें कभी भी न संकोच करनेवाले विरक्त समाजकी स्थापना की थी जो आज भी कालकी गतिके अनुसार कुछ परिवर्तित होकर उसी ध्येयपर मर मिटनेके लिये अचलरूपसे जीवित है । संसारमें जबतक इस विरागी दलका एक भी मनुष्य जीता रहेगा तबतक भारतीय राजनीतिके गगन-मण्डलमें एक परम पवित्र संन्यासीका हृदय सूर्य और चन्द्रके समान प्रकाशमान और शीतल दृष्टिगोचर होता रहेगा । जबतक यह वैरागी नाम पृथ्वीके इतिहासमें सम्मिलित रहेगा तबतक यतिराजकी सहृदयता, दूरदर्शिता और देशहितैषिताके उज्ज्वल भावोंका परिचय संसारके भावी महापुरुषोंकी दृष्टिसे ओझल न हो सकेगा ।

स्वामीजीके लिये कहा जाता है कि वह जातिबन्धन अथवा वर्णाश्रमके विरोधी थे । मेरा दृढ़ मत है कि ऐसा माननेवाले अत्यन्त भ्रान्त हैं । उन्होंने कभी भी, जातिबन्धन तोड़ना तो पृथक् रहा, उसे शिथिल बनानेका विचार भी नहीं किया । हाँ, उनमें जो विशेषता थी वह केवल यह कि स्वयं ब्राह्मणोत्तम होते हुए भी अब्राह्मणोंके प्रति उनका द्वेष नहीं था । घृणा नहीं थी । वह ब्राह्मण और शूद्र सभीको प्रभुकी अनन्त लीलाओंके पात्र समझते थे । सभीको 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्के पुत्र समझते थे । वह यह समझते थे कि जैसे पिताको ज्येष्ठ पुत्र प्रिय होता है वैसे ही कनिष्ठ भी प्रिय होता है । भगवान्को जैसे ब्राह्मण प्रिय हैं वैसे ही ब्राह्मणेतर भी प्रिय हैं । इसी भावको सम्मुख रखकर उन्होंने कबीर और रविदासको शिष्य बनाया था । यदि वह वर्णधर्म और आश्रमधर्मके विरोधी होते तो वेदान्तसूत्रके अपशूद्राधिकरणमें शूद्रोंको वेदाधिकारका निषेध न करते तथा स्वयं त्रिदण्ड संन्यास न ग्रहण करते । अतः वह जातिबन्धनके विरोधी थे इस बातको प्रमाणित करनेके लिये उनके जीवनके एक पलका भी कोई कार्य साधन नहीं है । वह चाहते थे कि सब वर्णके लोग स्व-स्ववर्णोचित कार्योंको करते हुए—दृढ़तापूर्वक सम्पादन करते हुए भी परस्पर प्रेमभाव और ऐक्यके साथ रह सकें । वह समझते थे कि इस पारस्परिक ऐक्यके बिना भारतका रक्षण और धर्मका पोषण असम्भव है । यह बहुत सम्भव है कि इस संघटनकी आवश्यकताके विषयमें उनकी अनन्य दृढ़ता देखकर ही लोगोंने भ्रमसे यह सिद्धान्त बना लिया हो कि वह जातिबन्धन अथवा वर्णाश्रमके विरोधी थे अथवा वर्तमान समयके सुधारकोंकी श्रेणीमेंसे थे ।

स्वामीजी महाराजने अपने विरक्त शिष्योंको इस वर्णके अभिमानसे बहुत पृथक् रक्खा था यह निस्सन्दिग्धरूपसे प्रकट हो जाता है । यदि ऐसा न होता तो उनके द्वादश प्रधान शिष्य भिन्न-भिन्न वर्णोंके होते हुए भी परस्पर प्रेमपूर्वक नहीं रह सकते । यदि स्व-स्ववर्णोंका अभिमान सबके हृदयमें जागृत होता तो अवश्य ही स्वामीजीके पश्चात् वह ज्वालामुखी पर्वत फूटता कि जिससे रामानन्दसम्प्रदायका आज अस्तित्व भी नहीं रह जाता । परन्तु भक्तिमार्गके परमाचार्यने तो उन्हें यह खूब सिखाया था कि—

जातिर्विद्या महत्त्वं च रूपं यौवनमेव च ।
यत्नेन परित्यक्त्याज्याः पञ्चैते भक्तिकण्टकाः ॥

वर्णधर्मके विषयमें श्रीस्वामीजीकी उस समय जो उदारता रही होगी उसका अनुमान आजके श्रीरामानन्द सम्प्रदायके विरक्त समाजकी स्थितिसे अनायास किया जा सकता है। आजके भी श्रीरामानन्दीय विरक्त समाजमें ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका समावेश है। वेशभूषामें सबकी समानता है। दण्डवत्-प्रणामादिमें भी 'मानिय सबहिं रामके नाते' के अनुसार अभिन्नता है। परन्तु भोजनव्यवहारमें, प्रभुकी सेवा-पूजाके सम्बन्धमें असमानता है। यही व्यवहार इस विषयमें साक्षी है कि आचार्यचरण वर्णधर्मके विरोधी नहीं थे प्रत्युत वर्णाभिमानके विरोधी थे। 'अपनेको बड़ा मानकर अपनेसे छोटोंका तिरस्कार करना पाप है।' यही उनका मुख्य उद्देश्य रहा है।

भविष्यपुराणकी एक कथाके आधारपर कहनेवाले यह भी कहते हैं कि श्रीस्वामीजीने अयोध्याजीमें दश सहस्र म्लेच्छोंकी शुद्धि की थी अतः वह शुद्धिके परमगुरु थे। इस विषयमें मुझे जो कुछ कहना था वह श्रीरामानन्द-दिग्विजयमें मैं कह चुका हूँ। यहाँपर संक्षिप्तरूपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो लोग भविष्यपुराणकी उस कथाके आधारपर शुद्धिको सत्य मानते हों तो उन्हें वहाँके सब संयोग भी सत्य ही मानने पड़ेंगे। उन्होंने उन लोगोंकी शुद्धि की थी जो लोग मुसलमान बादशाहके द्वारा मार्गोंपर लगाये हुए यन्त्रोंके नीचेसे जाते हुए बलात्कारसे यवन हो जाते थे। उन्होंने स्वेच्छासे कभी भी यवनधर्मको स्वीकार नहीं किया था। ऐसोंको श्रीस्वामीजीके शिष्योंने भी 'विलोम' यन्त्रके द्वारा पुनः परावर्तन किया था और उन्हींको श्रीस्वामीजीने स्वयं काशीसे आकर उनकी जातिमें सम्मिलित कराया था। यदि इन चमत्कारोंपर, मन्त्रोंके सामर्थ्यपर विश्वास हो तो श्रीस्वामीजीके नामपर इतना ही किया जा सकता है कि आज भी वैसे ही यन्त्रद्वारा बनाये मुसलमानोंको यन्त्रद्वारा शुद्ध कर लिया जावे। परन्तु जिन्हें इन चमत्कारोंपर तो विश्वास नहीं है और शुद्धि शब्द पुराणमें देखकर कठपुतलीके समान नाच पड़ते हैं उन्हें अर्धजरतीय न्यायका अवलम्बन करके हास्यास्पद न बनना चाहिये। युगधर्म बलवान् है। जिसको जो रुचिकर हो वह भले अपने उत्तरदायित्वपर करता कराता रहे परन्तु एक धर्माचार्यका अनुचितरूपसे आश्रयण करना गर्हित ही है।

स्वामीजी श्रीसम्प्रदायके परमाचार्य थे अतः भक्ति-योगके ही प्रधान प्रचारक थे। यों तो नवधा भक्तिमेंसे किसी भी भक्तिका अवलम्बन करके मनुष्य संसार-सागरसे तर सकता है। परन्तु श्रीस्वामीजीने विशेषकर दास्यभावको ही अङ्गीकार किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि श्रवण वन्दनादिपर उनका विशेष आग्रह नहीं है, वह तो स्पष्ट अपने ग्रन्थ 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में लिखते हैं कि—

मनोमिलिन्दस्तव पादपङ्कजे
रमार्चिते संरमतां भवे भवे ।
यशःश्रुतौ ते मम कर्णयुग्मकं
त्वद्भक्तसङ्गोऽस्तु सदा मम प्रभो ॥

अतः दास्यभावपर भार देनेका आशय यह है कि पादसेवन और अर्चन ये दोनों तो सर्वसुलभ नहीं हैं। इन दोके अतिरिक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन और आत्मनिवेदन ये पाँच सर्वसुलभ हैं। परन्तु ये सातों ही स्वयं प्रधान नहीं हैं किन्तु दास्यभाव और सख्यभावके अङ्ग हैं। दास्यभाव और सख्यभाव ये दोनों अंगी हैं। इन सात अंगोंमेंसे उपर्युक्त पाँच ही निर्विशेषतया सर्वजन-प्राप्य हैं और दो अप्राप्य हैं। इन प्राप्य और अप्राप्य अंगोंसहित दास्यभावको ही स्वामीजीने अधिक महत्त्व दिया है अतएव छः निरोधोंमेंसे भी स्वामीजी महाराजको केवल स्वामिभाव निरोध ही प्रियतम है।

श्रीयतिराजके जीवनपर विवेचना करनेवाले कितने ही विवेचकोंने बड़े-बड़े भ्रमोत्पादक तथा भ्रान्त विचार प्रकट किये हैं। कितने ही कहते हैं कि स्वामीजी वैष्णवाचार्य तो थे परन्तु उनपर शिवोपासकोंका बहुत बड़ा प्रभाव था। वह अपनी उक्तिमें प्रमाण यह देते हैं कि 'आज उनके सहस्रों अनुयायी जटा और विभूति धारण करते हैं तथा गाँजा, भंग, चरस आदि सेवन करते हैं और यह सब कार्य शिवोपासकोंके विशेष चिह्न हैं और 'न धारयेज्जटाभारं भस्म चापि न लेपयेत्' इस वैष्णवधर्मके आदेशके विरुद्ध है। इन भाइयोंको इतना विचार कर लेना चाहिये कि एक ही औषध

अनुपानभेदसे अनेक धर्मोंको ग्रहण करता है। एक ही पुरुष धर्मभेदसे अनेकधर्मी बन जाता है। वैसे ही एक ही जटा और भस्म भावना-भेदसे भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता है। शैवोंकी जटा और भस्म तथा वैष्णवोंकी जटा और भस्म यद्यपि दोनों अपने-अपने रूपसे समान हैं। परन्तु दोनोंमें भावनाका आकाश और पाताल जितना अन्तराल है। शैवोंकी भावना यह है कि 'हमारे इष्टदेव शङ्करका यह रूप है। उस रूपको धारण करना हमारा परम धर्म है। उसके बिना हम अधोगतिको प्राप्त करेंगे इत्यादि।' इसके विपरीत वैष्णव महात्माओंकी भावना यह है कि 'हम जगत्‌के समस्त वैभवोंको भस्मके समान तुच्छ समझते हैं। हमने समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको उस प्रकारसे बाँध लिया है जैसे हमने अपने सिरपर जटा बाँधी है। हमारी जटा और हमारा भस्म केवल हमारी निःस्पृहता और हमारे शुद्ध सदाचारका ज्ञापक है। हमारी जटा और भस्मका यह भी तात्पर्य है कि हमारे प्राणप्रिय नाथने श्रीअवधकी राजगद्दीसे पृथक् होकर जटा धारण की थी। वे वल्कल परिधान करते थे तथा धूलि-निचय-पूर्ण पृथिवीपर शयन करते थे। यह जटा और भस्म हमारे प्रभुका वही बाना है।' जंगलमें भगवान् कण्टकोंमें चला करते थे यह विचारकर कितने ही महात्मा बाण-शय्यापर शयन करते हैं। एक मनुष्य विषको प्राणत्यागकी इच्छासे भक्षण करता है और एक ओषधिके रूपमें सेवन करता है। विष भक्षण समान होनेपर भी जैसे फलमें महान् अन्तर है उसी प्रकार जटा और भस्मका धारण करना समान होनेपर भी भावनाभेदसे शैव साधुओं और विरक्त वैष्णव महात्माओंमें महान् अन्तर है। अतः हमारे उन विवेचक भ्राताओंका अनुमान सर्वथा ही भ्रमपूर्ण है।

कितनोंका यह भी मत है कि स्वामीजी श्रीरामानुज सम्प्रदायके संन्यासी थे। यद्यपि श्रीरामानुज सम्प्रदाय भी श्रीसम्प्रदायमें ही परिगणित है तथापि उस सम्प्रदायमें नारायणमन्त्र और नारायण भगवान्‌की ही विशेषरूपसे उपासना होनेके कारण, तथा आभ्यन्तरिक आचार और व्यवहारमें भी अनेक भेद होनेके कारण, श्रीरामानुजाचार्यद्वारा संवर्धित श्रीसम्प्रदाय और श्रीरामानन्दाचार्यद्वारा संवर्धित श्रीसम्प्रदायमें अवश्य अन्तर है और वह ऐसा अन्तर है कि जिसका कभी निराकरण नहीं हो सकता। मन्त्र और इष्टदेव ये ही तो दो विशेष वस्तु हैं जो किसी भी सम्प्रदायके श्वासोच्छ्वासके स्वामी माने जाते हैं। जिन दो सम्प्रदायोंका मन्त्र और देव एक नहीं है तथा जिनका भोजन व्यवहार एक नहीं है उनकी एकताका बेसुरा राग अलापना व्यर्थ है। इस विषयमें केवल इतना ही सत्य है कि वेदान्त सिद्धान्त और अन्य कतिपय रहस्य जिन ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामानुज सम्प्रदायके पूर्वाचार्योंने जिस प्रकारसे संकलित किये हैं उन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर उसी प्रकारसे श्रीरामानन्द सम्प्रदायके भी पूर्वाचार्योंने संकलित किये हैं। इन्हीं समानताओंको लेकर कोलाहल करनेवाले कोलाहल करते फिरते हैं कि श्रीरामानुज सम्प्रदाय और श्रीरामानन्द सम्प्रदाय दोनों एक हैं। वस्तुतः आंशिक समानताओंके रहते हुए भी मन्त्र और इष्टदेवकी विभिन्नतासे मुख्यांशमें पार्थक्य हो गया है। इतने पार्थक्यको वर्तमान समयके प्रायः सभी धर्माचार्य और विद्वान् एक स्वरसे स्वीकार कर रहे हैं। इन भेदोंको प्रकट करनेके लिये ही श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजीने ब्रह्मसूत्रपर 'आनन्दभाष्य' 'श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य' 'श्रीरामानन्दीय वैष्णवमताब्जभास्कर' 'श्रीरामार्चनपद्धति' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। अनुमान किया जाता है और साम्प्रदायिकोंसे सुना भी जाता है कि श्रीस्वामीजी महाराजने अन्य भी अनेकों ग्रन्थ संस्कृत भाषामें लिखे हैं परन्तु अद्यावधि उनका पता नहीं चला है। अयोध्याकी पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समिति इसकी गवेषणा कर रही है।

संक्षेपमें मैंने श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराजके पवित्र जीवनपर दृष्टिपात किया है। जिन्हें विशेष जानना हो उन्हें मेरा लिखा हुआ सटीक श्रीरामानन्द-दिग्विजय और उसकी बृहद् भूमिकाका अवलोकन करना चाहिये। श्रीरस्तु।

गीतामें भक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भण्डार है । इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामें प्रधानतासे केवल अमुक विषयका ही वर्णन है । यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें सब विषयोंका सूत्ररूपसे वर्णन है परन्तु किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नहीं है इसीलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(गीतामाहात्म्य)

इस कथनसे दूसरे शास्त्रोंका निषेध नहीं है यह तो गीताका सच्चा महत्त्व बतलानेके लिये है । वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता । गीतामें अपने-अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है सुतराम् जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है वही गीतामें भासने लगता है इसीलिये भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं पर उनमेंसे किसीको हम असत्य नहीं कह सकते । जैसे वेद परमात्माका निःश्वास है इसी प्रकार गीता भी साक्षात् भगवान्के वचन होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है । अतएव भगवान्की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है । कृपासिन्धु भगवान्ने अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके कल्याणार्थ इस अद्भुत गीताशास्त्रका उपदेश किया है ऐसे गीताशास्त्रके किसी तत्त्वपर विवेचन करना मेरे सदृश साधारण मनुष्यके लिये बालचपलतामात्र है । मैं इस विषयमें कुछ कहनेका अपना अधिकार न समझता हुआ भी जो कुछ कह रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये है । निवेदन है कि भक्त और विज्ञजन मेरी इस बालचेष्टापर क्षमा करें ।

गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों सिद्धान्तोंको ही अपनी-अपनी जगह प्रधानता है तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता एक भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं जिसमें भक्तिका कुछ प्रसंग न हो । गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमें ही है । आरम्भमें अर्जुन 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर भगवान्की शरण ग्रहण करता है और अन्तमें भगवान् 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कहकर शरणागतिका ही पूर्ण समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं, समस्त धर्मोंका आश्रय सर्वथा परित्यागकर केवल भगवदाश्रय—अपने आश्रय होनेके लिये आज्ञा करते हैं और साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा कर देनेका भी जिम्मा लेते हैं । यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है । अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्धभक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जड़ता नहीं है । गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है । गीताकी भक्ति पूर्ण पुरुष परमात्माकी, पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधकद्वारा की जाती है । गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्ने स्वयं बतलाये हैं । गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नहीं है । वास्तवमें भगवान्का जो शरणागत अनन्य भक्त सब तरफ सबमें सर्वदा भगवान्को देखता है वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है ? जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर

उसके इशारेपर नाचना चाहता है उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते हैं? जो भक्त सब जगत्को परमात्मा-का स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है वह निष्क्रिय आलसी कैसे हो सकता है? एवं जिसके पास परमात्मस्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है वह अन्धतममें कैसे प्रवेश कर सकता है?

इसीसे भगवान्ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

युद्ध करो, परन्तु सब समय मेरा (भगवान्का) स्मरण करते हुए और मेरेमें (भगवान्में) अर्पित मन बुद्धिसे युक्त होकर करो। यहाँ तो निष्काम कर्मसंयुक्त भक्तियोग है इससे निस्सन्देह परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकारकी आज्ञा अ० ९।२७ और १८।५७ आदि श्लोकोंमें दी है।

इसका यह मतलब नहीं कि केवल कर्मयोग या केवल भक्तियोगके लिये भगवान्ने स्वतन्त्ररूपसे कहीं कुछ भी नहीं कहा है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'योगस्थः कुरु कर्माणि' आदि श्लोकोंमें केवल कर्मका और 'मन्मना भव' 'भक्त्या मामभिजानाति' आदिमें केवल भक्तिका वर्णन मिलता है परन्तु इनमें भी कर्ममें भक्तिका और भक्तिमें कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रच्छन्न है। समत्व-रूप योगमें स्थित होकर फलका अधिकार ईश्वरके जिम्मे समझकर जो कर्म करता है वह भी प्रकारान्तर-से ईश्वरस्मरणरूप भक्ति करता है और भक्ति पूजा नमस्कार आदि भगवद्भक्तिपरक क्रियाओंको करता हुआ भी साधक तत्तत् क्रियारूप कर्म करता ही है। साधारण सकाम कर्मीमें और उसमें भेद इतना ही है कि सकाम कर्मी कर्मका अनुष्ठान सांसारिक कामना-सिद्धिके लिये करता है और निष्काम कर्मी भगवत्-प्रीत्यर्थ करता है। स्वरूपसे कर्मत्यागकी तो गीताने निन्दा की है और उसे तामसी त्याग बतलाया है। (गीता १८।७) एवं गीता अ० ३ श्लोक ४ में कर्मत्यागसे सिद्धिका नहीं प्राप्त होना कहकर अगले श्लोकमें स्वरूपसे कर्मत्यागको अशक्य भी बतलाया है। अतएव गीताके अनुसार प्रधानतः अनन्यभावसे भगवान्-के स्वरूपमें स्थित होकर भगवान्की आज्ञा मानकर भगवान्के लिये मन वाणी शरीरसे स्ववर्णानुसार समस्त कर्मोंका आचरण करना ही भगवान्की भक्ति है और इसीसे परमसिद्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् घोषणा करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।

इस प्रकारके कर्म बन्धनके कारण न होकर मुक्ति-के कारण ही होते हैं। इनमें पतनका डर बिल्कुल नहीं रहता है। भगवान्ने साधकको भगवत्प्राप्तिके लिये और साधनोत्तर सिद्धकालमें ज्ञानीको भी लोक-संग्रह यानी जनताको सत् मार्गपर लानेके लिये अपना उदाहरण पेशकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है।—'तस्य कार्यं न विद्यते।'

इसके सिवा अर्जुन क्षत्रिय, गृहस्थ और कर्मशील पुरुष थे, इसलिये भी उन्हें कर्मसहित भक्ति करनेके लिये ही विशेषरूपसे कहा है और वास्तवमें सर्व-साधारणके हितके लिये भी यही आवश्यक है। संसार-में तमोगुण अधिक छाया हुआ है। तमोगुणके कारण लोग भगवत्तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर एकान्तवासमें भजन ध्यानके बहाने नींद, आलस्य और अकर्मण्यताके शिकार हो जाते हैं। ऐसा देखा भी जाता है कि कुछ लोग 'अब तो हम निरन्तर एकान्तमें रहकर भजन ध्यान ही किया करेंगे' कहकर कर्म छोड़ देते हैं परन्तु थोड़े ही दिनोंमें उनका मन एकान्तसे हट जाता है। कुछ लोग सोनेमें समय बिताते हैं, तो कोई कहने

लगते हैं 'क्या करें, ध्यानमें मन नहीं लगता।' फलतः कुछ तो निकम्मे हो जाते हैं और कुछ प्रमादवश इन्द्रियोंको आराम देनेवाले भोगोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। सच्चे भजन-ध्यानमें लगनेवाले बिरले ही निकलते हैं। एकान्तमें निवासकर भजन ध्यान करना बुरा नहीं है। परन्तु यह साधारण बात नहीं है। इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए भी क्रमशः बढ़ाया और गाढ़ किया जा सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये। परमेश्वरके ध्यानकी गाढ़ स्थिति प्राप्त होनेमें कर्मोंका संयोग वियोग बाधक साधक नहीं है। प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण है। प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमें बाधक नहीं होते बल्कि उसका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। इससे भी कर्मत्यागकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। परन्तु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं है।

अधिकारियोंके लिये 'विविक्तदेशसेवित्वम्' और 'अरतिर्जनसंसदि' होना उचित ही है परन्तु संसारमें प्रायः अधिकांश अधिकारी कर्मके ही मिलते हैं। एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन हैं, जिनका हृदय अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण है। जो क्षणभरके भगवान्‌के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते हैं, भगवत्-प्रेमकी विह्वलतासे बाह्यज्ञान लुप्तप्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे संपन्न नहीं हो सकते और जिनको संसारके ऐशो-आराम-भोगके दर्शन-श्रवण मात्रसे ही ताप होने लगता है। ऐसे अधिकारियोंके लिये जनसमुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमें निरन्तर अटल साधन करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। ये लोग कर्मको नहीं छोड़ते। कर्म ही इन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको एकान्तमें कभी आलस्य या विषय-चिन्तन नहीं होता। इनके भगवत्प्रेमकी सरितामें एकान्तसे उत्तरोत्तर बाढ़ आती है और वह बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मारूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्न रूपसे मिला देती है। परन्तु जिन लोगोंको एकान्तमें सांसारिक विक्षेप सताते हैं वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नहीं हैं। जगत्‌में ऐसे ही लोग अधिक हैं। अधिकसंख्यक लोगोंके लिये जो उपाय उपयोगी होता है प्रायः वही बतलाया जाता है यही नीति है। इसलिये शास्त्रोक्त सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्‌की ओर मोड़ देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नहीं।

ऊपर कहा गया है कि अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और कर्मशील था इससे कर्मकी बात कही गयी है इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ, क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके व्याजसे ही विश्वको मिला परन्तु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश, सभी जाति, सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पानकर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार है वैसे ही गीताके भी सभी अधिकारी हैं। अवश्य ही सदाचार, श्रद्धाभक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु, सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट भक्तिहीन मनुष्योंमें इसके प्रचारका निषेध किया है। (गीता १८। ६७) भगवान्‌का आश्रित जन कोई भी क्यों न हो, सभी इस अमृतपानके पात्र हैं। (९। ३२)

यदि यह कहा जाय कि गीतामें तो सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है। भक्तिकी तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं, तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी भिन्न निष्ठा भगवान्‌ने नहीं कही है परन्तु पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न

हो सकती है ? उपासनारहित कर्म जड़ होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासनारहित ज्ञान ही प्रशंसनीय है। गीतामें भक्ति ज्ञान और कर्म दोनोंमें ओतप्रोत है। निष्ठाका अर्थ है—परमात्माके स्वरूपमें स्थिति। यह स्थिति जो परमेश्वरके स्वरूपमें भेदरूपसे होती है, यानी परमेश्वर अंशी और मैं उसका अंश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मैं उसका सेवक हूँ। इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसकी आज्ञानुसार फलासक्ति त्यागकर जो कर्म किये जाते हैं उसका नाम है निष्काम कर्मयोगनिष्ठा, और जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थित है यानी ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और मायामात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है यों निश्चय करके जो अभेद स्थिति होती है उसे सांख्यनिष्ठा कहते हैं। इन दोनों ही निष्ठाओंमें उपासना भरी है। अतएव भक्तिको तीसरी स्वतन्त्र निष्ठाके नामसे कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसपर यदि कोई यह कहे कि तब तो निष्कामकर्मयोग और ज्ञानयोगके बिना केवल भक्तिमार्गसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि भगवान्‌ने केवल भक्तियोगसे स्थान-स्थानपर परमात्माकी प्राप्ति होना बतलाया है। साक्षात् दर्शनके लिये तो यहाँतक कह दिया है कि अनन्य भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे नहीं हो सकता। (गीता ११।५४) ध्यानयोगरूपी भक्तिको गीता-१३।२४ में 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' कहकर भगवान्‌ने और भी स्पष्टीकरण कर दिया है। इस ध्यानयोगका प्रयोग उपर्युक्त दोनों साधनोंके साथ भी होता है और अलग भी। यह उपासना या भक्तिमार्ग बड़ा ही सुगम और महत्त्वपूर्ण है। इसमें ईश्वरका सहारा रहता है और उसका बल प्राप्त होता रहता है। अतएव हम लोगोंको इसी गीतोक्त निष्काम विशुद्ध अनन्य भक्तिका आश्रय लेकर अपने समस्त स्वाभाविक कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ करने चाहिये।

श्रीश्रीअनन्त महाप्रभु

(लेखक—श्रीराघवदासजी)

भारतवर्ष भगवद्भक्तोंकी खान है। जिन महापुरुष-रत्नोंसे हम परिचित हैं उनका महत्त्व और अलौकिक दैवी गुण देखकर तो हमारा मस्तक नत ही हो जाता है पर जो गुदड़ीके लाल अभी गुदड़ीमें पड़े हुए हैं उनकी विशेषता ज्यों ही उनका उज्ज्वल चरित्र संसारके सामने आवेगा त्यों ही सबको प्रतीत होने लगेगी।

आज हम एक ऐसे ही छिपे हुए महापुरुषका परिचय करा देना चाहते हैं।

इन महापुरुषका नाम था श्रीअनन्तमहाप्रभु। आपका जन्म उन्नावमें प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। बालकपनमें ही आपके पिताका देहान्त हो गया, आपके पालन-पोषणका सारा भार आपकी पूज्य माताजीपर पड़ा। घरके काम जमींदारी, सम्पत्ति अधिक होनेके कारण आपके मामा भी अपनी बहनकी सहायता करते थे। उस समयके अनुसार थोड़ी-सी उर्दू पढ़नेके बाद माताके आग्रहसे लड़कपनमें ही आपका विवाह हो गया। माताकी बड़ी लालसा थी कि मैं अपने लड़केको गृहस्थसुख भोगते हुए देखूँ परन्तु 'तेरे मन कछु और है कर्त्ताके कछु और' विवाहके थोड़े ही दिनों बाद एक घटना हुई जिससे महाप्रभुको अपना घर छोड़ दूसरे ही मार्गपर अग्रसर होना पड़ा। बात यह थी। महाप्रभुजीका एक बहुत बड़ा बाग था जिसमें मोर आदि पक्षी आनन्दसे रहते थे। एक दिन एक अंग्रेजने एक मोरको गोलीसे मार

डाला । महाप्रभु जो बागके बाहर थे, बन्दूककी आवाज सुनते ही बागके भीतर जाकर इधर-उधर देखने लगे । उन्होंने देखा कि एक मोर मरा पड़ा है और साहब पास खड़े हैं । वह अपने क्रोधको सँभाल न सके । चट उन्होंने भी अपनी बन्दूकका निशाना ठीक किया और उस शिकारके पास ही शिकारीको भी वहीं सुला दिया । मुकद्दमा चला, पर नाबालिग होनेके कारण वकीलोंकी बुद्धिमत्तासे वह छोड़ दिये गये । इस घटनाका उनके हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ा । वे सोचने लगे कि इन निरपराध पशु-पक्षियोंकी कैसे रक्षा हो ? उन्होंने तप करके ऐसी शक्ति प्राप्त करनी चाही जिससे सबकी रक्षा हो सके ।

आपकी अवस्था बारह तेरह वर्षकी थी, किसीसे सुना था कि कामाक्षा जानेसे तपस्याकी सिद्धि और कई आश्चर्यजनक शक्तियोंकी प्राप्ति होगी । बस फिर क्या था, आपने भी कामाक्षा जानेका संकल्प कर लिया और उसी रातको एक घोड़ेपर सवार होकर चल पड़े । दो दिन लगातार यात्रा करनेपर घोड़े समेत आप थक गये ! अब वह घोड़ा भी भारस्वरूप हो गया । उसे किसी गरीब खेतहरको देकर आपने पैदल चलना शुरू किया । कई महीनोंमें भूले भटके बालासोर पहुँचे । प्रातःकाल वहाँका राजा भ्रमण करने जा रहा था, इनकी अति सुन्दर मूर्ति देखकर उसने पूछा 'कहाँसे आये ?' आपने अपना संकल्प सुनाया, राजा सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उन्हें अपने सद्गुरुके यहाँ ले गया । संतसमागममें महाप्रभुजी शक्ति प्राप्त करना भूल गये और उन्हें भगवद्भक्ति और विद्याका व्यसन लग गया । थोड़े ही दिनोंके परिश्रमसे वे श्रीभागवत बाँचने लगे । पर व्याकरण साहित्य दर्शन-शास्त्र और उपनिषद्का साधारण अभ्यास भी न होनेसे उसका ठीक-ठीक अर्थ समझनेमें कठिनाइयाँ होने लगीं । विशेषरूपसे शास्त्र-अध्ययनकी आवश्यकता पड़ी । अब आपकी विद्याकी ओर खूब रुचि बढ़ गयी और आप काशी चले गये । वहाँ श्रीभागवतके विशेष अध्ययनके साथ व्याकरणादिकी भी उच्च शिक्षा प्राप्त की । अनन्तर न्याय पढ़नेके लिये नदिया गये, वहाँ कई वर्ष रहकर बड़ी योग्यता प्राप्त करनेके उपरान्त आपने श्रीभागवतका प्रचार करनेका निश्चय कर लिया । सबसे पहले आपने यह काम टिकारी राज्यसे आरम्भ किया । आपकी भगवद्भक्ति और विद्वत्ता देखकर टिकारीके राजा प्रजा मुग्ध हो गये और उन्होंने श्रीभागवत-प्रचार-कार्यमें बड़ी सहायता दी । अब आपके साथ सौ-डेढ़-सौ श्रीभागवतके विद्यार्थी रहने लगे । अब बड़े उत्साहसे प्रचार-कार्य चलने लगा । करीब ४० वर्षतक आपका यह क्रम जारी रहा । तदनन्तर आप कुछ दिनोंतक काठियावाड़के जालिया स्थानमें निवासकर योगाभ्यास करनेके लिये गिरनार गये । वहाँ कुछ वर्ष रहनेके बाद कपूरथलाके जंगलमें गये । वहाँ आठ दस वर्ष रहनेके अनन्तर भ्रमण करते हुए गोण्डा पहुँचे । वहाँ भी एक जंगलमें कई वर्ष रहे । पर जनसंसर्ग विशेषरूपसे होनेके कारण आप श्रीअयोध्याजी चले गये, वहीं आपसे बरहजके समीप रहनेवाले महात्मासे बातें हुई और आप उनके साथ बरहज आये ।

आपका एकान्तसेवन बहुत बढ़ गया था । अतएव बरहजके एक महाजन श्रीबेचूसाहुके बागमें—जो ग्रामसे दूर था—आप बैठ गये । आपकी यह वृत्ति देखकर लोगोंने वहीं एक झोंपड़ी बनवा दी । आप अन्तिम समय तक वहीं रहे । श्रीमहाप्रभुजीकी विद्वत्तासे लोग पहले इतने परिचित नहीं थे पर एक समय अयोध्याजीके प्रसिद्ध पं० चन्द्रशेखरजीने वैष्णव धर्मके सम्बन्धमें कई प्रश्न महात्मा तृतीय पवहारी श्रीअयोध्यावासी महाराजके पास लिखे, श्रीपवहारीजीने पहले अपने परिचित और आश्रित पण्डितोंसे उत्तर दिलवानेका प्रयत्न किया पर उसमें वह सफल नहीं हुए । अन्तमें किसीसे यह सुनकर कि बरहजके भक्तराज बड़े विद्वान् हैं, उन्होंने उनके पास प्रश्नावली भेज दी । श्रीमहाप्रभुजीने उनका यथोचित उत्तर देकर अयोध्या-

निवासी पण्डितजीको सन्तुष्ट कर दिया। इस घटनाके बाद श्रीपवहारीजीके साथ आपका प्रेम बहुत ही बढ़ गया। इसीसे आस-पासके सभी लोग आपकी विद्वत्ता, त्याग और भक्तिका परिचय पा गये।

इन पंक्तियोंका लेखक जब छपरा जिलेमें भ्रमण कर रहा था। तब उसने महाप्रभुजीके अनेक गुणोंकी प्रशंसा सुनी। उनमें एक यह भी था कि महाप्रभुजी कभी सोते नहीं। लेखक उनकी इस बातको जाननेके अभिप्रायसे ही उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। संयोगसे श्रीमहाप्रभुजीने भी जो अपने आश्रममें किसीको रहने या सोने नहीं देते थे, लेखकको कृपाकर आश्रममें रहनेकी आज्ञा दे दी। लेखक लगातार सात-आठ दिनोंतक जागकर उनकी स्थितिका अध्ययन करता रहा। पर इस बीचमें उसने कभी उनको सोते नहीं देखा। सदैव ही भगवद्भजनमें लगे हुए पाया। लेखकके सात-आठ दिनतक लगातार जागनेका यह परिणाम हुआ कि वह बीमार पड़ गया।

श्रीमहाप्रभुजीकी शरणमें तीन-चार मास रहनेपर लेखकको उनके कई दैवी गुणोंका परिचय मिला। उनके लड़कपनका पक्षी-रक्षाका संकल्प यहाँ भी लेखकको स्पष्ट दिखायी दिया।

श्रीमहाप्रभुजीके मेहतरका काम एक चीलका जोड़ा (नर-मादा) सदा करता। यह जोड़ा उनके महासमाधितक अपना कार्य बराबर करता रहा। उनके अखण्ड नामस्मरणको देखकर स्वाभाविक ही मनुष्यका मस्तक उनके चरणोंमें झुक जाता था। सत्संगके समय मुखसे तो नामस्मरण करना असम्भव था पर उस समय आपके हाथोंकी अँगुलियाँ विशेषरूपसे चलती रहती थीं जिससे स्मरणकार्य चला करता था। भगवन्नामस्मरणमें आपका बड़ा भारी विश्वास था। जब कोई उनसे कहता कि हम देवदर्शन करने जा रहे हैं तब आप कहते कि 'भाई! तुम्हारा यदि भगवान्‌पर विश्वास है तो यहीं बैठकर नामस्मरण क्यों नहीं करते?'

आपकी धारणाशक्ति बड़ी तीव्र थी। लेखकको श्रीभागवतका ग्यारहवाँ स्कन्ध और उसकी श्रीधरी टीका आपने कण्ठस्थ पढ़ायी थी। काशीके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्रीसे आपका बड़ा प्रेम था। आप दो-एक बार काशी गये तब शास्त्रीजीके यहाँ ही ठहरे थे।

आपका योगाभ्यास भी खूब बढ़ा-चढ़ा था। अनेक प्रान्तोंसे महात्मा-जिज्ञासु आपके पास योगाभ्यास सीखने आया करते। आप बड़े ही निःस्पृही थे। एक बार आर्यसमाजके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीगङ्गाप्रसादजी एम० ए०, जो उस समय देवरिया-विभागके शासक थे, बरहज पधारे और आपकी विद्वत्ता सुनकर आपको बुलवा भेजा। श्रीमहाप्रभुजी बोले कि 'मैंने कोई अपराध नहीं किया जिससे मैं जंट साहबके पास जाऊँ, न मुझे किसी प्रकारकी कोई आवश्यकता ही है।' इसपर पेशकारने कहा कि 'नहीं, महाराजजी! जंट साहब आपका दर्शन करना चाहते हैं।' इसपर आप हँसकर बोले 'आह, तब तो प्यासा कुएँके पास जाता है, न कि कुआँ प्यासेके पास?' आपकी यह स्पष्टोक्ति सुनकर जंट साहब स्वयं पैदल आये और उन्हें अपने साथ ले गये।

आपमें शारीरिक बल भी खूब था। काशीके प्रसिद्ध पहलवान श्रीसामीनाथजीने आपकी परीक्षाकर शारीरिक बलका अनुभव किया था। आपकी आयुके सम्बन्धमें एक बात स्मरण रखने योग्य है। सं० १९७२ में आपके वैकुण्ठवासके समय आपकी उम्र १३९ वर्ष थी। इसके प्रमाणमें इतना ही कहना काफी है कि अयोध्याजीके प्रसिद्ध भगवद्भक्त और विद्वान् श्रीउमापतिजी महाराज आपके सहपाठी थे। वे काशीमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन एक ही साथ करते थे। श्रीउमापतिजी महाराजकी इस समय पाँचवीं पुश्त गद्दीपर विराजमान है। इतना होनेपर भी आपका शरीर

बहुत स्वस्थ, तेजस्वी और बलवान् था । आप जिस प्रकार निद्राजित थे उसी प्रकार जिह्वापर भी आपका पूर्ण अधिकार था । सेर-डेढ़ सेर दूध पीकर ही आप रहते थे । खानपानमें बड़े ही नियमित थे ।

आपके दर्शनार्थ नियमित समयपर अनेक साधु, विद्वान्, ईसाई, मुसलमान, सभी पुरुष आते थे और आप सबसे बड़े प्रेमसे मिलते और उपदेश करते थे ।

आपका भाव देखकर पूज्य श्रीरामकृष्ण परमहंस महाराजका स्मरण हो जाता है । आपका बड़ा ही सरल बालक-सा स्वभाव था । भजन गाते-गाते, कभी हँसते, कभी रोते और कभी मौन हो जाते । आपकी वृत्ति ईश्वरस्मरणमें सदा तल्लीन रहती थी इसीलिये आपके चेहरेपर सदैव प्रसन्नता बनी रहती थी । आपके दर्शन करके शान्ति न मिली हो ऐसा मनुष्य शायद ही कोई हो !

आपके देहावसानसे एक संस्कृतका प्रगाढ़ विद्वान्, योगी और भक्तराज इस संसारसे उठ गया ।

चार प्रसिद्ध अग्रवाल भक्तोंका संक्षिप्त चरित

(१) श्रीरामदयालुजी नेवटिया

सेठ रामदयालुजीका जन्म संवत् १८८२में मंडावा-में हुआ था। पीछेसे आप फतहपुर आ गये थे । छोटी अवस्थामें पिताका देहान्त हो जानेके कारण आपको व्यापारमें लग जाना पड़ा । विद्याकी ओर विशेष रुचि रहनेके कारण व्यापारी काम करते हुए भी आपका विद्याध्ययन जारी रहा । कुछ वर्षोंतक व्यापारके लिये पूना और अजमेर रहनेके उपरान्त आप फतहपुर लौट आये और फिर वहीं रहने लगे । आप बड़े ही नम्र, विनयी और सुशील थे ।

धर्म और भक्तिकी ओर आपकी विशेष रुचि थी । गीतापाठ करना आपका दैनिक नियम था । गीताके आप बड़े भक्त थे । नित्यकर्ममें आपकी बड़ी श्रद्धा थी। ज्वरके अत्यन्त प्रकोपमें भी आप नित्यकर्म नहीं छोड़ते थे । उषाकालमें उठकर ठण्ढे जलसे स्नान करके ईश्वरवन्दनामें लग जाना आपका नियम था । आप एक अच्छे कवि थे । संवत् १९७५ के आश्विन-में आपका स्वर्गवास हुआ । आपके परलोकवाससे अग्रवालसमाजका एक उज्ज्वल रत्न भक्तिमान् पुरुष उठ गया । पाठकोंको सेठजीका एक छप्पय अर्पण किया जाता है ।

कृष्ण नाम सुखधाम कामप्रद लीनों नाहीं ।
नखसिख लौं भरपूर भरयो अघ तिनके माहीं ॥
भक्ति भाव नहिं लेश वेश यह वृथा लजायो ।
सद्गुणको उपदेश नेक मनमें नहिं लायो ॥
जो जगमें अपराध था वह तो सब मैं कर लिया ।
मारण तारण हाथ तब जो गुण था सो कह दिया ॥

(२) जयनारायणजी पोद्दार

मारवाड़ीसमाजमें पोद्दारवंशमें प्रातःस्मरणीय सेठ गुरुसहायमलजी घनश्यामदासजीका नाम केवल व्यापारिक केन्द्रमें ही नहीं, धार्मिकतामें भी चिरकाल-से सुप्रसिद्ध है । ये महानुभाव रामगढ़-जयपुरराज्या-न्तर्गत सीकरराज्यके निवासी होनेपर भी सेठ गुरुसहायमलजीने विक्रमीय संवत् १९०० के लगभग श्रीमथुरापुरीमें एक विशाल मन्दिर बनवाकर श्रीगोविन्द-देवजी महाराजकी प्रतिमाकी स्थापना की, जो अब मथुराजीके प्रतिष्ठित गण्यमान्य मन्दिरोंमेंसे एक है । धार्मिक कार्योंमें सेठ गुरुसहायमलजी और उनके कुटुम्बकी जितनी प्रसिद्धि है उतनी अबतक अन्य किसीकी मारवाड़ीसमाजमें शायद ही हो । स्वर्गीय सेठजीके पौत्र और सेठ घनश्यामदासजीके ज्येष्ठ पुत्र सेठ जयनारायणजी और द्वितीय पुत्र सेठ लक्ष्मीनारायण-

जीके धार्मिक भाव बड़े ही दृढ़ थे। ये अपने समाजमें आदर्श पुरुष हो गये। ये परम भगवद्भक्त थे। गृहस्थमें रहते हुए भी ये भगवद्भजनमें ही सर्वदा तत्पर रहते थे।

सेठ जयनारायणजीका जन्म विक्रमीय सं० १९०६ में हुआ था। जब इनकी अवस्था लगभग १५ वर्षकी थी, तभी ये अपने पितामह सेठ गुरुसहायमलजी जब प्रातःकाल योगवासिष्ठकी कथा सुना करते थे, उनके पास बैठकर कथा सुनते थे और वह प्रतिदिन उसी रूपमें सविस्तर अपने हाथसे लिख लिया करते थे। श्रीमद्भागवतकी कथा, पञ्चरत्नका सम्पूर्ण पाठ और शालिग्रामजीकी नित्यपूजा प्रतिदिन करनेका इनका नियम था। इन्होंने रामगढ़का निवास एक प्रकारसे छोड़कर व्रजधाम मथुराजीमें ही निरन्तर निवास करनेका नियम कर लिया था।

अपने इष्टदेव श्रीगोविन्ददेवजीके ये अनन्य भक्त थे और उनपर ही इनका एकान्त विश्वास था। भक्त-वत्सल श्रीगोविन्ददेवजीने भी इनके समय-समयपर अनेक कष्ट दूर किये थे। संवत् १९३२ में ये श्रीजगदीशपुरीकी यात्राको गये थे। उस समय पुरीतक रेलवे नहीं थी, रानीगंज होकर खुश्की मार्ग था। रानीगंजके समीप ये लोग रात्रिमें पड़ाव डाले हुए थे, अचानक नदीमें भयङ्कर बाढ़ आ गयी। घोर अन्धकार और तूफ़ानमें साथके सभी स्त्री-पुरुष उसमें तितर-बितर हो गये। उस समय इन्होंने अपने इष्टदेव श्रीगोविन्ददेवजीका स्मरण किया, विश्वस्तसूत्रसे प्रत्यक्षदर्शियोंद्वारा पता लगा है कि उसी समय एक श्यामकाय पुरुषने हस्तावलम्बन देकर सस्त्रीक और सपुत्र सेठजीको एक ऊँची टेकरीपर ले जाकर खड़ा कर दिया। उस समय सेठजीने एक लाख ब्राह्मण-भोजनका और बहुत-से द्रव्यदानका सङ्कल्प किया था।

एक दिन ग्रीष्मकालकी रात्रिमें ये अपने घरमें सोये हुए थे, पङ्खा हो रहा था, किन्तु सेठजी एकाएक जग उठे और कहने लगे कि बड़ी गर्मी हो रही है, देखो, श्रीगोविन्ददेवजीका पङ्खा बन्द है। उसी समय एक मुनीम भेजा गया तो पता लगा कि यथार्थमें वहाँ पङ्खा करनेवाला मनुष्य सो गया था और पंखा बन्द था। और भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं।

संवत् १९४० में इनके संग्रहणीकी बीमारी हो गयी, इनको अपने रोगकी असाध्य अवस्था ज्ञात होने लगी तब अपने कनिष्ठ सहोदर सेठ लक्ष्मीनारायणजीसे आपने कहा कि मेरा प्राणान्त हो जानेपर मेरे शवकी रथीको श्रीगोविन्ददेवजीके मन्दिरके आगे उतारकर मन्दिरमेंसे भगवान्का चरणोदक मँगाकर मेरे मुखमें डालना और श्रीयमुनाजीमें १०८ बार मेरे शवको स्नान कराकर फिर चितारोहण कराना। ऐसा ही किया गया था।

सेठजी जितने भगवद्भक्त थे उतने ही ब्रह्मण्य भी थे। सैकड़ों ब्राह्मण भगवान्के भजन करनेके लिये श्रीभागवत, विष्णुसहस्रनामका पाठ तथा नामस्मरणके लिये सदा नियत रहते थे और सैकड़ों ब्राह्मणोंको प्रतिदिन विविध भोजन कराया जाता था।

सारे व्रजमण्डलमें सेठ जयनारायणजीके दानका यश सुप्रसिद्ध है। यों तो सर्वदा ही ये अन्न-वस्त्रादिका दान अत्यधिक करते ही रहते थे, पर अन्तसमयमें जब ये सुवर्णमुद्राओंका ब्राह्मण और गरीबोंको निर्मर्याद दान करने लगे तब सेठ घनश्यामदासजीने इनसे कहा कि 'बेटा! बहुत दान कर चुके हो, कुछ बालबच्चोंके लिये भी खयाल रक्खो' इसपर आपने अपने पूज्यपाद पिताजीसे विनम्र भावसे यही निवेदन किया कि 'पिताजी! आपने जितना मुझे दिया था वह इन बाल-बच्चोंके लिये अपना सँभाल लीजिये, मैंने जो कुछ दानधर्मके लिये उपार्जित किया है उसीमेंसे दान किया है।'

सेठजीके हृदयस्तलमें धार्मिक भावोंकी दृढ़ता अपूर्व थी, पश्चिमीय शिक्षाको वे अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। अपने ज्येष्ठ पुत्र सेठ कन्हैयालालजीको उन्होंने अपने जीवनकालमें अंग्रेजी जूतेतक पहननेकी आज्ञा नहीं दी थी और अंग्रेजीकी शिक्षा गुप्तरूपसे आरम्भ करनेकी बात ज्ञात होते ही अंग्रेजीकी किताबें फाड़ डालीं और अत्यन्त कुपित हुए थे। सेठजी अपने पीछेसे भी अन्नक्षेत्र और ब्राह्मण-भोजन नियमितरूपसे चालू रहनेकी आज्ञा कर गये हैं जो अबतक प्रचलित है।

(३) सेठ लक्ष्मीनारायणजी पोद्दार

आप सेठ घनश्यामदासजीके द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म वि० संवत् १९०८ में हुआ था। ये बड़े तेजस्वी और निर्भीक पुरुष थे। अवसरपर इन्होंने राजा-महाराजाओंका भी कभी दबाव नहीं माना। इनका केवल अपने इष्टदेवपर ही दृढ़ विश्वास था। अतएव इनका सिद्धान्तवाक्य यह था कि 'एक तू न रूठा चाहिये।' ये बाल्य अवस्थासे ही भगवद्भक्ति-परायण थे। अपनी बम्बई, कलकत्ते और मालवा प्रान्तकी कोठियोंके कारबार देखनेमें स्वयं अपना समय न लगाकर इन्होंने अपने इष्टदेवके भरोसेपर सारा व्यापारिक कार्य विश्वस्त मुनीमोंपर ही छोड़ रक्खा था और ये अपना सारा समय श्रीमद्भागवत, रामायणादि-की कथाश्रवण, महात्माओंके सत्सङ्ग और भगवत्-सेवामें ही व्यतीत करते थे। ये श्रीगोपालजीके अनन्य भक्त थे, गोपालपद्धतिसे आवर्णपूजा अपने हाथसे करनेका इनके नियम था। कर्णवास (गङ्गातट) पर अपनी बनवायी हुई धर्मशालामें चौबीस-चौबीस लक्ष श्रीगायत्रीजपके अनुष्ठान प्रायः ब्राह्मणोंद्वारा करवाया करते थे। आप भी रामगढ़को छोड़कर प्रायः मथुरा-व्रजमण्डलमें ही निवास करते थे। ये प्रसिद्ध दानवीर थे। एक-एक लाख रुपयेका एकमुश्त दान करना इनका प्रसिद्ध है। इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति भगवत्-अर्पण करनेका दृढ़ विचार कर लिया था। परन्तु कानपुरके प्रसिद्ध फार्म श्रीबैजनाथजी जुग्गीलालके प्रधान मालिक श्रीयुत बैजनाथजी सिंघानिया (जिनकी बहिन इनकी धर्मपत्नी थीं) के आग्रहसे अपनी सम्पत्तिमेंसे कुछ भाग (करीब तीन-चार लाखकी सम्पत्तिमात्र) अपने पुत्रको अनिच्छापूर्वक देकर, शेष सभी सम्पत्ति इन्होंने धर्मार्थ लगा दी थी। मथुराके समीप व्रजमण्डलके प्रसिद्ध स्थान बरसाना और नन्दगामके बीचमें एक प्रेमसरोवर है। वहाँपर सेठजीने एक विशाल और सुरम्य मन्दिर बनवाया (जिसमें उस समय एक लाख रुपये लगे थे, इस समय तो कई लाखमें वैसा नहीं बन सकता) और उसमें श्रीराधागोविन्दचन्द्रदेवजी महाराजकी प्रतिमा स्थापन करके उसका नाम प्रेमनिकुञ्ज रक्खा था। यह मन्दिर एक विशाल उपवन (बगीचे) में बड़ा ही रमणीय स्थान है। मन्दिरमें एक संस्कृतकी पाठशाला स्थापित है जिसमें मध्यमातककी पढ़ाई होती है। छात्रोंको भोजनादि वृत्तिका भी अच्छा प्रबन्ध है। गोशाला भी है। सदाव्रत भी है जिसमें सभी जातियोंको कच्चा सामान सर्वदा दिया जाता है। अन्नक्षेत्रमें कच्ची रसोईसे भी अतिथिसत्कार होता है। इसके सिवा मयूर, बन्दर, पक्षी, चींटियोंको भी प्रतिदिन दाना चुगा डाला जाता है। भगवान्‌के पक्के भोगकी सामग्री-से समीपके बरसाना, नन्दगाँव आदि नौ गाँवोंको ब्राह्मण-भोजन क्रमशः कराये जाते हैं। मन्दिरके उत्सवोंपर बड़ा आनन्द रहता है। भाद्रपद शु० ११—जलझूलनी एकादशीको भगवान्‌की सवारी मन्दिरसे प्रेमसरोवर पधारती है। इस मन्दिरके इस नविका उत्सवकी व्रज-मण्डलके प्रधान उत्सवोंमें गणना है। २५-३० हजार दर्शक उस समय सम्मिलित हो जाते हैं। सेठजीका वैकुण्ठवास वि० संवत् १९४७ में हो गया। इन सब धर्मकार्योंके सुचारुरूपसे चलानेके लिये सेठजी एक ट्रष्ट बना गये हैं। जिसमें करीब पचीस-तीस हजारकी वार्षिक आय है। इस ट्रष्ट-के इस समय प्रमुख सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार
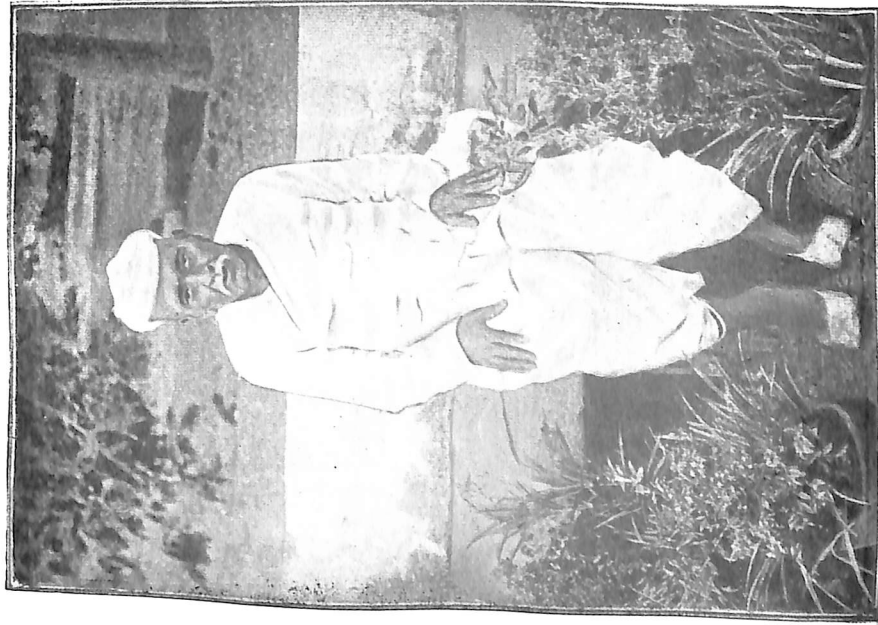
सेठ रामदयालजी नेवटिया

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी

भक्त सेठ जयनारायणजी पोद्दार

भक्त सेठ लक्ष्मीनारायणजी पोद्दार

हैं जो कि सेठके भतीजे होते हैं। इस ट्रष्टका कार्य उत्तरोत्तर उन्नत दशामें है। अब हम पाठकोंकी सेवामें उक्त प्रेमनिकुञ्जविषयक एक पद्य भेंट करते हैं, जो सेठ कन्हैयालालजी पोद्दारद्वारा रचित है!

उतै आत रहे जुगुविन्द अहो इतै आवत ही वृषभान-कुमारी।
बिच प्रेमसरोवर भेंट भई यह प्रेम-निकुञ्ज नवीन निहारी॥
चित चाहतु है इतही रहिये, यह कीन्ह बिनै प्रियको प्रियप्यारी।
सुनि भक्त-मनोरथ-पूरक नित्य निवास कियो मिलि कुञ्जबिहारी॥

(४) भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी

बाबू हरिश्चन्द्र अग्रवाल वैश्यकुलके भूषण थे! आपका जन्म सं० १९०७ में काशीमें हुआ था। आपके पिता बाबू गोपालचन्द्रजी बड़े कवि थे। परन्तु वे हरिश्चन्द्रको नौ वर्षकी अल्प अवस्थामें छोड़कर ही परलोक सिधार गये। हरिश्चन्द्रजीकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। इन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, भक्तिविषयक तथा अन्यान्य विषयोंके अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। आप एक सर्वप्रिय विद्वान्, बड़े ही उदार, सुकवि और मनस्वी पुरुष थे। वल्लभकुलके अनन्य वैष्णव थे पर किसी अन्य सम्प्रदायसे द्वेष नहीं रखते थे। सत्यको ही अपना आदर्श मानते थे। बड़े रसिक पुरुष थे परन्तु भक्तिका भाव आरम्भसे ही इनके चित्तमें भर रहा था। नारदभक्तिसूत्र और शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रका इन्होंने तदीयसर्वस्व और भक्ति-सूत्र—वैजयन्तीके नामसे अनुवाद किया था। संवत् १९३० में इन्होंने तदीय-समाजकी स्थापना की थी, इसमें इन्होंने वैष्णव धर्मानुसार सोलह प्रतिज्ञाएँ की थीं, जिनका आमरण पालन किया। यहाँ दो चार पंक्तियोंमें इनके जीवनकी क्या-क्या बातें लिखी जायँ। मरनेसे कुछ महीने पहलेसे इनका चित्त परमात्माकी ओर विशेषरूपसे लग गया था। संवत् १९४२ में काशीमें आपका देहान्त हो गया। पिछली साधनाके प्रतापसे पहलेका जीवन कुछ दोषयुक्त रहनेपर भी अन्त-कालमें भारतेन्दुजी एकाएक पुकार उठे—'हे श्रीकृष्ण! राधाकृष्ण! हे राम! आते हैं, मुख दिखलाओ।' इनकी कविताकी हम क्या तारीफ करें। तीन दोहे पाठकोंके समर्पित हैं—

मोरो मुख घर ओरसौं, तोरौ भवके जाल।
छोरो सब साधन सुनौ, भजो एक नँदलाल॥
सब दीननकी दीनता, सब पापिनको पाप।
सिमिटि आइ मोमें रह्यो, यह मन समुझहु आप॥
प्राननाथ ब्रजनाथजू, आरतिहर नँद-नंद।
धाइ भुजा धरि राखिये, डूबत भव हरिचंद॥

बिगरी कौन सुधारे ?

(लेखक—श्रीअम्बाप्रसादजी, चरखी दादरी)

तुम बिन बिगरी कौन सुधारे॥
एक दिन बिगरी पिता-पुत्रमें बाँध खंभसों मारे।
जन अपनेके काज दयानिधि रूप नर-हरी धारे॥ १॥
एक दिन बिगरी भ्रात-भ्रातमें लात दसानन मारे।
राज विभीषण पाय लंकको बाजत विजय नकारे॥ २॥
एक दिन बिगरी राजसभामें द्रौपदि दीन पुकारे।
ताको चीर अनन्त बढ़ायो दुष्ट दुशासन हारे॥ ३॥
एक दिन बिगरी जन नरसीकी समधीजीके द्वारे।
सो सुधार सब बात भात भर जनके कारज सारे॥ ४॥
जब जब भीर परी भक्तन पै तब तब आप पधारे।
'अम्बा' की वेर कहाँ पड़ सोये विपति विदारन हारे॥ ५॥

भक्ति

(लेखक—श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय सम्पादक 'त्यागभूमि')

ज्ञानके मिलनेके उपाय हिन्दू-धर्म कर्म और भक्ति बताता है। भक्तिका सम्बन्ध भावनासे है, हृदयसे है। भक्तिका अर्थ है भावनाओंका, हृदयके गुणोंका विकास। बुद्धने मुक्ति निर्वाण या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये चार भावनाओंके विकासको मुख्य माना है—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। अर्थात् अपने मनकी वृत्तिको ऐसा बना लेना जिससे सारा संसार (१) हमें मित्र जान पड़े और हम उसे अपने मित्र अर्थात् हितकर्ता जान पड़ें, (२) दीन दुखियोंके प्रति सदा मनमें दया पैदा होती रहे और उनकी सहायता, सेवाकी प्रेरणा हो, (३) सदा सर्वदा प्रसन्नता, आनन्द, प्रफुलता बनी रहे जिससे शोक और दुःखका असर न अपनेपर होने पावे, न दूसरोंपर, और (४) जो हमारी बुराई करें, हमें नुकसान पहुँचावें उनको क्षमा कर दिया करें, उनकी बुराइयोंपर ध्यान न जाय। मैत्री, करुणा और उपेक्षाका अन्तर्भाव 'अहिंसा' में तथा 'मुदिता' का 'योग'—'समत्वं योग उच्यते'—में हो जाता है। गीताप्रतिपादित दैवी-सम्पत्ति या सात्त्विक गुणोंका समावेश भी इसमें हो जाता है, जिनका विचार हम आगे करेंगे।

प्रेम और भक्ति

भक्ति प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्रेमका अर्थ है हृदयैक्य। वह गुणग्राहकतासे उत्पन्न होता है। रुचिकी एकता उसे संवर्धित करती है और हृदयकी निर्मलता अथवा निःस्वार्थ-भाव उसे हृदयैक्य, आत्मैक्यका रूप देती है। प्रेमका आधार या पूरक होता है कोई व्यक्ति, कोई वस्तु, कोई आदर्श या कोई सिद्धान्त, जैसे (१) राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, दयानन्द, गाँधी आदि (२) भारतवर्ष, गङ्गा, कैलास आदि (३) स्वराज्य, परोपकार, देशसेवा, आदि और (४) सत्य, अहिंसा आदि। प्रेम भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्था है। प्रेममें प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों समान भूमिकापर रहते हैं। यह समभाव जैसे-जैसे एकके प्रति दूसरेके आदर-भावमें परिणत होता जाता है तैसे-तैसे प्रेम भक्तिका रूप धारण करता है। ऐसा तब होता है जब प्रेमी प्रेमगतको अपनेसे श्रेष्ठ, उच्च और पवित्र समझने लगता है। तब 'प्रेमी' और 'प्रेमपात्र' या 'प्रेमगत' यह भाषा लुप्त होने लगती है और 'आराधक' तथा 'आराध्य' शब्द उसका स्थान लेते हैं। आगे चलकर ये 'भक्त' और 'भगवान्' का रूप धारण करते हैं। इसी सम्बन्धका या भावका नाम है भक्ति। आगे जाकर भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। उस अवस्थाको कहते हैं ज्ञान या अद्वैतानन्द। यही मनुष्यका लक्ष्य हिन्दू-धर्मने स्थिर किया है।

भक्तिका स्थान

जबतक मनुष्य अपने साध्यसे—आदर्शसे दूर है तबतक साधक और साध्य ये दो जुदी वस्तुएँ उसके लिये रहेंगी। वह एक होनेके लिये कोशिश करता है, पर जबतक एकता नहीं हो जाती तबतक तो उससे पृथक् ही अपनेको अनुभव करता है। इसीका नाम है द्वैत; और जब वह अपने आराध्यको पा जाता है, उसमें मिल जाता है तब वह अद्वैतका अनुभव करने लग जाता है। मनुष्यका जीवन इसप्रकार द्वैतसे आरम्भ होकर अद्वैतमें उसकी परिणति होती है। साधक और साध्यमें जबतक प्रेम नहीं है, परस्पर आकर्षण नहीं है, तबतक साधक साध्यकी ओर प्रवृत्त ही क्यों और कैसे होगा? प्रेम साधकको साध्यकी ओर गति देनेवाला सहायक और प्रेरक-बल है। फिर जैसे साधक साध्यकी महत्ता और आवश्यकताको अधिकाधिक पहचानता जायगा तैसे-तैसे यह प्रेरक-बल पावक-बलके रूपमें परिणत होता जायगा। प्रेम प्रेरक है, भक्ति पावक—पवित्र बनानेवाली है। मनुष्यका हृदय ज्यों-ज्यों निर्मल होता जायगा, त्यों-त्यों वह उदार और सहिष्णु होता जायगा और त्यों-ही-त्यों वह अद्वैतके निकट पहुँचता जायगा।

भक्तिके आधार

मुख्य बात है द्वैतसे अद्वैतको पहुँचना—जीव भाव मिटकर ईश्वर भावको प्राप्त होना—देह-भाव जाकर आत्म-भावको प्राप्त होना—अहंभाव निकलकर 'मैं कुछ नहीं हूँ' या 'वही मैं हूँ' इस भावको पा जाना। इस संक्रमण या परिणति-कालमें प्रेम और उसका अन्तिम रूप भक्ति, मनुष्यका एकमात्र सहारा है, फिर वह भक्ति चाहे सत्यकी हो, चाहे

ब्रह्मकी हो, चाहे शून्यकी हो; चाहे ईश्वरकी हो, चाहे देश-विशेषकी हो, चाहे पर्वत या नदी-विशेषकी हो, चाहे व्यक्ति-विशेषकी हो। काम चलानेके लिये साधक चाहे किसीको अपना आधार मान ले, अपने लक्ष्यका प्रतीक मान ले, पर यदि वह लक्ष्यको भूल न जायगा तो अवश्य ही गन्तव्य स्थानको पहुँच जायगा। ईश्वर-भक्ति, देश-भक्ति, तत्त्वनिष्ठा, वीर-पूजा, मूर्तिपूजाका रहस्य यही है। यदि हम भिन्न-भिन्न आधारों या प्रतीकोंके द्वारा एक ही भावको अपने अन्दर बैठाना, पुष्ट करना और चरम सीमातक विकसित करना चाहते हैं तो इनमेंसे किसी भी साधनको अपनानेमें कोई दोष नहीं है। वह भाव है द्वैतको मिटाकर अद्वैतको पहुँचना।

आधार या प्रतीक-भेदसे भक्तिका अर्थ और अभिप्राय जुदा-जुदा होता है, जिसका असली रूप न समझनेके कारण भक्तिका दुरुपयोग तथा व्यक्ति और समाजको हानि पहुँचती है—दोनों अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर पतित और अधोगामी होते हैं। अतएव आइये! व्यक्ति, वस्तु, आदर्श और तत्त्वके प्रति भक्तिके स्वरूपका निर्णय करें।

उपासना-प्रार्थना

व्यक्ति-भक्तिके दो प्रकार हैं। ईश्वरभक्ति और गुरुभक्ति। ईश्वरकी भक्ति दो प्रकारसे की जा सकती है। निर्गुण ईश्वरकी भक्ति प्रधानतः उपासना या प्रार्थनाके रूपमें की जाती है। अर्थात् उससे अपने पथमें बल और प्रकाश पानेकी सहायता या प्रेरणा चाही जाती है। उपासना या प्रार्थनाके दो अंग होते हैं एक तो, ईश्वरसे अभीष्ट वस्तु माँगना और दूसरे अपने लक्ष्यकी स्मृतिको ताजा रखना तथा की हुई प्रतिज्ञाओंपर दृढ़ रहनेकी स्फूर्ति प्राप्त करना। पहले प्रकारकी उपासना करते समय साधक या भक्त अपनेको निर्बल तथा असहाय समझकर आवश्यक वस्तु ईश्वरसे माँगता है, इस चित्तवृत्तिसे मनुष्यके परावलम्बी, परमुखापेक्षी और पुरुषार्थ-विमुख होनेकी सम्भावना रहती है। प्रार्थनाका हेतु है पुरुषार्थ-वृद्धि। यदि मनुष्य आगे बढ़ना छोड़कर, करना धरना छोड़कर, सिर्फ प्रार्थना ही किया करे, रोज ईश्वरका दरवाज़ा खटखटाया करे तो उससे कुछ लाभ नहीं। मनुष्यको ईश्वरकी सहायता उसी अवस्थामें माँगनी चाहिये जब वह अपने पुरुषार्थसे—अपने बलसे आगे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ हो गया हो। ऐसे-ऐसे भारी विघ्न और संकट उपस्थित हो गये हों कि उसके हटाये हटते ही न हों। गज और द्रौपदीने ऐसे ही सङ्कट और बेबसीके अवसरपर प्रभुको याद किया और उस 'निर्बलके बल राम' ने आकर उनकी 'लाज' रक्खी। मनुष्य तब भी प्रार्थना कर सकता है जब वह अपने दोषों, दुर्गुणों और कमजोरियोंको स्वयं न हटा पाता हो, ऐसे ही समय तुलसीदासने गाया 'केहि कहौं विपति अति भारी—लूटहिं तस्कर तव धामा' तथा सूरदासने अर्जी भेजी—'मो सम कौन कुटिल खल कामी।' भक्त जैसे-जैसे ऊँचा चढ़ता जाता है, तैसे-तैसे उसे अपने छोटे और थोड़े दोष भी बहुत बड़े और असह्य होते जाते हैं। दर्पण जितना ही स्वच्छ होगा उतना ही मैल या कालिमा अधिक स्पष्ट दिखायी देती है और इसलिये वह बिल्कुल असह्य हो जाती है। उस समय भक्त व्याकुल हो उठता है और जल्दी निर्मल होनेके लिये भगवान्‌को मनाता है, रिझाता है, दिक करता है और कभी-कभी आवेशमें आकर उसे भली-बुरी भी सुना देता है। तुलसी, सूर इसी कोटिके भक्त थे।

प्रार्थनाका दूसरा प्रकार है प्रतिज्ञा और स्मृतिको रोज ताजा करना। पहले प्रकारकी प्रार्थना कभी-कभी की जाती है यह प्रार्थना नित्य करनी चाहिये। अनेक कामों, कर्तव्यों, झंझटों, चिन्ताओं और प्रमादोंमें लिप्त मनुष्योंके लिये रोज अपने लक्ष्य और उस तक जानेके लिये की गई प्रतिज्ञाओं और लिये गये नियमोंके पालनकी याद दिलाना जरूरी है। इससे न केवल मानसिक शान्ति मिलती है, बल्कि प्रेरक बल भी प्राप्त होता है। यह प्रार्थना एक कर्तव्यनिष्ठका प्रतिज्ञा-स्मरण है और वह प्रार्थना एक दुखी दिलकी पुकार है—एक घायल मनकी तड़प है, एक दलित पतितका निहोरा है!

सगुण भक्ति

सगुणभक्ति ईश्वरको व्यक्ति कल्पित करके उसकी पूजा-अर्चा, श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा की जाती है। उसके ९ भेद माने गये हैं—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वंदन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन। भक्तिके आरम्भमें भक्त और भगवान् दो और एक दूसरेसे दूर होते हैं और अन्तमें एक दूसरेमें समा

जाता है। जब साधक यह समझने और मानने लग जाता है कि मेरा कुछ नहीं, जो कुछ है परमात्माका है, जो कुछ करता हूँ उसकी प्रेरणासे करता हूँ, मैं तो उसके हाथका खिलौना हूँ, तब भक्तिकी शुरूआत होती है। जिस क्षण हृदयमेंसे 'मैं' और 'वह'का भाव निकल गया उसी क्षणसे भक्त ज्ञानीके पदको पहुँच गया। भक्त अपनेको छोटा और नम्र तथा भगवान्‌को महान् और ऐश्वर्ययुक्त मानता है। जब साधक ईश्वरको आराध्य मानकर भक्ति करने लगता है तब प्रधानतः उसके तीन गुण या शक्तियाँ उसके सामने रहती हैं—(१) सर्वशक्तिमत्ता, (२) आनन्दमयता और (३) पतित-पावनता अर्थात् एक तो वह यह मानता है कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है, सब तरहका बल उसके पास है, जिससे उसे अपने कर्तव्य-पथमें बल और साहस मिलता है, दूसरे, वह यह धारणा कर लेता है कि ईश्वर सब दुःखों, कष्टों, यातनाओं, विघ्नों, सङ्कटोंसे परे और उनको दूर करनेवाला है, जिससे उसे अपने मार्गके विघ्न-बाधाओं और दुःखोंको दूर करनेकी आशा, उत्साह और सहारा मिलता है तथा तीसरे, वह यह गृहीत करता है कि ईश्वर गिरे हुओंको उठाता है। दुखियोंको अपनाता है, सताये हुओंको उबारता है, वह दयामय है जिससे उसे अपने दुःख-सुख और दोषों तथा कमजोरियोंकी कथा उसतक पहुँचानेका हौसला होता है तथा उनके दूर हो जानेका आश्वासन मिलता है।

साधक ईश्वरकी भक्ति दो उद्देश्यसे करता है—(१) प्रेरणा और सहायता पानेके लिये, (२) उसके गुणोंका अनुकरण करनेके लिये। पहले हेतुसे वह पूर्वोक्त तीन गुणोंकी कल्पना करता है और दूसरे उद्देश्यसे समस्त सात्त्विक गुणों, भावों और शक्तियोंका समूह या केन्द्रस्थान उसे मानता है, दैवी-सम्पत्तिका आदर्श समझता है, पूर्णब्रह्म, परमात्मा, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य मानता है जिसका कि अनुकरणकर वह तद्रूपता प्राप्त करनेकी कोशिश करता है।

दोनों अवस्थाओंमें वह ईश्वरको भजनीय, पूजनीय, और अनुकरणीय मानता है। पूर्वोक्त नवधाभक्तिकी कल्पना इसी भावसे उत्पन्न हुई है। श्रवणका अर्थ है—चौबीसों घंटे ईश्वरके गुणोंकी, शक्तियोंकी, खूबियोंकी बातें सुनें, जिससे वैसा ही बननेकी उमंग पैदा हो और बढ़े। अपने और कामोंमें लगे रहते हुए भी ईश्वरके गुण-श्रवणके मौकेको न खोना चाहिये। ज्ञानचर्चा, धर्म-कथा सुननेमें आलस्य न करना चाहिये। कीर्तनका अर्थ है—हरि-गुणगान। भगवान्‌की महिमा औरोंको भी सुनानी चाहिये—ज्ञान-दान देना चाहिये, जिससे हमारे साथ ही दूसरोंका भी उपकार हो। स्मरणका अभिप्राय है—ईश्वरके गुणोंका सतत स्मरण करते रहना। जिससे हमें अपने गुणोंको बढ़ानेकी बातका विस्मरण न हो। पादसेवनका आशय है—ईश्वरके मुकाबलेमें अपनेको नम्र, न कुछ-मानना, जिससे सफलताओंपर मनमें अहङ्कार न आने पावे। दास्यका भाव है—परमेश्वरको स्वामी और अपनेको उसका सेवक; उसको कर्त्ता, अपनेको उसके हाथकी कठपुतली समझना, जिससे कर्त्तापन अपनी ओर ले लेनेसे होनेवाले कर्म-फलोंसे हम बचे रहें। सख्यका अर्थ है—प्रीति या हृदयैक्य। मित्र, मित्रसे परदा नहीं रखता। इसीप्रकार भक्तको भगवान्‌से अपना हृदय छिपा न रखना चाहिये। अपने दोष और पाप प्रकट कर देनेसे हृदय हलका हो जाता है और पवित्रताकी प्रेरणा मिलती है। ईश्वरको अपना सखा मानकर हमें अपनी बुराइयाँ, कमजोरियाँ, उसके सामने रखनेकी प्रवृत्ति होनी चाहिये।

आत्मनिवेदनका आशय है—सख्यसे एक कदम आगे बढ़कर अपना हृदय उसके सामने खोलकर रख देना जिससे वह उसे निर्मल बनाकर अपना सके, अपने योग्य बना सके, अपने ऐश्वर्यका अधिकारी हमें कर सके। भक्तिकी यह आखिरी और ज्ञानकी पहली सीढ़ी है। तुलसी और मीराने दास्य, सूरने सख्य भक्तिको पराकाष्ठा-तक पहुँचाकर ईश्वरीय प्रसाद और वैभव पाया था।

मूर्तिपूजा

मनुष्य जैसा चाहता है, जैसी भावना रखता है, वैसा बन जाता है। सगुण भक्ति और गुरुभक्तिमें गुणानुकरण प्रधान है। अतएव साधक अपने आराध्यमें जैसे गुणोंकी कल्पना करेगा वैसा ही वह बनेगा। या जैसे गुरुकी भक्ति करेगा, वैसा ही उसका जीवन बनेगा। यदि साधक इस बातको भूल गया कि मुझे कहाँ जाना है, परमपद पाना

है, और भक्तिकी ऊपरी बातोंमें ही उलझ रहा तो वह कभी अपना अभीष्ट न पा सकेगा । उल्टा दुर्गतिको प्राप्त होगा । अनेक भावोंसे भक्ति करनेका जो विधान या मार्ग बताया गया है, वह मनुष्यके स्वभावभेदको ध्यानमें रखकर किया गया है । ये तो भक्तिके विकासकी अवस्थाएँ हैं । इसका दुरुपयोग बहुत हुआ है । स्त्रीभावसे श्रीकृष्णकी भक्ति करनेका भी एक पन्थ चल पड़ा है । इसमें साधक अपनेको पत्नी और आराध्यको पति मानकर उसी प्रकार उसके प्रति अपने धर्मका निर्वाह करता है, जिस प्रकार पत्नी पतिके प्रति करती है । कहीं-कहीं गुरुभक्तिको भी ऐसा मलिन रूप प्राप्त हो गया है । यह प्रत्यक्ष भक्तिका अपराध है । एक तो इससे दुराचारकी प्रवृत्ति बढ़ी है और दूसरे साधकोंमें वैसे ही स्त्रियोचित गुणों और भावोंका उदय होता है । उनके शारीरिक विकासको भी स्त्रियोचित रूप प्राप्त होता है । स्त्रियोंमें कोमल गुण और भावोंका विकास अधिक पाया जाता है । कवि लोग इसे चाहे रमणीत्वका सौन्दर्य और आदर्श मानें—पर उनका जीवन इससे एकांगी बन जाता है और एकाकी जीवन-यात्रा करनेका साहस उनमेंसे निकल जाता है—कम-से-कम भारतवर्षमें तो यही अनुभव होता है । यह चाहे एक अंशतक उपयोगी भी हो, पर पुरुषोंको अपने अन्दर स्त्रियोचित और विशेषकर पत्नी-सुलभ हाव-भावों आदिका उदय करना बिल्कुल हास्यास्पद है । स्त्री और पुरुष दोनोंके अन्दर कोमल और परुष दोनों गुणों और भावोंके विकासकी आवश्यकता रहती है । वे गुण वैसे ही हों जिससे उनकी जीवन-यात्रा भी सुकर और सुखमय हो तथा अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें उन्हें सहायता मिले । वे प्रधानतः ये हो सकते हैं—धीरज, उत्साह, साहस, निर्भयता, तेजस्विता, सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, संयम, नम्रता, प्रेम, क्षमा और उदारता। हर स्त्री-पुरुषको चाहिये कि वह ऐसे ही गुणोंसे युक्त अपने आराध्यकी कल्पना करें और खोजें और उसीकी भक्ति करें । इनमेंसे किसी गुणकी न्यूनाधिकता उन्हें आवश्यकतानुसार करनी पड़े तो यह बात दूसरी है । कुछ समयतक किसीको किसी एक ही गुण या भावके विकासपर जोर देना पड़े, यह भी हो सकता है । पर वे यह माननेकी भूल न करें कि एक ही गुणका विकास काफी है । गुण-विशेषका नहीं, बल्कि गुण-समुच्चयके पूर्ण विकासका नाम है मुक्ति या परमपदकी प्राप्ति । अतएव भक्तको इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि वह भ्रम और धोखेमें कहीं भटक न जाय—लाभके बदले हानि न कर ले ।

मूर्तिपूजा सगुणोपासनाका अंग है । प्रधानतः इसका सम्बन्ध ध्यानयोगसे है, जो कि 'हठयोग' का एक भाग है । चित्तको एकाग्र करनेके लिये किसी वस्तुपर सतत ध्यान जमानेकी आवश्यकता रहती है । और वस्तुओंकी अपेक्षा ईश्वरकी मूर्तिका ही ध्यान क्यों न किया जाय ? मनःकल्पित मूर्ति आरम्भिक अवस्थामें स्थिर नहीं रहती, अतएव ईश्वरकी प्रत्यक्ष मूर्ति बनाकर ही उसपर ध्यान जमाना ज्यादा सुलभ है । इस कार्य-सुगमताने ईश्वरमूर्तिको जन्म दिया । पीछे चलकर ईश्वरका प्रतीक-चिह्न समझकर उसकी पूजा भी होने लगी, बड़े-बड़े मन्दिर, पुजारी और महन्तोंकी सृष्टि हो गयी और लाखों रुपयोंका व्यय उसके निमित्त होने लगा । मूर्तिपूजा जैन और बौद्ध धर्ममें भी प्रचलित है । यह कहना कठिन है कि मूर्तिपूजा वैदिक, जैन और बौद्ध इनमेंसे किसने किससे ग्रहण की । इस विषयमें पण्डितोंमें मतभेद है । फिर भी अधिकांशमें यही माना जाता है कि बुद्धमतसे मूर्तिपूजा शेष दोनों मतोंने ग्रहण की है ।

मूर्तिपूजा चाहे ध्यानके लिये बनी हो, चाहे ईश्वरकी प्रतीक-पूजाके निमित्त । पर हिन्दुओंके धार्मिक जीवनमें एक हदतक उसे स्थान अवश्य है । पर आज मूर्तियों और मन्दिरोंकी जो दुरवस्था हो रही है, उनके नामपर जो लाखों रुपया बरबाद हो रहा है, तथा पुजारी और महन्त उनकी आड़में जो पाखण्ड और दुराचार फैलाते हैं यह अवश्य ही मूर्तिपूजाका घोर दुरुपयोग और हिन्दू-धर्मका महा अपमान तथा कलङ्क है, और इस अनर्थके आगे उसकी आवश्यकता और महत्त्व लुप्तप्राय हो जाता है ।

गुरुभक्ति

अब व्यक्ति-भक्तिके दूसरे प्रकार गुरुभक्तिपर विचार करें । गुरुभक्तिको वीरभक्ति, वीरपूजा भी कह सकते हैं । गुरु वह है जो मनुष्यको ज्ञान दे, ज्ञानका रास्ता बतावे, अच्छी शिक्षा दे, सत्कर्मकी प्रेरणा करे, सदाचार और पवित्रताकी ओर ले जाय, निर्भय और तेजस्वी बननेका

मार्ग दिखावे। गुरु प्रधानतः मनपर अच्छे संस्कार डालता है—अपने पवित्र उपदेश तथा आदर्श आचरणद्वारा। वीर मनुष्यकी कार्यशक्तिको जाग्रत् और उत्तेजित करता है। गुरु ज्ञानका घर है; वीर शक्तिका। ज्ञान और शक्ति दोनोंके देनेवाले 'गुरु' और 'वीर' पदवीसे सुशोभित हो सकते हैं। सद्गुण और सद्भावकी पूजा मानव-स्वभावका एक उच्च गुण है। गुरु और वीरकी पूजा उनके ज्ञान, गुण और शक्तिके तथा त्याग, तप और चरित्रके कारण होती है, न कि सांसारिक पद-प्रतिष्ठा या सत्ताके कारण। गुरु और वीरकी पूजा या भक्ति साधकको उसकी साधनामें बहुत सहायक होती है। ईश्वरकी तो उसे कल्पित और भौतिक मूर्ति बनानी पड़ती है, पर गुरु तो साक्षात् मौजूद रहते हैं। उनसे केवल स्फूर्ति ही नहीं मिलती, ज्ञान और प्रकाश भी मिलता है इसीलिये तो शिष्य-हृदयकी कृतज्ञता उसका पूजन करती ही है, पर उसके गुणोंकी अनुकरण-प्रवृत्ति भी उसकी भक्ति हृदयमें दृढ़ कर देती है। गुरुकी सच्ची पूजा और भक्ति केवल उसके शरीरकी पूजा नहीं बल्कि उसके गुण, ज्ञान, तप, शीलका अनुकरण एवं उसके स्वीकृत कार्योंमें हार्दिक सहयोग दान है। वही सच्चा शिष्य या भक्त है जो ऐसी भक्ति करता हो और वही सच्चा 'गुरु' या 'वीर' है जो ऐसी पूजा चाहता हो, कोरे मन्त्र या पुष्पाक्षत नहीं; अविराम कर्म, जीवन-यज्ञ उसकी पूजा सामग्री होती हैं। सच्चा गुरु कभी शिष्य या भक्तको अपने शरीरका, अपनी वासनाओंका, अपनी चित्तवृत्तियोंका, अपनी बुद्धिका गुलाम न बनावेगा, न बनाना चाहेगा, वह तो सिर्फ उसके मनपर सु-संस्कार करता जायगा—सो भी निरपेक्षभावसे। सच्चे गुरुकी यदि कोई अपेक्षा या अभिलाषा हो सकती है तो वह यही कि शिष्य या भक्तका कल्याण हो—वह परम सत्यको पावे, जीवन्मुक्त हो जाय तथा दूसरोंको भी जीवन-यात्राकी कठिनाइयोंमें सहायता दे। सच्चा गुरु कभी दिनमें घीकी मशालें जलाकर न निकलेगा, वह धर्म—राज्य-धर्मके नामपर राज्य न चाहेगा, वह तो धार्मिक राज्य चाहेगा। सच्चा गुरु कानमें मन्त्र न फूँकेगा, वह तो ऊँचे चढ़कर भुजा उठाकर बुलन्द आवाजसे अपना मन्त्र-सन्देश दुनियाको सुनावेगा। यही सच्चे गुरुकी कसौटी है। जो गुरु इसपर सौ टंचके साबित न हों वे अधूरे या पाखण्डी हैं। फिर जो दुराचारी सत्ता और धनके भूखे होते हुए भी गुरु या आचार्य-पदको भ्रष्ट कर रहे हैं वे गुरु नहीं, गुरु-कुल-कलङ्क हैं, कुलाङ्गार हैं। ऐसे गुरुओंकी भक्तिसे मुक्ति तो एक ओर रही, रौरव नरक शिष्यके स्वागतके लिये तैयार मिलेगा। और खुद गुरु ? उनके लिये क्या कहें ! आँसू-आँसू-आँसू !!!

वस्तुभक्ति

वस्तुभक्तिके अन्दर देशभक्ति, ग्रामभक्ति, समाज-सेवा, जाति-सेवा आदिका समावेश होता है। ये सब शब्द अपना सामाजिक और राष्ट्रीय अर्थ भी रखते हैं, पर यहाँ धार्मिक अर्थ प्रधान है। धार्मिक मनुष्य इन कामोंमें प्रधानतः इसलिये पड़ता है कि ये उसे आत्मोन्नतिमें सहायक जान पड़ते हैं, आत्मोन्नतिका अर्थ है सद्गुणोंका विकास, दुर्गुणोंका क्षय, अथवा षड्विकारों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—का दमन। देशभक्ति, समाजसेवा आदि किसी एकमें लग जानेसे एक तो मनुष्य स्वार्थ-भावके दायरेसे निकल सकता है। दूसरे, शक्ति और मनको एक ही दिशामें लगानेकी प्रवृत्ति होती है और तीसरे, समाज और देशके काममें ऐसे बहुतसे अवसर आते हैं जिनसे गुणों और शक्तियोंका विकास होता है और साथ ही उनकी परीक्षा भी होती रहती है। यदि साधक या भक्त एकान्तमें बैठकर ईश्वरभक्ति करे, या मनको एकाग्र करे तो यह चाहे ज्यादा सरल और सुगम हो, पर उससे प्राप्त लाभ सच्चा और स्थायी है या नहीं, इसकी शङ्का पद-पदपर बनी रह सकती है। जहाँ विकारोंके प्रकोपका अवसर ही नहीं है वहाँ विकार छिप गया है, या हमारे कब्जेमें आ गया है इसका भ्रम हो सकता है—इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सकता। फिर एकान्तमें मनुष्यके विकार चाहे छिप या दब जायँ, उसके गुणोंका, शक्तियोंका विकास होगा या नहीं, इसमें भी सन्देह है। गुण और शक्ति सम्पर्क और संघर्षसे बढ़ते हैं और वही उनकी कसौटी है। देशसेवा, समाज-सेवाको धार्मिक भावमें अपनाने और ग्रहण करनेसे एक लाभ यह भी है कि मनुष्यको अपनी सेवाका अहंकार नहीं होने पाता और आगे चलकर तो 'सेवा' का भान भी मिटकर सेवा उनका स्वभाव-धर्म हो सकता है। जब साधक इस अवस्थाको पहुँच जाता है तभी वह पहुँचा हुआ कहा जाता है। राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टिसे देश-

भक्ति या जन-सेवा करनेसे मनुष्य अनेक प्रकारके मोहों, प्रलोभनों, प्रमादों और निराशाओंका शिकार हो सकता है। वह कर्तव्यशिथिल और कुपथगामी भी हो सकता है, पर धार्मिक दृष्टिका साधक न तो निराश होता है, न पथभ्रष्ट ही। बाहरी असफलता, अकल्पित सङ्कट और विघ्न उसे क्षणिक मालूम होते हैं और घोर निराशामें भी उसे आशाकी ज्योति दिखायी पड़ती है। वह अटल आत्मविश्वास और सजीव श्रद्धाको पाता है और उसके बलपर बड़े-बड़े चमत्कार कर दिखाता है। वह स्वयं तो अनेक आत्मिक गुणोंको पाता ही है, पर साथ ही उनसे समाज और देशको भी अनमोल लाभ पहुँचता है, फिर इन कार्योंमें उसकी कोई लौकिक महत्त्वाकाङ्क्षा नहीं होती इसलिये उसकी एकनिष्ठता, स्थिरता बहुत बढ़ जाती है और यही उसे सफलताके राजमार्गपर ला रखती है। उसके दोनों हाथ लड्डू हैं। वह अपनी शक्तिको भी बढ़ाता जाता है और सेवामें उसका सदुपयोग भी करता जाता है। ज्यों-ज्यों उसकी सेवा बढ़ती है त्यों-त्यों उसकी शक्ति बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है त्यों-ही-त्यों सेवा अधिक निर्मल और ठोस होती जाती है। वर्तमान युगमें स्वार्थ और परमार्थ-साधनका इससे बढ़कर और साधन नहीं है।

देश-भक्ति और समाज-सेवाका अर्थ है देश और समाजके दुःखों और कमजोरियोंको दूर करनेमें अपनी शक्ति लगाना। ऐसा करनेकी प्रेरणा हमारे मनमें तब हो सकती है जब समाज और देशके दुःखों, बुराइयों, कमजोरियोंको देखकर हमारे दिलको चोट पहुँचती हो। यह चोट जितनी ही ज्यादा पहुँचेगी उतनी ही जल्दी और ज्यादा हम देश और समाज-सेवाकी ओर झुकेंगे। एक प्रकारसे देश, समाज या जाति-सेवाका भाव अपने दिलके दर्दकी दवा है। यदि दिल नामकी कोई चीज हमारे अन्तःकरणमें है, यदि मनुष्यत्वका कुछ भी अंश हमारे अन्दर है तो दूसरोंके दुःखसे हम दुखी हुए बिना नहीं रह सकते। और जबतक उसके दुःखको दूर करनेके लिये हम अपनी तरफसे कुछ भी उद्योग नहीं कर लेते तबतक हमारे मनको चैन नहीं पड़ सकता। ऐसी अवस्थामें देश और समाज-सेवा, किसीपर एहसान नहीं, अपने दुःखकी दवा है।

अबतक हमारे यहाँ ईश्वरभक्ति और गुरुभक्ति ही प्रचलित थी। देशभक्ति और समाजभक्तिको आध्यात्मिक उन्नतिमें स्थान न था। महात्मा गान्धीने इन्हें व्यक्तिगत उन्नति–मोक्षसाधनका मार्ग अपने लिये मानकर हमें नया रास्ता सुझाया है। हमें चाहिये कि इस नये पथपर चलकर अपना और देशका, दोनोंका हित साधें। अब ईश्वर और गुरुकी नवधा भक्तिका स्थान देशभक्ति और समाज-सेवा ले–हम उसीके लिये जिएँ, उसीके लिये मरें—देश और हममें जो द्वैत आज वर्तमान है, वह धीरे-धीरे अद्वैतका रूप धारण करे–देशकी आत्मामें हम अपनी आत्माको देखें—देशके बच्चोंको रोता देखकर हम रोवें, उन्हें हँसता देखकर हँसें, ईश्वरका विराट् रूप भी तो आखिर देश और समाजसे पृथक् थोड़े ही है। देशसेवा ईश्वर-सेवा ही है–देशसेवा ईश्वरके दुःखी बच्चोंकी–हमारे निरीह भाइयोंकी सेवा है।

आदर्श और सिद्धान्त-भक्ति

आदर्श और सिद्धान्त मनुष्यके लिये लोह-चुम्बक हैं। ये मनुष्य-समाजरूपी जहाजके पतवार हैं। इनके अभावमें वह बिना लंगरका जहाज है, जिसका कोई उद्देश नहीं, कोई दिशा नहीं, कोई गन्तव्य स्थान नहीं। आदर्श और सिद्धान्त मनुष्यको बल और उत्साह देते हैं, उसे पथभ्रष्ट नहीं होने देते। वे उसके प्रथम प्रेरक और मार्गदर्शक ही नहीं, मार्ग-रक्षक भी होते हैं। आदर्श मनुष्यको ऊँचा उठाता है–सिद्धान्त उसे अविचल बनाता है। संसारकी बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ, महापुरुषोंके बड़े-बड़े कार्य, आदर्श और सिद्धान्तका ही प्रसाद है–इतिहास है।

आदर्श और सिद्धान्तकी भक्तिका अर्थ है आदर्शकी ओर दिन-दिन आगे बढ़नेका और सिद्धान्तपर अटल रहनेका प्रयत्न। यदि स्वराज्य हमारा आदर्श है और सत्य या अहिंसा सिद्धान्त या आदर्श-मार्ग, तो हमारी प्रगति दिन-दिन दोनोंमें होनी चाहिये। आदर्श भक्तिका नाम है लगन, और सिद्धान्त भक्तिका नाम है एकनिष्ठा। इन दोनोंके बिना मनुष्य आध्यात्मिक ध्येयको नहीं पहुँच सकता। जितना ही हमारा आदर्श ऊँचा होगा, जितने ही सिद्धान्त हमारे पवित्र और हितकारी होंगे उतनी ही हमारी उन्नति अच्छी और जल्दी होगी। आदर्शवाद या सिद्धान्त-वादका अर्थ कोरे आदर्श और सिद्धान्तकी डींग हाँकना

नहीं, या हवाई किले बनाते रहना नहीं, बल्कि कष्ट सहकर भी, विघ्नोंके आक्रमण होते हुए भी प्रसन्नता, धीरज और उमंगके साथ उन्हें व्यवहारमें लानेका उद्योग है। आदर्श और सिद्धान्तका कुछ मूल्य नहीं है, यदि वे व्यवहारमें लानेके लिये न हों। वे कोरी दूरसे पूजा करनेकी वस्तु नहीं हैं। यह ठीक है कि ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारा आदर्श भी ऊँचा होता जाता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि आदर्श हमसे दूर हो गया, बल्कि यह कि पहला आदर्श अब हमारे लिये व्यवहारमें परिणत हो गया और उससे ऊँचे आदर्शने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।

ईश्वर-भक्ति भी एक प्रकारसे आदर्श भक्तिका ही रूप है। ईश्वरको हमने गुण-विशिष्ट मान लिया है इसलिये उसकी भक्ति गुणानुकरणमूलक होगी और स्वराज्य या परोपकार आदि आदर्श मनोदशा या प्राप्तव्य वस्तुसे सम्बन्ध रखता है इसलिये दृढ़-प्रयत्नमूलक है।

भक्तिका साधारण अर्थ ईश्वर-भक्ति किया जाता है। ईश्वर पवित्र जीवन व्यतीत करके ही मिल सकता है। अतएव ईश्वर-भक्ति पवित्र जीवनको बढ़ानेवाली होनी चाहिये। पवित्र जीवनका मार्ग धर्म और ज्ञानका मार्ग है। इसलिये ईश्वर-भक्त धर्म और ज्ञानके पथका पथिक है। उस पथपर दृढ़ रहना ही, एक दृष्टिसे, ईश्वर-भक्ति है! अतएव भक्तिका अर्थ हुआ पुण्यकी वृद्धि और पापोंकी निवृत्ति। इस अर्थमें भक्ति 'योग' से मिल जाती है। फिर भी भक्ति और 'योग' में अन्तर है। भक्तिका प्रधान सम्बन्ध है मनोभावनाओंके विकाससे, योगका सम्बन्ध है प्रधानतः मनके दमनसे, उसे नियन्त्रित, नियमित या संयत करनेसे।

भक्तिका अर्थ यदि गहरी बातोंको छोड़कर, सर्व-साधारण पाठक सिर्फ लगन या धुन—अटल लगन और गहरी धुन—भी समझ लें तो काम चल जायगा। ईश्वरको, स्वराज्यको पानेकी लगन या किसी सत्कर्म करनेकी धुन वे पकड़ लें और उसीके पीछे पड़े रहें तो भी उन्हें भक्तिका प्रसाद और पुण्य मिल जायगा।

माता-पिताकी भक्ति, पतिभक्ति, स्वामि-भक्ति, राज-भक्ति आदिका स्वरूप जितना सामाजिक या सांसारिक कर्तव्योंसे है उतना धार्मिक जीवनसे नहीं। यों नीति और सदाचारके आदर्श या उच्च नियम जैसे सत्य, अहिंसा, शौच आदि धर्म और समाज दोनों क्षेत्रोंमें समान उच्च पद रखते हैं, परन्तु पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धोंसे उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक कर्तव्य नियम उन धार्मिक नियमोंसे भिन्न हो सकते हैं जो मनुष्यको ईश्वरतक ले जाते हैं। माता-पिताकी भक्ति, पति-भक्ति, स्वामि-भक्ति, राज-भक्ति आदि कृतज्ञता-ज्ञापन-रूप हैं। ये बहुत अंशोंतक सापेक्ष हैं। हाँ, यदि पुत्र माता-पिताको ईश्वर, या पत्नी पतिको ईश्वर, या कोई प्रजाजन राजाको ईश्वर या कोई नौकर अपने स्वामीको ईश्वर कल्पना करके उसी भावसे उनकी भक्ति करे—गुणानु-करण करे या मनकी ऊँची भावनाओंको बढ़ावे तो इस रूपमें वह भी इसीके अन्तर्गत हो जाते हैं। यों सामाजिक दृष्टिसे पारस्परिक कर्तव्य यद्यपि सापेक्ष है--एक दूसरेकी अपेक्षासे किये जाते हैं फिर भी हिन्दूसमाजने इनको बहुत ऊँचा और आदर्श रूप दे दिया है। माता-पिता, स्वामी, राजा, पति कैसा ही हो, उसकी भक्ति करना पुत्र, नौकर, प्रजा, पत्नीका कर्तव्य है, ऐसा विधान कर दिया गया है। हिन्दूधर्मकी खूबी यही है कि वह सामाजिक कर्तव्योंमें भी सापेक्षताकी ओर कम और निरपेक्षताकी ओर ज्यादा ध्यान देता है। पर उसने छोटोंके लिये बड़ोंकी सेवा-भक्तिको जितना ऊँचा रूप दिया है उतना छोटोंके प्रति बड़ोंके कर्तव्यपर जोर नहीं दिया है। मेरा खयाल है कि अब ऐसा समय आ गया है कि बड़ोंके छोटोंके प्रति कर्तव्योंको ऊँचा उठाया जाय और पुत्र-भक्ति, पत्नी-भक्ति, सेवक-भक्ति, प्रजा-भक्तिका कर्तव्य बड़ोंको सिखाया जाय!

आशा है भक्तिका यह विवेचन 'कल्याण' के पाठकोंको पसन्द होगा और वे देखेंगे कि भक्ति किस प्रकार हमारे जीवनके प्रत्येक अंगमें प्रधान हो रही है।
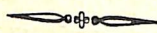
सन्तवर

काम नहीं बदनाम जिन्हें तिलभर कर सकता।
क्रोध कभी भी भूल न जिनके पास फटकता॥
मोह मसलता हाथ दूर रहकर पछताता।
लोभ डरे कर सके न कुछ मनमें ललचाता॥
डिगा न सकता प्रलय भी काल करे क्या आय कर।
पथपर रहते अटल जो कहलाते हैं सन्तवर॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम' (जबलपुर)

भक्तिके बारह आचार्य
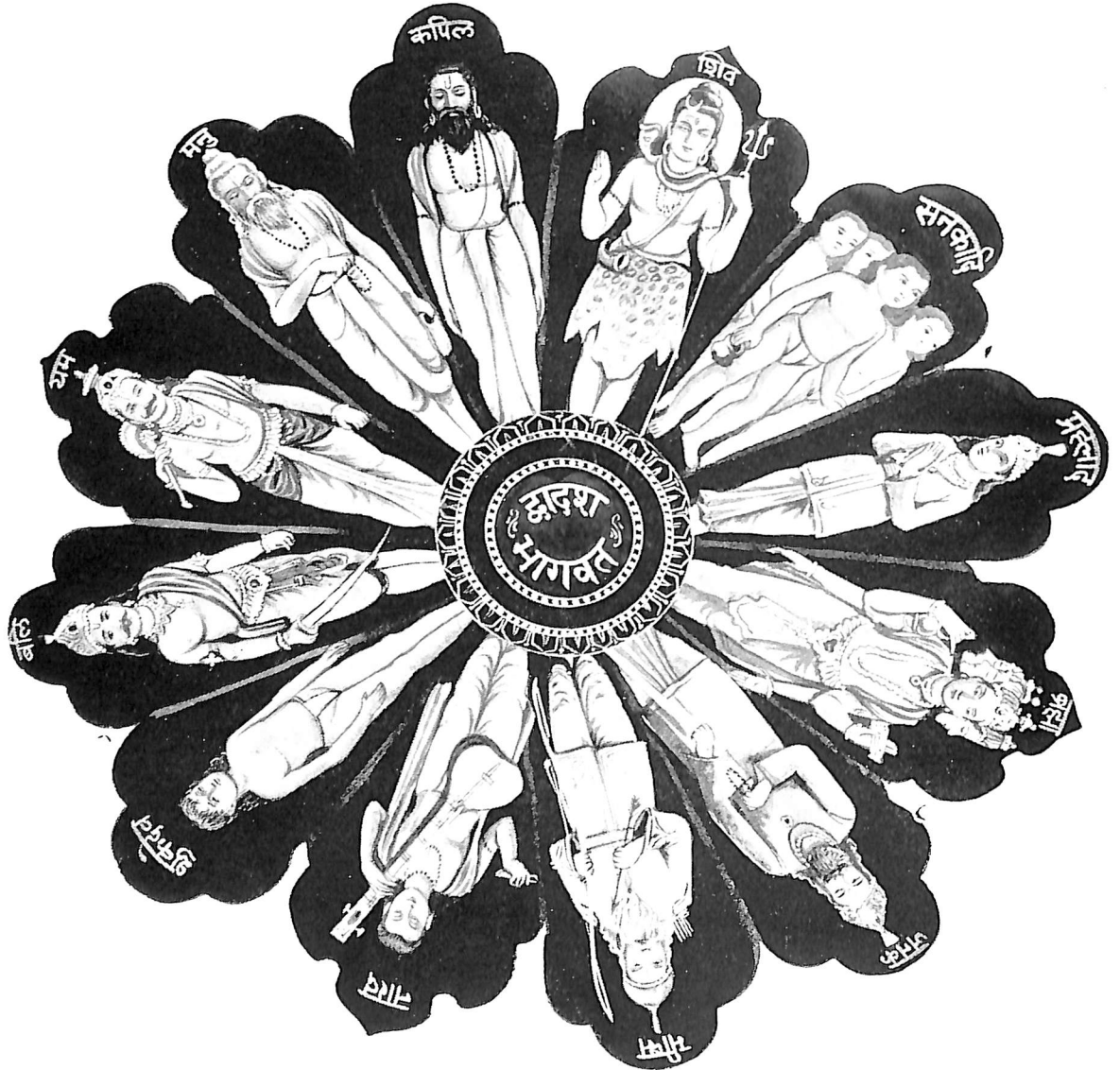
विधि नारद शिव सनकमुनि कपिलदेव मनुराज । जनक भीष्म प्रह्लाद बलि मुनिवर शुक यमराज ॥

भागवत-धर्मके ज्ञाता बारह भक्तराज

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ॥
(श्रीमद्भा० ६। ३। २०-२१)

'यमराजने अपने दूतोंसे कहा कि—'हे दूतो ! स्वयम्भू ब्रह्माजी, नारद, भगवान् शम्भु, सनत्कुमार, कपिलदेव, मनुमहाराज, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (यमराज) ये बारह जन ही भगवान्‌के उस निर्मल दुर्बोध गुप्त भागवत-धर्म (भक्तितत्त्व) को जानते हैं जिसे जाननेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त होता है।' इन बारह भक्त-वीरोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) भगवान् ब्रह्माजी

कमलयोनि ब्रह्मा भगवान्‌के रूप ही हैं। इनकी कथाएँ वेद-पुराण-इतिहासोंमें भरी हुई हैं। भागवतमें इनके भगवान्‌के नाभिकमलसे अवतीर्ण होनेकी कथा प्रसिद्ध है । भगवान्‌का प्रधान कार्य सृष्टिरचना इसी विलक्षण विभूतिसे होता है। इनकी महिमा कौन कहे ?

(२) ब्रह्मापुत्र भगवान् नारदजी

देवर्षि नारद महाराजको भक्तिका सर्वश्रेष्ठ आचार्य कहें तो भी अत्युक्ति नहीं। भगवान् व्यासको भक्तिमें लगानेवाले नारद, आदिकवि वाल्मीकिको निर्दय व्याधसे मुनिराज बनाने और उन्हें रामायण-रचनाके लिये प्रेरणा करनेवाले नारद, माताके गर्भमें ही भक्त प्रह्लादको भक्ति-तत्त्वका उपदेश देनेवाले नारद और बालक ध्रुवको भगवन्नामका मन्त्र देकर अक्षय ध्रुवपद प्रदान करानेवाले नारद; इनकी महिमाका वर्णन असम्भव है। ऐसा कोई पुराण नहीं जिसमें श्रीनारदजीके दर्शन न होते हों, भगवत्-भक्तिके प्रसंगमें तो नारद सबसे आगे हैं।

पुराणोंकी कथाओंसे अनुमान होता है कि सम्भवतः नारद नामके कई ऋषि हुए हैं, पर इस वाद-विवादमें न पड़कर हमें यहाँ भक्तोंमें कीर्तन-भक्तिका प्रचार करनेवाले, हाथमें मधुर वीणा लिये नाम-संकीर्तनकी ध्वनिसे तीनों लोकोंको पावन करनेवाले; वाल्मीकि, व्यास, शुकदेव, प्रह्लाद, ध्रुव आदिको भगवद्-गुण-गानमें प्रवृत्त करनेवाले, भक्तिसूत्रोंके रचयिता निःस्पृह, निर्विकार, निरभिमानी, निर्मान-मोही और नित्य उत्साही ब्रह्माजीके मानस पुत्र भक्तराजशिरोमणि जगत्-वन्द्य देवर्षि नारदके सम्बन्धमें कुछ कहना है।

भगवान् नारद पूर्वजन्ममें एक दासीपुत्र थे। एक बार कुछ ज्ञानी ऋषि चातुर्मास करनेके लिये उनके गाँवमें ठहरे। माताने, बालक नारदको ऋषियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया, ऋषियोंकी सेवामें नारद कैसे रहे और उनपर सन्तोंकी कृपा क्योंकर हुई, इस सम्बन्धमें स्वयं नारदजी कहते हैं—

ऋषियोंके सामने मैं किसी प्रकार लड़कपन या चञ्चलता नहीं करता, सब खेलकूद छोड़कर शान्त स्वभावसे मुनियोंके पास रहता, बहुत थोड़ा बोलता। इसीसे समदर्शी होनेपर भी ऋषि मुझपर विशेष कृपा रखने लगे; मैं उनकी आज्ञाका सदा पालन करता, बची-खुची जूठन खा लेता, इससे मेरे समस्त पाप नाश हो गये और मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उनको देखकर मेरी भी उनके-जैसे काम करनेमें ही रुचि हो गयी। उन ऋषियोंके पास बैठकर मैं चुपचाप श्रद्धापूर्वक हरि-कथा सुना करता, जिससे परमेश्वरमें मेरी अटल भक्ति हो गयी। तदनन्तर उस भक्तिके प्रतापसे मैं देखने लगा कि यह समस्त सदसत् प्रपञ्च मायासे परब्रह्ममें कल्पित है। इस प्रकार विनीत, श्रद्धासम्पन्न, दृढ़ अनुरागी और शान्त मुझ बालक दासको दीनबन्धु महात्मागण वहाँसे जाते समय कृपापूर्वक परम गुप्त ज्ञानका उपदेश दे गये। तबसे मैं भगवान्‌की मायाके प्रभावको समझकर निष्कामभावसे भगवान् हरिका भजन करने लगा। ऋषियोंके चले जानेके बाद मुझमें अत्यन्त स्नेह रखनेवाली माता एक दिन साँप काटनेसे मर गयी, मैं इसको 'भक्तोंके कल्याण चाहनेवाले भगवान्‌का अनुग्रह' समझकर उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। बहुत दूर जाकर मैं एक निर्जन वनमें एक

पेड़ तले बैठकर भगवान्‌के चरणकमलोंका बहुत आतुर-भावसे ध्यान करने लगा। प्रेमकी उमंगसे मेरे नेत्रोंमें आँसू भर आये, रोमाञ्च हो गया, फिर भगवान् हरिने मेरे हृदयमें प्रकट होकर मुझे दर्शन दिये, मैं आनन्दसागरमें डूब गया, मुझे अपनी या संसारकी तनिक-सी भी सुधि नहीं रही। परन्तु तुरन्त ही वह रूप अन्तर्धान हो गया, मुझे इससे बड़ा खेद हुआ और मैं आतुरतासे बार-बार पुनर्दर्शनके लिये चेष्टा करने लगा—

इतनेमें मैंने शोकको शान्त करनेवाली यह मधुर आकाशवाणी सुनी कि—'हे वत्स! इस जन्ममें तुझे मेरे दर्शन फिर नहीं होंगे, जबतक चित्तसे पापसंस्कार सर्वथा दूर नहीं हो जाते तबतक मेरे दर्शन दुर्लभ हैं। मैंने प्रेम बढ़ानेके लिये तुमको एक बार दर्शन दिया है। अल्पकालके सत्संगसे तेरी मुझमें दृढ़ भक्ति हुई है, इस निन्दनीय शरीरके त्याग देनेपर तू मेरा परम भक्त होगा, तेरी बुद्धि मुझमें अचल होगी और मेरी कृपासे तुझको यह घटना कल्पान्तमें भी स्मरण रहेगी।

मैंने भगवान्‌का परम अनुग्रह समझकर उनको प्रणाम किया, फिर लज्जा त्यागकर ईश्वरके परम गुप्त कल्याणरूप नाम और गुणोंका स्मरण-कीर्तन करता हुआ मैं अहंकार और ईर्षा त्यागकर परम संतोषके साथ मृत्युकी बाट देखने लगा। अन्तमें मेरा वह शरीर छूट गया और मैंने सूक्ष्मरूपसे प्रलय-समुद्रमें सोये हुए ब्रह्माजीके हृदयमें उनके श्वासके साथ प्रवेश किया, तदनन्तर जब ब्रह्माजी जागे तब मैं भी मरीचि आदि ऋषियोंके साथ उनके अंगसे उत्पन्न हो गया, तबसे अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतको धारणकर तीनों लोकोंमें यथेच्छ विचरता हूँ, भगवत्कृपासे मैं चाहे जहाँ जा सकता हूँ और—

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥
प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥

(भागवत १।६।३३-३४)

भगवान्‌की दी हुई इस स्वरमय ब्रह्मसे विभूषित वीणाको बजाकर श्रीहरिकथाकीर्तन करता हुआ जगत्‌में विचरता हूँ। जब मैं प्रेमसे भगवान्‌के चरित्र गाता हूँ। तब वे मंगलमय भगवान् मेरे हृदयमें अति शीघ्र ही ऐसे प्रकट होकर दर्शन देते हैं जैसे बुलानेसे कोई शीघ्र ही आ जाय। हरिचर्चा ही संसारसागरसे पार उतरनेके लिये एकमात्र नौका है। अतएव—

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः

(नारदसूत्र ७९)

सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर केवल भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये। देवर्षि नारदजी 'कीर्तन' भक्तिके प्रधान आचार्य माने जाते हैं।*

(३) भगवान् शंकर

भगवान् शंकर और विष्णुमें तो सर्वथा अभेद है, शिवभक्ति विष्णुभक्ति है और विष्णुभक्ति शिवभक्ति। शिव रामका गुणगान करते हैं तो राम शिवकी पूजा करते हैं, शिवका क्या वर्णन हो। शिवकी महिमासे वेदपुराण भरे हैं। रामकी भक्तिसे शिवने एक बार, भ्रमसे सीतारूप धारण कर लेनेके अपराधपर प्रियतमा सतीका परित्याग कर दिया! शिव निरन्तर राममन्त्रका जप करते और काशीमें मरने-वालोंको राममन्त्रका उपदेश करते हैं! जो लोग विष्णुके उपासक बनकर शिवसे विरोध करते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सिव द्रोही मम दास कहावै।
सो नर सपनेहु मोहिं न भावै॥
संकरबिमुख भक्ति चह मोरी।
सो नर मूढ़ मन्द मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिवद्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास॥

(४) सनकादि चारों मुनि

श्रीसनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों श्रीब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं, इनको भी भगवान्‌का रूप ही कहना चाहिये, ये नित्य पाँच वर्षके बालक रहते हैं और अहर्निश 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप किया करते हैं, इससे कालकृत वृद्धावस्था इनपर आक्रमण नहीं कर सकती। ये हर समय हरिके ध्यानमें मग्न रहकर हरिकीर्तन किया करते हैं, नित्य श्रीहरिचर्चामें तत्पर और हरिलीलामृत-

* श्रीनारदजीका चरित्रविशेष जाननेके लिये 'देवर्षि नारद' नामक पुस्तक पढ़ें, गीताप्रेससे ।॥) में मिल सकती है। —सम्पादक

पानमें रत रहते हैं, गोस्वामीजी इनके रूपका वर्णन करते हुए कहते हैं—

जानि समय सनकादिक आये ।
तेजपुंज गुण सील सुहाये ॥
ब्रह्मानन्द सदा लवलीना ।
देखत बालक बहु कालीना ॥
धरे देह जनु चारिउ वेदा ।
समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥
आसा बसन व्यसन यह तिनहीं ।
रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं ॥

(५) श्रीकपिल

श्रीकपिलदेवजी प्रतापी कर्दम ऋषिके औरस और देवी देवहूतिके गर्भसे अवतीर्ण हुए थे, आप भगवान्‌का अवतार माने जाते हैं । प्रसिद्ध 'सांख्यदर्शन' के प्रणेता आप ही हैं । भागवतके तीसरे स्कन्धमें आपके द्वारा माता देवहूतिको दिये हुए जिस ज्ञान-कर्म-भक्ति-योगके विशद उपदेशका वर्णन है वह अक्षर-अक्षर पढ़ने और समझने योग्य है ।

(६) श्रीमनु महाराज

भगवान् मनुका नाम कौन नहीं जानता, मानवसृष्टि भगवान् मनुसे ही हुई है, आपकी मनुस्मृति जगद्विख्यात ग्रन्थ है । आप श्रीस्वायंभुव मनु और आपकी सहधर्मिणी देवी शतरूपाकी कठिन तपस्या और अनन्य भजनके प्रतापसे आपको दशरथ, कौशल्या बनाकर भगवान्‌को स्वयम् रामरूपसे आपके घर अवतार लेना पड़ा । यह कथा श्रीरामचरितमानसमें है ।

जासु सनेह सँकोच बस, राम प्रगट भे आइ ।
जे हर हिय नयनन कबहुँ, निरखे नाहि अघाइ ॥

(७) प्रह्लाद

भक्तवर प्रह्लादजीका नाम छिपा नहीं है । ये बड़े ही ज्ञानी, सुशील, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सर्वभूतहितैषी, विनयी, निरभिमानी, धीर पुरुष थे । इनका मन कृष्ण-रूपी ग्रहके वशमें हो गया था, इससे इन्हें संसारकी बातोंका कुछ भी ध्यान नहीं रहता था । ये उठते-बैठते, घूमते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते सब समय गोविन्दके ध्यानमें रहते थे । भगवन्नामका तो एक क्षणके लिये भी कभी विस्मरण नहीं होता था । अत्याचारी हिरण्यकशिपुने विष्णुभक्ति छुड़ानेके लिये प्रह्लादपर तरह-तरहके भयानक अत्याचार किये परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ प्रह्लाद अपनी टेकसे तनिक भी नहीं टले ।

गुरु-गृहमें दैत्यबालकोंको प्रह्लाद भक्तिका उपदेश देते हुए कहते 'बड़ोंकी सेवा, भक्ति, सब वस्तुओंका ईश्वरमें समर्पण, साधु-संतोंका संग, ईश्वरका आराधन, भगवत्कथा-में श्रद्धा, भगवान्‌के गुण-कर्मोंका कीर्तन, उनके चरण-कमलोंका ध्यान, भगवान्‌की सब मूर्तियोंका दर्शन-पूजन एवं 'भगवान् ही सब प्राणियोंमें स्थित हैं' यह समझकर सबमें समदृष्टि रखना । इन समस्त सत्कर्मोंके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्षा आदिको वश करके ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये, इसीसे ईश्वरमें प्रेम होता है''भगवान् विष्णुका आश्रय ही इस संसारमें मलिन हृदयवाले प्राणियों-के लिये संसारचक्रका उच्छेद करनेवाला है । विद्वान्‌लोग उसीको मोक्षसुख कहते हैं अतएव तुम लोग अपने-अपने हृदयमें उसी अन्तर्यामी ईश्वरका भजन करो । गोविन्द भगवान्‌में एकान्तभक्ति और गोविन्दको सर्वत्र देखना ही इस लोकमें पुरुषोंका परम स्वार्थ कहा गया है ।'

जब प्रह्लाद किसी तरह नहीं माने और अपनी साधना-पर अटल रहे, तब हिरण्यकशिपुने एक दिन उन्हें खंभेसे बाँधकर बार-बार दुर्वचन कहकर पीड़ा पहुँचाते हुए खड्ग हाथमें लेकर प्रह्लादसे कहा कि 'रे मन्दभाग्य ! तूने जो मेरे सिवा दूसरा ईश्वर बतलाया है सो बता वह कहाँ है, यदि वह सर्वत्र है तो इस खंभेमें क्यों नहीं देख पड़ता ! यों कहकर बड़े वेगसे बलपूर्वक खंभेमें घूँसा मारा, उसी क्षण एक भयानक शब्द हुआ, मालूम हुआ कि ब्रह्माण्ड फट गया और भक्तवत्सल भगवान् अपने सेवक प्रह्लादके वाक्यको सत्य प्रमाणित करनेके लिये खंभेमें अद्भुतरूपसे प्रकट हुए, भगवान्‌का शरीर न पूरा सिंहका था और न मनुष्यका !

नृसिंह भगवान्‌ने दैत्यको पकड़कर उसका हृदय

तीखे नखोंसे विदीर्ण कर डाला और प्रह्लादको गोदमें उठाकर अपना करकमल उसके मस्तकपर रख दिया।*

आरतपाल कृपाल जो राम जहाँ सुमिरे तेहिको तहँ ठाढ़े।
नामप्रताप महा महिमा अकरे किय छोटेउ खोटेउ बाढ़े।
सेवक एकहिं एक अनेक भये 'तुलसी' तिहूँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बढ़ो प्रह्लादहिंको जिन पाहनते परमेश्वर काढ़े।

(८) महाराज श्रीजनक

जनक महाराजकी सच्ची भक्ति सर्वथा स्तुत्य है। दिनरात राजकाजमें लगकर निष्काम कर्मयोगका आचरण करते हुए आपने ब्रह्मज्ञानका तत्त्व स्वयं समझकर और शुकदेव-सरीखे त्यागिशिरोमणियोंको समझाकर जो आदर्श उपस्थित किया है वह अतुलनीय है। सारी अनेकतामें एक अखण्ड तत्त्वकी उपलब्धि करना ही मनुष्यका परम ध्येय है। इस ध्येयकी प्राप्ति गृहस्थके त्यागमात्रसे ही नहीं होती, गृहस्थ और संन्यास दोनों ही उपाधि हैं। एक उपाधिसे निकलकर दूसरीमें जानेसे कोई लाभ नहीं होता परन्तु प्रत्येक उपाधिमें सबके एकमात्र अधिष्ठान परमात्माका दर्शन करना ही वास्तविक लाभ है। महाराज जनकराजने यही बात सीखी और सिखायी थी। आपको जगज्जननी जानकीके जनक और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके श्वशुर कहलानेका सौभाग्य मिला, यह आपकी अनन्य भक्तिका ही प्रताप है।

(९) भीष्मपितामह

भीष्मजी महाराज महाभागवत भक्ति-तत्त्वके ज्ञाता, विजयी, विनयी, धर्मज्ञ पुरुष थे। इनका संक्षिप्त चरित्र इसी अङ्कमें अन्यत्र प्रकाशित है।

(१०) राजा बलि

राक्षसराज बलि भक्तवर प्रह्लादके पौत्र और विरोचनके पुत्र थे। इनकी भक्तिके प्रतापसे भगवान्‌को वामन अवतार धारणकर इनसे भीख माँगनी पड़ी और अन्तमें पातालमें इनके द्वारपर नित्य द्वारपालरूपसे रहकर इन्हें प्रतिदिन दर्शन देनेकी शर्त स्वीकार करनी पड़ी। इनकी कथा श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणोंमें है। राजा बलि 'आत्मनिवेदन' भक्तिके आचार्य हैं। महाराज बलिकी पत्नी श्रीविन्ध्यावलीजी भी भगवान्‌की अनन्य भक्त थीं।

(११) श्रीशुकदेवजी

श्रीशुकदेवजी परम ज्ञानी और भगवान्‌के एकान्त भक्त थे। आपने ही राजा परीक्षितको श्रीमद्भागवत सुनाकर उनका उद्धार किया था। महाभारतमें लिखा है कि मुनिवर व्यासके एक बार अरणीमन्थनके समय शुक्र स्खलित होकर अरणीपर गिर पड़ने और व्यासजीके अरणीमन्थन करते ही रहनेसे शुकदेवजी उत्पन्न हुए। एक जगह लिखा है, एक समय भगवान् शिवजी एकान्तमें पार्वतीको रामनामका उपदेश कर रहे थे, पार्वतीको नींद आ गयी और उसके बदलेमें वहाँपर बैठा हुआ एक शुकपक्षीका बच्चा हुंकारा भरता रहा, महादेवजीको इस बातका पता लगनेपर वह डरसे दौड़कर व्यासजीकी सहधर्मिणीके उदरमें घुस गया और वही जन्म होनेपर शुकदेव मुनिके नामसे प्रसिद्ध हुआ !

शुकदेवजीने जन्मते ही वैराग्य धारण कर लिया था, पिताकी आज्ञासे वे राजा जनकके पास ब्रह्मज्ञान सीखने गये, जनकने इनकी परीक्षा करके इन्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया। तदनन्तर नारदजीने इनको लंबा दिव्य उपदेश किया जिससे यह ब्रह्मको प्राप्त हो गये। इसके बाद ये आकाशमार्गसे योगबलके द्वारा उड़कर जाने लगे। रास्तेमें मन्दाकिनी नदीपर युवती अप्सराएँ नहा रही थीं परन्तु इनको देखकर उन्होंने कोई लज्जा नहीं की, कारण इनकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषरूप कोई वस्तु ही नहीं रह गयी थी, इनके पीछे-पीछे ही जब व्यासजी आये तब स्त्रियोंने लज्जासे तुरन्त वस्त्र पहन लिये और सब इधर-उधर छिपने लगीं। यह देखकर व्यासजीको बड़ा आश्चर्य हुआ तथा उन्होंने शुकदेवको पूर्ण ज्ञानी समझा ! श्रीशुकदेवजी एक गौ दुहनेमें जितना समय लगता है उससे अधिक कहीं नहीं ठहरते थे परन्तु भगवद्-गुण-कीर्तनमें मत्त होकर इन्होंने लगातार सात दिनों तक मरणासन्न राजा परीक्षितको मुनिमण्डलीमें परमहंस-संहिता श्रीमद्भागवत

* प्रह्लादका विस्तृत चरित्र गीताप्रेससे प्रकाशित 'भागवतरत्न प्रह्लाद' नामक पुस्तकमें पढ़ना चाहिये। —सम्पादक
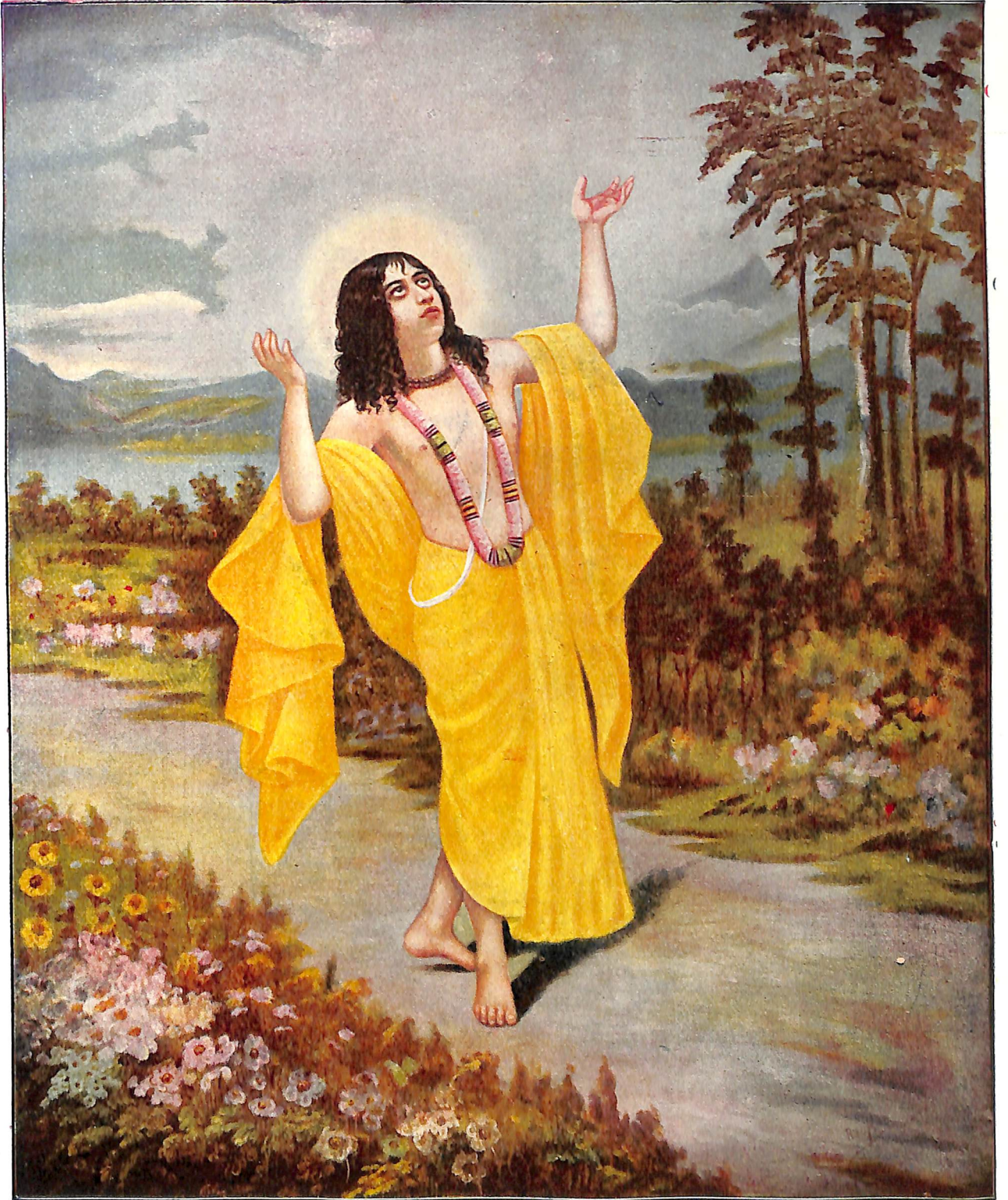
श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु
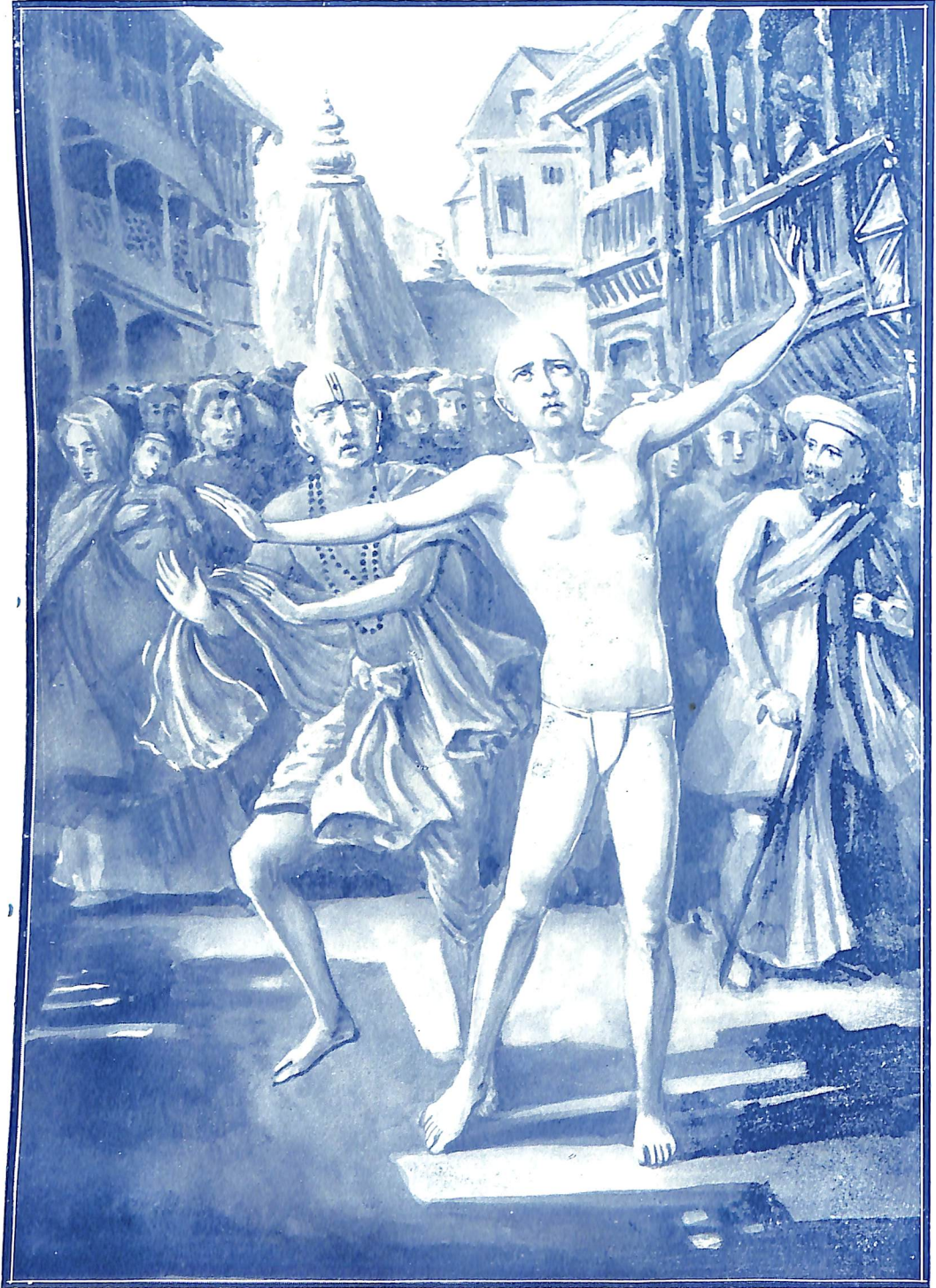
श्रीश्रीनित्यानन्द हरिदासका नामवितरण

सुनायी । ये 'कीर्तनभक्ति' के और राजा परीक्षित 'श्रवणभक्ति' के आचार्य माने जाते हैं । महाभारतके शान्तिपर्वमें शुकदेव-चरित सबको अवश्य पढ़ना चाहिये ।

(१२) यमराज

सूर्यपुत्र यमराजकी भक्तिका क्या कहना है! भगवान्का सबसे कठिन काम पापियोंका हिसाब रखना और उनकी यथोचित व्यवस्था करना, इनके जिम्मे है । भगवान् और भगवद्भक्तोंसे डरते हुए इनको अपना काम बड़ी सावधानीसे करना पड़ता है । ये बड़े तेजस्वी, विद्वान्, दण्डधारी, दिव्यशक्ति-सम्पन्न और महाज्ञानी हैं। कठोपनिषद्में आपके द्वारा ऋषिकुमारको जो दिव्य ब्रह्मोपदेश दिया गया है उसे पढ़ और समझकर मनुष्य कृतार्थ हो सकता है । श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणोंमें भी भगवद्-भक्ति-महिमापर आपके अनेक उपदेश पठनीय और मननीय हैं ।

—रामदास गुप्त
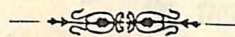
यवन हरिदास भक्त

'भगवन् ! मुझे मारनेवाले इन भूले हुए जीवोंको
अपराधसे मुक्त करो, इनपर क्षमा करो, दया करो !' (हरिदास)

हरिदासजी यशोहर जिलेके बूड़न गाँवमें एक गरीब मुसलमानके घर पैदा हुए थे । पूर्व-संस्कारवश लड़कपनसे ही हरिदासजीका हरि-नामसे अनुराग था। ये घर-द्वार छोड़कर बनग्रामके पास बेनापोलके निर्जन वनमें कुटी बनाकर रहने लगे थे । हरिदासजी बड़े ही क्षमाशील, शान्त, निर्भय और हरिनामके अटल विश्वासी साधु थे । कहते हैं कि हरिदासजी प्रति दिन तीन लाख हरिनामका जप जोर-जोरसे किया करते थे। शरीर-निर्वाहके लिये गाँवसे भीख माँग लाया करते थे । किसी दिन कुछ अधिक मिल जाता तो उसे बालकों या गरीबोंको बाँट देते । दूसरे दिनके लिये संग्रह नहीं रखते । इनके जीवनकी दो तीन प्रधान घटनाएँ सुनिये—

एक बार बनग्रामके रामचन्द्रखाँ नामक एक दुष्टहृदय जमींदारने हरिदासजीकी साधना नष्ट करनेके लिये धनका लालच देकर एक सुन्दरी वेश्याको तैयार किया, वेश्या हरिदासजीकी कुटियापर पहुँची, वे नामकीर्तनमें निमग्न थे। हरिदासजीका मनोहर रूप देखकर वेश्याके मनमें भी विकार हो गया और वह निर्लज्जतासे तरह-तरहकी कुचेष्टाएँ करने लगी । हरिदासजी रातभर जप करते रहे, कुछ भी न बोले । प्रातःकाल उन्होंने कहा, 'नामजप पूरा न होनेसे मैं तुमसे बात न कर सका !'

वेश्या तीन राततक लगातार हरिदासजीकी कुटियापर आकर अनेक तरहकी चेष्टाकर हार गयी। हरिदासजीका नामकीर्तन क्षणभरके लिये भी कभी रुकता नहीं था । चौथे दिन रातको वह हरिदासजीकी कुटीपर आकर देखती है कि हरिदासजी बड़े प्रेमसे नामकीर्तन कर रहे हैं, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहकर उनके वक्षः-स्थलको धो रही है । वेश्या तीन रात हरिनाम सुन चुकी थी, उसका अन्तःकरण बहुत कुछ शुद्ध हो चुका था, उसने सोचा, 'जो मनुष्य इस तरह मुझ-जैसी परम सुन्दरीके प्रलोभनकी कुछ भी परवा न करके हरिप्रेममें इतना उन्मत्त हो रहा है वह कोई साधारण मनुष्य नहीं है । अवश्य ही इसको कोई ऐसा परम सुन्दर पदार्थ प्राप्त है जिसके सामने जगत्के सारे रूप तुच्छ हैं ।' वेश्याका हृदय बदल गया, फँसाने आयी थी, स्वयं फँस गयी । साधुअवज्ञाके अनुतापसे रोकर वह हरिदासजीके चरणोंपर गिर पड़ी और बोली— 'स्वामी ! मैं महा पापिनी हूँ, मेरा उद्धार करो ।'

हरिदासजी उसे हरिनामदानसे कृतार्थ कर वहाँसे चल दिये, वेश्या अपना सर्वस्व दीन दुखियोंको लुटाकर तपस्विनी बन गयी और उसी कुटियामें रहकर भजन करने लगी। यह साधुसंग और नामश्रवणका प्रत्यक्ष प्रताप है!

एक बार फुलिया गाँवमें वहाँके क़ाज़ीने हरिदासजीको पकड़वाकर हरिनाम छोड़नेके लिये कहा, हरिदासजी बोले, 'दुनियामें सबका एक मालिक है। हिन्दू-मुसलमान उस एकको ही अलग-अलग नामोंसे पुकारते हैं, मुझे हरिनाम प्यारा लगता है इससे मैं लेता हूँ। मेरी देहके चाहे टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ पर मैं मधुर हरिनाम नहीं छोड़ सकता।' हरिदासजीको बाईस बाजारोंमें घुमाकर उनकी पीठपर बेंत मारनेकी सजा दी गयी। पाषाण-हृदय सिपाहियोंने हृदयविदारक दुष्कर्म आरम्भ कर दिया। हरिदास-जीके मुखसे उफ़ निकलना तो अलग रहा, उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे हरिनाम-कीर्तन शुरू कर दिया। आखिर सिपाहियोंकी दशापर दयाकर हरिदासजी अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे कि 'हे भगवन्! मुझे ये लोग भूलसे पीट रहे हैं, इन जीवोंको इस अपराधसे मुक्त करो, इनपर क्षमा करो-कृपा करो।' यों कहते-कहते हरिदासजी बेहोश हो गये, उन्हें मरा समझ-कर सिपाहियोंने काफिरको क़ब्र देना बेमुनासिब जान गंगामें बहा दिया। थोड़ी देर बाद हरिदासजी चेतन होकर किनारेपर निकल आये। इस घटनाका क़ाज़ीपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह भी उनके चरणोंपर गिरकर उनका अनुयायी बन गया और हरिनाम लेने लगा। उसकी सच्ची शुद्धि हो गयी!

एक बार, हरिदासजी सप्तग्राममें हिरण्य मजूमदार नामक जमींदारकी सभामें हरिनामका माहात्म्य वर्णन करते हुए कह रहे थे कि 'भक्ति-पूर्वक हरिनाम लेनेसे जीवके हृदयमें जो भक्ति-प्रेमका सञ्चार होता है वही हरिनाम लेनेका फल है।' इसी बातचीतमें जमींदारके गोपाल चक्रवर्ती नामक एक कर्मचारीने हरिनामकी निन्दा करते हुए कहा कि 'यह सब भावुकताकी बातें हैं, यदि हरिनामसे ही मनुष्यकी नीचता जाती रहे तो मैं अपनी नाक कटवा डालूँ।' हरिदासजीने बड़ी दृढ़तासे कहा, 'भाई! हरिनामस्मरण और जपसे यदि मनुष्यको मुक्ति न मिले तो मैं भी अपनी नाक काट डालूँगा।' कहा जाता है कि दो तीन महीने बाद ही गोपालकी नाक कुष्ठरोगसे गलकर गिर पड़ी! हरिनाम-निन्दाका फल तो इससे भी बुरा होना चाहिये!

इसी समय चैतन्य महाप्रभु नवद्वीपमें हरिनाम-सुधा बरसा रहे थे। हरिदासजी भी वहीं आकर रहने और हरिकीर्तनका आनन्द लूटने लगे। चैतन्यदेवकी आज्ञासे हरिनामके मतवाले हरिदास-जी और श्रीनित्यानन्दजी दोनों नामकीर्तन और नृत्य करते हुए नगरमें चारों ओर घूम-फिर-कर दिनभर नर-नारियोंको हरिनाम वितरण करने लगे।

अन्तमें श्रीचैतन्यके संन्यासी होनेके बाद हरिदासजी पुरीमें आकर श्रीचैतन्यकी आज्ञासे काशी मिश्रके बगीचेमें कुटिया बनाकर रहने लगे। वहीं इनकी मृत्यु हुई! मृत्युके समय श्रीचैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तमण्डलीसहित हरिदासजीके पास थे। हरिदासजीके मृत शरीरको उठाकर श्री-चैतन्य नाचने लगे! अन्तमें मृत शरीर एक विमानमें रक्खा गया, श्रीचैतन्य स्वयं कीर्तन करते हुए आगे-आगे चले। श्रीचैतन्यने हरिनामकी ध्वनिसे नभमण्डलको निनादित करते हुए अपने हाथों हरिदासके शवको समाधिस्थ किया!

—रामदास गुप्त

हमारी जीभ

वह मूर्ति तिहारी हरे! हमरे, सिगरे बस तापन जारती है।
औ 'अवन्त' के कामरु क्रोध तुरन्त मदादिक मोहन मारती है॥
नित नित्य नवीन नवीन चरित्र तुम्हारेहि नाथ! उचारती है।
रघुनन्दन हो! जिभिया हमरी, बस रामहि राम पुकारती है॥

—श्रीअवन्तविहारी माथुर 'अवन्त'

सच्चा भक्त कौन है ?

(लेखक—परलोकगत स्वामी मंगलनाथजी महाराज)

सच्चा भक्त वह है जो भगवान्‌के अनुभवका अनुसरण करता है। भगवान्‌के अनुभवमें अखिल-विश्व भगवद्रूप है। वास्तवमें एक भगवान् ही विश्वरूपसे प्रतीत होता है। जिसको प्रतीत होता है वह भी उससे भिन्न नहीं है। इस तत्त्वको समझकर इसीके अनुसार बन जाना सच्चे भक्तका लक्षण है। इस कल्पित सरकारकी कल्पना की हुई मिथ्या उपाधियोंके पीछे लोग उन्मत्त हुए घूमते हैं पर भगवान् अपनी ओरसे कितनी बड़ी पदवी देनेको तैयार हैं, उसकी ओर झाँकते भी नहीं। भगवान् अपना नाम तक तुम्हें देनेको तैयार हैं, किसी बड़े अच्छे फर्मका भी नाम मिलना बड़ा कठिन है परन्तु भगवान् तो अपना नाम और अपनी सारी साख देते हैं तो भी उसे लोग लेना नहीं चाहते यह कैसी निष्कामता ? इस बातमें तो सकाम ही बनना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे सारे झंझट-झगड़े मुझे सौंपकर तुम मेरी पदवी लेकर सुखी हो जाओ। लोग सुखी तो होना चाहते हैं पर झगड़े-झंझट छोड़ना नहीं चाहते।

किसी मामलेकी अपील कर देनेपर जैसे दूसरी अदालतमें हाजिर होना ही पड़ता है, वैसे ही जहाँतक मरते समय भगवान्‌के सामने लोग संसारी झगड़ोंकी अपील दायर करते रहते हैं वहाँतक उन्हें लौट-लौटकर इस जगत्‌रूपी अदालतमें बार-बार आना पड़ता है। इस प्रकार जबर्दस्ती माँग-माँगकर जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ते हैं। एक बार सारा मुकद्दमा उसे बेच दो तो सदाके लिये झगड़ा निपट जाय ! जो अपने सारे झगड़े उसे सौंपकर उसकी पदवी ग्रहण कर लेता है वही यथार्थ भक्त है। उसे फिर लौटकर नहीं आना पड़ता। परन्तु केवल कहने मात्रसे ही उसकी पदवी नहीं मिल जाती, उस पदवीके लिये वैसी योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। मनमें तो जगत्‌के झगड़ोंकी चाह लगी रहे और ऊपरसे पदवी लेनेकी बात की जाय, यह बेईमानी उसके सामने नहीं चलती, वह बड़ा चतुर परीक्षक है। सब बातें जानता है। इससे वह कभी ठगाता नहीं, जो उसे ठगना चाहता है वह स्वयं ही ठगाता है। जबतक बेची हुई जमीन-जायदादके लिये हाकिमके हस्ताक्षरयुक्त पक्का दस्तावेज़ कराकर अपना अधिकार सर्वथा नहीं छोड़ दिया जाता तबतक उसके बदलेकी कीमत नहीं मिलती, इस प्रकार जबतक ममत्वसहित सम्पूर्ण संसार उसके अर्पण नहीं कर दिया जाता, तबतक उसकी पदवी कदापि नहीं मिल सकती। और जहाँतक वह पदवी नहीं मिलती वहाँतक भक्ति साधनरूप और अधूरी ही रहती है।

जो लोग किसी संसारी वस्तुकी चाह रखकर भक्ति करते हैं वे तो भगवान्‌के भक्त नहीं हैं। भगवान्‌के भक्तको दूसरे पदार्थकी चाह क्यों होगी ? जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये भक्त बनता है वह तो उन सब वस्तुओंका ही भक्त है। क्या भगवान्‌को तुम्हारी भक्तिकी गरज है ? क्या उसे पूजा करवानेकी इच्छा है ? वह तो पूजा स्वीकार तुम्हारे ही लिये करता है।

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥

(श्रीमद्भा० ७।९।११)

भगवान् अपने ही लाभसे परिपूर्ण हैं, उन्हें क्षुद्र मनुष्योंसे पूजा करवानेकी कामना नहीं, परन्तु अत्यन्त दयानिधान होनेके कारण भक्तोंसे उन्हींके कल्याणके लिये पूजा करवाते हैं। मनुष्य, भगवान्‌का जो कुछ सम्मान या पूजन करता है उससे उसीका कल्याण होता है। जैसे मुखपर तिलक आदि शृंगार करके दर्पणमें देखनेसे वह शोभा अपने ही प्रतिबिम्बकी होती है।

अतएव जगत्के पदार्थोंके लिये भक्तको अपने मनमें कोई कामना न रखकर भगवान्के लिये ही भगवान्की भक्ति करनी चाहिये। जो एक वासुदेवको ही सर्वत्र व्याप्त देखता है उसकी दृष्टिमें जगत्के पदार्थोंकी तो बात ही क्या, भगवान्के अनुभवके अनुसार जगत् ही नहीं रह जाता। जो ऐसे बन गये हैं वही वास्तवमें सच्चे भक्त हैं !*
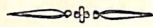
लोकमान्य तिलक और देशबन्धु दास

इस शताब्दीके परलोकगत राजनैतिक नेताओंमें प्रातःस्मरणीय लो० बालगंगाधर तिलक और दे० चित्तरंजन दास बड़े भक्त हो गये हैं। लोकमान्यकी भक्तिका पता तो भगवान् श्रीकृष्ण-रचित गीताके कर्मयोगशास्त्रनिर्माणसे ही लग जाता है। आपने श्रीमद्भगवद्गीताका उपसंहार भक्तिमूलक स्वीकारकर संत तुकारामजीकी इस सरस वाणीके साथ श्रीगीतारूपी सोनेकी थाली-का भक्तिरूपी अन्तिम प्रेम-ग्रास जगत्को प्रदान किया है—

चतुराई चेतना सभी चूल्हेमें जावे।
बस मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे॥
आग लगे आचार-विचारोंके उपचयमें।
उस विभुका विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदयमें॥

* * * *

देशबन्धु दास यौवनकालमें ईश्वरमें अविश्वासी थे। उनके 'मालञ्च' और 'माला' नामक काव्यसे इसका स्पष्ट पता लगता है परन्तु धीरे-धीरे उनकी चित्तवृत्ति बदलती गयी। 'अन्तर्यामी' और 'किसोरकिसोरी' में शुद्ध भक्तिभावकी परिणति और परिपुष्टि हो गयी। उनका अन्तिम जीवन तो भगवान्के स्वरूप-दर्शनके लिये तरसनेमें बीता। आपके अन्तिम पदका अनुवाद यह है—

लो उतार अब ज्ञान गठरिया, सहन नहीं होता यह भार।
सारा ही तन काँप उठा है, छाया चारों दि[illegible] अँधियार।
वही सीसपर मोर मुकुट हो, करमें हो [illegible]हन बाँसी।
ऐसी मूरतिके दर्शनको, प्राण बड़े हैं अभिलाषी।
ललित त्रिभंग खड़े होकर, हरि ! करो प्रकाश कुञ्जका द्वार।
आओ ! आओ ! पारस-मणि मम, वृथा वेद-वेदान्त-विचार।

भक्तोंके लक्षण

(लेखक—भिक्षु श्रीगौरीशङ्करजी)

जो पुरुष शरीर, मन, वाणी [illegible] हरिदास-सरल व्यवहार करता है और [illegible] नामकीर्तन दम्भ, ईर्ष्या, असूया, इच्छा [illegible] मान, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, दर्प, माया, मान, द्रोह, स्तेय, छल, अभिमान, प्रमाद, शोक, तृष्णा, और भय इन पच्चीस दोषोंसे सर्वथा रहित है उसीका नाम भक्त है।†
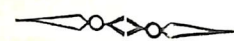
कामना

(लेखक—कविवर पं० श्रीगंगासहायजी पाराशरी 'कमल')

जिनके पद छूनेसे ही शिला अहल्या बनी,
सारा जग फेरता है माला जिनके नामकी।
सुर मुनि किन्नर निशेष शेष सेवक हैं,
ऋद्धि सिद्धि चेरी बनीं जिनकी बिन दामकी॥
जिनकी प्रशंसा करते थके श्रीगंगाधर,
जानी नहीं जाती गति जिनके कुछ कामकी॥
मनमें बसे मूर्ति दशरथ-सहारे न्यारे,
जानकी-दुलारे उन्हीं प्राण-प्यारे रामकी॥

* बड़े ही खेदका विषय है कि परमहंस स्वामी मंगलनाथजी महाराजका उस दिन दो-तीन दिनोंकी बीमारीमें ही परलोकवास हो गया। जगतसे एक महान् संत उठ गये। हो सका तो किसी आगामी अंकमें आपका चित्र-चरित्र प्रकाशित करनेका विचार है। —सम्पादक

† स्थानाभावसे लक्षण[illegible]का नहीं दी जा सकी, विशेष जानना चाहें वे लेखकद्वारा संग्रहीत "सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थ-लक्षणसंग्रह" नामक २७०० शास्त्रीय लक्षणोंकी संस्कृत पुस्तक बारह आनेमें मनभरी देवी ग्राम पुट्ठी पोस्ट जमालपुर जिला हिसार या सत्संगभवन बम्बईके पतेसे मँगाकर पढ़ें।

देशबन्धु चित्तरंजन दास
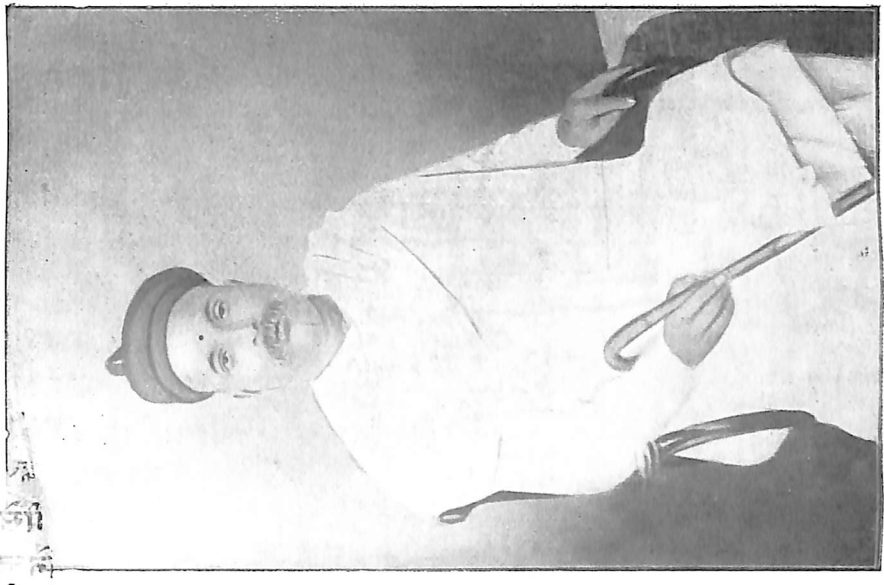
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

द्वैतमतस्थापनाचार्य श्रीश्रीमध्वाचार्य

(लेखक—श्रीआर० एस० हकरीकर, एम० ए०)

श्रीशङ्कर, श्रीरामानुज और श्रीमध्व इन तीनों ही बड़े आचार्योंने इस कर्णाटकको पावन किया। पहले दो आचार्योंकी तो कर्णाटक कर्मभूमि है परन्तु स्वामी आनन्दतीर्थ अर्थात् श्रीमध्वाचार्यकी तो जन्मभूमि होनेका सौभाग्य भी इसे प्राप्त है।

खेद है, श्रीमध्वाचार्यके सम्बन्धमें अबतक विशेष खोज नहीं हुई। अबतक इस इतने बड़े आचार्यकी जन्मतिथिका निर्णय नहीं हो सका! गत १५-२० वर्षोंमें इस विषयपर श्रीकृष्णस्वामीकृत Madhwa & Madhwism और सी० एम० पद्मनाभाचार्यका The life and teaching of Shri Madhwa नामक दो अंग्रेजी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनमें द्वितीय ग्रन्थ विशेष खोजके साथ लिखा गया है। इसमें आचार्यका जन्मकाल ई० ११९८ माना है। इनका जन्मनाम वासुदेव था।

आचार्यके पिता बड़े विद्वान्, धार्मिक, साधुचरित होनेपर भी बड़े गरीब थे। अद्वैत सिद्धान्तपर उनका अविश्वास था, आचार्यपर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। ब्राह्मणका उपनयन आठवें वर्षमें होना चाहिये परन्तु पहले दो बालक छोटी उम्रमें मर जानेके कारण पिताने मध्वाचार्यका उपनयन पाँचवें वर्षमें ही करा दिया। मध्व गुरुगृहमें गये और गुरुजीका अद्वैत सिद्धान्त इन्हें रुचिकर नहीं हुआ। शिष्यने नम्रतासे गुरुके प्रति उपनिषदोंपर अपना अर्थ सुनाया जिसका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और तब गुरु ईश्वरभक्त हो गये। यहींसे मध्वका मत-प्रचार आरम्भ हुआ।

पिताने पुत्रका विवाह करना चाहा, परन्तु वासुदेव आत्माको शान्ति देनेवाले वैद्यकी खोजमें घरसे निकल गये और उडूपी क्षेत्रमें अच्युतप्रेक्ष नामक संन्यासीके पास जाकर रहने लगे। माता-पिताने पता लगाकर उन्हें घर लौटानेकी बड़ी कोशिश की परन्तु वे घर नहीं लौटे! इस समय इनकी उम्र अनुमान ११-१२ सालकी थी। गुरुने वासुदेवको दीक्षा देकर उनका नाम पूर्णप्रज्ञ रक्खा। पूर्णप्रज्ञ, आनन्दतीर्थ और मध्वाचार्य तीनों ही नाम इनके अनुयायियोंमें प्रचलित हैं।

इसके बाद इनका प्रचारकार्य जोरसे आरम्भ हो गया। दक्षिणमें रामेश्वर और उत्तरमें बद्रीनारायणपर्यन्त आपने यात्रा की। आपका शरीर बड़ा बलवान् था। कहा जाता है कि बदरिकाश्रममें श्रीवेदव्यासजीके आपको प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उत्तर-भारतके प्रवासमें आप बंगाल नवद्वीपमें भी गये थे। बंगालके प्रसिद्ध भक्त-शिरोमणि भक्तिमार्ग-प्रवर्तक श्रीचैतन्य महाप्रभुका जन्मस्थान नवद्वीप ही है। आचार्यने यहाँ भक्तिमार्गका बीज बोया और सोलहवीं शताब्दीमें श्रीकृष्णचैतन्यने उसी मार्गका प्रचारकर इस मार्गको बहुत ही ऊँचा आसन प्रदान किया। ७९ वर्षकी उम्रमें आपका देहावसान हुआ। आपने लगभग ३७ ग्रन्थ निर्माण किये जिनमें गीताभाष्य, गीतातात्पर्य, सूत्रभाष्य, भारत-तात्पर्य-निर्णय, भागवत-तात्पर्य-निर्णय, दशोपनिषत्-भाष्य, खण्डनत्रय आदि मुख्य हैं।

आचार्यके मतका सार इस एक ही श्लोकमें सुन्दर रूपसे वर्णित है—

> श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
> भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
> मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
> ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

श्रीमन्मध्वसम्प्रदायमें भगवान् हरि सर्वश्रेष्ठ हैं, जगत् सत्य है, भेद सत्य है (आभास नहीं) जीवों-

में उच्च-नीचका भेद है और वे सब हरिके सेवक हैं। आत्मज्ञानद्वारा आत्मानन्दकी अनुभूति ही मुक्ति है, सात्त्विकी भक्ति इसका साधन है। अनुमान-प्रत्यक्ष और आप्तवाक्य प्रमाण हैं। हरि केवल वेदोंसे ही जाने जा सकते हैं।

आपके सम्प्रदायमें श्रीमद्भागवतका बड़ा महत्त्व है। पशुयज्ञ नहीं होता। अनेक देवताओंकी पूजा नहीं होती। आपके सम्प्रदायमें पुरन्दरदास, कनकदास आदि बड़े-बड़े साधु पुरुष हो गये हैं। मध्वसम्प्रदायके भक्तोंके लिये उडूपी बहुत पूज्य स्थान है। यहाँ श्रीकृष्णकी मूर्ति स्थापित है। पूजाविधि बहुत सुन्दर है, पूजाके लिये आठ बालब्रह्मचारी नियुक्त हैं।

इस सम्प्रदायमें गुरुका बहुत सम्मान है। यद्यपि इनका वैष्णव समाज विद्यासम्पन्न, सुशील और सम्पत्तिशाली है तथापि दूसरे समाजोंकी भाँति इसमें भी कुछ शिथिलता और अन्धश्रद्धा बढ़ गयी है। आज हिन्दू-समाजकी सर्वत्र ही यही स्थिति है। इस स्थितिमें एक दूसरेको समझनेकी बड़ी आवश्यकता है। हिन्दू-धर्मको जीवित रखनेके लिये जिन विभूतियोंने अवतीर्ण होकर अविश्रान्त परिश्रम किया, उनमें श्रीमध्वाचार्यका बड़ा ही ऊँचा स्थान है। दुर्भाग्यसे भारतके अन्यान्य प्रान्तोंमें इनके ग्रन्थोंका प्रचार जितना होना चाहिये उतना नहीं है।

इनके ग्रन्थोंको अध्ययन करनेकी सबकी इच्छा हो और इनके उदात्त वचनोंको योग्य स्थान प्राप्त हो, ईश्वरसे यही प्रार्थना करते हुए यह संक्षिप्त परिचय समाप्त किया जाता है।

भक्ति-प्रकाश

(लेखक—महन्त श्रीरघुवरप्रसादजी, बड़ा स्थान अयोध्या)

सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि आत्माको अमरत्व और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति करानेवाला संसारमें कोई भी पदार्थ नहीं है। इसीलिये वेदतत्त्वज्ञ आचार्य और महर्षियोंने उस अमृतार्णवकी प्राप्तिके लिये कर्म, ज्ञान और भक्ति नामक तीन मुख्य उपाय बतलाये हैं। वेदविहित कर्म निष्काम भावसे फलेच्छारहित होकर भगवत्-प्राप्तिके लिये करते रहनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि और सात्त्विकताकी वृद्धि होनेपर ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु ये दोनों ही उपाय साधारण जीवोंके लिये अत्यन्त क्लेशसाध्य हैं। श्रीसीताराम-पद-पद्म-प्रवाहित सुधासागरमें निमग्न होनेका सर्वोत्तम सरल उपाय भक्ति है। जो सुकृती जन एक बार भक्तिरसमें डूब जाता है उसे सुतीक्ष्णकी-सी आनन्दमयी अवस्था प्राप्त होते देर नहीं लगती।

दिसि अरु बिदिसि पन्थ नहिं सूझा।
को मैं कहाँ चलों नहिं बूझा॥
कबहुँकि फिरि पाछे पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करै गुण गाई॥

भक्तरूपी कमल श्रीरामरूपी सूर्यके प्रकाशसे प्रफुल्लित हो उठता है। शास्त्रकारोंने इस भक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इस प्रकारसे नौ भेद किये हैं। इन नौमेंसे किसी एकका भी पूर्णरूपसे आश्रय ग्रहण कर लेनेपर जीव अनन्त सुखका भागी हो सकता है। भिन्न-भिन्न महापुरुषोंने भक्तिके भिन्न-भिन्न भावोंको अपनाया है। भक्तिके आचार्योंमें मुख्यतः देवर्षि नारद महाराज हैं। भक्तिशास्त्रोंमें नारदसूत्र और शाण्डिल्यसूत्रमें भक्तिपर बड़ा प्रकाश डाला गया है। श्रीगीतामें भी खासकर बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने भक्तिका विवेचन किया है। वैष्णव सम्प्रदायके ग्रन्थ तो भक्तिरससे ओतप्रोत हैं।

भक्तिसेवी महापुरुषोंमेंसे आज हम एक महान् आचार्यवरके पवित्र चरित्रका पुण्य स्मरण करते

हैं–इनका शुभ नाम श्री १००८ रामप्रसादजी महाराज था (जो बँदीवालोंके आचार्य हैं) आपका नियम था प्रेमपूर्ण कीर्तन करना। जरा इनके कीर्तनकी झाँकी देखिये—

आपके सामने अखिल कल्याण-गुणगणार्णव अनन्त श्रीधनुर्धारीजी भगवान् विराजमान हैं। आचार्यवरके त्रयतापहरण चरणकमलोंमें नूपुर शोभित हैं। सिरपर रामनामसंयुक्त मोरमुकुट सुशोभित है। गलेमें सुन्दर सुरचित श्रीतुलसीकी मालाएँ अपूर्व छटा दिखला रही हैं। अनन्त कल्याण-समूह-समन्वित परमोद्धारक करकमलोंमें करतालकी अनोखी शोभा है, करतालकी झन्कार मानों उन भौंरोंकी करतारकी गुंजार है जो भक्तोंके हृदयकमलका रस निचोड़कर प्रभुचरणोंपर प्रवाहित कर रहे हैं। आपके दया-वात्सल्यपूर्ण नेत्रयुगलोंसे ऐसी अनवरत प्रेमाश्रुधारा बह रही है, मानों हृदय-सरोवर उमड़कर नेत्ररूपी झरनोंके रूपमें परिणत हो अखिलकल्याण-कारिणी लोकपावनी श्रीगंगाजीके उत्पत्तिस्थान श्रीपदार्णवतक पहुँचनेके लिये प्रवाहित हो रहा हो। प्रेमपूर्वक कीर्तन और नृत्य करते-करते अब आचार्यके शरीरकी सुधि जाती रही है। देखो! यह क्या आश्चर्य हुआ? एक अपूर्व ज्योति चारों ओर फैल गयी है, अन्तरिक्षमें मनहरण चित्ता-कर्षक अनहद बाजोंका शब्द सुनायी दे रहा है, भक्तश्रेष्ठने अखिल जगज्जननीके वात्सल्यप्रेमको उभाड़ दिया, माताका मन स्नेहसे छलकने लगा। एक आश्चर्यमय अपूर्व ज्योत्स्नाके अन्दरसे अकस्मात् जगदम्बिका प्रकट होती हैं और आचार्यके भालमें शोकसन्ताप-त्रयतापहरण प्रसाद-स्वरूप विन्दु लगाती हैं। अहा हा! क्या ही कल्पनातीत शोभा है! आकाश धन्य-धन्यकी ध्वनिसे भर रहा है! दिव्य-गुण-समूह-समन्विता विश्वजननीके जन्म-जरा-मरणसे मुक्ति प्रदान करनेवाले करकमल आपके मस्तकपर छाया किये हुए हैं। आपका आत्मा नेत्रद्वारा भगवती श्रीजानकी महारानीके चरण-चुम्बकसे आकर्षित हो रहा है। नभोमण्डलसे सुमनवृष्टि हो रही है, शान्त समीर संसारके कोने-कोनेमें इस अद्भुत लीलाका प्रसार कर रहा है। प्रिय रामभक्तो! भक्तिका यही अन्तिम परिणाम है। यही मुक्ति है।

हम इन्हीं महापुरुषोंके वंशज कहलाते हैं परन्तु हममें इन बातोंका कहीं लेश भी नहीं है। हम हतभाग्य हैं, हममें वह शक्ति नहीं रही, क्योंकि हम इस दुःखपूर्ण संसारके विषय-सुखको ही सर्वस्व मानकर अपने स्वरूपको भूल गये हैं। आज इन महान् पुरुषोंके पवित्र आचरणोंका चिन्तनमात्र भी नहीं है। परन्तु हमें सावधान होना चाहिये और इस संसार-सागरसे तरकर दिव्यानन्दकी प्राप्तिके लिये भक्तियोगमें संलग्न हो जाना चाहिये। अन्तमें आचार्यकी महिमाका किञ्चित् स्मरणकर लेख समाप्त किया जाता है।

जै श्रीरामप्रसाद जयति जै भक्तप्रवरवर,
जै सीतापद श्रेष्ठ सरोज प्रफुल्ल भँवरवर।
जै श्रीराम-पदाब्ज प्रेम परिपूर्ण रसिकवर,
करहु कृपा जिय जानि मोहिं निजदास अवरवर॥

कल्याण-मार्ग

(लेखक—श्रीहरस्वरूपजी जौहरी एम० ए०)

कल्याणकी शीघ्र प्राप्ति ही जीवनका प्रधान उद्देश्य है। कल्याण भगवच्चरणारविन्द-प्राप्तिका ही नाम है। ऋषि-मुनि-महात्माओंने इस प्राप्तिके अनेक मार्ग विधान किये हैं, विधान ही नहीं, उनके द्वारा प्रभुकी प्राप्ति स्वयंकर मार्गकी सत्यता भी प्रकट कर दी है। इन अनेक मार्गोंका प्राप्तिस्थान एक ही है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति उपदेश देते हुए इन सभीको मोक्षप्राप्तिका साधन बतलाया है। मुख्यतः ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, संन्यासमार्ग, ध्यानयोगमार्ग तथा भक्तिमार्गका भगवान्ने उल्लेख किया है। कलियुगके फंदेमें पड़े हुए

दुःखी मनुष्योंको किस मार्गद्वारा प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है, इसका विचार करना अत्यन्त आवश्यक है । सभी मार्ग मान्य होनेपर भी संसारी जीवोंके लिये सुगमता तथा अनुकूलता भक्ति-मार्गमें ही प्रकट होती है । अन्य मार्गोंका दिग्दर्शन करना इस लेखका उद्देश्य न होनेके कारण भक्ति-मार्गकी सुगमता प्रकट की जाती है । इसके सुगम होनेके मुख्यतः दो कारण हैं—

(१) प्रेम करना मनुष्यकी प्रकृतिके अनुकूल है ।
(२) प्रभुका प्रेमबन्धनमें आना उसकी प्रकृतिके अनुकूल है ।

इस मार्गके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—महाभारतके शान्तिपर्वमें नारायणीयोपाख्यान, शाण्डिल्यसूत्र, श्रीमद्भागवत, नारदपाञ्चरात्र, नारदसूत्र, श्रीरामानुजाचार्य-वल्लभाचार्यके ग्रन्थ तथा महात्मा रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसीदास और सूरदासजीकी उक्तियाँ तथा भगवान् श्रीकृष्णकी गीता । नारायणीयोपाख्यानमें वर्णन है कि नारायणने पहले-पहल इस मार्गको चलाया और तब उनके कहनेसे नारदजी श्वेतद्वीपको गये, जहाँ भगवान्ने स्वयं इस मार्गका उपदेश दिया । भक्ति-मार्गका प्रसिद्ध ग्रन्थ नारदसूत्र इस समय अत्यन्त माननीय है । भगवान् श्रीकृष्णने भी इस मार्गका उल्लेख करनेमें कुछ उठा नहीं रक्खा । सब मार्गोंको अपनी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए आपने इसी मार्गपर अधिक जोर दिया, यहाँतक कि इसीको अभीष्ट मार्ग बतलाया । अन्य मार्गोंकी अपेक्षा भक्ति अति सुलभ है, क्योंकि उसकी सिद्धिमें दूसरे प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है । यह स्वयंसिद्ध, शान्त और परमानन्दरूप है । दूसरे मार्ग केवल साधनरूप ही हैं परन्तु भक्ति फलस्वरूप है ।

भक्तिका स्वरूप

भक्ति परमप्रेम और अमृतस्वरूपा है । यह प्रेम अनिर्वचनीय है । जिस प्रकार गूँगा स्वादको नहीं बता सकता वैसे ही भक्त भी प्रेमस्वरूपको नहीं बता सकता । भक्ति केवल अनुभवस्वरूप है । इस पतितपावनी भक्तिका स्वरूप ऋषियोंने अनेक भाँति वर्णन किया है । भगवान् पराशरका मत है कि 'ईश्वरपूजादिमें अनुराग' होनेका नाम भक्ति है । शाण्डिल्य ऋषिका मत है कि 'आत्मामें निरन्तर रति करना' भक्ति है । नारदजीके मतानुसार 'ईश्वरमें सब आचारोंका अर्पण कर देना और उसके विस्मरणमें परम व्याकुल होना' भक्ति है । भगवद्गीता भी इसी रूपकी पुष्टि करती है । सब कर्मोंका भगवच्चरणोंमें समर्पणकर प्रभुसे अत्यन्त प्रेम करना ही भक्ति है । वास्तवमें यही भक्तिका स्वरूप है । श्रेष्ठ भक्तिका सर्वोत्तम उदाहरण व्रजकी गोपियाँ हैं जो भक्ति अथवा प्रेमकी मूर्तियाँ थीं । कर्म, ज्ञान, योग इन सबसे भक्ति बढ़कर है, क्योंकि और सब तो साधन ही हैं पर भक्ति तो फलरूप है । कर्म, ज्ञान, योग सभी इसके अन्तर्गत हैं । जिस प्रकार कीर्तनमें ज्ञान, ध्यान, जप ये सब उपस्थित रहते हैं उसी प्रकार भक्तिमें कर्म, ज्ञान, योग सभीका उचित समावेश रहता है । भगवान् नारदका कहना है कि ज्ञान भक्ति विना अपूर्ण है, पर भक्ति ज्ञान विना भी पूर्ण है । क्योंकि ज्ञान भक्तिमें अवश्य उपस्थित रहता है । देखिये, जिस प्र[illegible] भोजनका ज्ञान होनेसे क्षुधा तृप्त नहीं होती, इसी तरह ईश्वरका ज्ञान होनेसे काम नहीं चलता । ज्ञानकी सफलता भक्तिकी प्राप्तिमें है । भक्तिसे शून्य सब मार्ग लवणरहित भोजनके समान हैं, जिनसे तृप्ति नहीं हो सकती । ज्ञानी वास्तवमें भक्त ही है ।

यह मनोहारिणी भक्ति एकस्वरूपा होते हुए नानारूपोंमें दृष्टिगोचर होती है । प्रभुके गुणानुवाद सुननेमें, प्रभुके रूप-रसमें, पूजामें, स्मरणमें, दास्यभाव, सख्यभाव और कान्ता-भावमें, आत्मनिवेदन, तन्मयरूप तथा परम विरहमें ।

इस भक्तिमार्गमें आरूढ़ होनेके लिये कुछ संयम-नियमोंकी प्रथम आवश्यकता पड़ती है । फिर तो सब बातें स्वाभाविक हो जाती हैं और भक्त स्वतन्त्र हो अपनेको प्रभुके चरणारविन्दोंमें समर्पित कर देता है । भक्ति-मार्गके पथिकोंको सबसे पहले अपने कुछ बोझको उतारकर हलका होना होगा क्योंकि यात्रा बहुत दूरकी करनी है । जितना ही हलका हो, उतना ही अच्छा । निम्नलिखित भारके गट्ठोंको त्यागना ही सुखप्रद है । इन्द्रियोंके विषय तथा सांसारिक संग, अभिमान, दम्भ, वादविवाद, नास्तिकता, कुसंग तथा उससे प्राप्त काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि । अब इस मार्गमें निस्सहाय चलना भी ठीक नहीं है । कुछ अस्त्र-शस्त्र भी साथ रहें तो मार्गमें चलना सुलभ तथा निरुपद्रव होगा । महात्माओंद्वारा सिद्ध किये हुए ये अस्त्र-शस्त्र भक्तिमार्गके पथिकोंको अत्यन्त सहायता

सन्त माधवदास

पहुँचाते हैं। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता, श्रद्धा, विश्वास, गुरुशरणागति, निरन्तर जप, भगवद्गुण-कीर्तन, सत्संग, कर्मफलत्याग, तथा ईश्वरार्पणबुद्धि।

गो० तुलसीदासजीने संक्षेपमें इस मार्गके पथिकोंको क्या ही सुन्दर उपदेश दिया है:—

जो मन भजो चहै हरि सुरतरु !
तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहु जो मैं कहौं सो करु ॥
सम सन्तोष विचार विमल अति, सत्संगति ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद रागद्वेष निसेस करि, परिहरु ॥
श्रवण कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रणाम सेवा कर अनुसरु।
नैननि निरखि कृपा समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीताबरु ॥
इहै भक्ति वैराग्य ज्ञान यह हरि लेखन यह शुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास शिवमत मारग यहि चलत सदा सपनेहु नाहिंन डरु ॥

क्या ही सुखप्रद मार्ग है ! निश्चय यही मार्ग ठीक है। इसीलिये तुलसीदासजी महाराजने इसे शिवमतमार्ग कहा। भक्तशिरोमणि भगवत्के कृपापात्र शिवजी महाराज-का निर्धारित यह मार्ग निस्सन्देह कल्याण-प्राप्तिका परम साधन है।

यह मार्ग भगवान् कृष्णको कहाँतक अभिमत था, यह श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे हुए उनके कुछ अमूल्य वचनोंसे स्पष्ट है। प्रधानतः अध्याय ९, १२, १८ में आपने श्रीमुखसे इस महत्त्वपूर्ण मार्गका भगवान्ने दिग्दर्शन कराया है।

प्यारे पाठको ! अब एक भक्तकी कथा सुनिये और भक्तिमार्गपर शीघ्र आरूढ़ हो परम कल्याणको प्राप्त कीजिये। तथा निरन्तर हृदयमें इस गानकी मधुर गूँज होने दीजिये, 'भक्तिप्रियो माधवः।'

माधव केवल प्रेम पियारा।
गुण अवगुण कछु मानत नाहीं जानि लेहु जो जाननिहारा ॥
व्याध आचरण अवस्था ध्रुवकी गजने शास्तर कौन बिचारा।
भक्त विदुर दासी सुत कहिये, उग्रसेन कछु व्रत नहिं धारा ॥
सुन्दर रूप नहीं कुब्जाको निर्धन मीत सुदामाहूँ तारा।
कहँलौं बरन सकौं इनके गुन मोपै पायो जात न पारा ॥
सुन प्रभु सुयश शरण हौं आयो मोसे दीनको काहे बिसारा।
भक्तराम पर वेग द्रवहु अब कहिये दासन दास हमारा ॥

भक्त माधवदासजी

माधवदासजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। गृहस्थ अवस्था-में आपने अच्छी धन-सम्पत्ति कमाई। आप बड़े ही विद्वान् तथा धार्मिक भक्त थे। जब आपकी धर्मपत्नी स्वर्गलोकको सिधारीं तो आपके हृदयमें संसारसे सहसा वैराग्य हो गया। संसारको निस्सार समझकर आपने घर छोड़ जगन्नाथपुरी-का रास्ता पकड़ा। वहाँ पहुँचकर आप समुद्रके किनारे एकान्त स्थानमें पड़े रहे और अपनेको भगवद्ध्यानमें तल्लीन कर दिया। आप ऐसे ध्यानमग्न हुए कि आपको अन्न-जलकी भी सुध न रही। प्रेमकी यही दशा है। इस प्रकार बिना अन्न-जल आपको कई दिन बीत गये, पर दयालु जगन्नाथजीको आपका इस प्रकार भूखे रहना न सहा गया। तुरन्त सुभद्राजीको आज्ञा दी कि आप स्वयं उत्तम-से-उत्तम भोग सुवर्ण-थालमें रखकर मेरे भक्त माधव-के पास पहुँचाओ। सुभद्राजी प्रभुकी आज्ञा पाकर सुवर्ण-थाल सजा माधवदासजीके पास पहुँचीं आपने देखा कि माधव तो ध्यानमें ऐसा मग्न है कि उनके आनेका भी कुछ ध्यान नहीं करता। अपनी आँखें मूँदे प्रभुकी परम मनोहर मूर्तिका ध्यान कर रहा है, अतएव आप भी ध्यानमें विक्षेप करना उचित न समझ थाल रख चली आयीं। जब माधवदास-जीका ध्यान समाप्त हुआ तो वे सुवर्णका थाल देख भगवत्-कृपाका अनुभवकर आनन्दाश्रु बहाने लगे। भोग लगाया, प्रसाद पा थालको एक ओर रख दिया, फिर ध्यानमग्न हो गये !

उधर जब भगवान्के पट खुले तो पुजारियोंने सोनेका एक थाल न देख बड़ा शोर-गुल मचाया। पुरीभरमें तलाशी होने लगी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थाल माधवदासजीके यहाँ पाया गया। बस फिर क्या था। माधवदासजीको चोर समझ उनपर चाबुक पड़ने लगे। माधवदासजीने मुस्कुराते हुए चोट सह ली ! रात्रिमें पुजारियोंको भयङ्कर स्वप्न दिखलायी पड़ा ! भगवान्ने स्वप्नमें कहा कि 'मैंने माधवकी चोट अपने ऊपर ले ली, अब तुम्हारा सत्यानाश कर दूँगा, नहीं तो उसके चरणोंपर पड़कर अपने अपराध क्षमा करवा लो।' बेचारे पण्डा दौड़ते हुए माधवदासजीके पास पहुँचे और उनके चरणोंपर जा गिरे। माधवदासजीने तुरन्त क्षमा प्रदानकर उन्हें निर्भय किया। भक्तोंकी दयालुता स्वाभाविक है !

अब माधवदासजीके प्रेमकी दशा ऐसी हो गयी कि जब कभी आप भगवद्दर्शनके लिये मन्दिरमें जाते तो प्रभुकी मूर्तिको ही इकटक देखते रह जाते। दर्शन समाप्त होनेपर

आप तल्लीन अवस्थामें वहीं खड़े-खड़े पुजारियोंके अदृश्य हो जाते ।

एक बार माधवदासजीको दस्तोंका रोग हो गया । आप समुद्रके किनारे दूर जा पड़े । वहाँ इतने दुर्बल हो गये कि उठ-बैठ न सकते थे । ऐसी दशामें जगन्नाथजी स्वयं सेवक बनकर आपकी शुश्रूषा करने लगे । जब माधवदासजीको कुछ होश आया तो उन्होंने तुरन्त पहचान लिया कि हो-न-हो ये प्रभु ही हैं । यह समझ झट उनके चरण पकड़ लिये और विनीत भावसे कहने लगे, 'नाथ ! मुझ-जैसे अधमके लिये क्यों आपने इतना कष्ट उठाया ? फिर प्रभो ! आप तो सर्वशक्तिमान् हैं । अपनी शक्तिसे ही मेरे दुःखको क्यों न हर लिये, वृथा इतना परिश्रम क्यों किया ?' भगवान् कहने लगे, 'माधव ! मुझसे भक्तोंका कष्ट नहीं सहा जाता, उनकी सेवाके योग्य मैं अपने सिवा किसीको नहीं समझता । इसी कारण तुम्हारी सेवा मैंने स्वयं की । तुम जानते हो कि प्रारब्ध भोगनेसे ही नष्ट होता है—यह मेरा अटल नियम है, इसे मैं नहीं तोड़ता । इसलिये केवल सेवाकर प्रारब्ध-भोग भक्तोंसे करवाता हूँ और 'योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते' इसकी सत्यता संसारको दिखलाता हूँ ।' भगवान् यह कहकर अन्तर्धान हो गये । इधर माधवदासजीके भी सब दुःख दूर हो गये ।

इन घटनाओंसे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । अब तो माधवदासजीकी महिमा चारों ओर फैलने लगी । लोग इनको बहुत घेरने लगे । भक्तोंके लिये सकामी संसारी जीवोंसे घिर जाना एक बड़ी आपत्ति है । आपको यह सूझा कि अब पागल बन जाना चाहिये । बस, आप पागल बन इधर-उधर शोर मचाते घूमने लगे । एक दिन आप एक स्त्रीके द्वारपर गये और भिक्षा माँगी । वह स्त्री उस समय चौका दे रही थी, मारे क्रोधके चौकेका पोतना माधवजीके मुँहपर फेंककर मारा । आप बड़े प्रसन्न होकर उस पोतनेको अपने घर ले गये । उसे धो-सुखाकर भगवान्के मन्दिरमें जा उसकी बत्ती बनाकर जलायी, जिसका यह फल हुआ कि उस पोतनेकी बत्तीसे ज्यों-ज्यों मन्दिरमें प्रकाश फैलने लगा त्यों-त्यों उस स्त्रीके हृदय-मन्दिरमें भी ज्ञानका प्रकाश होना प्रारम्भ हुआ ! यहाँ तक कि अन्तमें वह स्त्री परम भक्तिमती हो गयी और रात-दिन भगवान्के ध्यानमें मस्त रहने लगी ।

एकबार एक बड़े शास्त्री पण्डित शास्त्रार्थद्वारा दिग्विजय करते माधवजीके पाण्डित्यकी चर्चा सुन शास्त्रार्थ करने जगन्नाथपुरी आये और माधवदासजीसे शास्त्रार्थ करनेका हठ करने लगे । भक्तोंको शास्त्रार्थ निरर्थक प्रतीत होता है । माधवदासजीने बहुत मना किया पर पण्डित भला कैसे मानते ? अन्तमें माधवदासजीने एक पत्रपर यह लिख हस्ताक्षर कर दिया, 'माधव हारा, पण्डितजी जीते ।' पण्डितजी इस विजयपर फूले न समाये । काशीको तुरन्त चल दिये । वहाँ पण्डितोंकी सभाकर वे अपनी विजयका वर्णन करने लगे और वह प्रमाणपत्र लोगोंको दिखाया । पण्डितोंने देखा तो उसपर यह लिखा पाया, 'पण्डितजी हारे माधव जीता ।' अब तो पण्डितजी क्रोधके मारे आग-बबूला हो गये । उलटे पैर जगन्नाथपुरी पहुँचे । वहाँ माधवदासजीको जी खोल गालियाँ सुनायीं और कहा कि 'शास्त्रार्थकर जो हारे वही काला मुँहकर गदहेपर चढ़ नगरभरमें घूमे ।' माधवदासजीने बहुत समझाया पर वे क्यों मानने लगे ? अवकाश पाकर भगवान् माधवदासजी-का रूप बना पण्डितजीसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे और भरी सभामें उन्हें खूब छकाया । अन्तमें उनकी शर्तके अनुसार उनका मुँह कालाकर गदहेपर चढ़ा, सौ-दो-सौ बालकोंको ले धूल उड़ाते नगरमें सैर की । माधवदासजीने जब यह हाल सुना तो भागे और भगवान्के चरण पकड़ उनसे पण्डितजीके अपराधोंकी क्षमा चाही । भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये । माधवदासजीने पण्डितजीको गदहेसे उतारकर क्षमा माँगी, उनका रोष दूर किया । धन्य है भक्तोंकी सहिष्णुता और दयालुता !

एकबार माधवदासजी व्रजयात्राको जा रहे थे । मार्ग-में एक बाई आपको भोजन कराने ले गयी । बाईने बड़े प्रेमसे आपको भोजन करवाया । इधर आपके साथ श्याम-सुन्दरजी बगलमें बैठ भोजन करने लगे । बाई भगवान्का सुकुमार रूप देखकर रोने लगी और माधवजीसे पूछा, 'भगवन् ! किस कठोरहृदय माताने ऐसे सुन्दर बालकको आपके साथ कर दिया ?' माधवदासजीने गर्दन फिराकर देखा तो श्यामसुन्दरजी भोजन कर रहे हैं । बस, आप सुध-बुध भूल गये और बाईजीकी प्रशंसाकर उनकी परिक्रमा करने लगे । उसके भक्तिभाव और सौभाग्यकी सराहना-कर वहाँसे बिदा हुए ।

माधवदासजीके ऐसे अनेक चरित्र हैं; विस्तारभयसे वर्णन नहीं किये जाते । बोलिये भक्त और भगवान्की जय !

कर्णाटकके भक्त श्रीजगन्नाथदासजी

(लेखक—श्री वी० बी० आलूर, बी० ए०, एल-एल० बी०)

यवनोंद्वारा किये गये धार्मिक आक्रमणोंका भारतवर्षने किस प्रकार अवरोध और प्रतिकार किया—यह प्रश्न भी भारतीय इतिहासमें बड़े महत्त्वका है। कुछ लोगोंकी यह धारणा ठीक नहीं जँचती कि भारत इन हमलोंसे सर्वथा उदासीन रहा। उस उपायके हिन्दुओंकी रुचि धर्मकी ओर अधिक थी, अतएव उन्होंने उन आक्रमणोंके प्रतिरोधार्थ कुछ उपाय अवश्य किये होंगे। अवश्य ही तत्कालीन आक्रमणमें प्रधानतः शारीरिक बल ही अपेक्षित था तो भी जनसमूहमें एक नवीन उत्साहके संचारकी परम आवश्यकता थी। मेरी समझसे भारतमें त्याग और भक्तिभावोंका उत्कर्ष ही इस कार्यसिद्धिका प्रधान हेतु और साधन था। उत्तरमें श्रीनानकपंथका प्रादुर्भाव और उत्थान, तुलसी, कबीर, रामानन्द और चैतन्य-जैसे सन्तोंके उपदेश तथा दक्षिणमें पुरन्दरदास, कनकदास और तुकाराम आदिकी शिक्षाएँ उस समयकी स्थिति और आवश्यकताके अनुरूप ही होती थीं। दक्षिणमें अकेले कर्णाटकको १२ वीं शताब्दीसे १६ वीं तक करीब दो सौ महात्माओंको जन्म देनेका सौभाग्य मिला है। इस लेखका विषय इसी सन्त-श्रेणीसे सम्बन्ध रखता है। अस्तु !

पुरन्दरदास और कनकदास-सरीखे महापुरुषोंके जीवन-कालमें और उसके बाद भक्तिका प्रवाह कर्णाटकमें चरम सीमाको पहुँच चुका था। उस समय विजयनगरका यशोगान भी चारों ओर हो रहा था। सर्वप्रथम इसी राज्यने अत्याचारी यवनोंका सफलतापूर्वक सामना किया था परन्तु तालीकोटके युद्धमें जब इसे हार खानी पड़ी तब संत-सेनाने अपने भजनों और उपदेशोंके प्रभावसे धर्मरक्षाका कार्य युद्धके बाद भी जारी रक्खा। इस घटनासे यह स्पष्ट है कि तालीकोटमें विजयनगरके पतनके पीछे भी अनेक संत कर्णाटकमें उत्पन्न हुए। इन्हींमेंसे महात्मा जगन्नाथजी थे जिनका जन्म सोलहवीं शताब्दीके आरम्भमें हुआ।

इनके परिवारके इतिहाससे भी देशकी तत्कालीन परिस्थितिपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनके पिता नरसप्पा ब्यागवट्टि नामक गाँवके अधिकारी थे। जब ये नियत समयपर गाँवका कर न चुका सके तो मुसलमान राजाने इन्हें इतना कठोर शारीरिक दण्ड दिया कि ये उस वेदनाको सर्वथा सहन न कर सके और दुखी होकर इन्होंने तुरन्त अपने पदसे अलग होकर और अपनी स्त्री लक्ष्मक्कसहित अपनेको भगवत्सेवार्थ समर्पित कर दिया। शक १६४९ में लक्ष्मक्कके गर्भसे जगन्नाथका जन्म हुआ। बचपनमें इनका नाम श्रीनिवासप्प था। ये वेद, वेदान्त और न्यायके बड़े भारी पण्डित हुए। इन्होंने श्रीमध्वाचार्यके द्वैत सम्प्रदायके श्रीवरदेन्द्र स्वामीसे दीक्षा ली थी। परन्तु अपनी विद्याका अभिमान हो जानेसे भक्तिमार्गीय संतोंसे घृणा करने लगे थे। वास्तवमें भक्ति और ज्ञानमें कोई भेद नहीं परन्तु फिर भी इतिहाससे मालूम होता है कि पक्षविशेषपर जोर देकर खैंचातानी की ही जाती है। विजयदासजी उस समयके एक प्रधान भक्त थे। श्रीनिवासप्प इन्हें घृणादृष्टिसे देखते और प्रायः कहा करते कि इन भक्तोंको वास्तवमें अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ। इस श्रेणीके संतोंकी संख्या अधिक होनेसे श्रीनिवासप्पके प्रति लोगोंका असन्तोष बढ़ने लगा। इन्हें सहसा क्षयरोगने आ घेरा। इसपर लोग कहने लगे, 'विजयदास और उनके अनुयायियोंको बुरा भला कहनेका यही फल है।' कहा जाता है कि उनके उपास्यदेव हनुमान्जीने भी उनसे स्वप्नमें यही कहा कि 'विजयदासको गाली देनेसे ही तुम्हें क्षयरोग हुआ है।' वे यद्यपि खटिया-पर पड़े मौतकी घड़ियाँ गिन रहे थे परन्तु फिर भी स्वप्ना-देशके कारण अपने शिष्योंसहित विजयदासजीके पास गये और उनसे क्षमायाचना की। उन्होंने श्रीनिवासप्पको अपने शिष्य भगवान्दासके पास भेज दिया। भगवान्दासने कई मन्त्रोंद्वारा धन्वन्तरिकी स्तुति की। फलस्वरूप श्रीनिवासप्प तुरन्त रोगमुक्त हो गये। इस घटनाके कुछ समय बाद विजयदासजीको उपास्य प्रभुने स्वप्नमें कहा कि 'तुम अपनी आयुके चालीस वर्ष श्रीनिवासप्पको दे दो।' कहा जाता है कि उन्होंने भगवदाज्ञाका पालन किया और श्रीनिवासप्पको इतना अधिक जीवनदान दे दिया। इसके बाद श्रीनिवासप्प पंढरपुरमें गये और वहाँ वे बड़े प्रसिद्ध हरिभक्त हुए।

यह पहले कहा जा चुका है कि ये दिग्गज विद्वान् थे।

इसीलिये उनके भजनोंमें विद्वत्ता और भक्तिरस भरा पड़ा है। ईश्वरको सर्वात्मसमर्पण कर देनेका भाव उनके भावमय छन्दोंमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। संसारमें रहना और सङ्कटोंका वीरतापूर्वक सामना करना और इससे उपराम होकर नहीं बल्कि अणु-अणुमें उस विश्वविमोहनके दर्शन करते हुए उसकी पूजा करना श्रीनिवासप्पके उपदेशोंका मूल मन्त्र था। भगवत्पूजाके भावसे अपने परिवारकी समस्त मानवजातिकी सेवा करना ही प्रभुकी वास्तविक आराधना है।

उन्होंने कनाड़ी भाषामें 'हरिकथामृतसार' नामक बृहद्ग्रन्थकी रचना की है जो अपने ढंगका अनुपम और निराला ग्रन्थ है। करीब एक हजार छन्दोंमें वेदान्त-दर्शनका सार इसमें निचोड़कर रक्खा गया है। इसमें ईश्वरकी सर्वव्यापकताका सविस्तर वर्णन है। भक्तिमाहात्म्य और श्रीहरिप्रसादका दिग्दर्शन कराते हुए श्रीपरमात्माको पत्थर, प्रतिमा, पुरुष, स्त्री और चराचरमें देखनेका अनुरोध किया है। इन्द्रिय और विषयोंको चेतनता प्रदान करनेके कारण वही असली नट है। हम सब तो केवल उसके हाथके पुतले हैं। गुण भी वही है और गुणी भी वही है, वही कारण और कार्य दोनों है। बालक जिस प्रकार मिट्टीके खिलौनोंसे खेला करते हैं वैसे ही वह संसारके साथ क्रीड़ा करता है। वही पूज्य और पूजक है। हमें उसकी चल और अचल दोनों प्रतिमाओं अर्थात् सृष्टिभरकी पूजा करनी चाहिये। ध्यान, नाड़ी और श्वासके सम्बन्धमें भी इस ग्रन्थमें प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह कि कोई भी आवश्यक विषय उसमें छूट नहीं गया है। लेखनशैली बड़ी प्रभावोत्पादिनी और स्पष्टीकरणका ढंग बड़ा रोचक है। निस्सन्देह इसकी गणना संसारकी किसी भी भाषाकी सर्वोत्कृष्ट पुस्तकोंमें की जाने योग्य है।

जगन्नाथदासने इसप्रकार चालीस वर्ष साधुजीवनमें बिताये और देशको भक्तिकी बाढ़में बहा दिया। शालिवाहन शक १७३१ में इनका देहान्त हुआ। कर्नाटकमें अब भी इनका बड़ा सम्मान है और नर-नारी बड़े प्रेमसे इनके भजनोंको गाया करते हैं।

श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि

विजयनगर साम्राज्यके एक संस्थापक और 'पंचदशी' के रचयिता

(लेखक—श्रीहरि रामचन्द्रजी दिवेकर एम० ए०)

सभी देशोंमें आदर्श मनुष्योंकी संख्या बहुत थोड़ी ही हुआ करती है। विशेषतः जिनका जीवन सर्वतोभावेन अनुकरणीय हो ऐसे पुरुष तो बिरले ही होते हैं। कोई शूर होता है तो साथ ही क्रूर भी होता है, कोई व्यवहार-चतुर होता है तो अनीतिमान् होता है। कोई साधु होता है तो संसारके लिये निरुपयोगी होता है। ऐसे आदमी कितने ही बड़े हों तो भी वह सर्वथा अनुकरणीय पुरुषोंकी पंक्तिमें नहीं बैठाये जा सकते। जिस महापुरुषका सर्वाङ्गीण विकास हुआ है, जो अपनी सारी शक्ति लोककल्याणके लिये खर्च करनेको सदैव प्रस्तुत है ऐसी ही विभूति सर्वमान्य और संसारमें आदरपात्र हो सकती है। ऐसे श्रेष्ठ त्यागी, बुद्धिशाली, व्यवहारचतुर और कर्तव्यदक्ष महा-विभूतियुक्त पुरुषोंमें विद्यारण्य महामुनि एक थे।

ऐसे पुरुषोंके चरित्र लिखनेकी प्रायः दो रीतियाँ हैं। अपनी कल्पनाशक्ति और काव्यशक्तिका पूरा उपयोग करके अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाय अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे साधार चरित्र लिखा जाय। दोनों प्रकारके चरित्र उपयुक्त हैं। पर दूसरी प्रकारके अधिक टिकाऊ हैं। साधार स्वाभिमान उत्पन्न करना और हम भी ऐसे ही हों, ऐसी महत्त्वाकाङ्क्षा नवयुवकोंमें जगाना, यही ऐसे चरित्रोंका ध्येय है। इसीसे, जिसमें अधिक सत्य और आधार होंगे उतना ही वह चरित्र अच्छा उतरेगा और लाभदायक होगा, मैं इसी दृष्टिसे यह लेख लिख रहा हूँ।

विजयनगर साम्राज्यकी स्थापना एक बहुत ही असामान्य काम था, इसमें किसीको सन्देह नहीं है। उस समय विजयनगर सरीखा एक बलवान् हिन्दू राज्य १४वीं सदीमें दक्षिण हिन्दुस्तानमें यदि स्थापित न हुआ होता और दो अढ़ाई सौ वर्षतक अत्यन्त तेजस्वितासे जग-

कर मुसलमानोंके दाँत खट्टे न करता रहता तो दक्षिण हिन्दुस्तानकी स्थिति उत्तर हिन्दुस्तान-सरीखी ही हुई होती और हिन्दू-मुसलमानोंका प्रश्न उत्तर हिन्दुस्तानके समान ही वहाँ भी जटिल हो जाता, पर १४ वीं सदीमें विजयनगर राज्यकी स्थापना और सतरहवीं सदीमें महाराष्ट्रमें श्रीशिवाजी महाराजका उदय इन दोनों बातोंके कारण दक्षिण हिन्दुस्तान आज भी पूर्ण 'हिन्दू' है, यह कहा जा सकता है।

अब उस समयकी राजनैतिक परिस्थितिका भी थोड़ा-सा विचार करना आवश्यक है। अलाउद्दीन खिलजी, मलिक काफूर और मुबारकने बारंगल, देवगिरी और द्वारसमुद्रतक हस्तगतकर रामेश्वरतककी दौड़ लगायी थी। रामेश्वर-सरीखे हिन्दुओंके पवित्र तीर्थमें उन लोगोंने एक मस्जिद भी खड़ी कर दी। राजा हरिपालदेवका शिर काटकर बड़ी निर्लज्जतासे उन लोगोंने उसे लटका दिया। फिर ई० सन् १३२५ में मुहम्मद तुगलक दौलताबाद–देवगिरीमें में आया। सन् १३३५ के पहले मुसलमानी राज्यको दक्षिणमें रुकावट डालनेवाला एक भी हिन्दू राजा नहीं रह गया था। आनेगुंदीके वीर राजपूत राजा जम्बुकेश्वर अपनी स्वतन्त्रताके लिये लड़कर स्वर्ग सिधार चुके थे। ऐसी अवस्थामें मुसलमानी सत्ताको रोकनेवाला कोई न रहा। पर इसी लड़ाईके समय जम्बुकेश्वरघरानेके दो भाई हुक्कराय और बुक्करायने तुंगभद्रा पार करके अपने प्राण बचाये। वे कई वर्षतक गुप-चुप भटकते रहे। वे जिस वनमें रहते थे उसी वनमें विद्यारण्य मुनि अपनी तपस्यामें लगे हुए थे। कहा जाता है कि भेंट होनेपर विद्यारण्यने उन दोनों भाइयोंको धैर्य देकर उन दोनोंमें राज्य स्थापना-की महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न की। खैर, एक दिन दोनों भाइयोंने शिकारमें देखा कि कुत्ता खरहेका पीछा नहीं बल्कि खरहा कुत्तेका पीछा कर रहा है। उन्होंने आकर यह बात विद्यारण्यसे कही। विद्यारण्यने बहुत संतुष्ट होकर कहा, बड़े अच्छे शकुन हैं, जहाँ यह घटना घटी है वहीं नया शहर बसना चाहिये।

ई० स० १३३५ तक हुक-बुक भाइयोंने अपने दिन इसी प्रकार अज्ञातवासमें बिताये और सेना आदि जुटाकर उस साल विजयनगर-राज्यकी स्थापना की और मुसलमानोंकी सेनाको निकाल बाहर किया। उसके बाद विजयनगरका साम्राज्य बढ़ने लगा। स० १५६५ तक अर्थात् तालीकोटकी लड़ाईतक बड़े ठाट-बाटसे निभा। विजयनगर शहरके वैभव और सम्पत्तिका वर्णन नुनीज और पेइज नामक पोर्चुगीज और इटालियन यात्रियोंने बहुत ही अच्छा किया है और वह सीवेलकी 'दि फारगाटन एम्पायर' में विस्तार-पूर्वक दिया हुआ है! अस्तु।

एक ऐसे महान् राज्यका स्थापन और सञ्चालन जिस महापुरुषके द्वारा हुआ था आज हमें उसीसे काम है। यह हमलोगोंका दुर्भाग्य है कि ऐसे पुरुषके सम्बन्धमें जितनी बातें मिलनी चाहिये, नहीं मिलतीं। कहना पड़ता है कि इतिहासकारोंने इस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। विद्यारण्यका जन्मकाल भी अभी निश्चित नहीं। पर एक-दो बातोंसे पता चलता है कि उनका जन्म लगभग स० १३०० में हुआ होगा। उनके शृङ्गेरी पीठपर बैठनेके बाद स० १३९१ में २४ ब्राह्मणोंको कोचेरी ग्राम दानरूपमें देनेका जिक्र है। सन् १३३५ में विजयनगरकी स्थापना हुई। यदि यह अनुमान किया जाय कि राज्यस्थापनाके समय उनकी अवस्था ३०-३५ वर्षकी रही होगी तो १३०० से १३०५ के भीतर उनका जन्म हुआ होगा। कम-से-कम सन् १३९१ तक वह जीवित रहे हैं। इस समय इसके विषयमें इससे अधिक कहना सम्भव नहीं है। अब अपने सम्बन्धमें उन्होंने जो कुछ बातें कही हैं उन्हें देखना चाहिये।

पाराशर स्मृतिपर लिखे हुए अपने भाष्यमें लिखते हैं कि तैत्तिरीय शाखाके ब्राह्मणकुलमें उनका जन्म हुआ, उनके पिताका नाम मायणाचार्य और माताका नाम श्रीमती था। उनके सायण और सोमनाथ नामक दो भाई भी थे। यह छोटा-सा ब्राह्मणकुटुम्ब था। हालत बड़ी गरीबीकी थी। यह कहनेकी कुछ जरूरत नहीं कि लड़के बड़े बुद्धिमान् और कर्तृत्वशाली पैदा हुए थे। सायण तो वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। सोमनाथ भी शीघ्र ही संन्यासी हो गये और शृङ्गेरीकी पीठपर बैठकर बहुत दिनोंतक जगद्गुरुकी हैसियतसे बड़ा काम किया। माधवाचार्य स्वयं पढ़-पढ़ाकर नयी उम्रमें ही तपस्याके लिये वनमें चले गये और श्रीभुवनेश्वरीकी आराधना करके उस देवीको प्रसन्न कर लिया, ऐसी कथा है। ऐसा जान

पड़ता है कि तपस्या पूरी होनेपर ही हुक्क-बुक्क भाइयोंकी और उनकी भेंट हुई और फिर राज्यस्थापनाकी सलाह हुई। जान पड़ता है कि विद्यारण्यने संन्यास बहुत ही शीघ्र ले लिया था और उन्होंने कभी विवाह नहीं किया था। सन् १३८० तक वह श्रृङ्गेरीके मठाधीश नहीं हुए थे क्योंकि तबतक भारतीतीर्थ—पूर्वाश्रमके सोमनाथाचार्य (विद्यारण्यके बड़े भाई) के इस गद्दीपर होनेके प्रमाण हैं। वनमें अपने आश्रममें हुक्क-बुक्क राजपुत्रोंसे भेंट होनेके बाद सन् १३९१ तक इस महाश्रेष्ठ पुरुषका सारा समय भारी राजनैतिक कारबार, अत्यन्त गहन और उपयुक्त ग्रन्थोंके निर्माण और श्रृङ्गेरीपीठके स्वामीकी हैसियतसे धर्माधिकार चलानेमें बीता। राज्यके काममें उन्होंने क्या-क्या किया इसका कोई ब्योरा हमलोगोंको इस समय नहीं मिलता है यह बड़े अभाग्यकी बात है। वह विजयनगर और विजयनगर-राज्यके संस्थापक थे। बुक्कराय और हरिहर राजके मन्त्री थे। ऐसी एक-दो मामूली बातोंके प्रमाण मिलते हैं। सन्तोष-की यही बात है कि उनके लिखे हुए ग्रन्थोंके सम्बन्धमें ज्यादा हाल मिलते हैं। अस्तु, अब विजयनगर और उस राज्यसे उनके सम्बन्धके विषयमें जो कुछ प्रमाण मिलते हैं उन्हें देखना चाहिये।

(१) श्रृङ्गेरीकी गुरुपरम्परामें विद्यारण्य महामुनि विद्यानगरके निर्माता और वेदभाष्यादि करनेवाले गुरु थे—ऐसा उल्लेख है।

····················विद्यारण्यमहामुनिः ।
विद्यानगरनिर्माता वेदभाष्यादिकृद्गुरुः ॥

(२) विद्यारण्य अष्टोत्तरशतनामावलीमें कुछ अतिशयोक्ति मान लेनेपर भी वह बड़े योगी, विद्यानगरके उद्धारकर्ता, तीन भाष्योंपर श्रेष्ठ टीका लिखनेवाले, कर्णाट राज्यवैभवके स्वामी, और बुक्करायको पट्टाभिषेक करानेवाले थे, इस बातका उल्लेख है।

विद्यारण्यमहायोगी·····विद्यानगरोद्धर्ता ।
वेदत्रयोल्लसद्भाष्यकर्ता तत्त्वार्थकोविदः ॥
श्रीमत्कर्णाटराज्यश्रीसम्पत्सिंहासनप्रभुः ।
श्रीमद्बुक्कमहीपालराज्यपट्टाभिषेककृत् ॥

(३) अहोबल पण्डितकी ईशानस्तुतिमें विद्यारण्यको वेदभाष्यकर्ता और बुक्करायके लड़के हरिहरराजको उसका सार्वभौमत्व प्राप्त करा देनेवाला लिखा है।

वेदानां भाष्यकर्ता···प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी। विद्यारण्योऽग्रगण्यो···॥

(४) मुलबागल इलाकेमें १५८ शासनमें ई० १३४४ सन्‌में एक दानपत्र देनेका उल्लेख है। उसमें उल्लेख है कि विद्यारण्य मुनिके बैठाये हुए विद्यानगरीमें बुक्कराजा रत्नपीठपर बैठे हुए हैं।

विद्याभिधाननगरी विजयोन्नतशालिनी ।
विद्यारण्यकृता तस्यां रत्नसिंहासने स्थितः ॥

(५) बागेपल्लीमें एक शिलालेखमें (ई० स० १३३६) ऐसा ही उल्लेख है।

(६) ई० स० १६५२ में लिखे हुए श्रृङ्गेरीके एक शासनमें है कि विद्यारण्य वेदोंपर भाष्य लिखनेवाले और विद्यानगर और राजा हरिहरके 'निर्माण' करनेवाले हैं।

······················विद्यारण्यमुनीश्वरः ।
चतुर्णामपि वेदानां साधुभाष्यप्रवर्तकः ॥
निर्माय विद्यानगरं नृपं हरिहराभिधम् ।

(७) श्रृङ्गेरीमठाधिपतिकी प्रशंसामें कर्णाटकसिंहासन-स्थापनाचार्य ये शब्द हैं और वह शब्द विद्यारण्य स्वामीके महान् कार्योंके बाद ही आये होंगे, इसमें संशय नहीं है।

(८) इसके सिवा इब्नबतूता नामक यात्री जिसने विजयनगरसम्बन्धी बहुत-सी बातें लिखी हैं—'विस्मृत साम्राज्य' नामकी पुस्तकके रचयिता मि० सी० वेल्, कभी विस्मृत न होनेवाले साम्राज्य, पुस्तकके लेखक श्रीसूर्य-नारायण राव इन सबने विजयनगर-राज्यके स्थापनके सम्बन्धमें लिखते हुए यह साफ लिखा है कि विद्यारण्य मुनिका हाथ उसमें था।

इस विवेचनसे जो चार बातें सिद्ध होती हैं वे यह हैं—(१) विद्यानगर अर्थात् विजयनगरके संस्थापक विद्यारण्य मुनि थे। (२) बुक्क और उनके लड़के हरिहरके राजतिलक करानेवाले विद्यारण्य ही थे। (३) वेदोंपर भाष्य लिखनेवाले विद्यारण्य ही थे और (४) एक समय वह श्रृङ्गेरीके मठाधीश थे।

अब हमें विद्यारण्यके ग्रन्थलेखनपर विचार करना चाहिये। विजयनगर-साम्राज्यकी स्थापनाका समय केवल राजकीय जागृतिका समय नहीं था। बल्कि दक्षिण हिन्दुस्तानमें हिन्दू-संस्कृतिके पुनरुज्जीवनका समय था। इस महत्त्वके काममें वेद-भाष्यकार, वेदान्ती और नैयायिकके नाते विद्यारण्यका कार्य अनुपम है। खेद है कि मठाधीशकी हैसियतसे उन्होंने जो काम किया उसका उल्लेख नहीं मिलता!

अब देखना यह है कि लेखककी हैसियतसे श्रीविद्यारण्यने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनमें उन्हें अपने दोनों भाइयोंकी पूरी मदद मिली थी अथवा कुछ ग्रन्थ दोनोंने अथवा तीनोंने मिलकर लिखे थे। वेदभाष्योंकी ही बात ली जाय तो वे भाष्य सायणाचार्यजीने ही लिखे हैं यह बहुतोंका कहना है। कुछ लोग कहते हैं माधवाचार्यकी आज्ञासे सायणने उन्हें लिखा है। पण्डितोंका मत है कि पञ्चदशीके पहले ६ अध्याय सिर्फ विद्यारण्यके और आगेके ९ भारतीतीर्थ पूर्वाश्रमी सोमनाथाचार्यके हैं। अनेक ग्रन्थोंका सायण माधवीय कहनेका रिवाज है। जो हो इसमें तनिक भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है कि निम्नलिखित ग्रन्थोंसे ग्रन्थकारके नाते श्रीविद्यारण्यका सम्बन्ध है—

१ ऋग्वेदभाष्य, २ यजुर्वेदभाष्य, ३ सामवेदभाष्य ४ अथर्ववेदभाष्य, ५ चारों वेदोंके ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्डय, शतपथ इत्यादि ब्राह्मणग्रन्थोंपर लिखे हुए भाष्य, ६ दशोपनिषद्दीपिका, ७ जैमिनीय न्यायमालाविस्तार, ८ वैयासिकी न्यायमालाविस्तर, ९ पञ्चदशी, १० अनुभूति-प्रकाश, ११ अपरोक्षानुभूति, १२ ब्रह्मगीता, १३ पाराशर-स्मृतिभाष्य, १४ मनुस्मृति-व्याख्यान, १५ सर्वदर्शन-संग्रह, १६ माधवीय वृत्ति, १७ श्रीशंकरदिग्विजय आदि। इनमें वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र इन विषयोंपर भाष्य और व्याख्यान है। इतना ही नहीं बल्कि वेदान्त, न्याय, व्याकरण इन विषयोंपर अनेक अप्रतिम ग्रन्थ हैं। विद्यारण्यकी पञ्चदशी आसेतु हिमाचल अद्वैत वेदान्तपर सर्वमान्य ग्रन्थ माना जाता है। विद्यारण्य किस प्रकारके और कैसी योग्यताके पुरुष थे यह उपर्युक्त बातोंसे मालूम हो जाता है। वह स्वयं संन्यासी थे तो भी परमात्म-प्रेरणासे हिन्दू-राज्यस्थापना, हिन्दू-धर्मरक्षण, हिन्दू-संस्कृतिके उद्धारके जो काम करने थे, उन्हें एक श्रेष्ठ कर्मयोगीकी भाँति निष्काम बुद्धिसे करके हिन्दू-संस्कृतिको आपने जीवित रक्खा। वह किस मनोभावनासे और किस मनोस्थितिमें अपना निष्काम कर्तव्य करते थे, यह देखना हो तो उन्होंने पञ्चदशीके निम्नलिखित वचनोंमें जो लिखा है उससे मालूम हो जायगा—

'ज्ञानिना चरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम्'

विद्यारण्यको ऐसी रीति और ऐसी बुद्धिसे काम करके शरीर छोड़े आज ४०० वर्ष हो गये। आज ऐसी दशामें जब कि हिन्दू-धर्म अत्यन्त दुर्बल हो गया है, हिन्दू-धर्मपर अनेक आघात हो रहे हैं, हम हिन्दवासियोंको उस महात्माके ऋण चुकानेके लिये क्या कुछ करना कर्तव्य नहीं है? अर्थात् हमें भी उतना ही तेजस्वी, उतना ही वीर्यवान्, उतना ही कर्तृत्वशाली होनेका दृढ़ निश्चय करना चाहिये तभी हमारा जन्म सार्थक है!

महाराष्ट्र-संत

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

श्रीजनार्दनस्वामी

स्वामीजी महाराष्ट्रके गुप्त सत्पुरुषोंमेंसे हैं। आपकी महिमाका इसीसे पता लगता है कि महाराष्ट्रके प्रसिद्ध भक्त श्रीएकनाथजी महाराज आपके ही शिष्य थे। श्रीजनार्दन-स्वामीने घर नहीं छोड़ा था। आप राज्यमें एक किलेदारके पदपर थे। सारा कार्य 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' की तरह करते थे। इनका जन्म सं० १५६१ फाल्गुन कृ० ६ को चालीसगाँवमें हुआ था। आप देशस्थ ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। बड़े संयमी, तेजस्वी, दयालु, न्यायी और भगवद्भक्त थे। राज्यमें भी आपकी बड़ी इज्जत थी। आप श्रीदत्तात्रेयके उपासक थे, आपको दत्तात्रेयजीका सगुण साक्षात्कार भी हो चुका था। आपमें समता, शान्ति, अनासक्ति आदि गुणोंका बड़ा विकास होनेके कारण आप हिन्दू-मुसलमान दोनोंके श्रद्धाभाजन थे।

श्रीएकनाथजी

महाराष्ट्रके प्रसिद्ध चार महाभागवतोंमेंसे श्रीएकनाथ महाराज एक हैं। आपका जन्म पैठण नगरमें हुआ था। ये ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। लड़कपनमें ही इनके माता-पिताका परलोकवास हो गया था। दादा-दादी जीवित थे। एकनाथजीकी प्रवृत्ति पहलेसे ही भक्तिकी ओर थी। आठ वर्षकी उम्रमें ये श्रीजनार्दन महाराजकी सेवामें दीक्षा लेने चले गये थे। जनार्दन महाराज एक मुसलमानी किलेके किलेदार होनेपर भी बड़े साधु थे। जनार्दन महाराजने कुछ दिन शिक्षा देकर अन्तमें इन्हें मन्त्रदान दे दिया। यह प्रसिद्ध है कि श्रीएकनाथजीको सद्गुरुकी कृपासे भगवान् दत्तात्रेयके दर्शन हुए थे। ये गुरुकी आज्ञासे पैठणमें आकर गृहस्थधर्मका पालन करने लगे। इनकी पत्नी भी पतिके समान ही भगवान्‌की परम भक्त थीं। एकनाथजीका स्वभाव बड़ा ही दयालु था। एक बार इनके यहाँ श्राद्धकी रसोई बन रही थी, रास्तेसे एक चमार सपरिवार जा रहा था। मिठाईकी सुगन्धसे चमारके स्त्री-बालकोंकी इच्छा हुई, पर वे यह कहकर कि 'ऐसा भोजन हमारे भाग्यमें कहाँ है, मन मारकर रह गये। एकनाथजीको बड़ी दया आयी, उन्होंने वह भोजन उनको दे दिया और श्राद्धके लिये चौका देकर दुबारा रसोई बनायी।

कहा जाता है कि भगवान्‌ने अनेक वर्षोंतक श्रीएकनाथके यहाँ नौकरका काम किया था। एकनाथजी संस्कृतके बड़े विद्वान् थे। भागवतके एकादश स्कन्धकी कथा विशेषरूपसे कहा करते। मराठीमें इन्होंने एकादश स्कन्धका छायानुवाद भी किया है। श्रीतुकारामजीमें इनकी भागवत पढ़नेसे ही कवित्वकी स्फूर्ति हुई थी। इनके पुत्र श्रीहरिशास्त्री संस्कृतके दिग्गज विद्वान् थे, उन्हें पहले अपने पाण्डित्यका कुछ अभिमान था परन्तु पीछेसे वे भी बड़े भावुक भक्त बन गये थे! एकनाथजीकी पुत्री गोदावरीबाई भी बड़ी भाग्यवती स्त्री थी, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध कवि मुक्तेश्वर गोदावरीके उदरसे ही उत्पन्न हुए थे।

श्रीएकनाथजीमें अनन्यभक्ति, क्षमा, दीनप्रेम, गुरुभक्ति, धैर्य, पतितोद्धारकी इच्छा आदि गुण प्रसिद्ध हैं। महाराष्ट्रमें आज भी इनका बड़ा आदर है। आप अस्सी वर्षकी उम्रमें भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए भगवच्चरणोंमें लीन हुए थे!

भक्त नामदेवजी

श्रीनामदेवजी छींपीका जन्म १४ वीं शताब्दीमें हुआ था। आप लड़कपनसे ही नामसंकीर्तन करना सीख गये थे। इनके माता-पिता बड़े भक्त थे। रोज भगवान्‌की मूर्तिपूजा करते थे। पिताने एक बार बाहर जाते समय नामदेवजीसे कहा कि 'बेटा! मैं बाहर जा रहा हूँ जबतक मैं न आऊँ तबतक तू भगवान्‌की पूजा करना, और भोग लगाकर पीछे भोजन करना' नामदेव पूजा करने लगे। थालमें बालभोग लेकर भगवान्‌के सामने रक्खा, कुछ समय बीत गया, भगवान्‌ने भोग नहीं लगाया। नामदेवने समझा भगवान् कुछ नाराज हो गये होंगे, वे करुणस्वरसे विनयकर कहने लगे। 'प्रभो! क्षमा कीजिये, मैं बालक हूँ। मुझसे पूजा करने और भोग लगानेमें भूल हो गयी होगी, अज्ञानका अपराध क्षमा कीजिये।' नामदेवने बहुत विनय की, पर भगवान् नहीं आये। सरलहृदय बालकने प्रण कर लिया कि जबतक भगवान् भोजन नहीं करेंगे तबतक मैं भी नहीं करूँगा। कई घंटे बीत गये। सरल बालक भक्तकी प्रीतिसे करुणामयका आसन डोल गया। भगवान्‌ने स्वयं पधारकर भोजन किया। बालभोगकी थालीमें सामान कम देखकर माताने बालकसे कारण पूछा। नामदेवने कहा—'माँ, भगवान् खा गये। पहले तो आये ही नहीं, मेरी बड़ी विनय सुनकर कहीं घंटों बाद आये।' माताका हृदय सन्देहसे भर गया। चार दिन बाद नामदेवके पिता घर लौटे, पत्नीने सारी बातें पतिसे कही। पिताने अपने सामने नामदेवको भगवान्‌की पूजा कर भोग लगानेको कहा। नामदेव पूजा करने लगे, भगवान्‌ने पूजा और भोग स्वीकार किया। नामदेवको भगवान्‌के दर्शन हो रहे थे परन्तु उनके पिता-माताको नहीं होते थे। नामदेवने प्रार्थना कर कहा, 'भगवन्! मेरे पिता-माताको दर्शन देकर उनका सन्देह निवारण कीजिये।' भगवान् बोले 'वत्स! मैं अनन्य भक्तोंको ही दर्शन देता हूँ, संशयात्मा मनुष्योंको नहीं। नामदेवने रोकर कहा—'मेरे प्यारे! आप दर्शन नहीं देंगे तो ये मुझे मारेंगे।' बालकका रोना भगवान् नहीं देख सके, नामदेवके पिता-माताको भी दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया। नामदेवजी बड़े
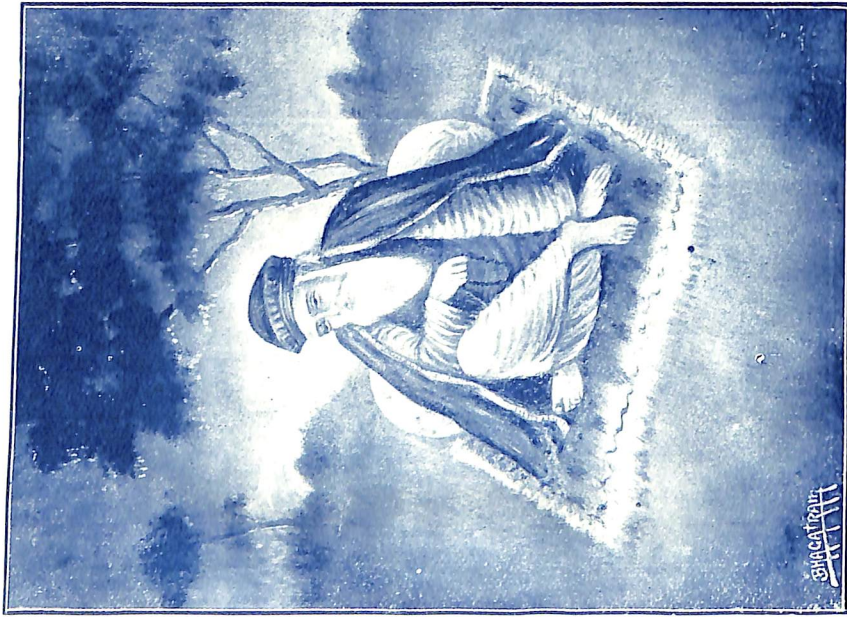
गुरु नानक
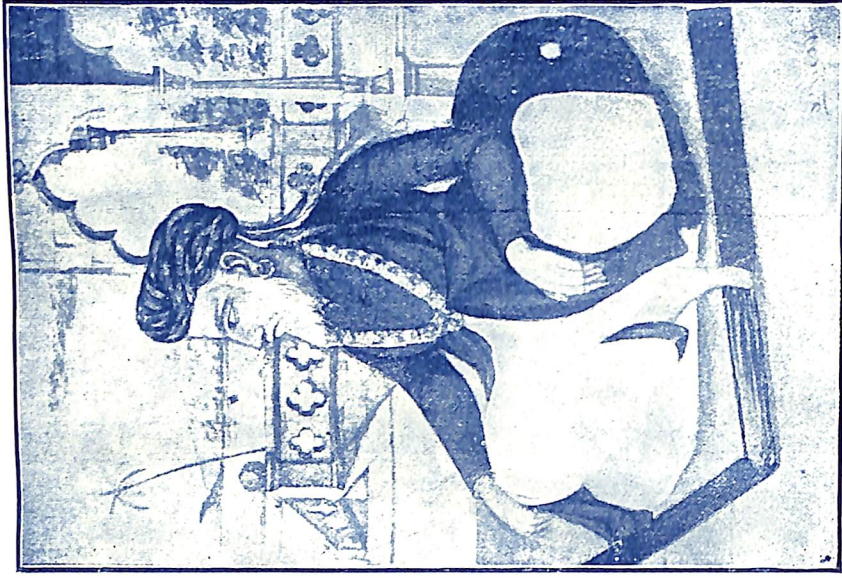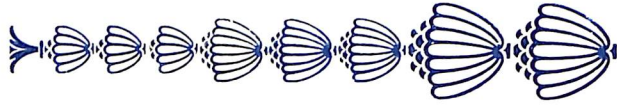
माणिक्य महाप्रभु

भारी भक्त हो गये हैं। नामदेवकी छानका भगवान्‌के द्वारा छाया जाना प्रसिद्ध है। स्थानाभावसे इनके जीवनकी अन्यान्य घटनाएँ नहीं लिखी जा सकीं। आपने ७५ वर्षकी उम्रमें वैकुण्ठको प्रयाण किया। पण्ढरपुरमें आपका भी मठ है।

श्रीजनी जनार्दनजी

ये महात्मा श्रीएकनाथजीके समकालीन थे। बालाघाट वीड़में इनका जन्म हुआ था। ये गोस्वामी कहलाते थे। बीजापुर नवाबके यहाँ 'कमावीसदार' थे। एक बार राज्यमें भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। श्रीजनी जनार्दनने अपने अधिकारके अन्नका कोठार भूखे गरीबोंको लुटा दिया। इसपर नवाबने इन्हें पकड़वा मँगाया। जनी जनार्दनने कहा कि—'मैंने अपने और स्त्री-कन्याके लिये जो कुछ लिया है उसकी जिम्मेवारी मुझपर है। अवशेषका पुण्य तो आपको ही है। क्योंकि आपकी ही प्रजाने अन्न लिया है।' नवाब इसपर बड़ा क्रुद्ध हुआ, उसने जनीको हाथीके पैरोंसे कुचलवा देनेका हुक्म दिया। मतवाला हाथी छोड़ा गया परन्तु वह भक्त जनार्दनकी शान्त मूर्तिको देखते ही शान्त हो गया। नवाबने इस चमत्कारसे प्रभावान्वित होकर जनार्दनको छोड़ दिया परन्तु उन्होंने फिर नौकरी करना स्वीकार नहीं किया। उनकी आनके अनुसार उनके वंशज अबतक यवनोंकी नौकरी नहीं करते। जनार्दनका शेष जीवन ईश्वराराधन और प्रचारमें बीता। सं० १६५८ श्रावण बदी सप्तमीको आप समाधिस्थ हुए। इनकी समाधि निजाम, हैदराबादके अन्तर्गत भूमक नामक स्थानमें है।

भक्त सेन नाई

महाराष्ट्रके प्रसिद्ध महाभागवत श्रीनिवृत्तिनाथ, श्रीज्ञानदेव, श्रीसोपानदेव और श्रीमुक्ताबाईके बाद १३ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें बोधगढ़राज्यमें भक्त सेनजीका जन्म हुआ, ये बोधगढ़ नरेशके आश्रित थे। एक दिन प्रातःकाल सेन नहा-धोकर अपने भगवान्‌की सेवामें लगे हुए थे कि राजाके यहाँसे बुलानेको दूत आया। भक्तिसम्पन्न पतिको पूजामें लगे हुए जानकर सेनकी पत्नीने दूतसे कह दिया कि सेन घरमें नहीं है। दो-तीन बार आदमी आये, उसने सबसे यही कहा। आखिर राजाको यह पता लगनेपर कि सेन घरमें था, उसकी स्त्रीने झूठी बात कही है, राजाने क्रुद्ध होकर सिपाहियोंको यह कहकर भेजा कि 'जाओ, सेनकी गठरी बाँधकर उसे नदीमें फेंक दो!' भक्त-भीर-भञ्जन भगवान् भक्तपर भीर पड़ी जानकर स्वयं सेन बन गये और राजाके पास जा पहुँचे। राजाने सिपाहियोंको वापस बुला लिया। हमारे इस अनोखे मायावी नाईने अपनी कुशलतासे राजाको तुरन्त प्रसन्न कर लिया। जिसका भ्रुकुटिविलास मायाको भी मोहित कर सकता है उसके लिये एक मायामुग्ध मानवको मोहित करना कौन बड़ी बात थी? आप राजाकी हजामत बनाने लगे। पास ही कटोरीमें चमेलीका तेल रक्खा था। राजाको उसमें चतुर्भुज भगवान् दिखायी देने लगे। राजाने आश्चर्य-चकित होकर बाहरकी ओर देखा तो कहीं कुछ नहीं है, फिर कटोरीमें देखा तो वही मूर्ति दीख पड़ी। राजाको बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ, ऐसे प्रिय नाईको कौन छोड़े? राजाने कहा 'यहीं रहो।' आखिर बहुत कुछ समझाने-बुझानेपर राजाने घर जानेकी अनुमति दी, जाते समय राजाने मुहरोंकी अञ्जलि भर नाईकी रछौनीमें डाल दी। हमारे नवीन सेनजी चले और सेनजीके घरपर चुपकेसे पहुँचकर रछौनी टाँग दी और आप नौ दो ग्यारह हुए। दुपहरको सेन राजाके दरबारमें पहुँचे। राजाने सुबहकी तरह कटोरीमें भगवान् दिखानेको कहा। सेन सुनकर दंग रह गये। कैसी कटोरी, क्या बात? राजाने सारा हाल सुनाया तब सेनने समझकर कहा 'महाराज! आपका धन्य भाग्य है, आपको सरकारके साक्षात् दर्शन हो गये।' सेन घर लौटे। रछौनीमें मोहरें देखकर उनका निश्चय और भी पक्का हो गया। इस 'लीला' का राजापर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा और वह भी उसी दिनसे भक्त होकर भजनमें लीन रहने लगा। सेनजीका देहान्त श्रावण बदी द्वादशीको हुआ था। सेनजी अच्छे कवि थे। आपके प्रायः १५० मराठी भजन अब भी मिलते हैं।

सिद्ध भक्त माणिक्य प्रभु

श्रीमाणिक्य प्रभुका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल १४ शक १७४३ में रियासत निजाम हैदराबादमें हुआ था। इनके पिताका नाम हरिहर नायक और माताका नाम श्रीबयाबाई था। ये ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। श्रीहरिहरनायक वेद-वेदाङ्गके पण्डित होनेके साथ ही बड़े अच्छे योगी थे। माणिक्य प्रभुका प्रभाव बचपनसे ही दृष्टिगोचर होने लगा था।

सन् १८५७ का स्वतन्त्रताकी प्यासका युद्ध प्रसिद्ध

है । उस समय निजाम रियासतके हुसंगावाद नामक स्थानमें मुहम्मद नुरूद्दीन नामक एक अधिकारी था वह महाप्रभु-पर बहुत ही लगता था । एक बार उसने प्रभुके पास बुरी नीयतसे किसी आततायीको भेजा । पर उनके पास पहुँचकर उन्हें देखते ही उसकी बुद्धि बदल गयी । धीरे-धीरे वह आततायीसे भक्त बन गया । सत्संगका प्रभाव अद्भुत होता है । इसके बाद कुछ दिन वह वहीं रहा । तदनन्तर वह जब लौटकर हुसंगावाद आया तो उसकी स्थिति देखकर मुहम्मद नुरूद्दीनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा । उसकी स्वयं उनके पास जानेकी इच्छा हुई । पर वहाँ जाते ही उसकी भी वही हालत हुई । वह भी अनन्य भक्त बन गया । मुसलमान फकीरोंसे माणिक्य प्रभुका यह प्रभाव नहीं सहा गया । उन्होंने अनेक कष्ट पहुँचाये परन्तु इनके धैर्यके सामने सबको सिर झुकाने पड़े ! हिन्दुओंके सदृश निजाम रियासतके मुसलमान भी आपके भक्त हो गये । स्वयं निजामने आपकी बड़ी तारीफ की है । महाप्रभु बड़े भावुक कवि भी थे । आपका भक्तिप्रचारकार्य लगातार पचास वर्षतक जारी रहा । *

नानक-वाक्सुधा

श्रीरामनामकी श्रेष्ठता

(प्रे०—श्रीरामशरणजी दाऊदनगरी)

प्रश्न—कौन नाम जग जाके सिमरै पावै पद निर्बाण ?

उत्तर—'भये दयाल कृपाल संत(जब)जग तब यह ज्ञान बताई।
सरब धरम मानो तिह कीये जिह प्रभु कीरति गाई ॥
राम नाम नर निशि बासरमें निमिष एक उर धारै ।
यमकी त्रास मिटै नानक तिहि अपनो जनम सँवारै ॥'

उपदेश—'एक शब्द रामनाम निरोधरु गुरु देवं सतिमती'

विनय—'मेरे मीत गुरु देव मोको रामनाम परगासि'

क्योंकि—'वेद,पुराण,स्मृत सुधाकर । कीने रामनाम इक आखर'

रामनाम-महत्व — 'ना वह मरहि न ठागे जाहिं ।
जिनके राम बसैं मन माहिं ॥'
'सावण तिना सोहागणी, जिन राम नाम उर धार'
शरीर कटाइ होमें दिन राती ।
बरत-नेम करै बहु भाँती ॥
नहिं तुल राम नाम बीचार ।
गुरुमुखि(राम)नाम जपि जो एक बार॥
'राम नाम जो करहिं बिचार ।
सो धनवन्त गनी संसार ॥'

रामनामोपदेश — 'विद्या सोधै ततु लहै, रामनाम लिव लाय ।'
'सचोपट्टी, सचमन, पढ़िये शब्द सुसार ।
नानक पढ़े सो पंडित बीना,
जिस राम नाम गलेहार ॥
'राम नाम सार रस पीवै ।'
'गुरु-मुख राम नाम रँगराते ।'

रामनाम-शिक्षा — 'हलत-पलत दुइ लेहु सँभार ।
राम नाम अन्तर उर धार ॥'
'आल-जाल विकारते रहिते ।
राम नाम नित रसना कहिते ॥'
'सब सुखदाता राम हैं दूसर नाहिंन कोइ ।
कहु नानक सुनु रे मना,तेहि सुमिरत गति होइ॥'

राम नाम विना दशा — 'राम नाम सँग मन नहिं राता ।
जोऊ कीन्हा सोउ अनेता ॥'
'मन कहा बिसारयो राम नाम ।
तव बिनसै यम सो परयो काम ।'
'रामनाम बिनु या संकटमें को अब होत सहाई ।'

अतएव श्रीराम शरणागत होना — 'जन नानक जग जानहु मिथ्या,
रहहु राम शरणाई ।'
'कहा भयो तीरथ-व्रत कीये,
रामशरण नहिं आवे ।
योग-जाप निष्फल तेहि जानों,
जो प्रभु यश बिसरावे ॥'
'जो सुखको चाहो सदा, शरण रामको लेहु ।'

(नानकवचनामृतसे)

* बाबा राघवदासजीने कृपाकर बहुत-से महाराष्ट्र-संतोंका परिचय लिख दिया है । स्थानाभावसे इस अङ्कमें सब नहीं छप सका, धीरे-धीरे छापनेका विचार है ।—सम्पादक

भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

क्तोंके भावोंपर मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये कुछ लिखनेका प्रयास करना दुस्साहसमात्र है, परन्तु मित्रोंके उत्साहबलके आधारपर कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ, त्रुटियोंके लिये सहृदय पाठक-पाठिकागण क्षमा करें। भक्तोंके भाव अनन्त हैं। उन भावोंको कोई ऐसे ही भक्तजनमानसमराल संतशिरोमणि जान सकते हैं जिनका हृदय निर्मल, कोमल, उदार, शान्त और प्रेममय है। नहीं तो क्या पाषाणमें नवनीतकी कोमलता, अग्निमें हिमकी शीतलता या नीममें मधु-सी मधुरता कभी संभव है ? अस्तु !

भक्तोंको भगवान् और भगवान्‌को भक्त प्राणोंसे अधिक प्रिय होते हैं। कुछ महापुरुषोंने तो भक्तोंको भगवान्‌से बढ़कर बतलाया है। गोस्वामीजी कहते हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
रामतें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चन्दन तरु हरि संत समीरा॥

किसानोंको बादलोंकी चाह अधिक रहती है क्योंकि उनके खेत बादलोंकी कृपासे ही हरे-भरे होते हैं। समुद्र स्वयं उनके खेतोंमें जल नहीं सींचता, इसी प्रकार चन्दनका वृक्ष स्वयं अपनी सुगंध दूसरे वृक्षोंको देने नहीं जाता। सुगंधवहनकारी वायुके द्वारा ही अन्यान्य वृक्ष सुगंध पाकर चन्दन बन जाते हैं। इस प्रकार मेघ और वायुसे भक्तोंकी तुलना करते हुए तुलसीदासजीने भक्तोंकी प्रशंसा की है। अवश्य ही मेघमें जल और वायुमें सुगंध समुद्र और चन्दनके वृक्षसे ही आते हैं। इसी प्रकार भगवद्‌गुण-सम्पन्न भक्तजन दया, उदारता, प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुण विश्वमें वितरण किया करते हैं। महात्मा सुन्दरदासजी कहते हैं—

साँचो उपदेस देत, भली भली सीख देत,
समता सुबुद्धि देत, कुमति हरतु हैं।
मारग दिखराय देत, भाव और भक्ति देत,
प्रेमकी प्रतीति देत, अ-भरा भरतु हैं॥
ज्ञान देत ध्यान देत, आतम-विचार देत,
ब्रह्मको बताय देत ब्रह्ममें चरतु हैं।
सुन्दर कहत संतजन कछु नाहिं लेत,
संतजन निसिदिन दैबो ही करतु हैं॥

सोना खानमेंसे ही निकलता है। इसी प्रकार ये सब गुण भक्तोंको सर्वगुणआकर भगवान्‌से ही मिलते हैं। भगवान्‌ने स्वयं भक्तोंकी श्रेष्ठता स्वीकार की है।

मुनि दुर्वासा भक्तराज अम्बरीषकी परीक्षाके लिये उपस्थित हैं, अकारण ही क्रोध करके वे अम्बरीष-विनाशके लिये कृत्या दानवी उत्पन्न करते हैं, भक्तभयहारी भगवान्‌का सुदर्शन चक्र कृत्याका काम तमाम कर दुर्वासाके पीछे दौड़ता है। प्राण बचानेके लिये दुर्वासा आश्रय खोजते हुए वन, पर्वत, सर, सरिता, समुद्र, पाताल, आकाश, स्वर्ग, ब्रह्मलोक, कैलाश सभी जगह जाते हैं, दीनवचन सुनाकर आश्रय माँगते हैं पर हरिजनद्रोहीको कहीं आश्रय नहीं मिलता, अन्तमें दुर्वासा दौड़कर वैकुण्ठमें भगवान् कमलापतिके चरणकमलोंमें उपस्थित हो गिड़गिड़ाते हुए रक्षा-प्रार्थना करते हैं। उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(भागवत ९।४।६३, ६६—६८)

'हे ब्राह्मण ! भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है, मैं भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। जिनका हृदय मुझमें संलग्न है वे समदर्शी भक्त अपनी भक्तिसे मुझे वैसे ही वशमें कर लेते हैं जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सज्जन स्वामीको। मेरी सेवा करनेसे उन्हें चार

प्रकारकी मुक्ति भी मिलती है परन्तु वे मेरी सेवा ही चाहते हैं, उसीमें उनकी इच्छा पूर्ण रहती है, वे कालसे नष्ट होनेवाले स्वर्गादि लोकोंकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी नहीं चाहते । ऐसे साधुजन मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ, वे लोग मेरे सिवा अन्य किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता ।'

अतएव हे ऋषि ! तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो—

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् ।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥

(भागवत ९ । ४ । ७१)

ब्रह्मन् ! तुम नाभागपुत्र राजा अम्बरीषके पास जाओ, तुम्हारा भला होगा, वहाँ जाकर तुम महाभाग अम्बरीषसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगो, तब तुम्हें शान्ति मिलेगी !

सारांश यह कि भगवान् भक्ताधीन हैं, भक्तोंके प्रेमसे वे उनके हाथ बिक जाते हैं । भक्तोंके कारण भगवान् अनन्त होनेपर भी अन्तवाले-से बनकर माता कौशल्या और यशोदाकी गोदमें खेलते हैं–

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद ।
सोइ अज प्रेम भगति बस, कौसल्याकी गोद ॥

अखिल ब्रह्माण्डके जीवोंको उनके कर्मानुसार माया-रज्जुमें बाँधनेवाले भगवान् स्वयं जननी यशोदाके द्वारा छोटी-सी रस्सीमें ऊखलसे बँध जाते हैं, अजेय होनेपर भी खेलमें ग्वाल-बालकोंसे हार मानते हैं, विश्वम्भर होनेपर भी भक्तोंके चावल, बेर और केलेके छिलकोंके लिये भूखे भटकते हैं, अखिल भुवनपति होकर भी बलिके द्वारपर भिक्षुक और द्वारपाल बन जाते हैं, जगत्पिता होनेपर भी पुत्र बनकर भाग्यवान् दशरथ, नन्द और वसुदेवजीकी सेवा करते हैं, अभय होते हुए भी माता यशोदाकी यष्टिकासे डर जाते हैं, नित्यमुक्त होते हुए भी बद्ध-से बन जाते हैं, राजराजेश्वर होनेपर भी अर्जुनके रथके घोड़े हाँकते हैं और जगदीश्वर होनेपर भी दास बन जाते हैं । भक्तोंका प्रेम-प्रभाव कहाँतक कहा जाय ? जो कल्याण-गुणाश्रय, असीम ज्ञानानन्दैकस्वरूप, निरवधिक वात्सल्य-जलधि, अनन्त गुणनिधि, अवाङ्मनसगोचर, वेदान्तवेद्य, सौकुमार्य, लावण्य, माधुर्य, कारुण्य, औदार्य आदि गुणयुक्त श्रीपति भगवान्‌को अपने वशमें करके सब कुछ करवा लेते हैं, उन भक्तोंको बारंबार नमस्कार है !

भक्तनकी महिमा अमित, पार न पावे कोय ।
जहाँ भक्तजन पग धरे, असदृश तीरथ सोय ॥
भक्त संग छाड़ौ नहीं, सदा रहौं तिन पास ।
जहाँ न आदर भक्तको, तहाँ न मेरो बास ॥
फिरत धाम बैकुण्ठ तजि, भक्त जननके काज ।
जो जो जन मन चाहहीं, धारत सो तन साज ॥
ज्यों बिहंग बस पींजरे रहत सदा आधीन ।
त्यों ही भक्ताधीन प्रभु निज जनहित तन लीन ॥

जो भक्तजन भगवान्‌को इस प्रकार वशमें कर लेते हैं उनके हृदयोच्छ्वासके कुछ नमूने देखिये—ब्रह्माजी कहते हैं—

तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥

(भाग० १० । १४ । ३४)

'इस भूमिमें खासकर वृन्दावन और उसमें भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्य है क्योंकि गोकुलमें जन्म होनेसे किसी-न-किसी गोकुलवासीके चरणोंकी पवित्र रज शिरपर पड़ ही जायगी ।'

भीष्मपितामह कहते हैं—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥

(भागवत १ । ९ । ३३)

'त्रिभुवनसुन्दर, तमालतरुसदृश श्यामशरीर और सूर्यकिरणसदृश गौरवर्ण सुन्दर वस्त्र धारण किये और अलकावलीसे छाये हुए सुशोभित मुखकमलवाले अर्जुन-सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम भक्ति हो ।'

प्रह्लाद कहते हैं–

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥

(वि० पु० १ । २० । १८)

हे नाथ ! मैं अपने कर्मानुसार अनन्त योनियोंमेंसे जिस-जिसमें जन्म ग्रहण करूँ, उसीमें आपके श्रीचरणोंमें मेरी अटल भक्ति बनी रहे।

सुतीक्ष्णजी कहते हैं—

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बाण धर राम।
मम हिय गगन इन्दु इव, बसहु सदा निस्काम॥

भरतजी कहते हैं—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्बान।
जन्म जन्म रति रामपद, यह बरदान न आन॥

रसखानजीकी उक्ति भी सुनिये—

गिरि कीजै गोबरधन मोर, नवकुंजनकौ,
पशु कीजै महाराज नन्दके बगरकौ;
नर कीजै जौन तौन राधे राधे नाम रटे,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगरकौ।

एक प्रेमी कामना करते हैं—

कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥

दूसरे पुकारते हैं—

मिलिहैं कब अँग छार ह्वै श्रीबनबीथिन धूर।
परिहैं पदपंकज जुगल मेरे जीवन मूर॥

तीसरेकी चाहकी बानगी भी देखिये—

कब कालिन्दी कूलकी ह्वैहौं तरुवर डार।
ललितकिशोरी लाडिले झूलें झूला डार॥

कहाँतक गिनाया जाय ? भक्तोंकी हृदय-ध्वनिको भक्त ही समझ सकते हैं, हमें तो बारंबार इनके चरणोंमें नमस्कार ही करना चाहिये।

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे॥

जो भक्तजन मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, जिन्होंने पद-पदपर आनन्द बढ़ानेवाले भक्ति-साधनका अवलम्बन कर समस्त ब्रह्माण्डके मुकुटमणि प्रभुको अपने वशमें कर लिया है, उन भक्तोंको, उस भक्तिको और उस भक्तिप्रिय हरि भगवान्‌को हम निरन्तर वन्दन करते हैं और सदा उनके शरणमें रहना चाहते हैं।

मुक्ति

(लेखक—श्रीयुत बाबू गुलाबरायजी एम० ए०, एल-एल० बी०)

मुक्ति ! तुझे किसी-न-किसी रूपमें सब ही चाहते हैं। तू ही सारे दर्शनोंका अन्तिम ध्येय और समस्त जप, योग, दान, तप उपासनाका चरम लक्ष्य है। तेरा अंशमात्र भी पाकर संसारी लोग अपनेको धन्य मानते हैं। जरा रोगसे छुटकारा मिला और लगी हर्षकी बधाई बजने ! ऋणसे मुक्त होनेके लिये कठिन परिश्रम किया जाता है और देवता भी मनाये जाते हैं। कारागारसे मुक्ति हुई तो सकुटुम्ब आनन्दसागरमें मग्न हो गये। इसी प्रकार जीवनके भारसे भी मुक्त होनेके लिये मनुष्य आशाओंके पुल बाँध तेरी प्राप्तिके अर्थ तुझमें अपनी सारी क्रियाओंको केन्द्रस्थ कर देते हैं। तुझको ही लोग परमपद कहते हैं। तेरी ही प्राप्तिके अर्थ भगवान् बुद्धदेवने माता, पिता, पुत्र, कलत्र और राजपाट त्यागा। किन्तु धन्य हैं प्रेमिणी गोपिकाएँ जिन्होंने तुझको भी त्याग दिया, तेरी अमित महिमाको मिट्टीमें मिला दिया ! वे किस निर्भीकतासे कहती हैं—

करनी तो कीजै ऊधो जीवहीके सुखकाजे,
मुकति कहाँ है जहाँ जीवहीको नास है।
मुकतिके दास हरि दासन मुकति देत,
आपुन करत केलि कमला निवास है॥
तिनके विहार कैसे कहिये विकार ऊधो,
सर्वं सुखसागर प्रेम प्रीति रस रास है।
मुकतिकी गति जैसे बेसुध मृतक दशा,
जीवन-मुकति साँचो भगति विलास है॥

वह मुक्तिको भी मुक्ति देती है। प्रेमहीका ऐसा मधुर बन्धन है जिससे लोग मुक्ति नहीं चाहते हैं। लोग दौड़कर इस बन्धनको अपने गलेका हार बनाते हैं। टूटनेपर बालककी भाँति रोते हैं। और उसी बन्धनमें फँसनेकी प्रार्थना करते हैं ! प्रेमी, तू धन्य है जो बन्धनमें मुक्तिका अनुभव करता है !

चित्रपरिचय

४०-सुआ पढ़ावत गणिका तारी पृष्ठ १९१ देखिये ।
४१-भक्तिके प्रधान आचार्य श्रीमध्वाचार्यजी पृष्ठ २२५ देखिये । श्रीविद्यारण्यजीका और यह चित्र 'कर्मवीरकार्यालय' धारवाड़की कृपासे प्राप्त हुए हैं ।
४२-वैष्णवाचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजी यह चित्र ब्रह्मचारी श्रीभगवद्दासजीकी कृपासे मिला है । पृष्ठ १८५ देखिये ।
४३-वेदभाष्यकार श्रीविद्यारण्य महामुनि पृष्ठ २३२ देखिये ।
४४-सेठ रामदयालुजी नेवटिया पृष्ठ २०६ देखिये ।
४५-भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी पृष्ठ २०९ देखिये ।
४६-सेठ जयनारायणजी पोद्दार पृष्ठ २०६ देखिये ।
४७-सेठ लक्ष्मीनारायणजी पोद्दार पृष्ठ २०८ देखिये ।
४८-भक्तिके बारह आचार्य । ऊपरसे श्रीशिवजी, ब्रह्माजी, नारदजी, सनत्कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, यमराज, बलि, शुकदेव । पृष्ठ २१७ देखिये ।
४९-श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु प्रसिद्ध हैं ।
५०-श्रीनित्यानन्द-हरिदासका नामवितरण श्रीनित्यानन्दजी और यवन हरिदासजी नामकीर्तनमें मत्त होकर नृत्य कर रहे हैं । इसके चित्रकार श्रीदत्तात्रेयदामोदर देवलालीकर इन्दौरनिवासी हैं । पृष्ठ २२२ देखिये ।
५१-देशबन्धु चित्तरञ्जनदास प्रसिद्ध हैं ।
५२-लोकमान्य बाल-गङ्गाधर तिलक प्रसिद्ध हैं ।
५३-भक्त माधवदासजी पृष्ठ २२९ देखिये ।
५४-गुरु नानक पृष्ठ ९३ देखिये ।
५५-माणिक्य महाप्रभु पृष्ठ २३६ देखिये ।
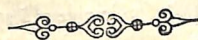
भक्ति और ब्राह्मण-जाति

कुछ लोगोंकी सदासे ही ब्राह्मण वर्णपर अकारण आक्षेप करनेकी प्रवृत्ति रहती है। ऐसे लोग कहा करते हैं कि ब्राह्मण-जातिने भक्तिमें बहुत थोड़ा भाग लिया और समय-समयपर भक्ति-मार्गमें बड़ी बाधा पहुँचायी है । परन्तु यह आक्षेप सर्वथा मिथ्या है। आज लोग जिन प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर भक्तिकी चर्चा करते हैं वे सभी ग्रन्थ प्रायः ब्राह्मणोंद्वारा ही रचित और रक्षित हैं। यदि आर्य शास्त्रोंके नाशके समय ब्राह्मण-जाति ग्रन्थोंको केवल धर्मप्रेमसे बिना किसी लोभके कण्ठस्थ न कर रखती तो आज किसी भी ग्रन्थका उपलब्ध होना प्रायः असम्भव हो जाता। सच पूछा जाय तो हिन्दूजातिपर ही नहीं, सारे जगत्पर इस जातिका बड़ा भारी उपकार है ।

पुराण तो ब्राह्मण भक्तोंकी गाथासे भरे हैं परन्तु इस युगमें भी इतिहास देखनेपर भक्तिमार्गमें ब्राह्मणोंका स्थान बहुत ऊँचा मालूम होता है । भक्ति-मार्गके प्रधान आचार्य श्रीरामानुज, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व, श्रीचैतन्य आदि सब ब्राह्मण ही थे । जिन कबीर, रैदास आदि भक्तोंके नाम आज बड़े गौरवके साथ लिये जाते हैं उनके गुरु आचार्यवर श्रीरामानन्दजी भी ब्राह्मण ही थे जिन्होंने उदारतापूर्वक केवल भक्तिके नाते इन्हें दीक्षा दी । महाराष्ट्रके प्रसिद्ध भक्त एकनाथजी, ज्ञानदेवजी, रामदासजी आदि भी ब्राह्मण ही थे । जिन प्रातःस्मरणीय तुलसी या सूरकी भक्ति आज घर-घरमें बखानी जाती है वे भी ब्राह्मण ही थे ।

ब्राह्मण-जातिने सदा ही सन्मार्गका समर्थन किया है । इससे लोगोंको ब्राह्मणोंके प्रति मिथ्या कलंककी कल्पना कर अन्याय नहीं करना चाहिये । जो ब्राह्मण तुलसीदास 'पुण्य एक जगमहँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्रपद पूजा॥' कहकर ब्राह्मणोंकी महिमाके पुल बाँधते हैं वे ही, 'नाम जपत श्वपच भलो जा मुख निकसत राम। ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम॥' कहकर भक्तिके नाते ऊँचे वर्णकी अपेक्षा चाण्डालकी प्रशंसा करते हैं !

—रामकिङ्करप्रसाद

नम्र निवेदन

गत दूसरे वर्षके प्रवेशाङ्कके रूपमें श्रीभगवन्नामाङ्क निकाला गया था, इस वर्ष सच्चे साधु हमारे प्रेमी श्रीराघवदासजीकी प्रेरणासे यह भक्ताङ्क निकाला गया है। भारतकी सभ्यताका भक्ति एक प्रधान अंग है। यहाँ जितने बड़े-बड़े संत महात्मा हुए, प्रायः सभीने किसी-न-किसी रूपमें भक्तिका प्रतिपादन किया है। यद्यपि भक्तिका रूप सदा एक-सा नहीं रहा और न भक्तिके प्रकारमें ही सम्पूर्ण आचार्यों और संतोंका एकमत रहा तथापि इस कथनमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि भक्ति भारतवासियोंका एक अस्थिमज्जागत संस्कार है। यद्यपि भक्तगण पृथ्वीके सभी देशों और सभी जातियोंमें हुए हैं तथा भगवान् और भक्तिका कोई भी देश या जाति ठेकेदार नहीं है, जहाँ प्रेम है वहीं प्रेम-निधान परमेश्वर हैं। तथापि भारतवर्ष तो ऐसे सुगंधित सुमनोंका एक सुन्दर सुरम्य विशाल उद्यान ही है। इस बगीचेमें विविध प्रकारके ऐसे मनोहर पुष्प सदा ही खिलते रहकर अपनी स्वर्गीय सुधाभरी सुगंधसे विश्वको सुखी करते रहे हैं। इस वाटिकामें असंख्य पुष्प तो ऐसे विकसित हो चुके हैं जो अपनी सुवाससे संसारको सुखी करनेपर भी अपनी जानकारी किसीको नहीं करा गये। चुपचाप काम किया और सीधे रास्ते चले गये ! भारतवर्षमें भक्तिका स्रोत अनादिकालसे बहता रहा है और किसी-न-किसी रूपमें बीच-बीचमें अन्तःसलिला फल्गुकी भाँति गुप्त होनेपर भी सदा बहता ही रहेगा।

सम्भव है कि इस स्थूल और प्रत्यक्षवाद-प्रधान जड़ युगके नास्तिकतापूर्ण वातावरणमें—आसुरी शिक्षाकी पुष्पिता मोहिनी माया-मरीचिकामें—स्वेच्छाचारप्रवृत्त हठपूर्ण बुद्धिवादके अतिरिक्त विस्तारमें—दम्भ-मोहावृत, विषय-विलास-विभ्रम-रत विमुग्ध मानवसमाजको भगवद्भक्तिकी बातें इस समय नीरस, निकृष्ट और निरर्थक प्रतीत हों, परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि जगत्के जंजालोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति, प्राणियोंके नित्यप्रति बढ़ते हुए हृदयविदारक दारुण करुण हाहाकारका पूर्णान्त, आधिव्याधि-ग्रस्त, त्रिताप-तप्त, दुःख-दावानल-विदग्ध जीवोंको परम शान्तिकी प्राप्ति केवल भगवद्भक्तिसे ही सम्भव है।

इस अङ्कमें भक्ति और भक्तोंपर संत, महात्मा, आचार्य, भक्त और विद्वानोंका जो महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रकाशित हुआ है उसको देखते मेरे सदृश क्षुद्रमति मनुष्य और क्या लिख सकता है ? अतएव इस विषयमें मैं यहाँ कुछ भी न लिखकर पाठक-पाठिकाओंसे यही विनीत निवेदन करता हूँ कि वे इसमें प्रकाशित भक्तिके भिन्न-भिन्न आदर्शोंपर गंभीरतापूर्वक सोच-विचारकर जिनको जो आदर्श अपने मन-बुद्धिके अनुकूल और लाभदायक प्रतीत हो वह उसीको ग्रहण करें। परन्तु यह न समझें कि इसमें प्रकाशित सभी मत सम्पादकको सर्वथा मान्य हैं। परस्परविरोधी सिद्धान्तोंमें सब मत मान्य हो भी कैसे सकते हैं ?

जिन पूज्य और प्रेमी महानुभावोंने कृपापूर्वक लेख लिखने या सामग्री प्रदान करनेका कष्ट उठाया है उनका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ। साथ ही उन सज्जनोंसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ जिनके लेख पूरे या अधूरे इस अङ्कमें स्थानाभावसे नहीं छप सके ! प्रेमी पाठकोंसे भी इस बातके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ कि इस अङ्कमें उनकी आशा और अनुरोधके अनुसार कई भक्तोंके जीवनचरित स्थानाभावसे नहीं छप सके हैं। भक्त प्रह्लाद, सुधन्वा, तुलसीदासजी तथा अन्यान्य भक्त आचार्योंके बड़े जीवन-चरित प्रकाशित करनेका विचार था परन्तु वैसा नहीं किया जा सका।

इस अङ्कके सम्पादन आदिमें प्रेस और

कार्यालयके प्रेमी कार्यकर्ताओंके अतिरिक्त बाबा राघवदासजी, श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०, भाई महावीरप्रसादजी पोद्दार प्रभृतिने और चित्रोंकी बनवाई-छपाई आदिमें भाई ज्वालाप्रसादजी कानोडिया और बजरंगलालजी आदि प्रेमियोंने जो सहायता दी और जिस तत्परतासे काम किया उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। यदि इन महानुभावोंकी सहायता न मिलती तो इस रूपमें इस अङ्कका ठीक समयपर प्रकाशित होना बड़ा कठिन होता।

उन प्रेमी सज्जनोंको बड़ा धन्यवाद है, जो स्वयं इसके ग्राहक बने हैं और अन्यान्य सज्जनोंको बना रहे हैं।

प्रमाद या अज्ञानवश इसमें जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उनके लिये लेखक, ग्राहक, अनुग्राहक सभी सज्जन क्षमा करनेकी कृपा करें। —हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक

नये भक्तकी प्रार्थना

(लेखक—श्रीविन्ध्याचलप्रसाद 'विशारद')

(१)

कमज़ोरियाँ हृदयकी-
मद काम क्रोध सारे,
शासन करें न हमपर-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(२)

मनसे समूल माया-
का राज्य हो किनारे,
अधिपत्य हो तुम्हारा-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(३)

भवदीय प्रेम-रससे-
सद्भाव सब हमारे,
दिन दिन विकास पावें-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(४)

तम-मय असार जीवन-
अज्ञान पूर्ण अटपट,
अबसे न हम बितावें-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(५)

स्वर्गीय ज्योति तेरी-
पथ-दर्शिका हमारी,
हो आजसे अभीसे,
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(६)

ओछे विचार मनके-
भय शोक स्वार्थ दुखमय,
दब जायँ दूर जायें-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(७)

उपकार नाथ लाखों-
हम पर हुए तुम्हारे,
होंगे व हो रहे हैं,
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(८)

उनके लिये निरन्तर-
सेवक कृतज्ञ होवे,
ऐसे विचार देना-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(९)

आज्ञानुकूल प्रभुकी-
सब आचरण हमारे,
दिन दिन दयानिधे! हों-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

(१०)

अन्तिम विनय यही है-
दो शरण श्याम अपनी,
क्षणभर अलग न होना-
हे श्याम प्राण-प्यारे!

रक्षाबन्धन

भारतीय सभ्यता अनेक प्रकारसे मनुष्यको कर्तव्य-विशेषकी ओर आकर्षित करती है। साधारण रीति-रिवाज, व्रत-संस्कार आदि सभी नित्य-नैमित्तिक कर्म किसी उद्देश्यविशेषसे ही किये-कराये जाते हैं। त्योहारोंका भी यही हाल है। हिन्दुओंके चार प्रधान त्योहारोंमें श्रावणीमें ब्राह्मणोंका, दसहरेमें क्षत्रियोंका, दीपावलीमें वैश्योंका और होलीमें सर्वसाधारणका विशेषत्व है। अनुमानसे पता लगता है कि प्राचीन कालमें ब्राह्मण श्रावणीके दिन ऋषिपूजन, यज्ञादि करनेके साथ ही सम्पूर्ण मानवजातिको 'अभय' दान देनेके लिये अपने-अपने पवित्र आश्रमोंसे निकल पड़ते थे। इस अनेक विघ्न-बाधा-पूर्ण दुःखमय संसारमें परोपकाररत ईश्वर-भक्त निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मणऋषियोंके अतिरिक्त जगत्को 'अभय' दान देनेमें और कौन समर्थ हो सकता है? इसी हेतु पेटके लिये कभी याचना न करनेवाले ऋषि इस सुअवसरपर रक्षाबन्धन करते थे। रक्षाके सूत्रको यज्ञके समय अभिमन्त्रित कर लिया जाता था। आज दुर्भाग्यवश यह अर्थ तो ध्यानमें नहीं रहा, केवल धनियोंके हाथोंमें विलायती या मीलोंका कता सूत बाँधकर दो-चार पैसा वसूल कर लेना भर बाकी रह गया!

रक्षाबन्धनका कार्य वास्तवमें निर्भय ब्राह्मणोंके ही योग्य था। रक्षाकी सबसे अधिक आवश्यकता राजाको हुआ करती है अतएव ऋषिगण पहले राजाके यहाँ जाकर उसके सूत्र बाँधकर अभयदान देते थे।

कुछ समय बाद यह रीति 'राखी' के रूपमें परिणत हो गयी। बहनें प्रेम-सूत्रके रूपमें भाइयों और भौजाइयोंके हाथोंमें राखियाँ बाँधने लगीं। इस प्रकार इसका प्रयोग होते-होते यहाँतक हुआ कि शत्रुकी कन्या भी किसी शत्रु राजपूत वीरको राखी भेज देती तो वह शत्रुता भूलकर उसका धर्म-भाई बन जाता। जिसके वंशका समूल विनाशकर रानीको उसके पतिवियोगमें आँसू बहाते देखकर जो पुरुष अपना गौरव समझता था, वही राखीका सूत पाते ही उस क्षत्राणीको अभयदान देकर उसे सदाके लिये अपनी धर्मबहिन समझने लगता। राजपूतानेके इतिहासमें इस राखीकी अनेक करामात देखनेको मिलती हैं।

जो राखी इतना कार्य कर चुकी है वह क्या आजकी दीन-हीन हिन्दू जातिका कुछ भी कल्याण नहीं कर सकती? इस प्रेम-सूत्रसे क्या आज हम अपने बिखरे हुए हृदयके तारोंको एकत्र नहीं कर सकते? कर सकते हैं, परन्तु शर्त यह है कि इस रक्षा या राखीको वास्तविक प्रेम-सूत्रका स्वरूप देना पड़ेगा। अवश्य ही एक दूसरेके दोष देखनेमें निपुण वर्तमान विशृङ्खल हिन्दू-समाजको प्रेम-सूत्रसे ही कर्तव्यका ज्ञान होगा।

श्रावणीके दिन चर्खेके शुद्ध सूतको केसरिया रंगकर यदि हम अपने पीड़ित किसानों, दुर्बल, भूखे मजदूरों, अनाथ बालकों और विधवाओंको उनकी रक्षाका वचन देने और अपनेसे बड़ोंको उनसे आशीर्वाद प्राप्त करनेके निमित्त भेजें या सम्भव हो तो स्वयं जाकर उनके हाथोंमें बाँधें तो बड़ा अच्छा हो। मेरी समझसे इससे बड़ा उत्साह पैदा हो सकता है।

गतवर्ष काशी हिन्दूविश्वविद्यालयके कुछ छात्रोंने तथा श्रीपरमहंस आश्रम, बरहजकी छात्रसमितिने 'राखी' भेजनेका कार्य किया था। इससे उनको बड़ा लाभ हुआ। कवीन्द्र-रवीन्द्रनाथ-सदृश सत्पुरुषोंके आशीर्वादात्मक पत्र प्राप्त हुए। इससे यह भावना हृदयमें और भी बलवती हो गयी। यदि इस वर्ष श्रावणीके दिन संस्थाओंद्वारा और व्यक्तिगतरूपसे भी इस प्रकार परस्पर परिचय, प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त करने-करानेके लिये रक्षाबन्धनका कार्य किया जाय तो बहुत कुछ सफलता हो सकती है। क्या मैं आशा करूँ कि इस थोड़े समयमें इस निवेदनको पढ़नेवाले सज्जनोंमेंसे कुछ लोग इस सत्कार्यको करके अपने समीपस्थ लोगोंको अभय देने और उनसे लेनेका प्रयत्न करेंगे?

—राघवदास, बरहज

प्रभो!

आये हो, धर रूप रोगका, स्वागत है आओ! आओ!!
हँसो हँसो, मैं भी हँसता हूँ कृपा दुःखमें दिखलाओ।
होऊँ क्यों शोकातुर जब हैं नाथ खड़े मेरे सम्मुख।
आधि-व्याधि संताप कहाँ है कहाँ रोग शोक है दुख॥
किससे कौन डरे स्वामिन्! जब तुमसे भिन्न नहीं कुछ और।
'मत्तः परतरं नान्यत्' की पाता हूँ शिक्षा सब ठौर॥

—बद्रीप्रसाद आचार्य*

* आचार्यजी 'कल्याण' के मैनेजर हैं, प्रायः १॥ महीनेसे बीमार हैं। आपने रोग-शय्यासे ही यह रचना लिख भेजी है।

—सम्पादक

विनय

'हे दयासागर ! हे दीनसर्वस्व ! हे हमारे हृदयके परमधन ! हम दीन अब कहाँ जायँ ? तुम्हारे इन अभय चरणोंके सिवा और कहीं भी तो ठौर नहीं है ! बहुत भटके, बहुत धक्के खाये, बहुत देखा पर कहीं ठौर-ठिकाना नहीं लगा ! कहीं टिककर नहीं रह सके, कहीं भी शान्ति नहीं मिली । हे पतितपावन ! अब तो तुम्हारी शरण आ पड़े हैं । शरणागतवत्सल तुम्हारा विरद है । प्रभो ! हमें अब और कुछ भी नहीं चाहिये । विद्या, बुद्धि, धन, मान, परिवार, पुत्र, पाताल, स्वर्ग किसीकी भी इच्छा नहीं है । हम योगी, ज्ञानी, तपस्वी और महात्मा नहीं बनना चाहते । तुम्हारा वैकुण्ठ, तुम्हारी मुक्ति और तुम्हारा परमधाम हमें नहीं चाहिये । हमको तो नाथ ! दयाकर तुम्हारा वह प्रेम दो, जिससे अश्रुपूर्ण-लोचन और गद्‌गदकण्ठ होकर निरन्तर तुम्हारा नाम-गुणगान करते रहें; वह शक्ति दो, जिससे जन्म-जन्मान्तरमें कभी तुम्हारे चरणकमलोंकी विस्मृति एक क्षणके लिये स्वप्नमें भी न हो, तुम्हारा नाम लेते हुए आनन्दसे मरें और तुम्हारी इच्छासे जहाँ जिस योनिमें जन्में, तुम्हारी ही छत्रछायामें रहें । चित्तकी वृत्तियाँ सदा बिना ही कारण तुम्हारी तरफ दौड़ती रहें और यह मस्तक तुम्हारे दासानुदासोंकी पद-पद्म-परागसे सदा ही अभिषिक्त रहे !

बारबार बर माँगौ, हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायिनी, भगति सदा सतसंग ॥

पाठक-पाठिकाओंसे अनुरोध

'भक्तांक'की पहली सूचना १६० पृष्ठोंकी थी परन्तु अब यह २५० पृष्ठोंका निकल रहा है । इसी प्रकार रंगीन और सादे चित्र भी बढ़ा दिये गये हैं । पर कीमत पहली सूचनाके अनुसार १ǁ) ही है । धर्मार्थ बाँटने, इनाममें देने, उपहार देने आदिके लिये यह एक सर्वथा निर्दोष, शिक्षाप्रद अपूर्व वस्तु है ।

ग्राहकोंको यह अंक तीसरे वर्षके पहले अंकके तौर पर यों ही मिल रहा है । ग्राहक बनने, बनानेवालोंको जल्दी करनी चाहिये ।

इस अंककी तैयारीमें कितना खर्च और परिश्रम हुआ है, इसका अन्दाजा आपलोग लगा सकते हैं । डेढ़ रुपयेमें इतने बाजारू चित्र भी नहीं मिल सकते । इस अवस्थामें हमारी समझसे ग्राहक अनुग्राहकोंसे यह अनुरोध करना अनुचित नहीं होगा कि वे प्रत्येक सज्जन चेष्टा करके कमसे कम दो दो ग्राहक और बना दें । पाठक-पाठिकागण यदि कृपापूर्वक थोड़ा-सा प्रयत्न करें तो ऐसा होना बहुत ही सहज है ।

जिन सज्जनोंने निःस्वार्थ भावसे 'कल्याण' के ग्राहक बढ़ानेका प्रयत्न किया और कर रहे हैं उन सब महानुभावोंके हम बड़े कृतज्ञ हैं ।

कल्याणमें विज्ञापन नहीं छापे जाते

विज्ञापनदाताओंको सूचना

हमारे पास विज्ञापनोंके लिये बहुत-से पत्र आये हैं । हम कई बार लिख चुके हैं कि कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते, इसपर भी लोग पूछताँछ किया ही करते हैं, हरेक सज्जनको जवाब देनेमें बड़ी दिक्कत होती है । अतः इस सूचनाके द्वारा हम सबसे निवेदन करते हैं कि कोई भी सज्जन विज्ञापनके सम्बन्धमें लिखा-पढ़ी करनेका कष्ट न उठावें ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' गोरखपुर

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह हर एक महीनेकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४ಽ) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते। कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

भक्तकी भावना

हे स्वामी ! अनन्य अवलम्बन, हे मेरे जीवन-आधार !
तेरी दया अहैतुक पर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार ॥ १ ॥
जाऊँ कहाँ जगतमें तेरे सिवा न शरणद है कोई ।
भटका परख चुका सबको कुछ मिला न अपनी पत खोई ॥ २ ॥
रखना दूर, किसीने मुझसे अपनी नजर नहीं जोड़ी ।
अति हित किया सत्य समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी ॥ ३ ॥
हुआ निराश उदास, गया विश्वास जगतके भोगोंका ।
जिनके लिये खो दिया जीवन पता लगा उन लोगोंका ॥ ४ ॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और ।
जल जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर ॥ ५ ॥
करुणाकर ! करुणा कर सत्वर अब तो दे मंदिर-पट खोल ।
बाँकी झाँकी नाथ ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल ॥ ६ ॥
गूँज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर ।
हृत्-तंत्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर ॥ ७ ॥
तन पुलकित हो, सु-मन-जलजकी खिल जावें सारी कलियाँ ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंग-रलियाँ ॥ ८ ॥
हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन-मनकी सुधि सारी ।
देखूँ फिर कण-कणमें तेरी छबि नव-नीरद-घन प्यारी ॥ ९ ॥
हे स्वामिन् ! तेरा सेवक बन तेरे बल होऊँ बलवान ।
पाप-ताप छिप जायें, हो भयभीत मुझे तेरा जन जान ॥ १० ॥

Registered A. 1724.

भक्त-महिमा

सर्व-शिरोमणि विश्व-सभाके, आत्मोपम विश्वंभरके ।
विजयी नायक जगनायकके, सच्चे सुहृद चराचरके ॥
सुखद सुधानिधि साधु-कुमुदके, भास्कर भक्ति-कमल-वनके ।
आश्रय दीनोंके, प्रकाश पथिकोंके, अवलम्बन जनके ॥ १ ॥
लोभी जग-हितके, त्यागी सब जगके, भोगी भूमाके ।
मोही निर्मोहीके, प्यारे जीवन बोधमयी माके ॥
तत्पर परम हरण पर-दुखके, तत्परता-विहीन तनके ।
चतुर खिलाड़ी जग-नाटकके, चिंतामणि साधक जनके ॥ २ ॥
सफल मार्ग-दर्शक पथभ्रष्टोंके, आधार अभागोंके ।
विमल विधायक प्रेम-भक्तिके, उच्च भावके, त्यागोंके ॥
परम प्रचारक प्रभुवाणीके, ज्ञाता गहरे भावोंके ।
वक्ता, व्याख्याता, विशुद्ध, उच्छेदक सर्व कुभावोंके ॥ ३ ॥
पथ-दर्शक निष्काम-कर्मके, चालक अचल सांख्य-पथके ।
पालक सत्य-अहिंसा-व्रतके, घालक नित अपूत पथके ॥
नाशक त्रिविध तापके, पोषक तपके, तारक भक्तोंके ।
हारक पापोंके, संजीवन भेषज विषयासक्तोंके ॥ ४ ॥
पावनकर्ता पतितोंके पृथ्वीके, प्रेत, पितृ-गणके ।
भूषण भूमंडलके, दूषण राग-द्वेष रणांगणके ॥
रक्षक अतिदृढ़ सत्य-धर्मके, भक्षक भव-जंजालोंके ।
तक्षक भोग-रोग-धन-मदके, व्यापारी सत-लालोंके ॥ ५ ॥
दक्ष दुभाषी 'जन, जन-धन' के, मुखिया राम-दलालोंके ।
छिपे हुए अज्ञात लोक-निधि मालिक असली मालोंके ॥
चूड़ामणि दैवी-गुण-गणके परमादर्श महानोंके ।
महिमा वर्णनमें अशक्त तव विद्या-बल विद्वानोंके ॥ ६ ॥